कार्यालयीन नया पता

श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ

(जीवराज जैन ग्रंथमाला)

T.P.4 , प्लॉट नं. 56/10, बुधवार पेठ,

जुना पुणे नाका, (गॅस पंप के पीछे), सोलापुर - 2

फोन - (0217) - 2320007,

मोबा. - 9890967706, 9421040022

समय - सुबह १० से शाम. ६ बजे तक

इस ग्रंथका प्रूफ संशोधन पूर्ण सावधानीसे किया गया है । उसमें भी कहीं कुछ गलतियां रह सकती हैं । इसलिये विद्वतजन गलतियोंको सुधारकर पढ़े, तथा शुद्धिपत्रक प्रकाशकके पास भेजे तो उसका उपयोग फिरसे प्रकाशित होनेवाले ग्रंथमें हम कर सकते हैं ।

प्रकाशन कार्यके लिए संस्थाको आर्थिक सहयोगकी आवश्यकता है । यथा शक्ती दान देकर अनुग्रहीत करे ।

आचार्य श्री कुंथुसागर ग्रंथमाला

विद्यानंदि-स्वामिविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारः

(भाषाटीकासमन्वित).

(सप्तमखण्डः)

✳ टीकाकार ✳

तर्करत्न, सिद्धांतमहोदधि, न्यायदिवाकर, स्याद्वादवारिधि, दार्शनिकशिर

श्री पं. माणिकचन्दजी न्यायाचार्य

✳ संपादक व प्रकाशक ✳

स्व. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

(विद्यावाचस्पति व्या. के. समाजरत्न, धर्मालंकार, न्यायकाव्यतीर्थ)

ऑ. मन्त्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला,

सन् १९८४)

जैन संस्कृति संरक्षक संघ

संशोधित मूल्य रु० 150

(प्रति ६००

प्रकाशक—
आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला,
'वर्धमान' होटगी रोड,
सोलापूर-३ (महाराष्ट्र)

वीर संवत्
२५१०
ई. सन्
१९८४

प्रथमावृत्ती
प्रति ८००

मुद्रक—
सुभाष वर्धमान शास्त्री
कल्याण पॉवर प्रिंटींग प्रेस,
९, इंडस्ट्रियल इस्टेट, होटगी रोड,
सोलापूर-४१३००३

प्रकाशकीय

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार का यह सप्तम एवं अंतिम खंड आपके हाथ में है। इस ग्रंथ के टीकाकार स्व. श्री माणिकचन्दजी कौन्देय न्यायाचार्य की यह कृति, जो सात भागोंमे प्रकाशित हुओ है, उनकी विद्वत्ताका सूचक है। जैनेतर आचार्योंकी मिथ्या धारणाओंका खण्डन करके जैनाचार्योंकी सम्यक् धारणाको प्रस्तुत करनेकी उनकी कुशलता अद्वितीय है। तत्त्वार्थ श्लोक-वार्तिकालंकारके इन सात खंडोंको पाकर जैन एवं भारतीय समाज कृतकृत्य हुआ है।

इस खण्डके लिए मैसोर विश्वविद्यालयस्थ जैनविद्याविभाग प्रमुख डॉ. एम. डी. वसंतराजने परिश्रमपूर्वक प्राक्कथन लिखा जो अत्यंत विद्वत्ता-प्रचुर है। उनके हम हार्दिक ऋणी हैं। इस ग्रंथ प्रकाशनमें प्राप्त पंडितरत्न श्री जिनदासजी शास्त्री एवं पं. नरेंद्रकुमारजी भिसीकर सोलापूरवालों हार्दिक सहयोग उल्लेखनीय है।

कल्याण प्रिंटींग प्रेसने अनेक कठिनाईयोंके बावजूद इस ग्रंथके मुद्रणका दायित्व लिया उनके हम आभारी हैं।

आशा है, इससे पहले छह खंडोंका जिस धर्मबुद्धिसे स्वागत हुआ था, इसका भी उसी प्रकार होगा।

सुभाष वर्धमान शास्त्री
व्यवस्थापक
आ. कुंथुसागर ग्रंथमाला,
सोलापूर.
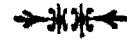
स्व. पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्य

स्व. पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

प्राक्कथन

यह तो स्वभावसिद्ध ही है कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं। यदि सुख निजस्वरूप है तो उस सुखका स्वरूप क्या है? उसे पानेका उपाय क्या है? आदि विचारों पर सतत मन्थन करनेकी प्रथा प्राचीनकालसे ही चली आ रही है। आगे जाकर यही "आध्यात्मिक चिंतन" के स्वरूपमें विकसित होकर भारतमें अभी तक जीवन्त है। ऐतिहासिक प्राचीन स्तर "मोहेंजोदारो" के अति पुरातन अवशेषोंमें इतिहासज्ञोंने संशोधनके द्वारा इस "आध्यात्मिक-चिंतन" को पहिचाना है। प्राचीन ऐतिहासिक अवशेषों-प्रतीकोंमें जो कायोत्सर्ग (खड्गासन) की मूर्तियाँ तथा नग्न तपस्वियोंके चित्र पाये जाते हैं, इसका ज्वलन्त साक्षी है। इससे हम "जैन तत्वचिंतन" की प्राचीनताको भली भांति समझ सकते हैं।

तीर्थंकर (जिनेश्वर) का "दिव्योपदेश" द्वादशांगोंमें समाविष्ट था, और वह "उपदेश" गुरु-शिष्योंकी श्रुतपरम्पराकी धाराके रूपमें बहती आ रही थी। वही श्रुत (शास्त्र) धारा महावीर निर्वाण के बाद १६२ वर्षोंतक अविच्छिन्न रही। फिर विस्मृतिके गर्तोंमें गिरकर क्रमशः लुप्त होती गई। वीर निर्वाण के ६८३ वर्षों बाद महावीरकी दिव्यवाणी सिर्फ आंशिकरूपसे ही रह गई। महावीर की "दिव्य-वाणी" के पूर्णरूपसे लुप्त हो जानेका भय उत्पन्न हुआ। इसी भयके कारण श्रुत (सुना हुआ) ज्ञान, अक्षरों (अविनाशी) में सुरक्षित रख दिया गया, अर्थात् लिपिबद्ध कर दिया गया।

आरंभिक दशामें तो जैनागम ग्रंथोंकी रचना प्राकृत भाषामें ही हुई थी। बादमे लोकप्रियताकी दृष्टिसे संस्कृत भाषामे भी उनकी रचनायें होने लगीं। आचार्योंकी संस्कृत कृतियोंमे तत्वार्थसूत्रको आद्यता दी जाती है। दिगंबर जैनाम्नायमे "तत्वार्थसूत्र" तथा श्वेतांबराम्नायमे "तत्वार्थाधिगमसूत्र" के नामसे, सर्वमान्य जैनागमोंमे यह महान् ग्रंथ "जैन वेदके" रूपमे सुप्रसिद्ध हुआ है। इस कृतिपर लिखी गई व्याख्यानों-की संख्या अन्य किसी जैन शास्त्रको प्राप्त नहीं है। केवल संख्यामे ही नहीं, अर्थगांभीर्यमे भी इस ग्रंथकी समानता दूसरा कोई जैन ग्रंथ अब तक पा नहीं सका है। इसीसे हम समझ सकते हैं कि इस महान् ग्रंथराजका समग्र जैनोंमे कितना गहरा प्रभाव डाल चुका है। इतना ही नहीं उत्तरकालीन सभी जैनाचार्योंकी दृष्टिमे भी यह जैनागमोंका महान "आधारस्तंभ" माना गया है। यही इस ग्रंथकी गंभीरता का भी द्योतक है। यह ग्रंथ जो मोक्षमार्गके वर्णनसे लेकर "आत्मायत्त" अनन्तसुख रूपी मोक्ष स्वरूपके निरूपणके साथ पूर्ण होता है, इसीलिए इसे "मोक्षशास्त्र" भी कहते हैं। इसमे दस अध्याय हैं।

षट्खंडागमकी सुप्रसिद्ध 'धवला' टीकाकार 'श्री वीरसेनाचार्य' तथा 'विद्यानन्दी' आचार्योंके मतमे 'गृद्धपिच्छाचार्य' तत्वार्थसूत्रके 'रचयिता' हैं। दिगंबर जैन पंथमे उपलब्ध उल्लेखोंमे वीरसेनाचार्यका कथन ही अतीव प्राचीन है। 'उमास्वाति' 'उमास्वामी' ये दोनों नाम भी दोनों दिगंबर-श्वेतांबर पंथोंमे

प्रचलित हैं। यद्यपि 'गृद्धपिछाचार्य' यह नाम 'कुंदकुंदाचार्य' के नामोंमे है । तथापि कुछ दूसरे 'ऐतिहासिक-कथन' के अनुसार कुंदकुंदाचार्यके बादमे जो नन्दिसंघके प्रधानाचार्य हुए यह उन्हींका नाम है। परम्परागत कथनानुसार श्री कुंदकुंदाचार्यका स्वर्गवास महावीर निर्वाणाब्द ७०१ मे हुआ है, और उसी वर्ष 'गृद्धपिञ्छाचार्य' आचार्य स्थानपर नियुक्त हुए थे । इस ऐतिहासिक आधार पर तत्वार्थसूत्रकी रचना महावीर निर्वाण संवत् ८ वें (शतमान) मे हुई होगी । 'तत्वार्थसूत्र' दिगंबर-श्वेतांबर और यापनीयादि सर्व पंथोंमे मान्यता प्राप्त महान ग्रन्थरत्न है। दस अध्यायोंमे समाप्त होनेवालें इस ग्रंथराजकी कई व्याख्यायें केवल व्याख्या तक ही सीमित न रहकर 'स्वतन्त्र ग्रंथ' की मान्यता प्राप्त कर चुकी है। इ से हम 'तत्वार्थ-सूत्रका महत्व और भी अच्छी तरह समझ सकते हैं।

'सर्वार्थसिद्धि" वृत्ति-

यह अत्यन्त प्राचीन सर्वादृत व्याख्या है। देवनन्दी-पूज्यपादने इस वृत्तिकी रचना की है । आगम-पारगामी पूज्यपादने मूलग्रंथके प्रत्येक सूत्रकी व्युत्पत्ति, तथा अर्थका औचित्य इसमें बताया है । सूत्रके उद्दि-ष्टार्थमें आगमाविरोधके साथ सूक्ष्म विश्लेषण किया है। इसमें कोई अत्युक्ति न होगी कि इस व्याख्याके सूक्ष्म विवेचनात्मक विश्लेषणको देखनेवाला हर कोई विद्वान दंग रह जाता है। नतमस्तक होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सर्वार्थसिद्धि की रचना द्वारा आचार्य पूज्यपादने जैनसिद्धांत एवं संस्कृत साहित्य को अपूर्व संपत्ति दी है । इस बातकी पुष्टिके लिए 'आगमचक्ष' पण्डितप्रवर फलचन्दजी 'सिद्धांत शास्त्रीके' मन्तव्यको उन्हींके वचनोंमे यहां पर उल्लेख करना ज्यादा उचित होगा । पढिये—

"आचार्य पूज्यपादने इसमें केवल भाषा सौष्ठवका हीं ध्यान नहीं रखा है। अपि तु आगमिक परपरा का भी पूरी तरह निर्वाह किया है। प्रथम अध्यायका सातवां और आठवां सूत्र इसका प्रांजल उदाहरण है । इन सूत्रोंकी व्याख्याका आलोडन करते समय उन्होंने सिद्धांत ग्रंथोंका कितना गहरा अभ्याम किया था इस बातका सहज ही पता लग जाता है। इम परसे हम यह दृढतापूर्वक कहनेका साहम करते है कि उन्होंने सर्वार्थसिद्धि लिखकर जहां एक और संस्कृत साहित्यकी श्रीवृद्धि की है वहां उन्होंने परपरासे आए हुए आगमिक साहित्यकी रक्षाका श्रेय भी संपादित किया है।

निचोडरूपमे सर्वार्थसिद्धि की रचना, शैलीके विषयमे संक्षेपमे यही कहा जा सकता है कि वह ऐसी प्रसन्न और विषयस्पर्शी शैलीमे लिखी गई है जिसमे वाचक उमास्वाति प्रभृति सभी तत्वार्थसूत्रके भाष्यकारोंको उसका अनुसरण करनेके लिए बाध्य होना पडा है।"

'तत्वार्थाधिगम भाष्य' –

यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि श्वेतांबर पन्थमे 'तत्त्वार्थसूत्र' को 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' कहा जाता है। ऐसा भी सुननेमें आता है कि तत्त्वार्थाधिगमसूत्रका भाष्य स्वयं उमास्वातिने रचा है । लेकिन यह बात विवादापन्न है। कुछ विद्वानोंके मतानुमार श्वेतांबर पंथियोंने अपने पन्थकी मान्यता प्राप्त करनेके उद्देश्यसे मूल सूत्रोंके कुछ स्थानोंमे कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन कर दिये हैं । तथा अन्तमे, यह सिद्ध करनेका विफल प्रयत्न किया है कि 'भाष्य स्वयं उमास्वातिने रचा है।'

सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रस्तावना पृष्ठ, २५.

" तत्त्वार्थ राजवार्तिक " –

दिगम्बराम्नायमें ' सर्वार्थसिद्धि ' के बादमें रची हुई कृतियोंमे यह ' वार्तिक ' अतीव मान्यताप्राप्त महान ग्रंथ है। जैनतार्किकप्रवर श्री अकलंकदेवने इसकी रचना की है। तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या करनेवाले सभी ग्रथकार जैसे– समन्तभद्रकी ' आप्तमीमांसा ', दूसरी व्याख्या ' अष्टसहस्री ', ' लघीयस्त्रय ' आदि सभी न्याय ग्रंथोंके रचयिता इस वार्तिकसे प्रभावित हैं। अकलंकदेवके इस व्याख्यानके महत्त्वके बारेमे मान्य न्यायाचार्य ' पंडित दरबारीलालजी कोठिया की बातका उल्लेख करना उचित होगा। ' आप्तपरीक्षा ' वीर सेवा मन्दिर— प्रकाशनकी प्रस्तावनामे पृष्ठ २४ में वे कहते हैं कि ' विद्यानन्द ' को यदि ' अकलंकदेव ' का 'तत्त्वार्थवार्तिक' न मिलता तो उनके ' श्लोकवार्तिक ' में वह विशिष्टता न आती जो उसमे है ।

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक—

अकलंकदेवके राजवार्तिक व्याख्याके बाद विद्यानन्दी आचार्य का ' तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ' दिगम्बराम्नायमे अपार जनमान्यता प्राप्त महान ग्रंथ माना जाता है। इस वार्तिकके आद्य मंगल श्लोकमे लिखा है– ' प्रवक्ष्यामितत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम् ' इसीसे सूचित होता है कि यह तत्त्वार्थसूत्रके श्लोकरूपी वार्तिक है। मगर कहीं कहीं श्लोकोंके बीचमे सूत्रोंके विवरणरूपमे गद्य व्याख्यान भी विद्यमान हैं। इसमे कोई शक नही कि यह स्वयं विद्यानंदजीकी रचना है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार ' अध्याय ' नामक विभागोंमे अलावा, ' व्याख्यानवीशदीकरण ' (स्पष्टीकरण) के अन्तमे ' आह्निकम् ' नामक विभाग भी जुडे हुए हैं। इन विभागोंकी समाप्ति पर ' इति तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकारे आह्निकम् ' प्रशस्ति भी लिखी गई है। इससे पता लगता है कि इस व्याख्यानका 'श्लोकवार्तिक' का दूसरा नाम श्लोकवार्तिकालंकार भी रहा होगा। अनुमान होता है कि श्लोक तथा गद्य व्याख्यान दोनोंको मिलाकर इसका नाम ' श्लोकवार्तिकालंकार ' रखा होगा। यह व्याख्यान तार्किकशैलीमे बहुत ही प्रौढ तथा गहन है। विद्यानन्दीके असाधारण ' आगमपांडित्य ' तथा दिगम्बर मुनियोंकी आचारनिष्ठा का यह एक ' ज्वलंत साक्षी ' है। इन व्याख्यानके बारेमे सन्मान्य न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी जैन कोठियाके वक्तव्यका यथावत उल्लेख विज्ञ पाठकोंके समक्ष रखना अतीव लाभप्रद होगा। देखिए–

' तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृष्ठ ४५२) में तत्त्वार्थसूत्रके छठे अध्यायके ग्यारहवें सूत्रका व्याख्यान करते हुए जब उन्होंने दुःख शोक, आदि असातावेदनीयरूप पापास्रवके कारणोंका समर्थन किया, तब उनसे कहा गया कि जैन मुनि कायक्लेशादि दुश्चर तपोंको तपते हैं– और उस हालतमे उन्हें उनसे दुःखादि होना अवश्यम्भावी है। ऐसी दशामे उनको भी पापास्रव होगा। अतः कायक्लेशादि तपोंका उपदेश युक्त नहीं है और यदि युक्त है तो दुःखादिको पापास्रवका कारण बतलाना असंगत है ? इसका विद्यानन्दी अपने पूर्वज पूज्यपाद, अकलंकदेव आदिकी तरह ही आर्षसम्मत उत्तर देते हैं कि जैन मुनियोको कायक्लेशादि तपश्चरण करनेमे द्वेषादि कषायरूप परिणाम उत्पन्न उत्पन्न नही होते, बल्कि उसमे उन्हें प्रसन्नता होती– उसे भार और आपद मानते हैं उन्हींके वे दुःखादिक पापास्रवके कारण हैं। यदि ऐसा नहीं हो तो स्वर्ग और मोक्ष के जितने भी साधन हैं वे सब ही दुःखरूप हैं और इसलिए सभीको उनके पापास्रवका प्रसंग आवेगा। तात्पर्य यह है कि सभी दर्शन– कारोंने यम, नियमादि विभिन्न साधनोंको स्वर्ग–मोक्षका कारण बतलाया है और वे यम नियमादि दुःखरूप ही है तब जैनेतर साधुओंके भी उनके आचरण से पापबंध प्रसक्त होगा। अतः केवल दुःखादि पापास्रवके कारण नहीं हैं अपि तु संक्लेश परिणामयुक्त दुःखादिक ही पापास्रवके कारण हैं। दूसरे तपश्चरण करनेमे जैन मुनिके मनोरति–आनन्दात्मक परम समता रहती है, बिना उस मनोरतिके वे तप नहीं करते और मनोरति सुख है। अतः जैन मुनिके लिए कायक्लेशादिक तपश्चरणका उपदेश प्रयुक्त नहीं है।

विद्यानन्दीके इस सुदृढ और शास्त्रानुसारी विवेचनसे प्रकट है कि वे जैन मुनियोंके लिए उपदिष्ट अनशनादि व कायक्लेशादि बाह्य तपोंको कितना महत्त्व देते थे और उनके परिपालनमे कितने सावधान और विवेकयुक्त तथा जागृत रहते थे ।

विद्यानन्दका दूसरा विचार यह है कि जैन साधु वस्त्रादि ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह निर्ग्रंथ और मूर्छारहित होता है । यद्यपि यह विचार सैद्धांतिक शास्त्रमे प्राचीनतम कालसे निबद्ध है, पर तर्क और दर्शन के ग्रन्थोंमे वह अधिक स्पष्टताके साथ विद्यानन्दसे ही शुरू हुआ जान पडता है । उनका कहना है कि जैन सिद्धांतमे जैन मुनि उसीको कहा गया है जो अप्रमत्त और मूर्छारहित है । अत: यदि जैन मुनि वस्त्रादिको ग्रहण करता है तो वह अप्रमत्त और मूर्छारहित नही हो सकता, क्योंकि मूर्छाके बिना वस्त्रादिका ग्रहण किसीके संभव नहीं है । इस संबंधमे जो उन्होंने महत्त्वपूर्ण चर्चा प्रस्तुत की है उसे हम पाठकोंके ज्ञानार्थ 'शंका–समाधान' के रूपमे नीचे देते हैं—

शंका– लज्जानिवारणके लिए मात्र खण्ड वस्त्र (कौपीन) आदिका ग्रहण तो मूर्छाके बिना भी संभव है ?

समाधान– नहीं, क्योंकि कामकी पीडाको दूर करनेके लिए केवल स्त्रीका ग्रहण करने पर भी मूर्छाके अभावका प्रसंग आयेगा और यह प्रकट है कि स्त्रीग्रहणमे मूर्छा है :

शंका– स्त्रीग्रहणमे जो स्त्रीके साथ आलिंगन है वही मूर्छा है ?

समाधान– तो खण्डवस्त्रादिके ग्रहणमे जो वस्त्राभिलाषा है वह वहां मूर्छा हो । केवल अकेली कामकी पीडा तो स्त्रीग्रहणमें स्त्रीकी अभिलाषाका कारण हो और वस्त्रादि ग्रहणमें लज्जा कपडेकी अभिलाषाका कारण नहीं, इसमे नियामक कारण नहीं है । नियामक कारण तो मोहोदयरुप ही अन्तरंग कारण है जो वस्त्रग्रहण और स्त्रीग्रहण दोनोंमे समान है । अत: यदि स्त्रीग्रहणमे भी मूर्छा मानी जाती है तो वस्त्रग्रहण भी मूर्छा अनिवार्य है, क्योंकि बिना मूर्छाके वस्त्रग्रहण हो ही नही सकता ।

शंका– यदि मुनि खण्डवस्त्रादि ग्रहण न करे– वे नग्न रहे तो उनके लिंगको देखनेमे कामिनियोंके हृदयमे विकारभाव पैदा होगा । अत: उस विकारभावको दूर करनेके लिए खण्डवस्त्रका ग्रहण उचित है ?

समाधान– यह कथन भी उपरोक्त विवेचनसे खंडित हो जाता है, क्योंकि विकारभावको दूर करनेरूप चेष्टा ही वस्त्राभिलाषाका कारण है । तात्पर्य यह कि यदि विकारभावको दूर करनेके लिए वस्त्रग्रहण होता है तो वस्त्राभिलाषाका होना अनिवार्य है । दूसरे, नेत्रादि सुन्दर अंगोंके देखनेमे भी कामिनियोंमें विकारभाव उत्पन्न होना संभव है, अत: उनको ढकनेके लिये भी कपडेके ग्रहणका प्रसंग आवेगा, जैसे लिंगको ढकनेके लिए कपडेका ग्रहण किया जाता है । आश्चर्य है कि मुनि अपने हाथसे बुद्धिपूर्वक खण्डवस्त्रादिको लेकर धारण करता हुआ भी वस्त्रखण्डादिकी मूर्छारहित बना रहता है ? और जब यह प्रत्येय एवं संभव माना जाता है तो स्त्रीका आलिंगन करता हुआ भी वह मूर्छारहित बना रहे, यह भी प्रत्येय और संभव मानना चाहिए । यदि इसे प्रत्येय और सम्भव नहीं माना जाता तो उसे (वस्त्रग्रहण करने पर भी मूर्छा नहीं होती, इस बातको) भी प्रत्येय एवं संभव नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह युक्ति और अनुभव दोनोंसे विरुद्ध है । अत: सिद्ध हुआ कि मूर्छाके बिना वस्त्रादिका ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि वस्त्रादिग्रहण मूर्छाजन्य है– वस्त्रादिका ग्रहण कार्य है और मूर्छा उसका कारण है और कार्य, कारणोंके बिना नहीं होता । पर, कारण कार्यके अभावमे भी रह सकता है और इसलिए मूर्छा तो वस्त्रादिग्रहणके अभावमें भी संभव है, जैसे भस्माच्छन्न अग्नि धूमके अभावमें ।

शंका– यदि ऐसा है तो पिछी आदिके ग्रहण में भी मूर्छा होनी चाहिए ?

समाधान– इसीलिये परम निर्ग्रंथता हो जानेपर परिहारविशुद्धि संयमवालोंसे उसका (पिछी आदिका) त्याग हो जाता है, जैसे सूक्ष्म सांपराय और यथाख्यात संयमवाले मुनियोंके हो जाता है । किंतु सामायिक और छेदोपस्थापनासंयमवाले मुनियोंके संयमका उपकरण होनेसे प्रतिलेखन (पिछी आदि) का ग्रहण सूक्ष्म मूर्छाके सद्भावमें भी युक्त ही है । दूसरे, उसमें जैनमार्गका विरोध नहीं है । तात्पर्य यह कि जिन सामायिक और छेदोपस्थापना संयमवाले मुनियोंके पिछी आदिका ग्रहण है उनके सूक्ष्म मूर्छाका सद्भाव है और शेष तीन संयमवाले मुनियोंके पिछी आदिका त्याग हो जानेसे उनके मूर्छा नहीं है । दूसरी बात यह है कि मुनि के लिए पिछी आदिका ग्रहण जैनमार्गके अविरुद्ध है, अतः उसके ग्रहणमें कोई दोष नही है । लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि मुनि वस्त्र आदि भी ग्रहण करने लगें, क्योंकि वस्त्र आदि मार्ग्य और संयम के उपकरण नहीं हैं ।

दूसरे वे जैनमार्गके विरोधी हैं । तीसरे, वें सभीके उपभोगके साधन हैं । इसकें अलावा, केवल तीन चार पिछ व केवल अलाबूफल तूमरी (कमण्डलु) प्रायः मूल्यमें नहीं मिलते, जिससे उन्हे भी उपभोगका साधन कहा जाय । निःसंदेह मूल्य देकर यदि पिछादिका भी ग्रहण किया जाय तो न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि उसमें सिद्धांतविरोध है । मतलब यह कि पिछी आदि न तो मूल्यवान वस्तुएं हैं और न दूसरों के उपभोगकी चीजे हैं । अतः मुनिके लिए उनके ग्रहणमे मूर्छा नहीं है । लेकिन वस्त्रादि तो मूल्यवाली चीजें हैं और दूसरेके उपभोगमे भी वे आती है, अतः उनके ग्रहणमे ममत्वपूर्ण मूर्छा होती है ।

शंका– क्षीणमोही बारहवे आदि तीन गुणस्थानवालोके शरीरका ग्रहण सिद्धांतमें स्वीकृत है, अतः समस्त परिग्रह मोह–मूर्छाजन्य नहीं है ?

समाधान– नहीं क्योंकि उनके पूर्वभव संबंधी मोहोदयसे प्राप्त आयु आदि कर्मबंधके निमित्तसे शरीरका ग्रहण है–उन्होंने उस समय उसे बुद्धिपूर्वक ग्रहण नहीं किया है । और यही कारण है कि मोहनीयकर्मके नाश हो जानेके बाद उसको छोडनेके लिये परमचारित्रका विधान है । अन्यथा उसका आत्यन्तिक त्याग संभव नहीं है । मतलब यह कि बारहवें आदि गुणस्थानवाले मुनियोंके शरीरका ग्रहण आयु आदि कर्मबंधके निमित्तसे है–इच्छापूर्वक नहीं है ।

शंका– शरीरकी स्थितिके लिये जो आहार ग्रहण किया जाता है उससे मुनिकी अल्प मूर्छा होना युक्तही है ?

समाधान– नहीं क्योंकि वह आहार ग्रहण रत्नत्रयकी आराधनाका कारण स्वीकार किया गया है । यदि उससे रत्नत्रयकी विराधना होती है तो वह मुनिके लिये अनिष्ट है । स्पष्ट है कि भिक्षाशुद्धिके अनुसार नवकोटी विशुद्ध आहारको ग्रहण करनेवाला मुनी कभी भी रत्नत्रयकी विराधना नहीं करता । अतः किसी पदार्थका ग्रहण मूर्छाके अभावमे किसीके संभव नहीं है और इसलिए तमाम परिग्रह प्रमत्तके ही होते हैं, जैसे अब्रह्म ।

विद्यानन्द इसी ग्रंथमे एक दूसरी जगह और भी लिखते हैं कि 'जो वस्त्रादि ग्रंथरहित है वे निर्ग्रंथ हैं, क्योंकि प्रकट है कि बाह्य ग्रंथके सद्भावमें अन्तर्ग्रंथ (मूर्छा) नाश नहीं होता । जो वस्त्रादिकके ग्रहणमे भी निर्ग्रंथता बतलाते हैं उनके स्त्री आदिके ग्रहणमे मूर्छाके अभावका प्रसंग आवेगा । विषयग्रहण कार्य है और मूर्छा उसका कारण है और इसलिए मूर्छारूप कारणके नाश हो जानेपर विषयग्रहणरूप कार्य कदापि संभव नहीं है । जो कहते हैं कि 'विषय कारण है और मूर्छा उसका कार्य है' तो उनके विषय अभावमे मूर्छाकी उत्पत्ति सिद्ध नही होगी । पर ऐसा नहीं है, विषयोंसे दूर वनमें रहनेवालोंकी भी मूर्छा देखा जाती है, अत मोहोदयसें अपने अभीष्ट अर्थसे मूर्छा होती है और मूर्छाके अभीष्ट अर्थका ग्रहण होता है । अतएव वह जिसके है स्वयं उसी निर्ग्रंथता कभी नहीं बन सकती । अतः जैनमुनि वस्त्रादि ग्रंथरहित ही होते है ।'

(पू. सू. आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, पृ. ११–१५)

श्री विद्यानन्द्याचार्य का व्यक्तित्व व जीवितकाल.

साधारणत: मुनिगण एक एक संघ, गण या गच्छके अन्तर्गत रहकर अपने संघ या गण सूचक नाम पाते थे। उस आधारपर कह सकेंगे कि आचार्य विद्यानन्दी 'नन्दी' संघके होंगे। यही नहीं तत्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकारके हुर अध्यायके अन्तमें 'प्रशस्ति' वाक्यके रूपमें 'विद्यानंदी' नामका उल्लेख किया गया है। लेकिन इसी आचार्य की विरचित 'आप्तपरीक्षामे' – 'विद्यानन्द' नामकी सूचना मिलती है। और इनका यही नाम ज्यादा प्रचलित भी है। इससे अनुमान लगा सकते हैं कि 'राजवार्तिकालंकार' ग्रंथकर्तृके दोनों नाम (विद्यानन्द और विद्यानन्दी) प्रचार में थे।

प्राय: मुनियोंका पूर्वाश्रम अर्थात् माता–पिता–जन्मस्थान–बचपन आदिका पता प्राप्त नहीं है। संसार–विरक्त–जीवन में उनका वे सब पिछले जीवनकी गौण बातें गौण लगती है। मुनि–जीवन संबंधी बातोंका पता लगाना भी कहीं कहीं मुश्किल ही नहीं बल्कि असंभव सा हो जाता है। क्योंकि वे अपने परिचयसे ज्यादा धर्मपरिचयकी ओर लगे रहते थे। इसीलिये विशेषत: मुनिविरचित ग्रंथोंके आधारपर ही उन मुनियोंके व्यक्तित्व पहिचाने जाते हैं। दि० जैन पंथकी श्रेष्ठताके प्रति और दिगम्बर मुनियोंके आचार व नियम पालन करनेके बारेमें विद्यानन्दके मनमें अपार श्रद्धा तथा निष्ठाका भाव जागृत था। ई सन ग्यारहवी (शताब्दि) में विद्यमान 'वादिराज सूरि' ने न्याय–विनिश्चय विवरणमें विद्यानंदके बारेमें 'अनवद्याचरण' नामसे उनके नियम पालनके प्रति अपना हार्दिक–गौरव व्यक्त किया है। इनकी विद्यासम्पन्नताके विषय में निःसंदेह कह सकते हैं कि अकलंकदेव के बाद दिगंबर जैनाम्नायमें इतिहासप्राप्त केवल इने–गिने तार्किक विद्वानोंमे 'विद्यानन्द' का स्थान सर्वोपरि है। जैनसिद्धांत, जैन–न्याय–व्याकरणादि में ही नही बल्कि जैनेतर बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य मीमांसक, चार्वाकादि अन्य दर्शन शास्त्रों में वे गहराई तक पैठे हुए 'सिद्धांत' तथा अनमोल 'तार्किकरत्न' भी थे। इनसे रची ग्रन्थराशि ही इसका प्रत्यक्ष साक्षी है।

विद्यानन्दीके 'जीवित काल' के बारेमे विश्लेषण या संशोधन करनेकी ज्यादा आवश्यकता हीं प्रतीत नही होती फिर भी हमारे मतमें यहां पर एक बातका मनन करना, याद रखना अवश्य उचित होगा। डॉ. श्रीकण्ठ शास्त्रीके मतानुसार विद्यानन्द (×) गंगवंशके सायि गोट्ट

(×) जैन आण्टिक्वाइरी वाल्यूम X X नं. II दिसम्बर १९५४ पृ. ९ से १४ तक।

शिवकुमार के छोटे भाई विजयादित्यके पुत्र राचमल्ल तथा सत्यवाक्यके समकालिन थे । मान्य कामताप्रसाद जैन, महेंद्रकुमार शास्त्री और दरबारीलाल कोठिया आदि पंडित प्रवरोंके कथनानुसार 'आप्तपरीक्षा,' 'प्रमाणपरीक्षा' युक्त्यनुशासनालंकारोंमें विद्यानंदने परोक्षरूपमें (×) 'विजयादित्य' तथा सत्यवाक्योंके नामोंका उल्लेख किया है । इसके अलावा (×) राचमल्ल सत्यवाक्य दोनोंका अमोघवर्षके सेनानी 'बंकेश' से युद्धमें सामना करनेकी बात भी उल्लिखित है ।

अब यहां इस विषयसे संबंध रखनेवाली एक बातको कहना आवश्यक होगा । ज्यादातर कर्नाटक प्रांतमे 'नोम्पी' (व्रताचरण) करनेकी धार्मिक परिपाटी (प्रथा) बहुतकाल पहिले से ही चलती आ रही है । इन व्रताचरणोंसे संबंधित 'नोंपी कथाएं' (व्रत कथाएं) विशेषत: प्रचारम है । उन कथाओंमे 'नागस्त्री नोंपी कथा' भी एक है । इसमें लिखा है कि 'तेरदाळ' के राजा बंकभूपने विद्यानन्दी और माणिक्यनन्दी नामक दो मुनियोंको आहार देनेके पश्चात् उनसे 'नागस्त्री' नोंपी (व्रत) का ग्रहण किया था । परंपरासे अकृत्रिमरूप में चले आए इस कथन की 'ऐतिहासिकता' के बारेमे कोई संदेह नहीं उठता । क्योंकि इस 'नोंपी कथा' के आधारपर लिखा हुआ मेरा विश्लेषणात्मक एक लेख 'सन्मति' पत्रके अप्रेल, मई १९८० के अंक के पृष्ठ ९४–१०० मे प्रकट हुआ है । विद्यानन्दी द्वारा परोक्षरूपमें सत्यवाक्य तथा राचमल्लकी जो सूचना मिलती है, राचमल्ल द्वारा बकेशका सामना करनेकी बात केरेगोडे रंगपुरके ताम्रपट शासनके कथनोंसे जब समन्वय रखती है तो इससे नोंपी कथाकी ऐतिहासिकता को और भी पुष्टि मिल जाती है । इन सब बातोंसे एक बात दृढ हो है कि विद्यानन्दी और माणिक्यनन्दी मुनि दोनों साधर्मी भ्राता बनकर बंकरस [बंकेश] अमोघवर्ष, राचमल्ल, सत्यवाक्य इनके समकालीन थ, और इन दोनों (विद्यानन्दी, माणिक्यनन्दी) का जीवित काल प्राय: ई. सन आठवी और नौवी शताब्दीके मध्यवर्ती कालमें रहा होगा । अर्थात् ई. सन ७७५ से ७८० के बीचमें होगा ।

षट्खंडागम की धवला तथा कषाय पाहुडकी जयधवला व्याख्याके प्रथम भागके रचयिता सुप्रसिद्ध सिद्धांतकेसरी श्री वीरसेनाचार्य भी इसीकालमें जीवित थे । विद्यानन्दी मुनिके कालके बारेमें यह निर्णय यद्यपि सर्वसंमत माना जाता है फिर भी विद्यानन्दीके धर्मभ्राता माणिक्यनन्दीके कालके बारेमे मान्य न्यायाचार्य पं. दरबारीलाल कोठियाने आपकी लिखी आप्तपरीक्षा की प्रस्तावना (पृष्ठ २७ से ३३) में माणिक्यनन्दी, 'सुदसण चरिउ' के रचयिता 'नयनन्दी' और प्रमेयकमलमार्तंड के रचयिता 'श्री प्रभाचन्द्र' के साक्षात् गुरू थे और 'उनका जीवितकाल ई. सन ९९३ से १०५३ के बीचमें होगा' ऐसा अपने विचारका मण्डन किया है । परन्तु उन्हींके कथनानुसार तथा विभिन्न शिलालेखोंके आधार पर 'प्रमेय कमलमार्तंड' के रचयिता श्री प्रभाचंद्र पद्मनन्दी सैद्धांती (ऋषभनन्दी) तथा चतुर्मुख देवके शिष्य थे । प्रभाचन्द्र माणिक्यनन्दीके साक्षात्

(×) पिछले पृष्ठके वाल्यूम में ही पृ. सं. ११ पर।
(×) ,, ,, ,, पृ. स १३ पर।

शिष्य थे, इस कथनका कोई समर्थन कहीं नहीं मिलता । प्रमेयकमलमार्तंडकी प्रशस्ति में माणिक्यनन्दी पदपंकजप्रसादसे ' शास्त्ररचना करता हूं ' इस अर्थकी उक्ति जरूर है । मगर इस कथन मात्रसे इन दोनोके गुरु-शिष्यका साक्षात् संबंध साधित नही होता । ई. सन १०२५ के समय वादिराजसूरिने ' न्याय विनिश्चयविवरण ' तथा प्रमाण-निर्णय ' इन दो न्यायग्रन्थोंकी रचना की थी और उनमें विद्यानन्दीकी रचना की थी और उनमें विद्यानदीके वाक्योंका उद्धरण किया जरूर है, मगर माणिक्यनन्दीके परीक्षामुखका उल्लेख नही किया । इससे प्रतीत होता है कि माणिक्यनन्दी वादिराजसूरिके पूर्वकालीन न होकर निकटवर्ती समकालीन रहे होंगे । ऐसा निर्णय मान्य श्री कोठियाजीका है । लेकिन यहांपर यह भी अनुमान किया जा सकता है कि विद्यानन्दी के ग्रंथोंसे उद्धरण करनेके बाद माणिक्यनन्दीके परीक्षामुखसे भी उद्धरण करनेकी आवश्यकता उनको नहीं पडी होगी । इतनाही नही कोई एक अर्वाचीन ग्रन्थकार द्वारा किसी प्राचीनकालीन ग्रन्थकारका, अपने ग्रन्थमे उल्लेख न करना ही उसके कालनिर्णयमे साधक या बाधक नहीं माना जा सकता । ' विद्यानन्दी ' और ' माणिक्यनन्दी ' दोनों समकालीन थे । इस बातका समर्थन करनेवाली नोंपी कथाके पोषक दूसरा एक प्रबल साक्ष्याधार भी हमे मिलता है और वह यह है- ' श्री पी. बी. देसाई ' जी कें ' जैनीजम इन सौत इन्डिया ' के पृ. ३८८ मे जो विचार प्रकाशित है नीचे दिया जाता है-

" पूर्वकालमें ' वर्धमान ' " गंग घरानेके गुरु थे । इनके ' विद्यानन्दी ' और ' माणिक्यनन्दी ' नामके दो शिष्य थे । इनमेंसे दूसरा (माणिक्यनन्दी) ' तार्किकार्क ' प्रशस्ति प्राप्त था । माणिक्यनन्दीके बाद गुणचन्द्र, विमलचन्द्र और गुणचन्द्र ये तीनों तीन पीढियोंके क्रमागत शिष्य हुए थे । गुणचन्द्रके गण्डविमुक्त (प्रथम] अभयनन्दी ये दो शिष्य थे ।

इस कथनके अनुशीलनसे ' विद्यानन्दी ' और ' माणिक्यनन्दी ' ये दोनों एक ही गुरुके समकालीन धर्मभ्राता शिष्योतम थे, इसमे अब काई सन्देह ब की नहीं रह जाता ।

बहुश्रुत विद्वान ही सैद्धांतिक ग्रन्थोंका अनुवाद या व्याख्यान लिख सकते हैं, दूसरे नहीं । उन महान ग्रन्थोंमें भी तर्कसरणिके ग्रन्थोंका अनुवाद कार्य, सिद्धांत एवं न्यायशास्त्र दोनोंमे परिणत मेधावी पण्डित रत्नोंद्वारा ही संभव है । ऐसे ही पण्डित रत्नोंमे एक ' तर्करत्न ' ' सिद्धान्त-महोदधि ' ' स्याद्वादवारिधि ' ' दार्शनिकशिरोमणि ' ' न्यायदिवाकर ' पं. माणिकचन्दजी न्यायाचार्य फिरोजाबाद-आग्रा भी माने गए है । इन्हींके द्वारा ' तत्त्वार्थ-चिंतामणि-टीका ' रची हुई है ।

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक-

मूल ग्रन्थ ५१२ पृष्ठोंमें (केवल मूल प्रति) पहले प्रकाशित (छपा) हुआ है । इसकी पुरानी जीर्ण प्रतिका ' मुखपृष्ठ ' लुप्त है । इसलिए इस बातका पता लगाना मश्किल है कि इसके प्रकाशक कौन थे । इस समय आचार्य श्री कुन्थुसागर ग्रन्थमाला शोलापुर के प्रकाशनमे

श्लोकवार्तिकालंकार हिंदी-टीका (पू. पं. माणिकचंदजीकी रची टीका) सहित सात खण्डोंमें विभाजित, कुल मिलाकर ३६२६ पृष्ठोंमें प्रकाशित है। हर एक खंडमें संपादकीय, प्राक्कथन, तथा परिशिष्ट आदि विषयही करीब १५० पृष्ठोंमें निर्देशित हैं। पहिले दो-चार साल तक अजमेरके श्रीमान माननीय "धर्मवीर" रा. ब. भागचन्दजी सोनी इस ग्रंथमालाके अध्यक्षपद पर रहे, और ग्रन्थमाला की प्रगतिमे हरतरहका 'योगदान' देते हुए ग्रन्थप्रकाशन के कार्योमे मुख्यपात्र बने रहे। इसके पहिले के पांच खण्डो के 'समर्पण' क्रमसे १) परमपूज्य आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज २) सर सेठ हुकमचंदजी ३) तपोनिधि आचार्य श्री नेमिसागर महाराज ४) आचार्य श्री वीरसागर महाराज तथा ५) तपोनिधि आचार्य श्री शिवसागर महाराजोंके करकमलोंमें किये गये हैं। छठे खण्डके प्रकाशनमें सुलतानपुरके निवासी ला० जिनेश्वरप्रसादजीकी धर्मपत्नी श्रीमती जयवन्ती देवीजीको धनसहायता इस अवसरपर स्मरणीय है।

'श्लोकवार्तिक' ग्रन्थके टीकाकार श्री पं माणिकचंदजी कौन्देय, न्यायाचार्य के प्रति और इस महान ग्रन्थके बारेमे महान सन्त श्री गणेशप्रसादजी वर्णी श्री इन्द्रलालजी शास्त्री न्यायालकार, वादीभकेसरी, विद्यावारिधि, पं. मक्खनलालजी शास्त्री विद्वद्वर श्री पं. कैलाशचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री इन विद्वत समाजके अग्रेसरोंद्वारा किये गये प्रशंसापर वक्तव्य तथा पहलेके चार खण्डोंके सम्पादकीय में प्रकटित विचार धारासे जो बातें व्यक्त की गई हैं, वही इस महती कृति के महत्वको बतानेवाली प्रत्यक्ष निदर्शनि है।

दिवगत सुप्रसिद्ध विद्वान पण्डित वर्धमान शास्त्री विद्यावाचस्पति' व्याख्यानकेसरी, समाजरत्न, धर्मालन्कार, विद्याकार न्याय-काव्यतीर्थ, सात खण्डोंमें प्रकाशित इस ग्रन्थरत्नके सम्पादक और प्रकाशक रहे। तथा कुन्थुसागर ग्रन्थमालाके गौरवमंत्रीभी थे। इनके नामके साथ लगी उपाधियां इनके जीवनकी महता साधना, धर्म एवं सामाजिक सेवाओमें तत्परता, आदि सद्गुणोंका प्रतिनिधित्व करती है। यही इनके व्यक्तित्व की परिचायिकाएं हैं। पहिले के छहो खण्डोंके सम्पादकीय इनकी अनुपम प्रतिभा तथा कार्यदक्षताका द्योतक दर्पण है।

इस सातवे खण्डकी छपाई यद्यपि सन्मान्य पण्डितजीके नेतृत्वमे हुअी है, फिर भी इस खण्डमे स्वर्गवासी शास्त्रीजीके सम्पादकीयका अभाव मनमे खटकता है। क्योंकि उनकी पाण्डित्यभरी लेखनी द्वारा लिखे जानेवाले सम्पादकीय, प्राक्कथन एवं परिशिष्टादि विशिष्ट लाभोंसे जिज्ञासू पाठकगण इसबार वंचित रहे है।

यह सातवा खण्ड तत्वार्थ सूत्रके आठवे अध्यायके प्रथम सूत्रसे आरम्भ होता है, और दसवे अध्यायान्तमें परिसमाप्त होता है। इसके साथही इस 'श्लोकवार्तिकार' का प्रकाशनभी पूर्ण हो जाता है। 'श्री कुन्थुसागर ग्रन्थमाला' द्वारा अब तक प्रकाशित उद्ग्रन्थोंकी संख्या ही स्वर्गीय शास्त्रीजी के धार्मिक एवं सामाजिक सेवामनोभावको उंगलियोंसे निर्देश, कर रही है। पू. स्व. शास्त्री महोदयका वह महोद्देश, आगे उनके सुपुत्र द्वारा पूर्ण हो। यही शुभभावना यहांपर हम व्यक्त करते हैं।

समारोप

स्व० मान्य श्री पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्रीजी की धर्मपत्नी श्रीमती मदनमंजरी-देवी शास्त्री एवं उनके सुपुत्र श्री सुभाष शास्त्री एम्. ए. तथा उनकी धर्म-पत्नी श्रीमती सुजाता शास्त्री एम्. ए. श्लोकवार्तिकाङ्कारके इस सातवे खडके प्रकाशन-कार्य में पूर्ण श्रेयोभागी हैं। ये सुयोग्य दम्पत्ती कार्यतत्पर, धर्मसज्जन-धर्मज्ञ एव बडे विनयशील हैं। स्वर्गवासी श्री शास्त्रीजीके जीवनकी जो सदिच्छा थी, इस ग्रंथ प्रकाशनमें जो सदुद्देश था, वह इन आदर्श दम्पत्तियोंकी लगनसे तथा कर्तव्य-परता से आज सफल हो रहा है। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि इसी प्रकार आगे भी इनके द्वारा धार्मिक सेवाएं समाजको प्राप्त हो, और स्वर्गीय शास्त्रीजीका नाम समाजमें चिरस्थायी रहे।

"प्राक्कथन" लिखकर इस पुण्यकार्यमें भाग प्राप्त करनेका जो सदवकाश मिला है, इसके लिए मैं इन दम्पत्तियोंका बहुत बहुत आभारी हूं। मेरे इस प्राक्कथन के हिंदी अनुवादक-'आस्थानविद्वान्' 'हिंदी रत्न' 'सिद्धांत शास्त्री' 'सं. साहित्यशिरोमणी' पं. शिशुपाल पार्श्व-नाथ शास्त्री का में ऋणी हूं। इस कथनके साथ 'प्राक्कथन' से लेखनी विरमती है।

प्रोफेसर और अध्यक्ष स्नातकोत्तर जैनालाजी,
प्राकृत विभाग, मानसगंगोत्री
मैसूर-६

आपका विश्वस्त -
डॉ० ए. डी. वसंतराज
एम. ए. पी एच. डी.
१६-१०-७३

आचार्य विद्यानंद स्वामीकी विद्वत्ताका परिचय.

आचार्य विद्यानन्द स्वामी संपूर्ण तार्किक विद्वानोंके समूहमे चूडामणीके समान थे । इनका सर्व शास्त्रोंमें स्वतन्त्र-अद्वितीय वाग्मित्व-वाक्पटुत्व था । सरस्वतीरूपी लतावेलीके विस्तृत भूषावेषसे विभूषित ऐसे न्यायशास्त्र-व्याकरणशास्त्र-सिद्धांतशास्त्र इन ग्रंथत्रयी विद्याको जाननेवाले विद्वानोंमे इनकी प्रज्ञाप्रभा सूर्यकी प्रभाके समान विशेष अतिशयको धारण करनेवाली त्रिलोकव्यापी प्रतापवान् थी, इस विषयमे परिपक्व प्रज्ञाके गरिमाको धारण करनेवाले तार्किक कोई भी विद्वानोंमे विवाद नहीं है ।

इनके द्वारा रचित अष्टसहस्री नामक मुलप्रकृति हजारों एकांतवादी दुर्जनोंको निर्मद करनेवाली है । हजारों तत्त्वशकाके कष्ट-दुःखोंको दूर कर समीचीन वस्तु तत्त्वोंका प्रतिष्ठापन करनेवाली है। हजारों तत्त्वभ्रष्ट लोगोको अपने चरणोंमे शरण लाकर नम्र किया है । इनकी सप्तभंगीका प्रतिपादन करनेके पटुताकी विलक्षण प्रतिभा ज्ञानीजनोंके चित्चैतन्यको चमत्कारक प्रतिभासित होती है ।

आजकल उनके द्वारा विरचित विद्यानन्द महोदय नामक ग्रथराजमें उन्होंने कितने मेय-प्रमेय सिद्धात गुफित किये है यह हम नहीं जान सकते है । ऐसी किंचित् प्रमोद जनक तो किंचित् खेदजनक परिस्थिती उत्पन्न हुई है । उसको कौन रोक सकता है ?

इन्होंने स्याद्वाद वाणीकी दुंदुभिध्वनिको उद्घोषित कर गुरुपरंपरागत अकलंकदेवकी निष्कलंक-निर्दोष प्रक्रियाका अनुसरण कर अत्यंत रुक्ष विषयक न्यायशास्त्रका उद्धार किया है ।

इन्होंने तत्वार्थशास्त्रावतार से स्वामी अकलंकदेव रचित स्तुतिगोचर आप्तमीमांसा अलंकृतिके षड्दर्शनशास्त्रके संक्षिप्त लघुसिद्धांत गणनाको विस्तृत कर तीनसो त्रेसठ एकांतवादी मतोंका खंडनपूर्वक अनेकात जिनशासनकी ध्वजापताका अन्य प्रवादी लोगोंके नभोमंडलमे फडकायी ।

' वस्तुमे जो जो परिणमन कार्य होता है वह अपने अपने वस्तुस्वभाव-भेदके कारण होता है ' (अन्य निमित्त के कारण नही) ऐसा अन्य शास्त्रोंमें न पाये जानेवाला अत्यंत गूढ रहस्य सिद्धांत आचार्य विद्यानन्द स्वामीने स्पष्टतासे उद्द्योति किया । वह इस प्रकार है, जैसे कि-

छोटासा बालक भी धनुष्यके लकडीको उसके मध्यभागमे मूठसे पकडकर उठा सकता है । उस धनुर्यष्टीकों कोई तरुण उसके अग्रभागको भी मुष्टीसे पकडकर उठा सकता हैं । कोई मल्ल उस धनुर्यष्टीको उसके केवल अग्रभागको केवल अपने एक अग्रभागके अंगुलीके आधार पर लेकर उठा सकता है ।

उसी प्रकार धनुर्यष्टिके स्थानीय जो वस्तुमे स्वाभाविक अपने वस्तुस्वभावके कारण परिणतियां होती है वे अपने अगुरुलघु नामक शक्तिके कारण अविभाग प्रतिच्छेदोंमे षट्स्थान पतित हानि-वृद्धिके कारण अपने अन्तरंग निमित्त कें कारण ही होती है । बाह्य निमित्त कारण

उन परिणतियोंका केवळ निमित मात्रसूचक कारण होता है । कारक कारण नहीं है । ऐसा मनीषी–तत्त्वजिज्ञासु लोकोको निर्णय करना चाहिये ।

तत्वार्थाधिगम शास्त्रके अन्तर्गत अतींद्रिय, सूक्ष्म–अत्यंत परोक्ष विषयोंका इनके श्लोक–वार्तिक नामक महाग्रंथमे प्रतिपादन किया गया है। जैसें कि–

एक कार्यका दूसरे कार्यमे अत्यंताभाव, (हेतुमन्निष्ठ–अत्यंताभाव) (अप्रतियोगि–साध्यसमानाधिकरण्य)– साधकतम कारणके साथ साध्य का निष्प्रतियोगी–निर्बाध–अविरुद्ध–समाधिकरणता, (अविनाभाव). साध्यकी तरह अन्यापोहात्मक आदि अनेक दुर्लक्षणोंका निषेध कर अन्यथानुपपत्ति रुप लक्ष्यको अंकित करनेवाले सम्यक् हेतुका युक्तिपुरस्सर अनुमान प्रमाण द्वारा प्रतिपादन किया है । प्रमाण सप्लव माननेवाले, ताथागत, मीमांसक, अक्षपाद, कापिल, .सांख्य) इत्यादि अन्य प्रतिवादियोंकें हृदयोंके हृदयोंको हरण करनेवाली स्याद्वाद जिनवाणी द्वारा स्वामी विद्यानन्दनें प्रतिपादन किया है।

जब दन्तोंका समूह अपनी जिस शक्तीकें द्वारा चनोंको चबाकर उनका जैसे चूर्ण करते हैं वैसे उसी शक्तिके द्वारा वह दन्तसमूह दूधमिश्रित अन्न भी खाते है। तब उनमे चनोंको चबानेंवाली और पायसको खानेवाली एक शक्ति प्रगट होती है। उसी तरह चनकोंके कणोंमे भी असाधारण धर्मोंसे युक्त नानारस, नानागंध, कठिनपना व्यक्त होता है और क्षीरान्नमे भी मृदुत्वकी तरतमता प्रकट होती है ।

उसी तरह विद्यानन्द आचार्य का यह अष्टसहस्री नामक ग्रंथकार्योमे जो नानापना दिखता है वह नानापना उत्पन्न करनेकी शक्तियां कारणोंमें होती है ऐसा वर्णन करता हैं ।

अन्य मतोंकें शास्त्र संसारसमुद्रकें भंवरोंमे भ्रमण करनेवाले है और वे काचके समान हैं। और यह अष्टसहस्री ग्रंथ संसार समुद्रके भोवरोंमेंमे निकालनेवाला है ओर मानो कशांपासमे चूडामणी विद्वानोंको अलंकारके समान हैं। अन्य मतोंके शास्त्र काचके टुकडोंके समान है और यह अष्टसहस्री ग्रंथ चूडामणितुल्य है ।

यह अष्टसहस्री ग्रंथ विद्यानन्दरूप महासमुद्रही है तथा विद्यानन्द आचार्यजीने इस ग्रंथ को प्रथम बनाया हैं। इस ग्रंथके वाक्य छोटे छोटे हैं तो भी इसकी वाक्य पंक्तियां विपुल प्रमेयों का निरूपण करनेंवाली हैं । श्रीहर्ष वगैरह जो अन्य मतके विद्वान हैं उन्होंने खंडनखाद्य आदिक दर्शन शास्त्रोंकी रचना की है परन्तु वे शास्त्र अल्पसारयुक्त है और अतिशय कटु और कठोर शब्दसमूहसे भरे हुए हैं ।

अर्हत्परमेष्ठीके मुखसे प्रकट हुआ जो द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञानरूप वाङ्मय वह मानो गंभीर गुहा है । इस गुहामे जिनकी गणना करनेमे हम असमर्थ हैं ऐसे अनन्त प्रमेयरूप रत्न भरे हुए हैं । उनका स्वरूप जाननेकी जिनको इच्छा है तथा जो मुक्तिको जाननेवाले विद्वान हैं उनके लिये आचार्य विद्यानन्दी ये जिनवाणीका मानो जयजयकार ध्वनि करनेवाले नगारेके समान है ।

ऐसे विद्यानन्दी आचार्यश्रीने तत्वार्थलंकाररूप ग्रंथमें अज्ञजनोंको बोधकरानेके लिये, हम जिनकी गणना नही कर सकते ऐसे जीवादि प्रमेयरत्न भर दिये हैं । ऐसे प्रमेयरत्न भरनेसे आचार्य विद्यानन्दीजी लोकोत्तर प्रतिभासे भूषित थे ऐसा दृढ विश्वास उत्पन्न होता है ।

आचार्य श्री विद्यानन्दजीने रचे हुए तत्वार्थ श्लोकवार्तिकके प्रारभमें मगल श्लोककी रचना की है। अज्ञान तथा रागादि दोषोंको–मलोंको जो नष्ट करके निर्मल सुखको देता है उसे मंगल कहते हैं ।

शिष्योंको समझानेके लिए उस मंगल श्लोकको यहां लिखकर उसके पांच अर्थोंका यहा वर्णन करते हैं—

श्रीवर्धमानमाध्याय घातिसङ्घातघातनम् ।
विद्यास्पद प्रवक्ष्यामि तत्वार्थश्लोकवार्तिकम् ।।

इस मंगल श्लोकका प्रथमतः में अर्थ लिखता हूं ।

मै विद्यानन्द स्वामी अन्तरंग तथा बहिरग दो लक्ष्मीओंसे सतत वृद्धिको जो प्राप्त हुए हैं तथा ज्ञानावरणादि सेंतालिस कर्म प्रकृतिओंका जिन्होंने समूल उच्छेद किया है तथा जो 'विद्यास्पद' अर्थात विद्यानन्द नाम धारक ऐसे मुझे आलंबन शरण्य–रक्षक है ऐसे श्री वर्धमान नामक चौवीसवे तीर्थंकर को मन, वचन तथा शरीरसे चिंतन कर उमास्वामी आचार्य विरचित तत्वार्थ मोक्षशास्त्र नामक प्रसिद्ध जैनदर्शन जिसको अर्ध नामसे लोग तत्त्वार्थ कहते हैं तत्त्वार्थसूत्रमें वर्णित प्रमेयोंपर बत्तीस अक्षरात्मक अनुष्टुप् छन्दस्वरूप श्लोकबद्ध वार्तिकोंकी रचना में करूंगा इस प्रकार श्लोकका अभिप्राय है ।

इस श्लोकमें प्रवक्ष्यामि क्रियापद है उसका स्पष्टीकरण–यह क्रियापद भविष्यत्कालवाच लृट्लंकार की क्रियाको व्यक्त करता है । अर्थात 'मै कहुंगा' ऐसा अभिप्राय व्यक्त होता है । अहं शब्द यहां यदि रखा जाता तो पुनरुक्तिका दोष आ जाता । जो अभिप्रायसे जाना जाता है उसको पुनः कहना उसे पुनरुक्त कहते हैं । प्रवक्ष्यामि–मै विद्यानन्द स्वामी प्रकर्षसे–अर्थात् युक्ति पूर्वक परपक्षनिराकरणपूर्वक वक्ष्यामि कहूंगा, ऐसा अभिप्राय यहां है क । तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम् तुम क्या कहोगे ? तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकको मै कहूंगा । नामका एकदेश संपूर्ण नाममें प्रवृत्त होता है । जैसे सत्यभामा नाम सत्या शब्दसे कहा जाता है । उमास्वामी आचार्यजीनेही यह तत्त्वार्थ मोक्षशास्त्र नामक प्रसिद्ध जैनदर्शन रचा है । इसेही उनके चरणोंकी स्तुति करनेमें निपुण विद्वान 'तत्त्वार्थ' इस नामसे बोलते हैं ।

अत्यन्त प्रिय व्यक्तिका वाच्य जो नाम है उसका अर्धउच्चारण करनेकी प्रसिद्धि है ।

तत्त्वार्थसूत्रमें कहे हुए प्रमेयोंके ऊपर बत्तीस अक्षरात्मक अनुष्टुप छन्दस्वरूप श्लोकबद्ध वार्तिकोंकी रचना में करता हूं ऐसी प्रतिज्ञा आचार्य विद्यानन्दजीने की है । वार्तिकका लक्षण

आचार्यने ऐसा कहा है– मूलग्रंथकारसे कहे हुए पदार्थ तथा उससे न कहे हुए पदार्थ इनका चिंतन तथा अन्य पदार्थोंका चिंतन जिनमे किया जाता है, चर्चा की जाती है ऐसे वाक्योंको वार्तिक कहते है। इन वार्तिकोंकी रचना करनेके पूर्व आचार्यने अन्तरङ्ग लक्ष्मी तथा बहिरङ्ग लक्ष्मीओंसे सतत वृद्धिको प्राप्त हुए श्रीवर्धमान तीर्थंकरका मनोयोग, वचनयोग तथा काययोगके द्वारा चिंतन किया। वे वर्धमान तीर्थंकर घाति संघात घातन थे अर्थात् उन्होंने ज्ञानावरणादि सैंतालीस कर्म प्रकृतियोंका समूल नाश किया था। वे वर्द्धमान तीर्थंकर पुनः कैसे थे ? '' विद्यास्पदं '' विद्यानंद वे अर्थात् मुझको '' आस्पदम् '' आलम्बन शरण्य–रक्षक थे। गुरुजन ' अरे विद्या ' ऐसे प्रिय इष्ट अर्धसंज्ञासे मुझे बुलाते थे और वह उनका विद्या शब्द प्रयोग विद्यानन्द आचार्यको बहुत प्रिय लगता था।

अब इसी आद्य पद्यका दूसरा अर्थ आगे लिखे हुए प्रकारसे आप जान लेवे–

अर्हं घातिसंघात घातनम्–अन्योन्य का जन्मसे विरोध करनेवाले हरिण, सिंह, सर्प और गरुड, गाय और व्याघ्र आदि घातक प्राणियोमें जो जन्मसे ही वैर रहता है उसका अर्हत्परमेष्ठीने नाश किया है ऐसे अर्हत्परमेष्ठिका मनमें चिंतन करके मैं (विद्यानन्द आचार्य तत्त्वार्थके ऊपर श्लोकवार्तिक ग्रंथको कहूंगा। अर्थात् जैनागममें जो जीवादिक प्रमेयोंका वर्णन पूर्वाचार्योंने किया है उनकी सिद्धि में दृष्टांत तथा हेतुपूर्वक दार्शनिक विद्वानोंके आगे करूंगा। जिनका मनमें चिंतन किया जाता है वे अर्हन् कैसे हैं– '' श्रीवर्द्धमान अवाप्योरुपसर्गयोः '' इस सूत्रके नियमसे अव उपसर्गका अकार लुप्त हो जानेसे श्रीवर्द्धमान शब्द सिद्ध हुआ। श्रीवर्द्धमान इस शब्दका स्पष्टीकरण– ' श्रायुक्तं अवसमन्तात् ऋद्ध प्रदीप्तं मानं केवलज्ञानं यस्य–बाह्यसमवसरणलक्ष्मीयुक्त तथा संपूर्ण द्रव्य, संपूर्णक्षेत्र, संपूर्ण काल और संपूर्ण भावोंमे प्रभु वर्धमान जिनेश्वरका केवलज्ञान प्रदीप्त हुआ है अतः महावीर प्रभु यथार्थ वर्धमान हैं।

पुनः वे अर्हंत वर्धमान ' विद्यास्पदं ' विशेषणसे युक्त हैं अर्थात् जाना गया जो संपूर्ण द्वादशांग वाङ्मय उसके अधिष्ठाता है। पुनरपि वे अर्हंत कैसे हैं ? तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकम् बुद्धोका विषय होनेसे तथा [illegible] धर्मका प्रकर्ष होनेसे अन्योन्यसे भिन्न ऐसे जो जीव अजीवादि पदार्थ है वे तत्त्वार्थ हैं. तथा संपूर्ण वस्तुओंमें जो मुख्य है, श्रेष्ठ है ऐसा जो शुद्ध आत्मा मात्र वह ही आत्माका स्वाभाविक परिणाम है उसको उत्पन्न करनेवाला तथा पुण्यगुणका सर्वत्र कथन करनेवाला तथा शुद्ध आत्मस्वरूपरूपी जो यश उसकी प्राप्ति करनेवाले चरित्रके वे अर्हंत रक्षक हैं। तथा वे अरिहंत दयामृत समुद्र हैं। तथा वे अर्हंतपरमेश्वर देवाधिदेव हैं। यथा यथाख्यात चारित्रकी उत्तरोत्तर शुद्ध परिणति होनेसे तेरहवे संयोग केवलि गुणस्थानमे तीर्थंकरत्व का उचित महाप्रभावना करनेवाले कर्तव्योंको करनेवाले प्रभु परमश्रेष्ठ यशको प्राप्त करके प्रसिद्ध और अत्यंत शुद्ध अपने आत्मपदकी रक्षा करेंगे।

✿ ✿

अब इसी पद्यके तृतीय अर्थका चिंतन कैसा करना चाहिये इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं। –

कं आध्याय प्रवक्ष्यामि– में शुद्ध परमात्मस्वरूपको जो प्राप्त हुए हैं ऐसे सिद्ध परमेठी का मनमें स्मरण करता हूं। तदनंतर शास्त्रार्थ करनेके कार्यमें मैं सिंहके समान स्वभाववाला हूं। जैसे सिंह मत्त हाथियोंके कुंभस्थल विदारण करनेमें तत्पर होता है वैसे मैं भी प्रतिवादि– दार्शनिक विद्वानोंको आव्हान देकर उनके मतोंका निराकरण करनेमें दक्ष ऐसी सप्तभङ्गी वाणी का निरूपण करूंगा। वे सिद्धपरमेष्ठो श्री वर्धमान श्रीवान् हैं अर्थात् अन्तरग बहिरंग लक्ष्मीको देते हैं तथा वे सिद्धपरमेष्ठी अनन्तानन्त संख्याक परिमाणको धारण करनेवाले हैं। वे सिद्ध केवल अपने अस्तित्वसे ही नाना भव्य जीवोंके हितके लिये कारण होते हैं। तथा स्वाभाविक परिणतिको ही सर्वदा धारण करते हैं। तथा वे अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठा सिद्धक्षेत्रमे विराजमान होते हैं। पुन: वे सिद्धपरमेष्ठी कैसे हैं? उत्तर-घातिसघात घातनम् आत्माके ज्ञानादि गुणोंका नाश करनेवाले कर्मोंके समूहका नाश करनेवाले हैं। कौन कौन कर्म आत्माके ज्ञानादि गुणोंका नाश करते हैं इस प्रश्नका उत्तर आगेकी दो गाथाओंसे आचार्य देते हैं–

मोहो खाइयसम्मं केवलणाणं च केवलालोयं।
हणदि हु आवरणदुगं अणंतविरियं हणेइ विग्घं तु॥
सुहुमं च णामकम्मं हणेइ आऊ हणेइ अवगहणं।
अगुरुलहुग च गोद अव्वाबाहं हणेइ वेयणियं॥

मोहनीय कर्म आत्माके क्षायिक सम्यग्दर्शनका नाश करता है। ज्ञानावरण कर्म तथा दर्शनावरण कर्म ये क्रमसे केवलज्ञान तथा केवलदर्शनको नष्ट करते हैं। तथा विघ्नकर्म–अन्तराय कर्म आत्माकी अनन्तशक्तिको नष्ट करता है। नामकर्म आत्माके सूक्ष्म गुणका–अमूर्तिकताका नाश करता है। तथा आयुकर्म अवगाहनगुणका नाश करता है। गोत्रकर्मसे अगुरुलघुत्वगुण नष्ट होता है और वेदनीय कर्म अव्याबाध गुणका घात करता है।

इन दो गाथा प्रमाणरूपका अनुसरण करनेसे आत्माके सम्यक्त्वज्ञान, दर्शनादि आठ गुणों का विघातकत्व इन आठ कर्मोंमे है यह सिद्ध होता है। अत: सिद्ध भगवान वीर प्रभुमें ज्ञाना-वरणादि आठ कर्म तथा उनके उत्तरोत्तर प्रकृति समूहका विध्वंसकत्व सिद्ध होता है।

पुन: वे सिद्ध परमेष्ठी वर्धमान कैसे है? कथं भूतं क विद्यास्पद–वे सिद्धपरमेष्ठी विद्याके केवलज्ञानके सार्वभौम अधिपति हैं। अथवा भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म ये सिद्ध भगवानमेसे निकल जानेसें वे शुद्ध चिदानंद चैतन्य मात्रमे अवस्थान कर रहे हैं। उन सिद्धपरमेष्ठीका निरूपण मैं कैसे करू? तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक यथास्यात्तथा आत्मतत्त्वके हितका वर्णन करनेसे संसारसंबंधी पीडाका परिहार जैसा होगा उस प्रकारसे वर्णन करना।

✿ ✿ ✿

अब चतुर्थ अर्थका विद्वज्जन इस प्रकारसे विचार करे।

'अहं विद्यास्पदं आध्याय प्रवक्ष्यामि' मैं विद्यानन्द हूं और मुझे जो तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हुई है उसमे मुख्य–प्रधान आधार श्रेष्ठ गुरु श्री समन्तभद्राचार्यकी वाक्यपंक्ति ही कारण

थी। इसलिये विद्यानन्द यह अन्वर्थक नाम जिसका है ऐसे मेरे समन्तभद्र स्वामी श्रद्धास्पद गुरू महाराज हैं। इसलिये अनेक शास्त्र ज्ञानके आधारभूत समन्तभद्र स्वामीका मनमे चिंतन कर स्वर्गमें रहे हुए गुरूओंके सामने तत्त्वार्थ शास्त्रका जो मैं परिशीलन-अभ्यास किया है उसकी परीक्षा देनेकी इच्छा करनेवाला मैं छोटे शिष्यके समान जिनका मैंने अभ्यास किया है ऐसे प्रमेयों का निरूपण करूंगा।

वे समन्तभद्र फिर कौन कौन गुणोंसे भूषित हैं ? कथंभूतं विद्यास्पदं, समन्तभद्र श्री वर्द्धमानं वे समन्तभद्र आचार्य विद्यास्पद है समन्तभद्र हैं और श्री वर्द्धमान हैं। पाटलीपुत्र, कांची, वाराणसी इत्यादि नगरिओंमे महाविद्वानोंके साथ वाद करके-शास्त्रार्थ करके समन्तभद्र आचार्यजीने विजयलक्ष्मी प्राप्त की थं तथा शिवकोटि भट्टारक महोदयके सामने आपके नमस्कार-भारको धारण करनेमे समर्थ तथा सर्व जगतको आनन्द देनेवाले चन्द्रप्रभ भगवानकी प्रतिमाकी प्रभावना का चमत्कार प्रगट किया था। इन कृत्योंसे जैनधर्मकी ध्वजा सर्व जगतमे आपने फहरायी थी। उनके फहरानेसे जैनधर्मकी विजयलक्ष्मीकी प्राप्ती हुई तथा जैनधर्मकी वृद्धि हुई ओर विस्तार हुआ। तथा वह जगतमें मान्यताको प्राप्त हुआ। तथा आचार्य महाराजका आत्मगौरव बढ गया। तथा आचार्य महाराजकी मानवृद्धि होनेसे जैनधर्मकी लक्ष्मी बढ गई। वे समन्तभद्र महाराज फिर भी कैसे थे ? घातिसघातघातनं सम्यग्दर्शनादि गुणोके समूहको नष्ट करनेवाले जो मिथ्यात्वादि कर्मोंका समुदाय उनको नष्ट करनेवाले थे।

समन्तभद्राचार्यके शरीरमे भस्मकादि रोगोंका समुदाय उत्पन्न हुआ तब उनके शरीरका स्वास्थ्य नष्ट हो गया। उस समय उन्होंने जिनवाणीरूप अमृतधारासे उन रोगोंका विनाश किया। अथवा वे समन्तभद्र मुनिराज भावी उत्सर्पिणी कालमे तीर्थंकर होकर ज्ञानावरणादि कर्म समूहका नाश करनेवाले होंगे। इस आशयका वर्णन ऐसा है–

बलवत्तर पापके उदयसे नरकनिगोदादि अशुभ गतिमे ये प्राणी गिरकर दुःख भोगेंगे इन प्राणियोंको अभयदान मैं दूंगा ऐसी कृपा आचार्य महाराजके मनमे उत्पन्न होगी और वे स्याद्वाद सिद्धांतका प्रचार कर जैनधर्म की प्रभावना स्वरूप शुभ भावनाके विचारवासनासे आगे के जन्ममे त्रैलोक्यको आनन्द देनेवाली तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करेंगे और भविष्यत् उत्सर्पिणी लाकमे तीर्थंकर पदका अनुभव लेकर ज्ञानावरणादि कर्म कर्मका घात करेंगे।

पुनः कथंभूतं समन्तभद्र तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्। यथार्थरूपसे निर्णय जिनका किया है ऐसे जो जीवादिक पदार्थोंका समूह उसका प्रकाशन करनेके लिये अर्थात् परवादियोंके गर्वको नष्ट करनेवाली यह समन्तभद्राचार्यकी वाणी मानो दीप कलिकाओंके समान है। यहां वार्तिकोंके संबंध मे प्रदीपका अर्थ लक्षणोसे जाना जाता है। वार्तिक शब्दका अर्थ बत्ती अर्थात् दीपकी बत्तो यह अर्थ होता है। श्री समन्तभद्र स्वामीकी जो वचनधारास्वरूप प्रदीप कलिका है उससें प्रकाशित जीवादिक तत्त्व वे खूब प्रकाशित होते हैं।

अब पांचवा वाच्यार्थ सुनो ।

" अहं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमाध्याय प्रवक्ष्यामि । अब मैं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका चिंतन करके उसका वर्णन करता हूं । विनय तपके ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय तथा उपचारविनय ऐसे चार भेद हैं उनमे ज्ञानविनय प्रधान है, श्रेष्ठ है । शुद्ध अन्तःकरणमें जब अपने आत्मस्वरूप का अनुभव उत्पन्न होता है तब उस आत्मानुभवका उपयुक्त ऐसे आत्मज्ञानकी वृद्धि होती है । उस आत्मज्ञान का बहुमनन अतिशयमनन जब होता है तब उस मनन को ज्ञानविनय कहते हैं । जगतके सर्व परद्रव्योंसे अपने मनको हटाकर अपने आत्माके जो स्वाभाविक गुण हैं उनका चिंतन ही मुक्तिका साक्षात् कारण है ऐसा समझकर-जानकर अपने आत्मासे पूर्णरूपसे विराजमान हुए पूज्य ज्ञानस्वरूप श्लोकवार्तिक ग्रंथका ध्यान करके प्रवचनरूपसे श्लोकवार्तिक ग्रंथको मैं कहूंगा अर्थात् उसकी रचना करूंगा । पूर्वाचार्योंका अनुसरण करके पदवाक्यरूपसे मैं ग्रंथ रचना करूंगा " ऐसी प्रतिज्ञा ग्रंथकार करता है । जो ऊहापोहसे जो शोभायुक्त है- तथा प्रतिवादिरूप हाथिओंको भगानेके लिये जो सिंह गर्जनाके समान है तथा प्रति समय जो नये नये अखण्ड्य विचार तर्कोंको धारण करती है, तथा जो स्याद्वाद सिद्धांतोंका सर्वत्र प्रचार करती है, जो विद्वान लोगोंके मनमे चमत्कार उत्पन्न करती है तथा पढनेवाले शिष्य तथा विद्वान् लोकोंके ज्ञानको निर्मल निर्दोष व विशद बनाती है ऐसी जो तर्कणा लक्ष्मी उससे जो उत्तरोत्तर बढ रहा है ऐसे श्लोकवार्तिक ग्रंथ की मैं रचना करूंगा । आचार्य विद्यानंद इस ग्रंथका 'आप्याय घातिसङ्घातघातनम् ।' इस विशेषण द्वारा महत्त्व दिखाते हैं- यह वार्तिक ग्रंथ सर्व प्रकारोंसे सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति करनेवाला है । अर्थात् आत्माके ज्ञानस्वरूपका नाश करनेवाले जो मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण घाति कर्म हैं उनका उदयाभावरूप क्षय करनेवाला यह ग्रंथ है । अर्थात् यह ग्रंथ कुयुक्तियोंका और अप-सिद्धांतोंका नाश करनेवाला है ।

यह ज्ञानात्मक ग्रंथ 'विद्यास्पद' है अर्थात् नैयायिक, मीमांसक, तथा वेदान्ती वगैरे विद्वानोंके जो न्याय, मीमांसादिक दर्शनोंके विद्याओंको पूर्वपक्षमे रखकर उत्तरपक्षमें जैनसिद्धांत और जैन न्यायके द्वारा उनका खंडन किया है । इस प्रकार यह ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्रके श्लोकके-अर्थात् यशका वर्णन करनेके प्रयोजनको धारण करनेवाला होनेसे अन्वर्थ नामको धारता है ।

इस प्रकार महापंडितोंके योग्य ऐसे जो अनेक गुणों तथा धर्मोंसे श्री विद्यानन्द स्वामीमें बडप्पन प्राप्त हुआ है और उससे वे अतिशय शोभायुक्त हुए हैं ।

मनसे, वचनोंसे तथा शरीरसे पूजनीय जैनाचार्योंके पदकमलोंकी धूलीरूप अमृतसे जिसका शरीर लिप्त हुआ है, और जो श्री विद्यानन्द स्वामीके गुणोंमें अनुरक्त है ऐसा मैं-

माघ शुक्ल पंचमी, — माणिकचन्द्र न्यायाचार्य
वीर निर्वाण संवत् २४६७ — जंबू विद्यालय, सहारनपुर ।

श्री तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का मूलाधार
सप्तम खण्ड
अथ अष्टमोऽध्याय

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥१॥ सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥ २ ॥ प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥ आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥ ४ ॥ पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥ ५ ॥ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥ ६ ॥ चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥ सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥ दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥ ९ ॥ नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥ गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥ उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥ दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥ आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ १४ ॥ सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥ विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥ १६ ॥ त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥ अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥ नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥ शेषाणामन्तर्मुहूर्ताः ॥ २० ॥ विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥ स यथानाम ॥ २२ ॥ ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥ नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २४ ॥ सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥ अतोऽन्यत्पापम् ॥ २६ ॥

॥ इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे अष्टमोऽध्यायः ॥

अथ नवमोऽध्याय

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥ स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥ तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥ सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥ ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥ उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥ अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥ मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥ क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥ ९ ॥ सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥ एकादश जिने ॥ ११ ॥ बादरसाम्पराये सर्वे

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं व्यञ्जनसन्धिविवर्जितरेफम् । साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ॥ १ ॥ दशाध्यायपरिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति । फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः ॥ २ ॥ तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम् । वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनिश्वरम् ॥ ३ ॥

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रम् समाप्तम् ॥

अष्टम, नवम, एवं दशम इन अध्यायोंमें प्रतिपादित विषय–

अथ अष्टमो अध्यायः ॥

अब इसके अनन्तर आठवें अध्यायका प्रारंभ किया जाता है ।

अथ बंधेऽभिधातव्येऽभिधीयंतेस्य हेतवः ।
निर्हेतुकत्वकूटस्थाकारणत्वनिवृत्तये ॥१॥

आठवें अध्यायका अवतरण इस प्रकार है कि जीवादि सात तत्त्वोंका अधिगम करानेवाले इस तत्त्वार्थाधिगम ग्रन्थमें सात अध्यायोंतक जीव, अजीव और आस्रव इन तीन तत्त्वोंका निरूपण किया जा चुका है।अब संगति अनुसार बंध तत्त्वका प्ररूपण करना योग्य है। तहाँ प्रथम बंधके हेतुरहितपन, कूटस्थपन और अकारणपन की निवृत्ति करनेके लिये इस बंधके हेतुओंको कहा जाता है । अर्थात्—अवसर संगति अनुसार आस्रव तत्त्वके अनन्तर बंध तत्त्वका कहना समुचित है। वह बंध अकस्मात् तो नहीं हो गया है। अन्यथा मोक्ष भी किसी नियत कारणके विना ही चाहे जब हो जायेगी । संवर और निर्जराके कारणोंकी पुरुषार्थपूर्वक योजना करना व्यर्थ पड़ेगा। अतः बंधके लक्षणको छोडकर प्रथम ही बंधके कारणको कहा जाता है क्योंकि कारण पहिले होता है कार्य पीछे होता है। पहिले कारणोंकी प्रतिपत्ति हो जानेपर कार्यकी प्रतिपत्ति झटिति ही सुलभतया हो जाती हैं। अतः सूत्रकार बंधके कारणोंको अग्रिम सूत्र द्वारा कह रहे हैं। जो कि कारणोंका निरूपण कर देना तीन इतर व्यावृत्तियोंको साधता है बंधके मिथ्यादर्शन आदि पांच कारण है, अतः बन्ध सकारणक है,हेतुरहित नहीं है, अथवा बंधका ज्ञापक हेतु विद्यमान है। मिथ्यादर्शन आदि करके अनुमान द्वारा बंधको साध लिया जाता है। तथा बहुव्रीहिमें क प्रत्यय करनेपर निर्हेतुक शब्दसे यह भी किसीका हेतु है जो कारणोंसे उत्पन्न होता है वह उत्तरवर्ती पर्यायोंको भी उप जाता है।

" नित्यहेतुककूटस्थाकारणत्वनिवृत्तये " यह पाठ साधु जचता है जैसे कि " तन्निसर्गादधिगमाद्वा " इस सूत्रके अवतरणमें ग्रन्थकारने सम्यग्दर्शनके हेतुओंका निरूपण करते हुये नित्यपन, नित्य हेतुकपन, और अहेतुपनकी व्यावृत्ति कर दी है बन्धके व्यक्तिरूपसे कदाचित् कारणोंका प्रतिपादन कर देनेसे नित्य हेतुकपनकी व्यावृत्ति हो जाती है, ऐसी दशामें बन्ध की सर्वदा ही क्वचित् हो रहे उत्पत्ति नही होती रहती है किन्तु नियत कारणोंके अनुसार भिन्न भिन्न प्रकारके न्यारे न्यारे (बदल बदल कर) कर्मबंध होते रहते हैं तथा कारणों के कहदेनेसे बधके कूटस्थपन यानी नित्यपनकी व्यावृत्ति हो जाती है। अकारणपनकी निवृत्ति हो जाती तो कारणोंके निरूपण का फल प्रसिद्ध ही है। छठे और सातवे अध्यायोमे आस्रव का निरूपण करते हुये सूत्रकारने एक प्रकार से बंधके हेतुओंको कहा है, तभी तो इन पांचों की क्रिया जो आदिमें निरूपण किया जा चुका कह दिया जायगा। यहां क्रियाभेदसे उनको कहा जाता है।

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ॥१॥

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच बन्धके कारण हैं। अर्थात् तत्त्वार्थोंका श्रद्धान नही कर अन्य देवताओंकी स्तुति करना, कर्मफल चेतनामे आकुलित रहना,आदि मिथ्यादर्शन हैं। व्रतोंके प्रतिकूल हो रही छह कायके जीवोकी रक्षा नहीं करना और छह इन्द्रियोंका असंयम रखना स्वरूप अविरति है। पुण्यसंपादक अथवा विशुद्धि वर्धक कुशल कर्मो में आदर नही करना प्रमाद कहा जाता है। आत्माकी स्वाभाविक परिणतियों को कषनेवाली अनन्तानुबन्धी आदि कषायें प्रसिद्ध ही हैं। आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द हो जाना योग है। पहिले गुणस्थान मे तेरह योग पाये जाते हैं। आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग छठे गुणस्थान मे ही सम्भवते हैं। यों संसारी जीवों के ये पांच बन्धके कारण है। पहिले के होनेपर पिछले समस्त कारण अवश्य पाये जाते हैं। भेद प्रभेदोकी अपेक्षा करनेपर तो व्यस्त रूपसे भी कारण हो जाते हैं जैसे कि पांचवे गुणस्थान मे स्थावर जीवोंकी अविरति है, किन्तु जागृत अवस्थामें निद्रा प्रमाद नही हैं। अथवा सामायिक करते हुये श्रावक के विकथायें भी नहीं हैं, अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय नहीं है, आहारक, आहारकमिश्र, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, कार्मण ये छः योग नही पाये जाते हैं।

मिथ्यादर्शनं क्रियास्वन्तर्भूतं, विरतिप्रतिपक्षभूताप्यविरतिः। आज्ञाव्यापादनानाकांक्षक्रियायामंतर्भावः प्रमादस्य, कषायाः क्रोधादयः प्रोक्ताः, योगाः कायादिविकल्पाः प्रक्लृप्ताः।

मिथ्यादर्शन आदि पांचो कारणोंको पहिले कहा जा चुका है। देखिये मिथ्यादर्शन

तो छठे अध्यायमें कहीं जा चुकी । पच्चीस क्रियाओंमें अन्तर्भूत हो गया है। अतः उसका लक्षण वहां देख लेना चाहिये, " कुर्वत्यादि प्रतिष्ठादिर्या मिथ्यात्वप्रवर्द्धिनी, सा मिथ्यात्वक्रिया बोध्या मिथ्यात्वोदयसंश्रिता" इस वार्तिकमें मिथ्यादर्शन क्रिया का लक्षण कहा जा चुका हैं। विरति का प्रतिपक्ष हो रही अविरति भी सूचित कर दी गई है। यानी हिंसानृतस्तेयाब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरतिव्रतं " इस सूत्रमें व्रतके प्रतिपक्ष अनुसार अविरति कह दी गई है और इन्द्रियकषायाव्रत, इत्यादि सूत्रमें अव्रतोंके निरूपण द्वारा अविरतिको ध्वनित कर दिया है । पच्चीस क्रियाओंमें कहीं गई आज्ञाव्यापादन और अनाकांक्षा इन दो क्रियाओंमें प्रमाद का अन्तर्भाव हो जाता है क्रोध आदि कषायोंको भी इन्द्रियकषायाव्रत, इत्यादि सूत्रमें ही भले प्रकार कह दिया है, अवलम्ब हो रहे काय आदि विकल्पोंवाले योगोंको " कायवाङ्मनः कर्मयोगः " इस सूत्रमें संपूर्ण रूपसे बढिया नियत कर दिया है । यों बन्धके कारणोंको एक प्रकारसे कहा ही जा चुका है । आस्रवतत्त्व बंधका कथंचित् हेतु ही है ।

मिथ्यादर्शनं द्वेधा नैसर्गिकपरोपदेशनिमित्तभेदात् । तत्रोपदेशनिरपेक्षं नैसर्गिकं, परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधं क्रियाक्रियावाद्याज्ञानिकवैनयिकमतविकल्पात् । चतुरशीति क्रियावादा इति कौत्कुल्यकण्ठविद्धिप्रभृतिमतविकल्पात् । अशीतिशतमक्रियावादानां मरीचिकुमारोलूककपिलादिदर्शनभेदात् । आज्ञानिकवादाः सप्तषष्ठिसंख्याः साकल्यवाकल्य प्रभृतिदृष्टिभेदात् । वैनयिकानां द्वात्रिंशत् वशिष्टपराशरादिमतभेदात्, एते मिथ्यादर्शनोपदेशास्त्रीणि शतानि त्रिषष्ठ्युत्तराणि बंधहेतवः ।

सम्यग्दर्शनके समान मिथ्यादर्शन भी निसर्गसे जायमान नैसर्गिक और परोपदेशको निमित्त मानकर हुआ अधिगमज इन भेदोंसे दो प्रकार है। उन दोमें परोपदेशकी नहीं अपेक्षा कर केवल मिथ्यात्व कर्मके उदयसे अथवा मिथ्यात्व कर्मका उदय होते हुये अन्य कारणोंसे जो उपज जाता है वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है । परोपदेशोंको निमित्त मानकर हुआ मिथ्यादर्शन तो क्रियावादी, अक्रियावादी, आज्ञानिक और वैनयिक, मतोंके विकल्पसे चार प्रकारका है । पदार्थोंमें देशसे देशान्तर हो जाना रूप क्रियाको मान रहे क्रियावादी दार्शनिकोंके कौकल, काण्डेविद्धि, या कौत्कुल्य, कण्ठेविद्धि आदिक मतोंके विकल्प से क्रियावाद चौरासी प्रकार हैं । तथा पदार्थोंमें क्रियाको नहीं माननेवाले मरीचिकुमार, उलूक, कपिल गार्ग्य, व्याभूति आदि अक्रियावादियोंके दर्शनोंके भेदसे अक्रियावाद एक सौ अस्सी प्रकार का है । एवं साकल्य, वाकल्य, बादरायण, बसु, जैमिनि, माध्यन्दिन, पैप्पलाद इत्यादिके दर्शनोंके भेदोंसे अज्ञानसे प्रयुक्त हुये आज्ञानिक वादोंकी सदसठि संख्या है । तथैव वशिष्ठ

पराशर, जतुकर्ण, वाल्मिकि आदिके मन्तव्योंके भेदसे वैनयिकोंके बत्तीस प्रकार हैं। मिथ्या-दर्शनका उपदेश देनेसे ये बन्धके त्रेसठि ऊपर तीनसौ यानी तीनसौ त्रेसठि हेतु हो जाते हैं जो कि उपदेशापेक्ष मिथ्यादर्शन कारणका परिवार है। नैसर्गिकके असंख्य भेद न्यारे हैं।

प्राणिवधनिमित्तत्वादधर्महेतुत्वसिद्धेः । आगमप्रामाण्यात् प्राणिवधो धर्महेतुरिति चेन्न, तस्यागमत्वासिद्धेरनवस्थानात् । परमागमे प्रतिषिद्धत्वात्तदसिद्धिरिति चेन्न, अतिशयज्ञानाकरत्वात् । अन्यत्राप्यतिशयज्ञानदर्शनादिति चेन्न, अतएव तेषां सम्भवात् ।

यहां किसीका आक्षेप है कि बादरायण, वसु, जैमिनि आदिक दार्शनिक तो वेदोंमें विहित किये गये ज्योतिष्टोम, अग्निहोत्र, अश्वमेध आदि कर्मकाण्डोंको मानते हैं। ऐसी दशामें उन वेद पाठियोंको अज्ञानी मिथ्यादृष्टि क्यों गिनाया गया है ? इस आक्षेपके उत्तर मे ग्रन्थकार कहते हैं कि प्राणियोंके वधका निमित्त होनेसे श्रुतिविहित अजमेध, अश्वमेध आदिकके पोषक मतोंको अधर्मका हेतुपना सिद्ध है। अतः पापका हेतु हो रही हिंसा कदाचित् भी धर्मका साधन नहीं है यों उनकी आत्मापर महान् अज्ञान तमःपटल छा रहा है। यदि पूर्व मीमांसावाले जैमिनि इस प्रकार कहें कि ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ये अपौरुषेय आगम है वेदका कर्ता नहीं होनेसे अकृत्रिमवेदमे कर्ता पुरुषोंके रागद्वेष,अज्ञान, मूलक प्रयुक्तहो जानेवाले अप्रामाण्यके कारणोंका अभाव है। अतः वेद आगमकी प्रमाणतासे प्राणियोंका विधि विहित वध करना धर्मका हेतु है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस हिंसा प्रतिपादक वेदको आगमपना असिद्ध है। जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितकी शिक्षा करमेने प्रवृत्त हो रहा है वही आगम है। हिंसा को पोष रहे वाक्य उसी प्रकार आगम नही है जैसे कि चोरी, डांका आदिके पोषक वचन आगम नहीं हो सकते हैं। एक बात यह भी है कि वेदके वचन कोई ठीक व्यवस्थित नहीं है। कहीं " न हिंस्याः सर्वाभूतानि, लिखा है अन्यत्र अश्वमेध, अजमेध, आदिको गाया है। एवं किन्ही श्रुतियोंसे सर्वज्ञताकी पुष्टि होती है, उन वाक्योंको अर्थवाद माननेवाले मीमांसक पण्डित किसीको सर्वज्ञ मानते ही नहीं हैं तथा क्वचित् अद्वैतको पुष्ट किया जाता है अन्यत्र द्वैत प्रक्रियाकी भरमार है यों कोई निर्णीत अवस्था नहीं होनेसे वेद आगमको प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। सबसे प्रधान बात यह है कि तीन लोकमें तीन कालमें सम्पूर्ण प्राणियोंके हित का उपदेश दे रहे श्री अरहन्त भगवान् करके बढ़िया कहे गये परमोत्कृष्ट जिनागममें प्राणिवधका प्रतिषेध किया गया है। अहिंसा ही परमधर्म है अतः प्राणियोंका वध धर्म का हेतु कथमपि नहीं है। यदि यहां कोई यों कुचोद्य उठावे कि श्री अरहन्त भगवानके कहे गये प्रवचनका परमागमपना असिद्ध है मीमांसक मान बैठे हैं कि पुरुषोंकी कृतियां क्वचित् कदाचित् विसंवादवाली हो ही जाती हैं

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना, क्योंकि वह जिन आगम सातिशय ज्ञानोंकी खान है। जैसे कि रत्नोंकी उत्पत्ति समुद्र या खानोंसे ही होती है उसी प्रकार सातिशय तात्त्विक ज्ञानोंकी उत्पत्ति जिनागमसे ही होती है। यहां कतिपय दार्शनिक आक्षेप करते हैं कि अन्यत्र व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, वैद्यक, नव्य न्याय, शारीरिक विज्ञान, शल्यचिकित्सा, साईन्स, भूगर्भविद्या आदि में भी सातिशय ज्ञान देखें जा रहे हैं। अतः ये भी परमागम हो सकते हैं ? आप जिनागम को ही सम्पूर्ण ज्ञानोंकी खान या ताली क्यों बखान रहे हैं ? । आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना, क्योंकि इस जिनागमसे ही उन सम्पूर्ण सातिशय ज्ञानोंकी उत्पत्ति होती है। पूर्व आचार्योंने यही कहा है कि नैयायिक, वैयाकरण, साइन्टफिक, वैद्य, भूगर्भशास्त्र वेत्ता, पुरातत्त्ववेत्ता, डाक्टर फिलोसफर, आदि विद्वानोंके तत्त्वोंमे जो कुछ भी सुन्दर ज्ञानातिशय दीख रहे हैं। द्वादशांगमे सम्पूर्ण ज्ञान, विज्ञान, कलायें अन्तर्भूत हैं, जगत्के सम्पूर्ण ज्ञानोंका जनक आर्हत प्रवचन हैं।

श्रद्धामात्रमिति चेन्न भूयसामुपलब्धेः रत्नाकरवत्। तदुद्भवत्वात्तेषामपि प्रामाण्यमिति चेन्न निस्सारत्वात् काचादिवत्, सर्वेषामविशेषप्रसंगात्।

मीमांसक, वैशेषिक, आदि अन्य दार्शनिक विद्वान् कह रहें हैं कि अरहंत भगवानका कहा हुआ ही आगम सम्पूर्ण सातिशयज्ञानोंका आकर हैं यह जैनों का कहना अपने मत की केवल श्रद्धा हैं, युक्तियोंको नही सह सकता हैं, श्रद्धा प्रेमवश होकर सभी मातायें अपने बालक को सर्वसुन्दर समझती हैं उसी प्रकार जैन भी अपने आगमपर अन्धश्रद्धा रखते हुये स्वकीय अर्हंत प्रोक्त प्रवचन को पावन ज्ञानोंका उत्पादक समझ बैठे हैं, क्या हिंसा, चोरी, शस्त्रनिर्माण, मारण उच्चाटन प्रयोग मिथ्यात्वपोषक या रागवर्धक कामशास्त्र, द्यूतक्रीडा, परस्त्रीवशीकरण, वाजीकरण आदि के प्रतिपादक वचनोंको अरहंत भगवान कहेंगे? कभी नही, आचार्य कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योंकि जैसे गांव, नगर, राजधानी आदिमे धनपति, सेठ, भूमिपति, राजा, महाराजाओंके यहां पाये जा रहे रत्नोंके आद्य उत्पत्तिस्थान समुद्र या खाने ही हैं, गांव, नगर, बगीचा, सरोवर आदि नही है, उसी प्रकार सम्पूर्ण अतिशय ज्ञानोंका प्रभवस्थान जैन प्रवचन ही निर्णीत किया जाता है। चौसठि कलायें, कामसूत्र, वैद्यविद्या, सामुद्रिक, स्वरशास्त्र, भूमिविज्ञान, आदि सभी सिद्धांतोंका निरूपण जैन शास्त्रोंमे पाया जाता हैं, पूर्वपक्ष अनुसार या निषेधने योग्य कही गयी प्रक्रिया अनुसार सांख्य दर्शन हिंसा प्रकरण, द्यूत क्रीडा, रसायनविधि, आदि सभी बातोंको जैन शास्त्रोंमे दरशाया गया है।

पुनरपि मीमांसकोंका पूर्वपक्ष हैं कि उस अर्हत प्रोक्त प्रवचनसे ही यदि वेद व्याकरण,कामसूत्र आदि की उत्पत्ति मानी जाती हैं ऐसा हो जानेसे तो उन वेद आदि को अथवा उनमे क्वचित् कहे गये हिंसा, भ्रातृजायासेवन आदि के अनुष्ठान उपदेशको प्रमाणता हो जानी चाहिये जैसे कि वेदमे कहे गये दान प्रकरण अहिंसावचन आदि को प्रमाण मानलिया जाता हैं ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना, क्योंकि जिनशासनरूपी समुद्रसे उत्पत्ति होनेपर भी वेद आदिको साररहित होनेसे प्रामाण्य नहीं हैं, जैसे कि काच, खार, संख, कौडी, आदि भी समुद्रसे उपजते है, खानोंसे पत्थर, कोयले, ककड भी निकलते हैं, किन्तु निःसार होनेसे उनको अधिक मूल्य या आदर नही हैं।एक बात यह भी हैं कि हिंसा यदि धर्म का साधन हो जायगी तो मछली, पक्षी, पशुओंको पकडनेवाले या मारनेवाले सभी हिंसकोंको अन्तररहित होकर धर्म की प्राप्ति हो जानेका प्रसंग आजावेगा, हिंसक याज्ञिक ब्राह्मण या बकरोंकी कुर्बानी करनेवाला मुल्ला (पेशमाम) बगुला सिंह, उल्लू आदि सभी विशेषता रहित धर्मात्मा समझे जायेंगे ऐसी दशामे "अहिंसा लक्षणो धर्म." कहना अयुक्त पड़ेगा।

यज्ञकर्मणोन्यत्र वधः पापायेति चेन्न, उभयत्र तुल्यत्वात्। तादर्थ्यात्सर्वस्येति चेन्न, साध्यत्वात् अन्यथोपयोगे दोषप्रसगात्।

हिंसाके प्रतिपादक वेदको प्रमाण मान रहे कितने ही दार्शनिक अपना मत यों पुष्ट कर रहे हैं कि यज्ञमे किया गया पशुवध पापका कारण नही हैं, हाँ यज्ञकर्मके अतिरिक्त अन्य स्थलोंपर की गई हिंसा पाप के लिए मानी गई है,अतः "अहिंसा लक्षणो धर्मः" का कोई विरोध नहीं हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना, क्योंकि प्राणियोंको मृत्युजन्य महान् दुःखका कारण होनेसे वह हिंसा चाहे यज्ञ मे की जाय या शिकार खेलना आदिमे की जाय दोनो स्थलोंपर तुल्य रूपसे दुःख का हेतु ही है अतः फल भी समान रूपसे पापास्रव होना चाहिये या यज्ञवेदी के भीतर किया गया पशुवध (पक्ष) पाप का कारण हैं (साध्य) प्राणवियोगका कारण होनेसे (हेतु) वेदीके बाहर किये गये पशुवधके समान (अन्वयदृष्टान्त) अथवा बलि-वेदी के भीतर हुई हिंसाको यदि हिंसा नहीं मानकर पुण्यसम्पादिका मानते हो तो वेदी के बाहर कसाईखानोंमें किये गये पशुवध को भी स्वर्गका साधन मान लो। यदि मीमांसक यों कहें कि

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा,
यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः "

विधाताने सभी पशु पक्षी यज्ञ के लिये ही बनाये हैं, अतः यज्ञमे पशुओंको होम

देनेसे याजकको कोई पाप नहीं लगता है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो न कहना, क्योंकि यज्ञ के लिये ही पशु रचे गये हैं, यह साध्य कोटीमे ही पडा हुआ है, यज्ञ के लिये पशुओंकी सृष्टि होना सिद्ध नहीं हो चुका है, जगत्के सम्पूर्ण प्राणी अपने अपने उपात्त कर्मोंके वश हो रहे जन्म मरण करते हैं उनको क्लेश पहुँचानेवाला पापी हैं, ईश्वरका निराकरण करनेवाले प्रघट्टमे ईश्वर सृष्टिवादका समूलचूल खंडन कर दिया गया है। यदि पशुओंको यज्ञके लिए बनाया गया माना जाता है तो सिंह व्याघ्र, नक्र, चक्र आदिका आलाभन क्यों नहीं किया जाता है? विचारे घोडे,बकरे आदि दीन पशुओंपर ही शस्त्राघात किया जाता हैं,इस हिंसावाद को धिक्कार है। दूसरी बात यह हैं कि जो जिसके लिए होता है उसका दुसरे प्रकारोंसे उपयोग करनेपर दोष उपजना देखा जाता है जैसे कि ज्वर, श्लेष्म, वातपीडा, आदि के निवारणार्थ की गई औषधी का यदि अन्य प्रकारोंसे उपयोग किया जायेगा तो रोगी को हानि उपजेगी तिसी प्रकार यदि यज्ञ के लिए ही पशु बनाये गये माने जाते हैं तो पशुओंका क्रयविक्रय दुग्ध-पान, सवारी, भारवाहन आदि कार्योंमे उपयोग करनेसे कर्ताओंको अनिष्ट फलकी प्राप्तिरूप हो जानेका प्रसंग आवेगा जो कि वैदिकोंको इष्ट नहीं हैं।

मन्त्रप्राधान्याददोष इति चेन्न, प्रत्यक्षविरोधात्। हिंसादोषाविनिवृत्तेः नियतपरिणामनिमित्तस्यान्यथा विधिनिषेधासंभवात् कर्तुरसंभवाच्च।

यज्ञमे पशु हिंसा का फल स्वर्गादि है, यों माननेवाले कह रहे हैं कि मन्त्रोंको प्रधानता हो जानेसे कोई दोष नहीं आता है। अर्थात् विषका उपयोग भी कर लिया जाय, सांप बिच्छू को हाथमे ले लिया जाय, किन्तु मंत्रोंकी प्रधानतासे विषका असर नहीं पडता है, मृत्यु नहीं हो पाती है, तिसी प्रकार मन्त्रोंके संस्कारसे किया गया पशुवध भी पापोंका कारण नहीं हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरोध आता है, जैसे कि मन्त्रसे नहीं संस्कार किये गये विषमे मन्त्रसंस्कृत विषसे अन्तर दीखता है, मंत्रकीलित सर्पकी साधारण कृष्ण सर्पसे विशेषता है। लेज, सांकल, आदि बंधनोंके विना भी जल, मनुष्य चिंटी, मछली, आदिका मन्त्रोंद्वारा स्तम्भन कर दिया जाता है, तिसप्रकार यज्ञ सम्बन्धी क्रियाओमे केवल मन्त्रोंसे ही पशुओंका मार देना दीखता होता तब तो मन्त्रके बलपर श्रद्धा की जा सकती थी, किन्तु लेज, यूप आदिसे पशुको बांधकर पुनः शस्त्राघातसे वहाँ पशुओंको मारा जाता है तिस कारण प्रत्यक्ष विरोध हो जानेसे निर्णीत किया जाता है कि मन्त्रोंकी सामर्थ्य कुछ भी नहीं है, एक बात यह भी हैं कि शस्त्र आदिकों करके प्राणियोंको मार रहे हिंसकके अशुभ अभिप्राय अनुसार पापबंध अवश्य होता है उसीप्रकार मन्त्रोंसे भी यदि पशु मार दिये

जाय तो भी हिंसाके दोषोंकी कथमपि निवृत्ती नहीं हो सकेगी। जिस प्रकार मन्त्रोंद्वारा शत्रुको या सांप को मार रहा प्राणी हिंसक ही है, उसी प्रकार मन्त्रोंसे भी अश्व, बकरा आदि को मारनेवालेके खोटे पाप कर्मोका बंध अवश्य ही होवेगा, हिंसा, परस्त्रीसेवन, पूजन, दान आदि क्रियाओं अनुसार नियत हो रहे अशुभ शुभ परिणामोंको कारण मानकर पापकर्म और पुण्य कर्मोंका बंध नियत हो रहा है, स्वार्थवश किये गये हिंसा आदि कर्मोंद्वारा उसका अन्य प्रकारोंसे विधि या निषेध करना असंभव है। तीसरी बात यह है कि कर्ताका असंभव है अर्थात् अग्निहोत्र आदि क्रियाओंका कर्ता न तो शरीर हो सकता है तथा सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक आत्मा भी कर्ता नहीं हो सकता है। देखिये भौतिक शरीर कर्ता माना जायेगा तब तो वह अचेतन होनेसे पुण्पाप क्रियाओंकी संचेतना नही कर सकता है, सर्वथा नित्य आत्मा पूर्वापर कालोमे एकसा है। अतः विकार नहीं होनेसे कर्तृता हट जाती है, क्षणिकआत्माके मन्त्रार्थोंका स्मरण रखना उनका प्रयोग चिंतन आदि बन नही सकते है। अतः कर्ता का अभाव हो जानेसे क्रियाफल का सम्वन्ध नहीं हो सकता है, वार्त्तिक वाक्योंका तत्वार्थ राजवार्तिकमे श्री अकलंक देव महाराजने प्रथमसे ही श्रेष्ठ भाष्य रच दिया है विशेषज्ञ पुरुष वहांसे व्युत्पत्तिलाभ करे।

पंचविधं वा मिथ्यादर्शनम् ।

मिथ्यादर्शनके नैसर्गिक और परोपदेश जन्य दो भेद किये, परोपदेश जन्य के तीन सौ त्रेसठ भेद कहे गये है। अब दुसरे प्रकारोंसे मिथ्यादर्शनके भेद को कहते है कि अथवा एकांत मिथ्यादर्शन, विपरीत मिथ्यादर्शन, संशय मिथ्यादर्शन, वैनयिक मिथ्यादर्शन और आज्ञानिक मिथ्यादर्शन यों पांच प्रकारका मिथ्यादर्शन है। यह इस प्रकार ही है यों धर्मो और धर्ममे एकान्त आग्रहपूर्वक अभिप्राय रखना एकान्त मिथ्यादर्शन है जैसे कि ब्रह्माद्वैतवादि सभी पदार्थोंको ब्रह्ममय मानते है कोई पण्डित पदार्थोंको अनित्य मानते हैं, अन्य नित्यपनका आग्रह कर बैठे है, ये सब एकान्त मिथ्यात्व है। वस्तुस्थितीके विपरीत ही श्रद्धान कर बैठना विपर्यय मिथ्यादर्शन है। जैसे कि परिग्रहसहित भी पुरुष अथवा स्त्री भी मोक्षलाभ कर लेती है साधारण मनुष्योंके समान केवली भी कौर खाकर आहार करते हैं यों श्वेतांबरों,बौद्ध,वैष्णव, आदि पण्डितोने अभिनिवेश कर रक्खा। प्रमाणोंद्वारा निर्णीत हो रहे विषयोमे संशय रखना संशय मिथ्यादर्शन है। तदनुसार सम्पूर्ण विष्णु,महादेव, भैरव, जिनेंद्र, बुद्ध, अल्लामियां, ईसा काली आदि देवों और सम्पूर्ण कुराण, पुराण, बाइबिल, आल्हरखंड, कामसूत्र, गोम्मटसार ग्रन्थसाहब, आदि ग्रन्थोंको समान दृष्टिसे पूजना, पढना आदि किया जाता है किसीकी निन्दा

नहीं की जाती है, यों विनयप्रकाश करना वैनयिक मिथ्यादर्शन है। हित, अहित की परीक्षा नहीं करना आज्ञानिक मिथ्यादर्शन है।

अविरतिकषाययोगा द्वादशपंचविंशतित्रयोदशभेदाः, प्रमादोनेकविधः। समुदायावयवयोर्बंधहेतुत्वं वाक्यपरिसमाप्तेर्वैचित्र्यात्।

अविरति के भेद बारह हैं कषाय पच्चीस प्रकारकी हैं योगोंके तेरह भेद हैं। अर्थात् पृथिवीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन छह कायके जीवोंको रक्षा नहीं करनेका अभिप्राय रखना, तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षुः, श्रोत्र और मन इन छह इन्द्रियोंके निग्रहका प्रयत्न नहीं करना यों बारह प्रकारकी अविरति है अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ १२ संज्वलन क्रोध, मान, माया लोभ १६, हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, २२ स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद २५ यों सोलह कषाय और नौ नोकषायोंके भेदसे कषायें पच्चीस प्रकार की हैं। सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभय-मनोयोग, अनुभयमनोयोग ४ सत्यवचन योग, असत्यवचन योग, उभय वचन योग, अनुभय वचन योग ८ औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रकाय योग, वैक्रियिककाय योग, वैक्रियिक मिश्रकाय योग, कार्मणकाय योग, ५ यों तेरह प्रकारका योग है। आहारक काय योग और आहारक मिश्रकाय योग ये दो योग तो मुनि के छठे गुणस्थान में ही सम्भवते हैं। सम्पूर्ण योग पन्द्रह माने गये हैं। बीचमें कहे गये प्रमादके पांच समिति, तीन गुप्ति, और भावशुद्धि आदि आठ शुद्धियां उत्तम क्षमा आदि दशधर्म आदि विशुद्धयङ्ग परिणतियोंमे उत्साह नहीं रखने के भेदसे अनेक प्रकार हैं। मिथ्यादर्शन आदि पांचोंके समुदायको समस्तरूपसे और पांचोंके एक, दो, तीन, चार अवयवों को व्यस्तरूपसे बंध का हेतुपना है। अर्थात् पहिले गुणस्थानवर्ती जीवमे बंध के कारण पांचों विद्यमान है, यहां मिथ्यादर्शन की व्युच्छित्ति हो जाती है। अतः दुसरे, तिसरे, चौथे गुणस्थानोंमे जीवोंके अविरति, प्रमाद, कषाय, योग ये चार बंधके कारण हैं। पांचवे गुणस्थानमे स्थावरोंको अविरति से मिले हुये प्रमाद, कषाय, और योग यों श्रावक, श्राविकाओंके बंध उपयोगी साढेतीन कारण हैं। छठे मे प्रमाद, कषाय योगों को निमित्त पाकर मुनियोंके कर्मबंध होता है, यह बंध के कारण प्रमादकी व्युच्छित्ति हो जाती है। सातवें, आठवें नौमे, दशमे गुणस्थानो मे योग और कषाय दो बंध के कारण

हैं। उपशांत कषाय, क्षीणकषाय और सयोग केवलियोंके योग ही एक बंध का कारण रह जाता है, जो कि एक समय ठहरकर दुसरे समयमें निर्जरा हो जानेवाले सातावेदनीय कर्म का मात्र बंधक है, नोकर्म वर्गणायें भी योगसे आती हैं, चौदहवे गुणस्थानमें कोई आस्रव या बंध नहीं है। यों आर्ष आम्नाय अनुसार वाक्योंकी परिसमाप्तीके अनुरोधसे सूत्रका उक्त अर्थ निकालना पडता है। मिथ्यादर्शन आदि के क्रियावादी, एकांतमिथ्यादर्शन, पृथिवी कायिक अविरति, विकथा भावाशुद्धी, अनुत्साह, अनन्तानुबंधी क्रोध, सत्यमनोयोग आदि भेद प्रभेदोंकी अपेक्षा विचार करने पर तो प्रत्येकको या असमग्रको बंध का हेतुपना समझा जाय कारण कि सभी मिथ्यादर्शन एक समयमे एक आत्माके साथ नहीं सम्भवते हैं। इसी प्रकार अविरति, प्रमाद, कषाय, योगोंके भेद प्रभेद भी सभी युगपत् नहीं संभवते हैं। पच्चीस कषायों मे से एक समयमे अधिक से अधिक अनन्तानुबंधी क्रोध१,अप्रत्याख्यानावरण क्रोध२,प्रत्याख्यानावरण क्रोध३ संज्वलनक्रोध४ तथा हास्य५ रति६ इन चारमे दो एवं भय जुगुप्सा८ और स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेदोमे से एक वेद९ यों नौ कषायें उदयरूप हैं, पन्द्रह योगों में से एक जीवके एक समयमे एक ही योग रहेगा। अतः भेदप्रभेदोंको व्यस्तरूपसे कारणपना है।

अविरतेः प्रमादस्याविशेष इति चेन्न विरतस्यापि प्रमाददर्शनात्। इति चेन्न, कार्यकारणभेदोपपत्तेः।

यहाँ कोई शंका उठाता है कि अविरति से प्रमाद का कोई अन्तर नहीं है? अतः दोनोमे से एक का ग्रहण करना समुचित है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना क्योंकि विरत हो रहे मुनिके भी विकथा, कषाय, इन्द्रिय, निद्रा और स्नेह स्वरूप प्रमाद हो रहे संभव जाते हैं। पुनः कोई आक्षेप करता है कि कषायों और अविरतियों में कोई भेद नहीं दीखता है, दोनो ही हिंसादि परिणामों स्वरूप हैं, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि कार्य और कारणके भेदसे इनके पृथक् निरूपणकी सिद्धी हो रही है। क्रोधादिकषायें कारणस्वरूप हैं और हिंसादि की अविरतियां कार्य है अतः इनका भी न्यारा निरूपण करना उचित है। कोई कोई विद्वान प्रमाद पदसे उन्हीं विकथा आदि प्रमादोंको पकडते हैं जो कि छठे गुणस्थान मे ही पाये जाते हैं शेष रहे तीव्र प्रमादोंको मिथ्यादर्शन और अविरति की मुख्यतासे ही गिन लिया जाता है, इसी प्रकार कषायपदसे सातवे गुणस्थानसे दशवे गुणस्थान तक सम्भव रहीं कषायें ही ली जाय अन्य अनन्तानुबन्धी आदि कषायोंको पहिले कारणोमे

गतार्थ कर लिया जाय "तच्चिन्त्यं" ॥

कुत: पुनर्मिथ्यादर्शनादय: पंचबंधहेतव इत्याह–

यहाँ कोई तार्किक पण्डित प्रश्न करता है कि मिथ्यादर्शन आदि पांचोंको बंध कारण किस युक्तिसे समझ लिया जाय ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थक अग्रिम वार्त्तिक को कहते हैं ।

स्युर्बंधहेतव: पुंस: स्वमिथ्यादर्शनादय: ।
तस्य तद्भावभावित्वादन्यथा तदसिद्धित: ॥२॥

जीवके अपने मिथ्यादर्शन, अविरति आदि पांच (पक्ष) बंध के कारण हो सक हैं (साध्यदल) उस बंध का उन मिथ्यादर्शन आदि के सद्भाव होनेपर हो जाना स्वरूप अन्व होनेसे (हेतु) अन्य प्रकारोंसे उस बंध के होने की असिद्धि है (व्यतिरेकव्याप्ति) इस अनुम द्वारा सूत्रोक्त बंध कारण सिद्धांत को युक्तिसे साध दिया गया है ।

पुंसो बंधहेतव इति वचनात् प्रधानस्य क्षणिकचित्तस्य संतानस्य च व्यवच्छे स्वमिथ्यादर्शनादय इति निर्देशात् प्रधानपरिणामास्ते पुंसोबंधहेतव इति व्युदस्तं, कृतनाश कृताभ्यागमप्रसंगात् बंधस्य मिथ्यादर्शनाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानात्सद्धेतुकत्वसिद्धि: ।

उक्त वार्तिकमें पुरुषके कर्मोंका बंध होजानेके मिथ्यादर्शन आदि कारण है यों कथन कर देनेसे प्रधानके अथवा क्षणिक चित्तके या सन्तानके बंध होने का व्यवच्छेद जाता है । भावार्थ कपिलसिद्धान्त अनुसार प्रकृतिके हीं बंध होना माना गया है वे आत्मा शुद्ध कमलपत्रसमान निर्लेप स्वीकार करते हैं । जैसे जलसे कमल का पत्ता विमुक्त रह है । वस्तुत: विचारा जाय तो पत्ते के ऊपर बहुत बारीक रोमावली हैं, जलके मोटे क उस सूक्ष्म रोमावलि पर टिके रहते हैं। पत्तेके ही रोम है अत: पत्तेके अवयवोंसे जल संयुक्त ही,न्यारी जातिवाले पदार्थोंका संयोग भी भिन्न प्रकारका है । बौद्धोंके यहां क्षणिक चित्त कल्पित संतानके ही बंध होना इष्ट किया गया है, ऐसी दशामें आत्माकी परतन्त्रता नहीं सु टित होती है । जो बंधता है वही स्वकीय स्वाभाविक पुरुषार्थोंद्वारा मोक्षलाभ करता है, अ

आत्माका ही परद्रव्यके साथ बंध जाना जैन दर्शनमें इष्ट किया गया है। वार्तिकमें "स्वमिथ्या दर्शनादयः" ऐसा कथन करदेनेसे सांख्योंके इन मन्तव्योंका खण्डन हो जाता है कि मिथ्यादर्शन आदिक तो प्रकृति के परिणाम हैं और पुरुषके बंध जानेमे कारण हैं। बात यह है कि चोरका खोटा परिणाम विचारे साहुकारके बंधनेका कारण नहीं हो सकता है। इसी प्रकार प्रकृतिका परिणाम सर्वथा भिन्न हो रहे शुद्ध आत्माको नहीं बाँध सकता है अन्यथा कृतनाश और अकृतके अभ्यागमका प्रसंग हो जावेगा। प्रकृतिने मिथ्यादर्शन, हिंसा, दान, पूजन, आदि काय किये उसका किया कराया मिट्टीमें मिल गया यो प्रकृतिके कृत पापोंका नाश हो गया और जा आत्मा शुद्ध, अकर्ता, बैठा हुआ था उसको बंधनमे पड़कर दुःख, सुख, भोगना पड़ा, यही अकृतका अभ्यागम है। इसी प्रकार क्षणिक चित्तका बंध मानने पर भी पापपुण्य, कर्म करनेवाला चित्त मरगया, उसके दुःखसुखफल किसी कालान्तरभावी अन्य चित्तको ही भुगतने पड़ते हैं जोकि न्यायमार्गसे विरुद्ध है। उक्त वार्तिकमे पड़े हुये हेतु की उपपत्ति यों करली जाय कि मिथ्यादर्शन, अविरति, आदि के साथ बंधका अन्वयानुविधान और व्यतिरेकानुविधान हो रहा है। मिथ्यादर्शनादिके होनेपर ही बंध होता है और मिथ्यादर्शनादि के न होने पर चौदहवे गुणस्थान मे या सिद्धोंके बंध नहीं होता है यों अन्वय और व्यतिरेककी अनुकूलता घटित हो जानेसे उन मिथ्यादर्शनादि को बंध के हेतुपने की सिद्धि हो जाती है।

ननु च मोक्षकारणत्रैविध्योपदेशात् बंधकारणपांचविध्यं विरुद्धमित्याशंकायामाह–

यहाँ शंका उठती है कि प्रथम अध्यायमे सबसे प्रथम के सूत्रमे मोक्षके कारणोंके त्रिविधपनका उपदेश दिया है अतः बंधके कारण भी तीन प्रकार ही होने चाहिये, इस सूत्रमे पांच प्रकार बंध के कारणोंका निरूपण करना तो पूर्वापर विरुद्ध है। बात यह है कि प्रतिबंधक हो रहे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, इन तीन मोक्ष कारणोंसे प्रतिबध्य माने गये बंध के तीन कारण भले ही निवृत्त हो जायेंगे फिर भी बंध के शेष दो हेतुओंसे जीवके कर्मोंका बंध होते रहना टल नही सकता है अतः या बंध के कारण पांच कहे हैं तो मोक्ष के कारण भी पांच कहने चाहिये थे और यदि मोक्षके कारण तीन कहे जा चुके तो बंध के कारण भी तीन ही गिनाईये, पांच नहीं, ऐसी आशंका प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधानकारक उत्तर वार्तिक को कह रहे हैं।

तद्विपर्ययतो मोक्षहेतवः पंचसूत्रिता : ।
सामर्थ्यादत्र नातोस्ति विरोधः सर्वथा गिराम् ॥३॥

इस सूत्र में बंध के कारण जब पांच कहे गये हैं तो विना कहे ही सूत्र सामर्थ्य करके उस बंध मार्गका विपर्यय होनेसे मोक्ष कारण भी आदि सूत्र द्वारा पांच ही समझ लिये जांय, अतः स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार सूत्रकार की पूर्वापर वाणियोंका सभी प्रकारोंसे कोई विरोध नहीं है ।

निर्णीतप्रायं चैतन्न पुनरुच्यते ॥

बंध के कारण पांच हैं तो मोक्ष के कारण भी सम्यग्दर्शन, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग ये पांच समझ लिये जांय, जो कि रत्नत्रय में ही गतार्थ हैं। अथवा मोक्षके मार्ग तीन हैं तो बंधके कारण भी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र ये तीन ही समझ लिये जांय इन तीनोंके ही परिकर पांच हैं । वचनभंगियों से जैनोंका कोई विरोध नही है, इस सिद्धांत का हम पहिले प्रकरणोंमे ही बहुत निर्णय कर चुके हैं । आद्यसूत्र का व्याख्यान करते हुये " बंधप्रत्ययपांचध्यसूत्रं न च विरुध्यते " आदिक कतिपय आगे पीछे की वार्त्तिकों में बहुत अच्छा विवेचन किया जा चुका है, अतः इस बंध के तीन कारण या मोक्षके पांच कारण संबन्धी प्रकरणोंको यहां फिर दुबारा नहीं कहा जाता है । विशेष जिज्ञासु पण्डित उन पूर्व प्रकरणोंको पढ लेवें ॥

कोयं बंध इत्याह—

बंध के कारणोंको समझ लिया है अब बताओ कि बंध क्या पदार्थ है? इस प्रकार विनीत शिष्यकी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं ।

बंध का लक्षण

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बंधः ॥२॥

पूर्वबद्ध कर्मोंसे सकषाय हो जाने के कारण यह जीव कर्म के योग्य पुगद्लोंको ग्रहण करता है वह आत्मा और कर्मका एकरस होकर बंध जाना बंध है ।

पुनः कषायग्रहणमनुवाद इति चेन्न, कर्मविशेषाशयवाचित्वाज्जठराग्निवत् । जीवाभिधानं प्रचोदितत्वात्, जीवस्य हि कथममूर्तेरहस्तस्य कर्मणा बंध इति परैः प्राचोदि ततो जीव इत्यभिधीयते । जीवनाविनिर्मुक्तत्वाद्वा, जीवनं ह्यायुस्तेनाविनिर्मुक्त एवात्मा कर्मं पुद्गलानादत्तेऽतश्च जीवाभिधानं युक्तं ।

यहां शंका है कि पहिले सूत्रमें कषाय पद पडा हुआ ही है पुनः इस सूत्रमें कषाय शद्बका ग्रहण किया गया है, यह तो केवल पूर्व का अनुवाद है, स्वयं अपना अनुवाद करना तो सूत्रकारका व्यर्थ प्रयत्न है, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, क्योंकि जठराग्निके समान कषाय विशेषोंके आशय को कह रहा यह कषाय शद्ब है । अर्थात् खाये पीये गये पदार्थकी उदराग्निके आशय अनुसार जैसे तीव्र, मन्द, मध्यम रसोंको लिये हुये स्थिति और अनुभव होते हैं, इसी प्रकार आत्मामें तीव्र, मन्द, मध्यम स्वरूप स्थिती और अनुभव बंध होते हैं। अतः बंध के हेतुओंमे कहे गये भी कषायों की स्थिति अनुभागोंमें विशेषता कराने के लिये पुनः इस सूत्रमें कषाय शद्बका निर्देश किया गया है । यहां कोई आक्षेप करता है कि जीव ही तो कर्मोंको बांधता है इस बात को मन्दबुद्धि प्राणि भी जानता है, पुनः सूत्रकार ने अत्यंत संक्षिप्त हो रहे सूत्रमे व्यर्थ जीव शब्दको क्यों कहा है ? इसके उत्तर मे आचार्य कहते हैं कि जो कोई वादी यों कुचोद्य कर रहा है कि मूर्तिरहित और हाथपांवरहित बिचारा जीव किस प्रकार कर्मोंको ग्रहण कर लेता है, किस प्रकार बंधवान् हो जाता है, जब कि शरीररहित अमूर्त आकाश बिचारा बध को प्राप्त नहीं होता है, ऐसी चर्चा उठनेपर सूत्रकारको जीव शद्ब कहना पडा है। अमूर्ति, हस्तरहित जीव भला कर्म करके किसप्रकार बंध को प्राप्त हो जाता है ? इस प्रकार दुसरे वादियोंने प्रकृष्ट कुचोद्य उठाया था, तिसकारण सूत्रमें जीव-पद कहा गया है, जीवन से नहीं विनिर्मुक्त होनेसे यह प्रमाण का विषय हो रहा मूर्त संसारी जीव पौद्गलिक कर्मोंको बांधता हैं । जीवन तो नियमसे आयुष्य है, उससे विशेषतया नहीं छूट रहा ही यानी आयुष्यधारी ही संसारी आत्मा कर्मपुद्गलोंका आदान करता है, आयुके संबन्ध विना शुद्ध जीव कर्मोंको नहीं बांधता हैं, अतोपि सूत्रमें जीवपदका कथन करना समुचित है । अर्थात् कर्मोंको ग्रहण कर रहा जीव कथमपि अमूर्त नहीं है । मूर्त ही जीव मूर्त कर्मोंको बांध रहा है, बांधनेमे हाथ की कोई आवश्यकता नहीं है । उष्ण-लोहेका गोला चारो ओरसे पानी को खींच लेता है, अंगोपांगरहित हो रहा चुंबकपाषाण लोहेको खींच लेता है, इसी प्रकार संसारी मूर्त आत्मा भी स्वकीय परिणाम हो रहे योगों करके

कर्मोका आकर्षण कर स्वकीय कषायों अनुसार स्थितिबंध, और अनुभागबंध करता रहता है, अनादिकालसे कर्मों करके बंधा हुआ यह जीव प्रथमसे ही मूर्त है।

कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्त इति पृथग्विभक्त्युच्चारणं वाक्यांतरज्ञापनार्थं तेन कर्मणो जीव: सकषायो भवति पूर्वोपात्तादित्येकं वाक्यं सकषायत्वात् पूर्वमकर्मकस्य मुक्तवत्स-कषायत्वायोगात्। तथा कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते जीव: सकषात्वात् इति द्वितीयं वाक्यं कर्मयोग्यपुद्गलादानात्पूर्वं सकषायस्य क्षीणकषायादिवत्तदघटनात् ततो जीवकर्मणोरनादि बंध इत्युक्तं भवति बीजांकुरवत्। सकषायत्वकर्मयोग्यपुद्गलादानयोर्भावद्रव्यबंधस्वभाव योर्निमित्तनैमित्तिकभावव्यवस्थानात्।

यहां कोई पण्डित आक्षेप उठाता है कि "कर्मणो योग्यान्" ऐसा लघुनिर्देश करना सूत्रकारको उचित था? इसका आचार्य समाधान करते हैं कि "कर्मणो योग्यान् पुदगलानादत्ते" कर्म के योग्य हो रहे पुद्गलोंको ग्रहण कर रहा है इस प्रकार पृथक् विभक्तिका उच्चारण करना तो अन्य वाक्यका ज्ञापन करने के लिये है, तिस कारण वे दो वाक्य यों बन जाते हैं कि "कर्मण:" (पंचमी विभक्ति:) जीव: सकषायो भवति। पूर्व जन्ममे उपात्त किये गये कर्मोंसे उदयापन्न दशामे हो जानेपर जीव कषायसहित हो जाता है, यह एक वाक्य हुआ। पूर्व कर्मों अनुसार सकषाय हो जानेसे ही जीव कर्मोंको ग्रहण करता हैं, कर्मरहित जीवके कषायसहितपनका अयोग है, जैसे मुक्त जीवों के कषाये नहीं होनेसे कर्मबंध नहीं होने पाता है, विग्रह गति मे भी एक, दो, तीन, समयतक यह जीव तीन शरीरों और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलों को ग्रहण नहीं कर पाता है, हां, कर्मोंका ग्रहण तो सर्वदा होता ही रहता है, अत: कर्मोंके ग्रहण नहीं करनेमे मुक्त के समान कार्मणकाययोगी जीव को भी नोकर्म के ग्रहण नहीं करनेमे दृष्टांत कह सकते हैं। तथा कषायसहित होनेसे यह संसारी जीव कर्मके योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता हैं यह दुसरा वाक्य है। समास नहीं करनेपर ही यहां कर्मण: को षष्ठी विभक्तिवाला मानकर दुसरा "कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते" यह वाक्य बना लिया गया है। देखिये कर्मके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण करनेसे पहले यदि उप-शांत कषाय गुणस्थानवाला जीव अकषाय हो जाता है तो बारहवें क्षीण कषाय आदि गुणस्थानियों के समान उस कर्मपुद्गल का आदान करना घटित नहीं होता है। ग्रन्थकारने यहां पहिले वाक्यमे "सकषायत्वात्पूर्व अकर्मकस्य" लिखा है। इससे कोई यों अभिप्राय नहीं निकाल लेवे कि पहिले कर्मरहित हो जा चुका भी जीव पुन: कषायसहित होकर कर्मोंका उपार्जन करने लग जाता है। बात यह है कि उपशम श्रेणी लेचुका जीव कषायसहित

होनेके पहिले कषायरहित हो चुका है अतः मुक्तके समान ग्यारहवें गुणस्थान मे कषायसहित पनका अयोग है, ग्यारहवें सद्वेद्य का एक समय स्थितिवाला बंध हो रहा और क्रोधादि कषायोंका सत्ता मे रहना विवक्षित नहीं है अथवा सम्पूर्ण कर्मोंकी अपेक्षा नहीं कर किन्तु व्यस्त कर्मोंकी अपेक्षा जीवको कर्मरहित माना जा सकता है । अनन्तानुबंधी का विसंयोजन कर सर्वथा अनन्तानुबंधो से रहित हो चुका जीव पुन: पहिले दुसरे गुणस्थानों में लौट कर सकषाय हो जानेसे अनन्तानुबन्धी का बंध कर लेता है । उच्चगोत्र का नाशकर उच्चगोत्र की अपेक्षा अकर्मक हो रहा जीव पुन: उच्चगोत्र या नीच गोत्र का आस्रव कर लेता है, यों भिन्न भिन्न प्रकृतियोंका विसंयोजन, सर्व संक्रमण कर या भुज्यमान आयुको भोगकर पुन: बद्धव्य कर्मोंके अनुसार सकषाय होकर जीव उन उन कर्मोंको नवीन रूपसे बांधता है । इसीप्रकार दुसरे वाक्य से भी "कर्मयोग्यपुद्गलादानात्पूर्वमकषायस्य" ऐसा पाठ है, यहां भी व्यक्तिरूपसे कषायरहितपन या कर्मरहितपन की सिद्धी करली जाय । क्षीणकषाय, सयोग केवली, अयोग केवली और मुक्त जीव तो पुनः कभी न कषायसहित होते हैं न कर्मोंको बांधते हैं। हां उपशांत कषायवाला मुनि तो अनेक भवोंतक कर्मोंको बांध सकता है,तिस कारण इस सूत्रद्वारा यों कह दिया गया गया है कि जीव और कर्मका अनादिकालसे बंध है, पूर्वबद्ध क्रोधादि कर्मोंके उदयसे जीव वर्तमानमे कषायसहित हो जाता है, वह सकषाय संसारी यहां जीव पद से लिया गया है. जैसे बीज से वृक्ष और वृक्षसे बीज यों धाराप्रवाह रूपेण अनादिकालसे कार्यकारण भाव चला आ रहा है, उसी प्रकार पहिले बांधे हुये कर्मोंसे जीव वर्तमान मे कषायसहित हो जाता है और इस कषायसहितपनसे बांध लिये गये कर्मों करके पुनः कषायसहित होगा, अथवा पहिले खाये पिये गये पदार्थोंकी बन गये लारपित्त, अनुसार अब खाया पिया जाता है और इस खाये गये से पुन: बननेवाली लार आदिसे पीछे खाया जायेगा यों प्रवाह रूपसे हेतु हेतुमद्भाव में कोई अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। कारण कि व्यक्ति रूपसे निर्दोष कार्यकारण भाव वन रहा है, जिस बीज से जो अंकुर उपजता है उसी अंकुर से पहिला बीज नही उपजता है, जिससे कि परस्पराश्रय दोष हो जाता । बात यह कि जीवका कषाय-सहितपना भावबंध स्वरूप है और कर्म बनने योग्य पुद्गलोंका ग्रहण हो जाना द्रव्यबंध स्वरूप है, भावबंध निमित्त कारण है और द्रव्यबंध उस निमित्तसे उपजा नैमित्तिक परिणाम है, जैसे कि बीज निमित्त और अंकुर नैमित्तिक है, अंकुर बहुत काल पीछे वृक्ष होकर पुन: पुष्पित, फलित होता हुआ कालांतरमे पककर बीज बनेगा । इसी प्रकार क्रोध आदि

कषायों के उपजते ही भावबंध अनुसार झटिति पौद्गलिक कर्मोंका ग्रहण हो जाता है। आबाधा कालके पीछे अन्य भी द्रव्य, क्षेत्र काल भावों का निमित्त मिल जानेपर उन कर्मोंके अनुसार जीव के कषाय उपजेंगी। यह जिनागममे कर्मसिद्धान्त की व्यवस्था युक्तिपूर्ण कही गयी है।

पुद्गलवचनं कर्मणस्तादात्म्यख्यापनार्थं पुद्गलात्मकं द्रव्यकर्म न पुनरन्यस्वभावं तदसिद्धमिति चेन्न, अमूर्तेरनुग्रहोपघाताभावात्। न ह्यमूर्तिरात्मगुणो जीवस्यामूर्तेरनुग्रहोपघातौ कर्तुमलं कालवदाकाशादीना। मूर्तिमतस्तु पौद्गलिकस्य कर्मणोनुग्रहोपघातकरणम-मूर्तेप्यात्मनि कथंचिन्न विरुध्यते तदनादिबंधं प्रतीतस्य मूर्तिमत्वप्रसिद्धेरन्यथा बंधायोगात्।

सूत्रमे पुद्गल शब्द का कथन करना तो कर्मका पुद्गल के साथ तदात्मकपने की ख्याती कराने के लिये है, द्रव्यकर्म पुद्गल स्वरूप है, अन्य आत्मगुण या अविद्यास्वरूप नहीं हैं। वैशेषिकोंने अदृष्ट को आत्माका गुण स्वीकार किया है, किन्तु जो आत्मा का गुण है वह आत्माको मोक्षसे हटाकर संसार बंधन का हेतु नहीं हो सकता है। यौग, बौद्ध, कापिलों ने भी कर्मको अनेक प्रकारों से परिभाषित किया है। सूक्ष्म पर्यवेक्षण करनेपर कर्मपौद्गलिक ही सिद्ध होते है। यहां कोई वैशेषिक आक्षेप करता है कि कर्मका वह पौद्गलिकपना असिद्ध है। व्यापक, नित्य, अमूर्तिक आत्माके साथ मूर्त, सावयव, पुद्गल नहीं बंध सकते हैं, अतः पुण्यपाप कर्मस्वरूप अदृष्ट तो आत्माका ही गुण है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना कारण कि अमूर्त आत्माके ऊपर अमूर्त अदृष्ट करके सुख प्राप्ति कराना रूप अनुग्रह करना और दुःखाना रूप उपघात करना नही हो सकते हैं। जैन तो संसारी आत्माको पौद्गलिक कर्मों के साथ बंध हो जानेके कारण मूर्त स्वीकार करते हैं, अतः मूर्त आत्माके ऊपर मूर्तकर्म अपनेद्वारा अनुग्रह और उपघात कर सकते हैं, किन्तु वैशेषिकों के यहां आत्मा और आत्म गुणोंको नियमसे अमूर्त माना गया है, ऐसी दशामे मूर्तिरहित हो रहा आत्मगुण अदृष्ट बिचारा अमूर्तिक जीवके अनुग्रह और उपघातों के करने के लिये समर्थ नहीं है, जैसे कि अमूर्तिक काल अमूर्त हो रहे आकाश दिशा आदिके उपर अनुग्रह उपघातोंको नहीं कर पाता है। हाँ जैन सिद्धान्त अनुसार मूर्तिमान पौद्गलिक कर्म के द्वारा अनुग्रह और उपघात करना कथंचित् अमूर्त हो रहे भी आत्मा मे कथमपि विरुद्ध नहीं पडता है। क्योंकि उन पौद्गलिक कर्मोंके साथ अनादि कालसे बंधे रहने की इत्थंभूत प्रतिपत्ति अनुसार उस आत्मा

को मूर्तिसहितपनेकी प्रसिद्धी है, अन्यथा यानी आत्माको अमूर्त या अन्य प्रकारोंसे स्वीकार करनेपर बंध हो जानेका अयोग होजायेगा। जैसे कि अमूर्त आकाश किसी परद्रव्यके साथ नहीं बंधता है। अग्नि, शस्त्राघात, विषप्रयोग आदि से नहीं सताया जाता है, उसी प्रकार अमूर्त आत्मा का संसारबधन कथमपि नहीं हो सकेगा। यद्यपि अमूर्त आकाश सभी मूर्त, अमूर्त द्रव्यों के अवगाह देनेमे और अमूर्त कालाणुयें सबकी वर्तना करानेमे या अनेक विलक्षण कार्यों के कराने मे कारण हो रहे जैनसिद्धांत के अनुसार माने गये हैं, तथापि आत्माकी परद्रव्य के साथ बंध कर हो रही तृतीय अवस्था स्वरूप विभाव परिणति तो अमूर्त द्रव्यों से नहीं हो सकती है, मात्र इतनेमें कालद्रव्य को दृष्टांत समझ लिया जाय, अथवा वैशेषिकों के सिद्धान्त अनुसार उक्त निदर्शन समुचित ही है। उन्हों ने आकाश, दिशा आदि के उपर कालद्रव्य द्वारा किया गया कोई अनुग्रह या उपघात स्वीकार नहीं किया है "जन्यानां जनकः कालः" जैनों के यहां भी आकाश या अमूर्त सिद्ध आत्माओं के ऊपर कालद्रव्यका कोई अनुग्रह, उपघात नहीं माना गया है। हाँ मूर्त, अमूर्त द्रव्योंकी अन्य परिणतियों का उदासीन तया कारण तो कालद्रव्य है ही, इसका कौन जैनसिद्धांतज्ञ विद्वान् निषेध कर सकता है।

आदत्ते इति प्रतिज्ञातोपसंहारार्थं। तथाहि–यो यः शुभाशुभफलदायिद्रव्ययोग्यान् पुद्गलानादत्ते स सकषायो यथा तादृशः स सकर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते यथोभयवादि प्रसिद्धः शुभाशुभफलग्रासादि पुद्गलादायी रक्तो द्विष्टो वा सकषायश्च विवादापन्नः संसारी तस्मात् कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते इति प्रतिज्ञातोपसंहारः प्रतिपत्तव्यः। अतस्तदुपश्लेषो-बधः तद्भावो मदिरापरिणामवत्।

सूत्रमे "आदत्ते" यह क्रियापद तो प्रतिज्ञा किये जा चुके विषय का उपसंहार करने के लिये कहा गया है, उसी को स्पष्ट कर ग्रन्थकार कहते हैं कि जो जो जीव शुभ अशुभ फलों को देनेवाले कर्मद्रव्यों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह वह कषायसहित होता है, जैसे कि तिस प्रकार का सुख, दुःख भोग रहा क्रोधी, मानी, संसारी जीव है, (प्रथम व्याप्ति)। और जो जो सकषाय है वह वह शुभाशुभ फलप्रदायक कर्मोंके योग्य पुद्गलों का ग्रहण कर रहा है, जैसे कि हम जैन और तुम नैयायिक आदि दोनो वादी प्रतिवादीयोंके यहां प्रसिद्ध हो रहा शुभाशुभ फलवाले ग्रास, घूंट आदि पुद्गलोंका ग्रहण कर रहा रागी अथवा द्वेषी पुरुष है (मुख्यव्याप्तिपूर्वकदृष्टांत), कषायोंसे सहित हो रहा यह

विवाद मे पडा हुआ संसारी जीव है (उपनय) तिसकारण कर्मके योग्य हो रहे पुद्गलोंका ग्रहण करता रहता है (निगमन) यों प्रतिज्ञा किये जा चुके "संसारी जीवः कर्म योग्यान् पुद्गलानादत्ते सकषायत्वात् " का उपसंहार उस आदत्ते क्रियासे समझ लेना चाहिये, अतः उन कर्मोंका समरस होकर एकक्षेत्रावगाह अनुसार सर्वांग उपश्लेष हो जाना बंध है, जैसे कि मद्य बनने योग्य भाजनमे धर दिये गये बीज, फूल, फल, धान्यों की बधकर मदिरा परिणति हो जाती है, उसी प्रकार आत्माके कषायों के अनुसार बधे हुये कर्म योग्य द्रव्योंकी ज्ञानावरण आदि कर्मस्वरूप परिणतियां हो जाती है। हल्दी और चुने का बध हो जानेपर तीसरा ही रूप हो जाता है। जल और घृत को अनेक बार फेट कर मिला देनेसे अ य विष परिणतियां उपज जाती हैं, दा वायुयें मिलकर न जाने क्या भयंकर, अभयंकर स्वरूपोंको धार लेती हैं।

सवचनमन्यनिवृत्त्यर्थ, कर्मणो योग्यानां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनंतानामादाना-दात्मनः कषायार्द्रीकृतस्य प्रतिप्रदेशं तदुपश्लेषो बंधः स एव बंधो नान्यः संयोगमात्रं स्वगुण विशेषसमवायो वेति तात्पर्यार्थः कषायार्द्रीकृते जीवे कर्मयोग्य पुद्गलानां कर्मपरिणामस्य भावाद्गुडोदकधातकीकुसुमाद्यार्द्र भाजनविशेषे मदिरायोग्यपुद्गलानां मदिरापरिणामवत् ।

इस सूत्रमे स शब्द का कथन तो अन्यको बंध होनेकी निवृत्ति करने के लिये है। कर्मपरिणति के योग्य हो रहे और सूक्ष्म होकर आत्मा के ही एक क्षेत्र में अवगाह कर रहे अनन्तानन्त पुद्गलोंका ग्रहण करनेसे कषायों करके गीले किये जा रहे आत्माके प्रत्येक प्रदेश पर उन पुद्गलोंका संश्लेश हो जाना बंध है। स शब्द यों कह रहा है कि वह पुद्गल और आत्मा का श्लेष हो जाना ही बंध है, अन्य कोई केवल संयोग हो जाना अथवा अपने (आत्माके) विशेष गुण हो रहे अदृष्ट का समवाय हो जाना बंध नहीं हैं। यदि गुण और गुणीका बंध होने लगे जो कि परतन्त्रता का कारण है,तब तो मोक्ष नहीं हो सकेगी। कारण कि गुणी अपने गुण स्वभावोंको कभी नहीं छोडेगा स्वभावों का ही त्याग हो जाने लगे तब तो गुणी का भी अभाव हो जायगा, ऐसी दशामे मोक्ष किसकी हो सकेगी। अतः आत्मद्रव्य का अन्यविजातीय पुद्गल द्रव्यके साथ एकत्व बुद्धिजनक संबंध हो जामा ही बंध है, यह इसका तात्पर्य अर्थ निकलता है। जिसप्रकार गीले या भीजे वस्त्रमे यहाँ वहाँकी धूल चुपट जाती है अथवा जलवाले पात्रमे कतिपय पदार्थोंके सडाने से आसव, अर्क बन जाते हैं, उसी प्रकार कषाय परिणामोंद्वारा गीले किये जा चुके जीव मे कर्मपरिणतिके योग्य हो रहीं कार्मण

वर्गणा पुद्गलों के कर्म परिणाम हो जानेका सद्भाव है। जैसे कि गुड,पानी,पिठी,धातकीपुष्प आदिक मदिरा योग्य पुद्गलोंसे उन गीले हो रहे विशेष भांड मे मदिरा योग्य अंगूर, महुआ आदि पुद्गल फलोंका मदिरा परिणाम हो जाता है, अर्थात् नालिका यन्त्रवाले विशेष वर्तनमे भर दिये गये, सडा दिये गये, अनेक रसोंवाले बीज, फूल, फलों या गुड, पिठी आदि का प्रक्रिया द्वारा मद्यपरिणाम हो जाता है।

करणादिसाधनो बंधशब्दः तस्योपचयापचयसद्भावः कर्मणामायव्ययदर्शनात् व्रीहिकोष्ठागारवत्। कर्मणामायव्ययदर्शनं तत्फलायव्ययानुभवनात् सिद्धं – ततो नुमितानुमानं। एतदेवाह।

"बंध बधने" धातुसे करण, कर्म, भाव आदिसे घञ्प्रत्ययकर बंध शब्दकी सिद्धी करली जाय। बध्यतेऽनेन, बध्यते यत्, बंधनमात्र बध्नाति वा यों निरुक्तिकर मिथ्यादर्शन आदिको अपेक्षावश बंध कहा जा सकता है। पर्याय और पर्यायी में कथंचित् भेद, अभेद की अपेक्षा अनुसार स्वतन्त्रता, परतन्त्रता की विवक्षा बन जाती है। कर्मोंका आय और व्यय देखा जाता है। अतः कर्मपिण्डके उपचय (वृद्धि) और अपचय (हानि) का सद्भाव है, जैसे कि कोष्ठगृह यानी धान्यों के कोठार मे अनेक धान्य आते जाते रहते हैं, उसी प्रकार अनादि कालीन प्रवाह रूपसे कर्म कोठारमे नवीन कर्मों के आनेसे और अन्यसंचित कर्मोंके फल देकर निकल जानेसे उपचय, अपचय होते रहते हैं। भारतवर्ष मे प्रतिदिन अनेक मनुष्य जन्मते मरते रहते हैं, पसारी की दूकान मे अनेक वस्तुयें आती जातीं रहती हैं, दुकानदारी के गल्ले मे सैकड़ो पैसे रुपये आयव्यय होकर बढते, घटते रहते हैं। संसारी आत्माके भी कर्मोंका यही क्रम चलता रहता है, किंचित् ऊन डेड् गुणहानि प्रमाण द्रव्य सदा संचित रहता है, भोगोंद्वारा उन कर्मोंके फलों के आयव्यय का अनुभव होते रहनेसे कर्मोंका आयव्यय दीखना सिद्ध हो जाता है, यों यह अनुमित अनुमान हुआ एकबार अनुमान कर पुनः उस साध्य को हेतु बनाकर दुसरे अनुमान द्वारा कर्मों की वृद्धि हानि को साध दिया है। "कर्मणां (पक्ष) उपचयापचयौ स्तः (साध्य) आयव्ययदर्शनात् (हेतु) व्रीहिकोष्ठागारवात् (अन्वय दृष्टांत)" यह पहिला अनुमान है, तथा "कर्मणां (पक्ष) आयव्ययौ स्तः (साध्यदल) तत्फलायव्ययदर्शनात् (हेतु) पेट मे खाये निकले जा रहे पदार्थ के समान (अन्वयदृष्टांत) यह दुसरा अनुमान पहिले अनुमान के हेतुदल को स्पष्ट कर रहा है, इस ही सूत्रोक्त बातका ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं।

पुद्गलानां नुरादानं बंधो द्रव्यात्मकः स्मृतः ।
योग्यानां कर्मणः स्वेष्टानिष्टनिर्वर्तनात्मनः ॥१॥

अपने इष्ट, अनिष्ट फलोंको बनानेवाले स्वरूप कर्मके योग्य हो रहे पुद्गलोंका कषाययोग्यवाले आत्मा को जो आदान हो रहा है वह पूर्वाचार्य संप्रदाय अनुसार द्रव्यआत्मक बंध हुआ कहा जाता है, या अबतक आचार्य परंपरानुसार स्मृति से चला आया है ।

कथं पुनः पुद्गलाः कर्मपरिणामयोग्याः केचिदुपपद्यन्ते इत्याह ।

यहां कोई तार्किक पूंछता है कि कोई पुद्गल ही कर्म परिणति के योग्य हैं, यह सिद्धान्त फिर किस प्रकार युक्तियों से उपपन्न हो जाता है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर आचार्य महाराज अग्रिम वार्तिक को कहते हैं ।

पुद्गलाः कर्मणो योग्याः केचिन्मूर्तार्थयोगतः ।
पच्यमानत्वतः शालि-बीजादिवदितीरितं ॥२॥

कोई कोई पुद्गल ही (पक्ष) कर्म होने के योग्य हैं (साध्य) मूर्त अर्थका योग हो जानेसे परिपाक हो रहा देखा जानेसे (हेतु) शाली चावलोंके बीज, आम्रफल रोटी आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमान से कर्मोंका पौद्गलिकपना सिद्ध हो जाता है । इस बात को हम पहिले भी कई प्रकरणों मे कह चुके हैं ।

पुद्गला एव कर्मपरिणामभाजो मूर्तद्रव्यसंबंधेन विपच्यमानत्वाच्छालिबी- जादिवदित्युक्तं पुरस्तात् । ततः कर्मणो योग्याः पुद्गलाः केचित्सन्त्येव ॥

पुद्गल ही (पक्ष) कर्मपरिणतियों को धार रहे हैं, (साध्यदल) मूर्त द्रव्यके संबन्ध करके विशेषतया परिपाक हो रहा होनेसे (हेतु) शालिधान, गेहूं आदिके बीज या ईन्ट, दाल आदि के समान (दृष्टांत) । अर्थात् पौद्गलिक आतप, तृण, अग्नि आदि करके जैसे धान्य बीज पक जाते हैं, अग्नि से रोटी पक जाती है, अतः ये मूर्त द्रव्य माने गये पुद्गल से पक रहे पदार्थ जैसे पौद्गलिक हैं उसी प्रकार मखमल, गुड,पुष्प, सुन्दररूप आदि करके साता वेदनीय

परिपाक होता है, और कंकड, कांटा, दुर्गन्ध आदि पुद्गल पदार्थों से असाता वेदनीय कर्मका विपाक होता है। अग्नि, बूरा आदि पुद्गलों से ही स्पर्शान्तर या रसान्तर हो सकते हैं, आकाशसे दूध के रस, रूप, शद्व नहीं बदलते हैं, पुद्गलों करके पुद्गलों में परिपाक हो सकता हैं, आत्मगुण या अन्य अमूर्त पदार्थोंमे नहीं! अतः सिद्ध है कि कर्म पुद्गलस्वरूप ही है, इस बातको हम पहिले भी कह चुके हैं। दुसरे अध्यायके "अप्रतीघाते" सूत्रका व्याख्यान करते हुये " कर्मपुद्गलपर्यायो जीवस्य प्रतिपद्यते, पारतन्त्रनिमित्तत्वात् कारागारदिबंधवत् " यों कर्मको पुद्गल उपादान कारणों का उपादेय पर्यायपना स्वीकार किया है। चौथे अध्यायके उपान्त्यमें "सूक्ष्मो भूतविशेषश्चेद्व्यभिचारेण वर्जितः, तध्देतुर्विविधं कर्म तन्नः सिद्धं तथाख्यया" इसके द्वारा भी कर्मों के पुद्गलपने का आभास मिलता है, इस कारण सिद्ध हो जाता हैं कि कर्म बननेके योग्य कार्मण वर्गणा स्वरूप कोई कोई पुद्गल ही हैं यों सूत्रोक्त सिद्धांत पुष्ट हो जाता है।

तानादत्ते स्वयं जीवः सकषायत्वतः स तु ।
यो नादत्ते प्रसिद्धो हि कषायरहितः परः॥३॥
सकषायः सकर्मत्वाज्जीवः स्यात्पूर्वतोन्यतः ।
कषायेभ्यः सकर्मेति नान्यथा भवभागयं ॥४॥

कषायसहित होनेसे स्वयं वह जीव ही तो उन कर्मोंको ग्रहण करता है, जो जीव कर्मोंको ग्रहण नहीं करता है, वह उस संसारी जीवसे न्यारा उत्कृष्ट आत्मा नियमसे कषाय-रहित प्रसिद्ध है (व्यतिरेकव्याप्तिपूर्वक अनुमान) पूर्व समयोंमे बांधे गये अन्य कर्मोंसे सहित होने के कारण वही जीव कषाय उदय होनेपर वर्तमानमे कषाय सहित हो जावेगा और फर इन कषायोंसे कर्मोंको बांधकर कर्मसहित हो जावेगा। जीव के इस प्रकार भावकर्मसे द्रव्यकर्म, और द्रव्यकर्म से भावकर्मसहितपने की व्यवस्था हो रही है। अन्य प्रकारोंसे माननेपर यह जीव संसार को सेवनेवाला नहीं हो सकता है। अर्थात् अदृष्ट को आत्मा का गुण मानने-पर या आत्मा को कमल दल के समान निर्लेप मानने पर जीवके संसार परिभ्रमण होना नहीं बन सकता है, जो कि सभी वादी, प्रतिवादियों को मानना चाहिये।

जीवस्य बंध इति वा सकषायत्वतोन्यथा ।
तस्य मुक्तात्मवत्तत्वानुपपत्तेः प्रसिद्धितः॥५॥

अथवा उक्त सूत्रके आगम वाक्य का यों भी परार्थानुमान प्रयोग बना लिया जाय कि कषायसहितपना हो जाने के कारण जीव के बंध हो जाता है, अन्यथा यानी कषायसहितपनसे बंध की व्यवस्था यदि नहीं मानी जायेगी तो मुक्तात्माके समान उस संसारी जीवके उस बंधसहितपनकी उपपत्ति नहीं होनेकी प्रसिद्धी हो जायेगी, किन्तु मुक्तात्माके समान संसारी जीव तो बंधरहित नहीं हैं, अतः क्रोधादि कषायों से सहितपना ही जीव के बद्ध हो जानेका अंतरंग बीज है ।

सकषायत्वमध्यक्तस्वसंवेदनतः स्वयं
कोपवानहमित्येवं रूपात् सिद्धं हि देहिनां ॥६॥

उक्त अनुमान मे पड़ा हुआ सकषायपना हेतु तो स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध है । जब कि मैं क्रोधी हूं, मैं लोभी हूं: इत्यादि एवं स्वरूपवाले स्वसंसेदन प्रत्यक्ष से शरीरधारी जीवोंको कषायसहितपनकी स्वयं सिद्धी हो रही है, तो प्रत्यक्ष सिद्ध हो रहे हेतु से कर्मादान साध्य की सिद्धि हो जाती है, यहां सकषायपना ज्ञापक हेतु है और कारक हेतु भी हैं ।

प्रधानं सकषायं तु स्यान्नैवाचेतनत्वतः ।
कुम्भादिवत्ततो नेदं सबंधमिति निर्णयः ॥७॥

कपिल मतानुयायी कहते हैं कि जीवके कषायें नहीं होती हैं, किन्तु त्रिगुणात्मक प्रकृति के राजस, तामस कषायें जानी जा रहीं हैं । इस पर आचार्य कहते हैं कि अव्यक्त प्रधान तो कषायसहित नहीं हो सकेगा (प्रतिज्ञा) अचेतन होनेसे (हेतु) घट, पट, आदि के समान (अन्वयदृष्टांत) । तिसकारण यह प्रधान तो बंधसहित नहीं है, यों निर्णय कर दिया जाता है ।

कर्मणः सकषायत्वं जीवस्येति न शास्वतं
सहेतुकस्य कौटस्थ्यविरोधात् कुटकादिवत् ॥८॥
ततो न मुक्त्यभावो नुः कुतश्चित्कर्मणः क्षये ।
सकषायत्वविध्वंसाविध्वंसकृतसिद्धितः ॥९॥

कर्मोंसे यों जीवके कषायसहितपना हुआ वह शाश्वत यानी सर्वदा ठहरनेवाला नहीं है, क्योंकि हेतुओंसे सहित हो रहे कादाचित्क कार्य के कूटस्थपन का विरोध है । जैसे कि कारणोंसे उपजे घर, पोथी, वृक्ष, आदिक पदार्थ अनादि अनन्त सदा ठहरनेवाले नहीं हैं, तिस कारण किन्ही संवर, निर्जरा आदि कारणों से कर्मोंका क्षय हो जानेपर जीव के मुक्तिका अभाव नहीं हो सकता हैं । कारण कि कषायसहितपन के विध्वंस द्वारा किये गये मुक्तिपन की सिद्धि हैं और सकषायपनका जबतक विध्वंस नहीं किया गया है, तबतक जीव के मुक्तिका अभाव याने संसार की सिद्धी हो रही हैं अर्थात् व्यक्तिरूपसे सभी कर्मोंका सम्बन्ध सादि सान्त है और उन कर्मोके उदय से हुआ कषायसहितपना भी कादाचित्क है सार्वदिक नहीं है । अतः संवर निर्जराओं एवं अन्य पुरुषार्थों करके डेड गुणहानि प्रमाण संचित कर्मोका क्षय कर देने पर जीव के मोक्ष हो जाती हैं । यदि प्रकृति (कर्मों) के कषायसहितपना माना जायेगा या जीवके कषायसहितपना नित्य माना जायेगा तो जीव को मोक्षलाभ नहीं हो सकेगा । मोक्षका प्रधान बीज सकषायत्व का क्षय है और संसार का मुख्य कारण कषायसहितपन की लम्बी लेज बिछी रहना हैं ।

जीवो हि कर्मणो योग्यानादत्ते पुद्गलान् स्वयं ।
सकषायस्ततः पूर्वं शुद्धस्य तदसंभवात् ॥१०॥

कषायसहित जीव ही कर्मके योग्य हो रहे पुद्गलोंको स्वयं ग्रहण करता है, उस कषायसहितपनसे पहिले शुद्ध हो रहे जीवके उस कर्मग्रहण करनेका असंभव हैं अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान से क्रम से उतर कर जीव दशवें, छठे, चौथे या पहिले गुणस्थानोंमे सकषाय हो रहा कर्मोंको बांधने लग जाता है । जैन संप्रदायमे शुद्ध हो चुके मुक्त जीव के पुनः कर्मोंका ग्रहण करना या संसार मे लौटना नहीं माना गया है । आर्यसमाजी पण्डित

मुक्ति मे जीवकी पुनः आवृत्ति स्वीकार करते है, किन्तु एकबार मुक्त हो जानेपर योग्य कषायोंका सर्वथा अभाव हो जानेसें पुनः कर्मबंध नहीं हो पाता है यह जैन सिद्धांत है। अतः कषायसहितपन से पहिले शुद्ध हो रहे इस वाक्यका अर्थ कषाय की अपेक्षा या जीवके विशेष विशेष कर्मोंके बंध के पहिले हुई आंशिक विशुद्धि की अपेक्षा सुघटित हो सकता है। श्रुतसागर सूरि तो कहते हैं कि "कश्चिदाह– आत्मा मूर्तिरहितत्वादकरः पाणिरहितः कथं कर्म गृण्हाति कथं बंधवान् भवति इति चर्चितः सन्नुमास्वामिदेवः प्राणधारणायुसंबंधसहितो जीवः कर्म गृण्हाति तत्वायुःसंबंधं विना कर्मादत्ते इति सूचनार्थं जीवनाज्जीवस्तेन जीव शब्दस्य ग्रहणं चकार आयुसंबंधविरहे जीवस्यानाहारकत्वात् एकद्वित्रिसमयपर्यन्तं कर्म नादत्ते जीवः "एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः इति वचनात्॥ इससे ध्वनित होता है कि विग्रह गतिमे एक, दो, तीन समय तक जीव कर्मोंको ग्रहण नहीं करता है, किन्तु जैन सिद्धांतमे अनादिकालसे तेरहवे गुणस्थान तक निरंतर कर्मोंका ग्रहण करना इष्ट किया गया है, विग्रहगति मे मात्र नोकर्मोंका ग्रहण नहीं है, कार्मणकाययोगद्वारा कर्मोंका ग्रहण तो हो ही रहा है, भुज्यमान आयुका वियोग हो जानेपर उसी क्षण ध्यमान बआयुका उदय आ जाता है, पूर्वभव की आयुके वियोग और बांधी जा चुकी उत्तर भवकी आयुःके प्रथम निषेकके उदय का एक ही समय है, जबतक संसार है तबतक एक समय के लिये भी आयुःकर्म का वियोग हो जाना असंभव है। सर्वार्थसिद्धि, राजवार्त्तिक, गोम्मटसार में विग्रह गति के एक, दो, तीन, समयों मे कर्मोंका ग्रहण तो निरंतर हो रहा स्वीकार किया है, अतः श्रुतसागर स्वामीके अभिप्रायको वे ही जाने। यहां श्री विद्यानन्द आचार्यने "ततः पूर्वं शुद्धस्य तदसंभवात् जो लिखा है, वह अपेक्षाओं से सिद्ध किया जाता है। पुद्गल तो शुद्ध होकर पुनः स्वकीय स्पर्श गुणकी स्निग्ध रूक्ष पर्यायों के अविभाग प्रतिच्छेदों की द्व्यधिकतानामक अन्तरंग कारणवश अशुद्ध हो जाता है, किन्तु जीव एकबार भी शुद्ध होकर पुनः कषाय आदि विभाव परिणतियों को नहीं धारता है ऐसा जिनागम है।

तद्द्रव्यकर्मभिर्बंधः पुद्गलात्मभिरात्मनः।
सिद्धो नात्मगुणैरेवं कषायैर्भावकर्मभिः ॥११॥

तिसकारण इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि आत्माका पुद्गलस्वरूप द्रव्यकर्मों के साथ बंध हो जाना सिद्ध है, जो कि द्रव्यबंध कहा जा सकता है इसी प्रकार भावकर्मस्वरूप कषायों के साथ भी आत्मा का बंध हो रहा है, जो कि भावबंध कहा जाता है। किन्तु नैयायिकों के यहां अपने ही गुण मान लिये गये अदृष्ट आदि गुणों के साथ आत्माका बंध नहीं

है । बात यह कि गुण ही तो द्रव्य हैं, गुणोंका द्रव्य के साथ तादात्म्य है, उपरिष्ठाद् हो रहा बंध नहीं है जो कि संयोग को मूल कारण मानकर बंध हुआ करता है ।

अन्यथा सकषायत्वप्रत्ययस्य विरोधतः ।
संसारिणां शरीरादिसंबधस्यैव हानितः ॥१२॥

यदि जीवका द्रव्य कर्म और भाव कर्मोंके साथ बंध जाना नहीं मानकर अन्य प्रकारोंसे आत्माको व्यापक, निर्लेप, कूटस्थ माना जायेगा तो आत्माके क्रोधीपन, मानीपन, शोकसहितपन, स्त्रीवेदीपन आदि कषायसहितपन का स्वसंवेदन स्वरूप ज्ञान होनेका विरोध हो जायगा ऐसी दशामे संसारी जीवोके शरीर इन्द्रिय आदि के साथ संबंध हो जाने की हानि हो जावेगी । शुद्ध आत्माके शरीर आदिका संबंध कथमपि नहीं हो सकता है, जैसे कि आकाश द्रव्य के कोई उपाधियोंका एकरसवाला संबध नहीं हैं अतः सिद्ध हो जाता है कि कषायसहित होने के कारण यह संसारी जीव विजातीय कर्म योग्य पुद्‌गलोंका ग्रहण करता रहता है वही बंध है ।

सोयं सामान्यतो बंधः प्रतिपादितस्तत्प्रकारप्रतिपादनार्थमाह;–

वह प्रसिद्ध हो रहा यह बंध सूत्रकारने उक्तसूत्रद्वारा सामान्य रूपसे समझा दिया हैं, ऐसी दशामें शिष्यका उस बधके विशेष भेद प्रभेदोंको जानने की इच्छा उपजना सुलभ साध्य है, अतः बंधके प्रकारोंकी प्रतिपत्ति कराने के लिए सूत्रकार अगले सूत्र को कह रहे हैं ।

प्रकृतिस्थित्यनुभाग(भव)प्रदेशास्तद्विधयः ॥३॥

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये चार उस बंध के प्रकार हैं, अर्थात् योगों अनुसार आ रही कार्मण वर्गणाओंमे आत्मपरिणाम को निमित्त पाकर हुई जो अर्थ को नही जानना, अर्थका आलोचन नहीं कर सकना, सुख, दुःखका वेदन कराना, आदि प्रकृतियोंके रूपमे बंधजाना प्रकृति बंध हैं । खाये, पिये गये खाद्य, पेय द्रव्यों के शारीरिक परिणतियोंको निमित्त पाकर जैसे रस, रुधिर, आदि परिणाम हो जाते हैं, उसी प्रकार कार्मण पुद्‌गलों के ज्ञानावरणादि प्रकृतिवानों का आत्मा के साथ कर्मबंध हो जाता है, उन अर्थोंको नहीं जानने देनेवाले आदि कर्मस्वभावों की जबतक च्युति नहीं होय वह स्थिति बंध है । जैसे कि अन्न, पेय, के बन गये रुधिर मांस, हड्डी, आदि की अनेक दिनों तक ठहरने की

स्थिति पड़ जाती है, अथवा खाया, पिया गया पदार्थ उदरमे जाकर कितनी देर तक ठहर कर जठराग्निद्वारा परिपक्व होता हुआ निर्जीर्ण हो जायेगा उतना उसका स्थितिकाल समझा जायेगा। ज्ञानावरणादि मे आत्माको रसविशेष देने की सामर्थ्य को अनुभवबंध कहते हैं, खाये, पिये गये अन्न, दूध आदि मे भी शरीरपरिणति अनुसार रसविशेष पड जाते हैं। कर्मवर्गणायें इतने परिणाम को लिये हुये बंध गई हैं, इस प्रकार परमाणुओं की गणना का परिमाण लिये हुये बंधना प्रदेशबंध है। फोक पदार्थ और सघन पदार्थ के खाने पीने मे परमाणुओं की गणना अनुमित हो रही दृष्टांत कही जा सकती हैं। हजार योजन के राघव मत्स्य के योग बडा है अतः कर्मवर्गणायें अधिक खिचती हैं और तन्दुल मत्स्यके छोटा योग होनेसे परमाणुयें थोडी आती हैं, रस अधिक पडता है, स्थूलरूपसे गिनने पर वे परमाणुयें सिद्ध राशिके अनन्तवें भाग और अभव्य राशिसे अनन्तगुणी हैं फिर भी बडे मत्स्यसे तंदुलमत्स्य के सार्द्धकमे परमाणु प्रदेश थोडे हैं, किन्तु अनुभाग शक्ति दोनों के बांधे गये कर्मों मे एकसी पड़ती हैं, अतः दोनो ही सातवें नरक जाते हैं। वस्तुतः अनुभागबंध ही शक्तिशाली है, एक इन्दिय, द्वीन्द्रिय जीवों मे कर्मोंकी स्थिति थोडी भी पडती है और संज्ञीजीवके कर्मस्थिति अधिक पडती है, तथापि अनुभाग शक्ति की तीव्रतासे एकेंद्रिय, विकलत्रय जीवों के महान् सक्लेश बना रहता है। ये चारों बंध एक ही समय मे हो जाते हैं।

अकर्तरीत्यनुवृत्तेरपादानसाधना प्रकृतिः भावसाधनौ स्थित्यनुभवौ, कर्मसाधनः प्रदेशशब्दः। प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरं, स्वभावाप्रच्युतिः स्थितिः, तद्रसविशेषोनुभवः, इयत्तावधारणं प्रदेशः। विधिशब्दः प्रकारवचनः। तस्य विधयस्तद्विधयो बंधप्रकाराः प्रकृत्यादय इत्यर्थः।। तदेवाह,-

प्रकृति शब्दको यों साधु व्युत्पन्न कर लिया जाय कि प्रक्रियते अस्याः इति प्रकृतिः प्र उपसर्गपूर्वक डुकृञ् करणे धातुसे "स्त्रियां क्तिः" इस सूत्र करके क्ति प्रत्यय कर लिया जाय "अकर्तरि चकारके संज्ञायां" इस सूत्र के अकर्तरि पदकी अनुवृत्ति हो जानेसे अपादान मे प्रकृति शब्दको साध लिया जाता हैं। स्थिती और अनुभव शब्द का भावमें प्रत्यय कर साधन कर लिया जाय।"ष्ठागति निवृत्तौ" धातु से भाव मे क्तिप्रत्यय कर स्थिति शब्द बन जाता हैं, और अनु उपसर्ग पूर्वक भूधातुसे भावमे अप्प्रत्यय कर अनुभव शब्द को साध लिया जाय, प्रदेश की कर्म मे घञ् प्रत्यय कर सिद्धि करली जाय। प्रकृति और स्वभाव इन दोनोंका एक अर्थ ही है, भिन्न अर्थ नहीं हैं। जैसे कि नींबकी प्रकृति तिक्त (कड़वा) है, गुडका स्वभाव मीठा है, उसी प्रकार ज्ञानावरण की प्रकृति स्व और अर्थ को नहीं जानने देना है। दर्शनावरण कर्म की प्रकृति अर्थोंकी सत्ता का आलोकन नहीं कराना है। साता, असाता बेदनीय कर्म को

टेव जीव को सुख, दु:ख का संवेदन कराना है। दर्शनमोहनीयकी बान तत्त्व और अर्थोंका श्रद्धान नहीं होने देना है। चारित्रमोहनीयकर्मका स्वभाव संयमपरिणाम नहीं उपजने देना है। भवको धारण कराना आयुकर्म की टेव है। नारक आदि भावों या शरीर आदिको बनानेमे नाम कर्म की धुनि लगी रहती है, उंच, नीच स्थानों मे वैसे अनुरूप आचरण कराना गोत्र कर्मका स्वभाव है। दान आदि मे विघ्न करना अन्तराय कर्म की टेव है। इससे उक्त कार्य या प्रकरण प्राप्त किये जाते हैं, अतः यह प्रकृति कही जाती है। उस उस स्वभावसे प्रच्युति नहीं होना स्थिति है, जैसे छिरिया, गाय, भैंस आदि के दूधों की मधुरता स्वभावसे कुछ कालतक च्युत नहीं होती है। कर्मों मे रसविशेष के पडजाने को अनुभव कहते हैं, उदय दशामे उन कर्मों का रस अनुभवा जाता है, अतः पहिले पड गये अनुभाग बंधका अनुमान हो जाता है। कर्मस्वरूप हो गये पुद्गलस्कन्धोंके परमाणुओं को नाप करके इतने परमाणुरूप अवधारण करना प्रदेश है। सूत्रमे पडा हुआ विधि शब्द प्रकार अर्थको कह रहा है, तद्विधयःशब्द मे षष्ठीतत्पुरुष समास कर उस बंधकी विधियां तो "तद्विधयः" शब्दसे कही जाती है। बंध के प्रकार हो रहे प्रकृति आदिक हैं, यह इस तद्विधयः शब्द का अर्थ है उन्ही विधियोंको ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकों द्वारा कहते हैं।

तस्य बंधस्य विधयः प्रकृत्याद्याः सुसूत्रिताः।
तथाविधत्वसंसिद्धेर्बद्धव्यानां कथंचन ॥१॥
स्थित्यादिपर्ययोन्मुक्तैः कर्मयोग्यैर्हि पुद्गलैः।
प्रकृत्यावस्थितैर्बंधः प्रथमोत्र विवक्षितः ॥२॥
प्रतिप्रदेशमेतैनु र्मतो बंधः प्रदेशतः।
स्थित्यादिपर्ययाक्रान्तैः स स्थित्यादिविशेषितः ॥३॥

वार्त्तिकों मे सूत्रका अर्थ यों समझिये कि तस्य विधयः' तद्विधयः' उस बंध के प्रकृति, स्थिती आदिक प्रकार तो उक्त सूत्रद्वारा भले प्रकार सूचित कर दिये गये हैं, कारण कि बंध होने योग्य पदार्थोंके कथमपि तिस ढंग से प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश यों चार प्रकारोंकी भलेप्रकार सिद्धि हो रही हो है स्थिति, अनुभाग आदि पर्यायों से रहित हो रहे किन्तु अर्थको नहीं जानना आदि स्वभावों के पडजाने की दशासे अवस्थित हो रहे कर्मयोग्य पुद्गलों करके आत्मा का बंध जाना यहां पहिला प्रकृतिबंध विवक्षाप्राप्त किया गया है। तथा इन कर्मयोग्य पुद्गलों करके आत्माके प्रत्येक प्रदेश मे जो कर्म परमाणु-ओंके प्रदेशोंसे बंध हो रहा है, वह दुसरा या चौथा प्रदेशबंध माना गया है, एवं स्थिति

आदिक यानी स्थिति पड जाना और रस देनेकी शक्ति यों स्थिति और अनुभाग पर्यायोंसे चारों ओर घेर लिये गये कर्मयोग्य पुद्गलों करके जो आत्मा का बंध जाना है. वह स्थिति आदिक से विशेषित हो रहा स्थितिबंध और अनुभागबंध है, यों सूत्रोक्त विषय की युक्तियोंसे सिद्धि हो जाती है।

बंधस्य भेदादेवं हि बंधो भिद्यते नान्यथा बद्धव्यानि च कर्माणि प्रकृत्यावस्थितानि प्रकृतिबंधव्यपदेशं लभंते। तान्येवात्मप्रदेशवृत्तीनि प्रदेशबंधव्यपदेशं। समयादूर्ध्वस्थिति पर्ययाक्रान्तानि स्थितिबंधव्यपदेशं। फलदानप्रशक्तिलक्षणानुभवपर्ययाक्रान्तान्यनुभवबंध-व्यपदेशमिति शोभनं सूत्रिताः प्रकृत्यादिविषयो बंधस्य। तत्र योगनिमित्तौ प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्य-नुभवौ कषायहेतुकौ। आद्यो द्वेधा मूलोत्तरप्रकृतिभेदात् ॥

बंध के भेदसे इस प्रकार ही बंध भिन्न भिन्न हो रहा है। इनको चार छोडकर अन्य प्रकारोंसे बध के भेद नहीं नियत हैं, आत्माके साथ बंधने योग्य कर्म ही प्रकृति अवस्थामे प्राप्त हो रहे सन्ते प्रकृतिबंध इस नाम को प्राप्त कर लेते हैं। "भावेन भाववतोभिधानं" इस नियम अनुसार प्रकृतिबंध में प्रकृतिका अर्थ ज्ञान आदिका आवरण कराने की प्रकृति को धारनेवाले प्रकृतिमान्का बंध जाना है।और वे ही कर्म अनन्तानन्त स्वकीय प्रदेश परमाणुओंकी संख्या अनुसार आत्माके असख्यात प्रदेशों पर बर्तते हुये एकक्षेत्रावगाह होते हैं, तब वे ही कर्म प्रदेश बंध नामसे व्यवहार प्राप्त हो जाते है। तथा एक समयसे प्रारम्भ कर दो,तीन, चार सौ, संख्यात, असंख्यात समयों तक की स्थिति परिणतिसे आक्रान्त हो जाते हैं, तो वे ही आत्मस्थ कर्म स्थितिबंध नाम को पा जाते हैं। एवं वे ही बध रहे पौद्गलिक कर्म उसी समय आत्मा को फल देने की प्रकर्ष शक्तिस्वरूप अनुभव पर्यायसे आक्रान्त हो जाते हैं, तो अनुभाग बंध इस व्यपदेशको धार लेते हैं। कर्मनामक अशुद्ध द्रव्यमे उसी समय प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशोंस्वरूप परिणतियां उत्पन्न हो जाती है जैसे कि खाये हुये अन्न मे तत्काल ही उदराग्नि, शक्ति, देश, काल, प्रकृति अनुसार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश, परिणतियां उद्भूत हो जाती है। खिचडीकी प्रकृति लघुपाचन है। दो घंटे मे पच जायेगी, शरीर मे हलकापन बनाये रक्खेगी, पावसेर खिचडीमे परमाणु थोडे हैं, जब कि पावसेर खीरमे उससे कई गुने पौष्टिक स्कन्ध प्रविष्ट हो रहे हैं, उदरमे जाकर अन्नका कारणों के वश उत्कर्षण, विसंयोजन, उदी-रणा आदि हो जाते हैं। उसी प्रकार कर्मोंकी भी दशायें सम्भवती रहती है, स्थितियां भी न्यून, अधिक, हो जाती है, अनुभाग शक्तियोंके भी घात या प्रकर्ष हो जाते हैं। चारित्र मोह-नीय या दर्शनमोहनीय एवं चारों आयुष्योंको छोडकर तुल्यजातिवाली उत्तर प्रकृतियों का

परमुख करके भी अनुभव होने लग जाता है। यों बंध की प्रकृति आदिक विधियोंका श्री-उमास्वामी महाराजने इस सूत्रद्वारा शोभा युक्त निरूपण कर दिया है, तभी तो वार्तिककारने " सुसूत्रिताः " कहा था। कर्मसिद्धान्त का सूत्रकार द्वारा निरूपण होनेसे ग्रन्थकार को बडी प्रसन्नता हुई है। उन चारों बंधोंमे प्रदेश बंध तो आत्माके योग नामक यत्न को निमित्त पाकर हो जाते हैं। और आत्माकी विभावपरिणतियां कषायोंको हेतु मानकर स्थितिबंध और अनु-भागबंध पड जाते है, योग और कषायोंकी प्रकर्षता, अप्रकर्षतासे कर्मबंध की विचित्रतायें होती रहती है। कारणों के अनुरूप ही तो कार्य होगा। आदि में कहा गया प्रकृति बंध तो मूल प्रकृतिबंध और उत्तरप्रकृतिबंध इन भेदों से दो प्रकार है।

तत्र मूलप्रकृतिबंधं तावदाह;--

उन प्रकृतिबंध के भेदोंमे सबसे पहिले मूल प्रकृतिबंध को सूत्रकार कहते हैं।

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायाः ॥४॥

आदिमे होनेवाला मूल प्रकृतिबंध तो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोह-नीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठ विकल्पोंवाला है। चेतना गुणकी परिणति ज्ञान को आवरण करनेवाला कर्म ज्ञानावरण हैं। और चेतना के विवर्त दर्शनको आवरण करनेवाला कर्म दर्शनावरण है। सुखदुःखोंका वेदन करानेवाला कर्म वेदनीय है, आत्माको विपरीत रस कराकर सम्यक्त्व और चारित्रसे भ्रष्ट करानेवाला कर्म मोहनीय है। संसार मे जीव को शरीर धारण कराकर रोके रहे वह आयुः कर्म है। अनेक प्रकार शरीर आदिको बनानेवाला नाम कर्म हैं। ऊंचे, नीचे आचरण अनुसार आत्माको उच्च, नीच, कहलानेवाला गोत्र कर्म है। दाता और पात्र या भोग्य और भोक्ता आदिके मध्यमे मानूं पडकर जो विघ्न उत्पन्न करता है, वह अन्तराय हैं। ये प्रकृतिबंधके आठ भेद है, ज्ञानावरण का उदय हो जाने पर आत्मा ज्ञानरूप परिणत नहीं हो पाता है, जैसे कि जो मनुष्य प्रथमसे ही शीतल प्रदेश या शीतल वायुमे बैठा हुआ है, उसको पसीना नही आता है। ऐसे ही दृष्टांत यहां अनुकूल पडेंगे। पसीना आ रहा हो पुनः उसको ठंडी वायु से सुखाया जाय यह दृष्टांत विषम है। वस्तुतः कर्मबंध हो चुकनेपर आत्मा अवधिज्ञान आदि पर्यायोंको ही नहीं धारसकता है।

सामानाधिकरण्ये सति पूर्वोत्तरवचनविरोध इति चेन्न, उभयनयधर्मविवक्षासद्-भावात् तयोरेकवचनबहुवचनप्रयोगोपपत्तेः। प्रमाणं श्रोतार इति सामान्यविशेषयोरेकत्वबहुत्व-व्यवस्थितेर्यथासंभवं कर्त्रादिसाधनत्वं ज्ञानावरणादिशब्दानां। प्रयोगपरिणामावागच्छदेव-विशिष्टं कर्म ज्ञानावरणादिविशेषैर्विभिद्यते अन्नादेर्वातादिविकारवत्।

यहाँ कोई शंका उठाता है कि ज्ञानावरण को आदि लेकर अन्तराय पर्यन्त प्रकृतिबंध है। यों ज्ञानावरण आदिके साथ जब आद्य शब्द द्वारा कहे गये प्रकृतिबंध का समानाधिकरण हो रहा है ऐसा होते सन्ते तो पूर्ववर्ती समसित अन्तराय पदके बहुवचनका विरोध पडता हैं। जैसे कि " नील उत्पल यहां समानाधिकरण होनेपर विभक्ति और वचन समान है, जो ही नीलका अधिकरण है वही समान रूपसे उत्पलका अधिकरण है। इसी प्रकार यहाँ प्रथमाविभक्तिका तो विरोध नहीं है, किन्तु अन्तरायाः इस बहुवचनके समान आद्य शब्द भी बहुवचनान्त होना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यहां द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय इन दोनो नयोंके विषय हो रहे धर्मोंकी विवक्षाका सद्भाव है। अतः उन उद्देश्य विधेय पदोंमे एकवचन और बहुवचन के प्रयोग की सिद्धी हो जाती है। द्रव्यार्थिक नय अनुसार सामान्यकी विवक्षासे प्रकृतिबंध मूलमें एक ही है, इस कारण सूत्रकारने प्रकृतिबंध को कह रहे आद्य शब्दमे एकवचन का प्रयोग किया है। और उस प्रकृतिबंध के भेद ज्ञानावरण आदिक अनेक है यों पर्यायार्थिक नयकी प्रधानतासे विवक्षा प्राप्त हो रहे विधेय पदमे बहुवचन का प्रयोग किया गया है, लोक मे भी सामान्य और विशेषोंके एकवचन और बहुवचनोंकी व्यवस्था हो रही देखी जाती है जैसे कि "प्रमाणं श्रोतारः" इस चर्चा के निर्णय मे प्रमाणभूत श्रोता जन हैं "गावो धनं" अधिक गाय, बैल ही किसानों या वनजारोंका धन हैं। ज्ञानावरण आदि शब्दों की जिस प्रकार संभव हो सके वैसे कर्ता, करण, आदिमे प्रत्ययकर सिद्धी करली जाय। " आवृणोति इति आवरणं " आव्रियते अनेन इति वा आवरणं, ज्ञानानां आवरणं इति ज्ञानावरणं। यों कर्ता या करणमे युट् प्रत्ययकर पुनः समास करते हुये ज्ञानावरण शब्दका साधन करलिया जाय। इसी प्रकार दर्शनावरण शब्दको प्रकृति, प्रत्यय, द्वारा, साधलिया जाय " पश्यति इति दर्शनं ' दृश्यते अनेन इति वा दर्शनं वेदयते वेद्यते इति वा वेदनीयं। मुह्यते अनेन मोहयति वा मोहनीयं,एति अनेन इति आयुः नमयति नम्यते अनेन इति वा नाम, गूयते इति गोत्रं, अन्तरं मध्यं एति ईयते अनेन इति अन्तरायः, यों निरुक्तिकर यथायोग्य प्रत्ययोंद्वारा ज्ञानावरण आदि शब्दोंकी सिद्धी हो जाती है। आत्माके प्रयोग परिणतियोंसे आरहे ही सामान्य कर्म पुनः ज्ञानावरण आदि विशेषों करके विभिन्न विभिन्न परिणाम जाते हैं, जैसे कि उदर में जाते ही अन्न आदिक पदार्थ वात, पित्त, श्लेष्म रुधिर रस, आदिक विभाग करके परिणाम प्राप्त हो जाते हैं, अथवा एक से मेघजलके उन उन वृक्षोंमें नाना प्रकार रस, पत्र, पुष्प, फूल, आदि परिणाम बन जाते है। उसी प्रकार समान हो रहीं कार्मणवर्गणाओंका आत्माकी प्रयोगपरिणति अनुसार झटिति आवरण, अनुभवन, मोह करादेना, भवधारण, नाम, गोत्र कराना, विघ्न डालदेना आदि अनेकरूप सामर्थ्यों करके युक्त कर्मबंध परिणाम हो जाता है।

ज्ञानावरणमेव मोह इति चेन्न, अर्थान्तरभावात् कार्यभेदे च कारणान्यत्वात् । ज्ञानावरणस्य हि कार्यमज्ञानं, मोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानमचारित्रं चेति । एतेन ज्ञानदर्शनावरणयोरन्यत्वमुक्तं तत्कार्ययोरज्ञानादर्शनयोरन्यत्वात् तदावियमाणयोश्च ज्ञानदर्शनयोरन्यत्वं प्रयुक्तं भेदसाधनं ।

यहाँ कोई तर्क उठाता है, कि ज्ञानावरण कर्म ही तो मोहकर्म है । जब कि मोह हो जानेपर जीवको हित और अहित की परीक्षा नहीं हो पाती है, तत्त्वों को जीव नहीं समझ पाता है, अतः ज्ञानावरणसे मोहनीय कर्मकी कोई विशेषता नहीं दीख पडती है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि ज्ञानावरणीयसे भेद हो रहा है । अर्थको यथार्थ रूपसे जानकर भी मोहनीय कर्म अनुसार सद्भूत अर्थोंका श्रद्धान नहीं किया जाता है । अनेक विद्वान् हिंसा, स्त्रीसेवन, द्यूतक्रीडा को महान् पाप समझते हुये भी तीव्र राग मोह हो जानेपर उन कुकर्मोंमें आसक्ति कर बैठते हैं । अनेक जैन विद्वान भी श्मशान वैराग्यवत् अनेक स्थलोंपर अथवा उपदेश देते समय समीचीनरीत्या निर्वेदभावोंसे परिपूर्ण हो जाते हैं, किंतु शीघ्र ही मोहके माहात्म्य अनुसार विषयोंमें लीन हो जाते हैं । अतः तत्त्वार्थोंका अन्तस्तलस्पर्शी श्रद्धान नहीं होने देनेवाले और ठोस चारित्र नहीं पलने देनेवाले मोहनीय कर्म का ज्ञानावरण से भेद ही रहा है । ज्ञानावरण तो प्रतिपक्षी ज्ञानस्वभाव को न्यून कर देता है, विपरीत नहीं कर पाता है । किन्तु मोहनीय कर्म तो प्रतिपक्षी हो रहे सम्यक्त्व, चारित्र, गुणोंका सर्वथा विपरीत रस करा देता है एक बात यह भी है कि कार्यों का भेद हो जानेपर कारणोंका भेद अवश्यंभावी है " यह अनुमान प्रमाणसे निर्णीत है । भिन्नकार्यमे भिन्नकारणप्रभावत्वावश्यंभावात् " ज्ञानावरण का कार्य अज्ञान है और मोहनीय कर्म का कार्य तत्वार्थोंका श्रद्धाना नहीं हो सकना और चारित्र नहीं पलने देना है, दर्शन मोहनीय तो तत्वार्थ का श्रद्धान नहीं होने देता है यों दोनों कर्मो मे महान अन्तर है । इस उक्त कथन करके यानी वस्तुस्वरूपकी अपेक्षा और कार्योंका भेद हो जानेसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्मोंका का भी भेद कह दिया गया समझ लेना चाहिये, पहिले प्रकरणमें भी स्वपरप्रदर्शक ज्ञान और सत्ताकी आलोचना करनेवाले दर्शनका भेद कहा जा चुका साकार है और दर्शन निराकार है । आकार का कोई प्रतिबिम्ब पड जाना नहीं है । क्यों कि चमकीले मूर्त पुद्गल में हीं मूर्त पुद्गल का प्रतिबिम्ब पड़ा करता है बौद्धों के समान ज्ञानको साकार यानी प्रतिबिम्ब युक्त मानने पर स्मृति, अनुमान, व्याप्तिज्ञान, आगमज्ञान नहीं हो सकेंगे । जबकि भूत, भविष्य कालों के पदार्थ ही वर्तमानमे नहीं हैं तो उनका प्रतिबिम्ब ज्ञानमे नहीं, पड़ सकता है सर्वज्ञ भी कोई नहीं हो सकेगा अतः जैन सिद्धान्तमे साकारका अर्थ सविकल्प माना गया है, सम्पूर्ण गुणों में ज्ञान ही एक ऐसा विलक्षण

गुण है जो कि अपनी और विषय विषयांशों की विकल्पनायें कर स्वपरप्रकाशात्मक है ज्ञानसे कथंचित् तदात्मक हो रहे सुख, दुःख इच्छा आदि भी स्वसंवेद्य हो रहे हैं, शेष सभी गुण या द्रव्य किसी की विकल्पनायें नही कर सकते हैं अतः वे निराकार माने गये हैं, यों देखाजाय तो जिस द्रव्य की जो भी कुछ लम्बाई, चौडाई, मोटाई स्वरूप आकृति है उस द्रव्य के गुणोंका भी वही आकार समझा जायेगा अथवा "निर्गुणा गुणाः," इस सिद्धान्त अनुसार गुणों मे प्रदेशकत्व गुण के विवर्त हो रहे आकार का निषेध संभव जानेपर गुणो में निराकारता पुष्ट हो जाती है। हां, एकार्थसमवायसंवेद्य (कथंचित्, सहोदर, तादात्म्य,)से गुणों को आकृतिसहित कहा जा सकता है, "साकारं ज्ञानं, निराकारं दर्शनं ' यहां आकार का अर्थ व्यवसाय करना विकल्पनाये करना, संवित्ति करना, मात्र है। अतः ज्ञान और दर्शन के भेद अनुसार उनके प्रतिपक्ष हो रहे-कर्मोका भी भेद है। जबकि उस ज्ञानावरण के कार्य हो रहे औदयिक भाव अज्ञान में और दर्शनावरण कर्म के कार्य हो रहे अदर्शन में भेद हो रहा है। अतः उनी कर्मोंसे आवरण किये जा रहे ज्ञान और दर्शन परिणामो में अन्यपना है, यों ज्ञानावरण और दर्शनावरण के भेद को साधनेवाला यह ज्ञान और दर्शन का अन्यपना हेतु बढिया समुचित है, श्रेष्ठ युक्तिवाला है।

ज्ञानावरणस्याविशेषेपि प्रत्यास्रवं मत्यादिविशेषो जलवत् । एतेनेतराणि व्याख्यातानि दर्शनावरणादीन्यपि प्रत्यास्रवं मूलोत्तरप्रकृतिविकल्पभांजि विभाव्यंते। सकल कर्मप्रकृतीनां कार्यविशेषानुमेयत्वादिंद्रियशक्तिविशेषवत् । तदेवाह :-

ज्ञानावरण कर्म की सामान्यतया पिंडरूप से कोई विशेषता नहीं होते हुये भी भिन्नभिन्न आस्रवों के प्रति मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण आदिकी भिन्न भिन्न विशेषता हो जाती है। जैसे कि एकरसवाला भी मेघजल नाना हरी, पीली,नीली शुक्ल, बोतलो में कतिपय औषधि स्वरूप अथवा नाना वृक्षोंमें अनेक सामर्थ्योंके भेदसे व्यवस्थित हो जाता है। उसी प्रकार मतिज्ञान का आवरण करने की शक्ति मतिज्ञानावरण मे पडजाती हैं। और श्रुत ज्ञानावरण कर्म में श्रुतज्ञान को रोकने की सामर्थ्य हो जाती हैं। इस कथन करके अन्य दर्शनावरण मोहनीय आदि कर्मोंका भी उपलक्षण करके व्याख्यान कर दिया गया समझलेना चाहिये। दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आदिक भी प्रत्येक स्पर्धक का आस्रव होनेपर मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृति तथा उत्तरोत्तरप्रकृति इन विकल्पों को धार रहे सन्ते विचार लिये जाते हैं अथवा विभाग को प्राप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार रस रुधिर, हड्डी, आदि कार्योंका प्रत्यक्ष होजानेसे सामान्य खाद्य, पेय पदार्थों का उन उन

उदरो में जाकर वैसी वैसी विशेष सामर्थ्यों का धारना अनुमित हो जाता है। अथवा चाक्षुष प्रत्यक्ष, रासन प्रत्यक्ष, आदि कार्यविशेषोंसे अतीन्द्रिय इन्द्रियों या उन बाह्यनिवृत्ति स्वरूप इन्द्रियोंकी रूपग्रहणशक्ति रसग्रहणशक्ति आदि विशेषोंका अनुमान करलिया जाता है, उसी प्रकार अज्ञान, मति अज्ञान, दर्शनमोहन, अनुकूलवेदन, प्रतिकूलवेदन, भव धारण, शरीरादिनिर्माण, उच्चाचरण, विघ्न पड़ जाना, आदि कार्य विशेषों करके सम्पूर्ण मूलप्रकृति, उत्तरप्रकृतियोंका अनुमान करलिया जाता हैं। परिदृष्ट कारणों का व्यभिचार देखने से अतीन्द्रिय कर्मों की सिद्धि हो जाती है। उस ही बात का ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा कह रहे हैं।

कर्मप्रकृतयस्तत्र स्युर्ज्ञानावरणादयः।
तादृक्कार्यविशेषानुमेयाः करणशक्तिवत् ॥१॥

उन चार प्रकारके बंधोमें ज्ञनावरण आदिक मूल प्रकृतियां और कर्मोंकी मति ज्ञानावरण, चक्षुर्दर्शनावरण आदिक उत्तर प्रकृतियां तो तिस तिस प्रकार ज्ञानको नहीं होने देना, मतिज्ञन को नहीं उपजने देना, चाक्षुषदर्शन को रोकलेना आदि देखे जा रहे कार्य विशेषों करके अनुमान करलेने योग्य हैं। जैसे कि इन्द्रियोंकी रूप को ग्रहण कर सकना आदि शक्तियोंका अनुमान करलिया जाता है अथवा "देवदत्तः कुठारेण छिनत्ति काष्ठं' वेगयुक्त होकर उठना, गिरना व्यापारवाले कुठार करके काठका छेदन हो जाना दीखने से कुठार की छेदकत्व शक्ती का अनुमान करलिया जाता है। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी को कर्मोंका प्रत्यक्ष हो जाता है। किन्तु मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी जीव उन कर्मों की अनुमान प्रमाण से सिद्धि कर डालते है।

कश्चिदाह—पुद्गलद्रव्यस्यैकस्यावरणसुखदुःखादिनिमित्तत्वानुपपत्तिर्विरोधात् इति। स विनिवार्यते न वा, तत्स्वाभाव्याद्वन्हेर्दाहपाकप्रतापप्रकाशसामर्थ्यवत्। अनेकांतित्वाच्च द्रव्यस्य नैकत्वादिरूपेणानैकान्तिकत्वं यतो विरोधः।

यहाँ कोई पण्डित आक्षेप करता हुआ कह रहा है कि सामान्य रूप से एक ही पुद्गल द्रव्यको आवरण कर देना, मोह करना, सुख दुःख उपजावना आदि अनेक कार्योंमें निमित्तपना नहीं बन सकता है, क्योंकि एक कारणद्वारा अनेक कार्यों के हो जाने का विरोध है। इस प्रकार जो कहरहा है, ग्रन्थकार करके वह पण्डित विशेषरूपतया निवारण किया जाता है कि हम जैनों के ऊपर यह दोष नहीं आता है, क्योंकि उन कार्यों में अन्तरंग बहिरंग

कारणवश पड गये अनेक स्वभावोंसे अनेक कार्य हो रहे हैं जैसे कि एक अग्निके दाह करना पचाना, उष्णप्रताप करना, प्रकाश करना ये सामर्थ्य पायीं जातीं हैं। बात यह है कि अग्नी मे दाहकत्व, पाचकत्व आदि अनेक स्वभाव हैं तदनुसार वह अनेक शक्तिओं का पिण्ड हो रही एक अग्नो भी असंख्य कार्यों को कर सकती है। "यावन्ति कार्याणि तावन्त: प्रत्येकस्वभाव भेदाः। परस्परं व्यावृत्ता :" यही सत्यमार्ग है "कार्यभेद : कारणभेद देव भवति" इस नियम की जैन सिद्धान्तमें अक्षुण्ण प्रतिष्ठा है। दूसरी बात यह है कि अनेकान्तवादमे द्रव्य अनेक धर्मो से युक्त सिद्ध किया गया है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से कर्म पुद्गल द्रव्य एक हैं तथा अनेक परमाणुयें या उनके गुण एवं कर्मों की पर्याय शक्तियां और स्वभाव इन पर्याय की अपेक्षा तो पर्यायार्थिक दृष्टी अनुसार कर्म द्रव्य अनेक भी हैं। तिस कारण अनेक कारणों करके अनेक कार्यों की उत्पत्ति होती रहने से कोई विरोध नहीं है। द्रव्य का एकत्व, अनेकत्व आदि रूप करके व्यभिचार नही आता है अथवा " नैकत्वादिरूपेणैकान्तिकत्वं " पाठ होनेपर एकत्वादिरूप करके द्रव्यका एकान्त नही है जिससे कि विरोध दोष आता, उपलभ्यमान हो रहे एकत्व, नानात्व, आत्मक वस्तु मे विरोध दोष नहीं आता है "अनुपलम्भसाध्यो विरोधः" अथवा यों अर्थ किया जासकता हैं कि जब द्रव्य में एकत्व आदि एक ही अर्थ का एकान्त नहीं पुष्ट हुआ तो एक द्रव्य को अनेक कार्योंका निमित्त नहीं सिद्ध होने देने मे प्रयुक्त किया गया विरोध हेतु व्यभिचारी हैं।

पराभिप्रायेणेन्द्रियाणां भिन्नजातीयानां क्षीराद्युपभोगे वृद्धिवत्। वृद्धिरेकैवेति चेन्न, प्रतीन्द्रियवृद्धिभेदात्। तथैवातुल्यजातीयेनानुग्रहसिद्धिः। तेन चेतनस्यात्मनोऽचेतन कर्मानुग्राहकं सिद्धं भवति।

अथवा हमने जो एक ही कर्म पुद्गलद्रव्य को अनेक सुख, दुःख आदिकों का निमित्तपना कहा है वह दूसरे नैयायिक या वैशेषिक अथवा चार्वाक पण्डितोंके अभिप्राय करके कहा गया हैं। वैशेषिक पण्डित स्पर्शन इन्द्रिय को वायुसे बना हुआ स्वीकार करते हैं, पृथिवो से घ्राण इन्द्रिय आरब्ध है इन से विजातीय माने जा रहे जलद्रव्य से रसना इन्द्रिय बनी हुई है भिन्न जातीय परमाणुवाले तेजो द्रव्यसे चक्षुःइन्द्रिय सम्पन्न हुई है। चार्वाकों ने भी " पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि ततः शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा " ऐसा कहकर पृथ्वी आदिक से इन्द्रियोंकी उत्पत्ति स्वीकार की है। यों उन दूसरे पण्डितों के अभिप्राय अनुसार भिन्न भिन्न जातिवाले द्रव्योंसे आरब्ध हुई इन्द्रियों की जैसे दूध, घी, बादाम आदि एक एक के भी उपयोग करनेपर वृद्धि हो जाती है। उसी प्रकार एक कर्म द्रव्य भी जीव हैं

अनेक सुख दुःख आदिकों का अनुग्राहक हो जाता है। यदि यहां कोई यों आक्षेप करे कि इन्द्रियों की वृद्धि तो एक ही है अतः एक दूध या घीसे एक ही वृद्धिस्वरूप कार्य हुआ ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सूक्ष्मदृष्टी से विचार करनेपर प्रत्येक इन्द्रिय की अपेक्षा वृद्धि न्यारी न्यारी है, जिस प्रकार इन्द्रियां भिन्न हैं उसी प्रकार उनकी वृद्धियां भी पृथक् पृथक् है घी खानेसे आंखमे नसों को पुष्टी होते हुये दर्शनशक्ति दृढ हो जाती है जिव्हा की रूक्षता दूर होकर रसग्रहणशक्ति स्थिर हो जाती है, इसी प्रकार स्पर्शन, घ्राण श्रोत्रोंके उपकरणोंकी पुष्टि हो जाती है, घृत से पावोंके तलका मर्दन करने पर भी चक्षुओं को लाभ होकर शिरःपीडा दूर हो जाती है, यों भिन्नजातिवाले पार्थिव घीसे अतुल्य जातिवाले तेजोनिर्मित चक्षुः वायुनिर्मित स्पर्शन आदिका अनुग्रह होना जैसे अनुभूत हो रहा है उसी प्रकार भिन्न जातीय अचेतन कार्मण पुद्गलद्रव्य करके अतुल्य जातीय चेतन जीवद्रव्यका अनुग्रह हो जाने की सिद्धि हो जाती है, तिस कारण चेतन आत्माका अचेतन कर्म अनुग्रहण करनेवाला सिद्ध हो जाता है आत्मपरिणतियोंने ही कर्म को तिस प्रकार अपने सुख दुःख का अनुग्राहकपनसे परिणमन करालिया था, जैसे कोई पुरुष अपने स्त्री पुत्र, भृत्य आदि को वैसी वैसी टेव बनाकर उनसे स्वयं सुख दुःख उठाता रहता है। रजस्वलास्त्री स्वयं अपने शरीर के विकारसे अशुद्ध हो जाती हैं अथवा जीवित शरीर ही स्वपरिणतियोंके अनुसार वात, पित्त कफ, सम्बधी दोषों को या गुणोंको बनाकर अथवा रस, रुधिर हड्डी आदिका निर्माणकर पुनः उन बंध गये विजातीय पुद्गलोंसे अनेक प्रकार दुःखों या सुखोंको भोगता रहता है दन्तव्रण(पायोरिया)रोगसे शरीर मे ही दूषितविष बनता है और उसीसे शरीर में दुष्ट विकार उपजते हैं पुनःदूषित विष बनता है उससे जीव दुःख भोगता है। उसी प्रकार कर्मनोकर्मों करके यह जीव अनेक निग्रह, अनुग्रह प्राप्त करता रहता हैं।

किमेतावानेव प्रकृतिबंधविकल्पो नेत्याख्यायते--एकादिसंख्येयविकल्पश्च शब्दतः तत्रैकस्तावत्सामान्यात् कर्मबंधो विशेषाणामविवक्षितत्वात् सेनावनवत्। स एव पुण्यपापभेदाद्द्विविधः स्वामिभृत्यभेदात् सेनावत्। त्रिविधश्चानादिःसान्तः, अनादिरनन्तः सादिःसान्तश्चेति, भुजाकाराल्पतरावस्थितभेदाद्वा।

यहाँ कोई संक्षेप रुचिवाला शिष्य प्रसन्नतावश प्रश्न उठाता है अथवा विस्तार रुचिवाला विनीत जिज्ञासावश पूंछता है कि क्या पहिले प्रकृतिबंध के विकल्प उक्त आठ संख्या के परिमाण को लिये हुये इतने ही हैं? ग्रन्थकार कहते है कि इस शंकाका उत्तर "नहीं" यह बखाना जाता है अर्थात् इतने ही आठ विकल्प नहीं हैं। किन्तु प्रकृतिबंधके

अत्यधिक विकल्प है, जगतमे शब्द संख्यात ही है, कालाणुओं आदिके बराबर असंख्याते शब्द नही है, और जीव, पुद्गल, द्रव्योंके अनन्त समान अनन्तानन्त भी नहीं है। असंख्याते द्वीप समुद्र या देवदेवियोंके अथवा त्रिकालसम्बधी मनुष्योंके नाम सब पुनरुक्त हैं, एक एक नामको धार रहे असंख्याते पदार्थ हैं यों शब्द जब मध्यम संख्यात ही है तो वाचक शब्दोंकी अपेक्षासे प्रकृतिबंधके एक, दो, तीन, चार आदि संख्याते विकल्प हो जाते हैं, उन संख्यात भेदोंमें सबसे पहिला एक भेद तो सामान्यरूपसे कर्मबंध एक ही है यहाँ विशेष भेदोंकी विवक्षा नहीं कही गई है। जैसे कि सैनिक,घोडे,रथ आदि भेदों की विवक्षा नहीं कर समुदायकी अपेक्षा एक सेना शब्द प्रवर्त रहा है अथवा अशोकवृक्ष, तिलकवृक्ष, मौलसिरी, बंबूल, ढाक, आदि वृक्षोंकी नहीं अपेक्षा कर सामान्य आदेशसे वन एक कहदिया जाता है। "सामण्णजीवतसथावरेसु" यों सम्पूर्ण जीवोंको भी तो सामान्य से एक जीवसमासमें गर्भित करलिया जाता है, तथा वही कर्मबन्ध पुण्यकर्म और पापकर्मके भेदसे दो प्रकारका माना गया है, जैसे कि एक ही सेनाको स्वामी यानी अफसर और भृत्य यानी सेवक (सिपाही) के भेदमे दो ही भेदोंमे गतार्थ कर लिया जाता है। यहाँ अडसठ पुण्यप्रकृतियाँ और सौ पाप प्रकृतियाँ इन प्रभेदों की अपेक्षा नहीं की गई है। प्रकृतिबंध तीन प्रकार का भी है अनादिसान्त १ अनादिअनन्त२ और सादिसान्त ३ यों अथवा भुजाकार, अल्पतर, और अवस्थित भेदसे भी कर्मबंध तीन प्रकार हैं। अर्थात् किसी मोक्षगामी भव्यजीवका अनादिकालसे प्रवाहरूपेण चला आरहा कर्मबंध क्षपक श्रेणीके पश्चात् सान्त हो जाता है अथवा तेरहवे गुणस्थान के अन्तमें योग नष्ट हो जानेपर सातावेदनीय कर्मके बंध का भी अन्त हो जाता है। दूसरा अभव्य जीव या दूरभव्य जीवके अनादिसे अनन्तकाल तक धाराप्रवाह हो रहा अनादिअनन्त बंध है। उपशम श्रेणीसे गिरकर नीचले गुणस्थानोंमे हुआ बंध सादिसान्त हैं अथवा व्यक्तिरूपसे सभी कर्मोंका बंध सादि सान्त हैं। कोई भी कालमे पाया जारहा कर्मपिण्ड सत्तर कोटा कोटी सागर कालसे अधिक समयोंतक नहीं टिक सकता हैं "सादी अबंधबंधे सेढि अणारूढगे अणादीहु,अभव्व सिद्धम्मि धुवो भवसिध्दे अध्रुवो बंधो" इस गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा अनुसार अबंध होनेपर पुनः कर्मके बंधने को सादिबंध कहा गया है। जैसे किसी जीवके दशवे गुणस्थानतक ज्ञानावरणकी पांच, दर्शनावरण की चार, अन्तराय की पांच, यशस्कीर्ति और उच्च गोत्र इन सोलह प्रकृतियोंका बंध होता था किन्तु वह जीव ग्यारहवे गुणस्थानमे पहुंच गया वहाँ इनका बंध नहीं हुआ पश्चात् ग्यारहवेंसे गिरकर पुनः दशवेंमे आकर ज्ञानावरण आदिका बंध करने लगगया ऐसा बंध सादि कहलाता है तथा श्रेणीपर नहीं चढ रहे जीवके अनादिबंध समझा जायेगा

इत्यादि व्याख्यान है। भुजाकार आदिको यों समझलिया जाय "अप्पं बंधंतो बहु बंधे बहुगादु अप्पबंधेवि, उभयत्थ समे बंधे भुजगारादी कमे होंति पहिले थोडी प्रकृतियोंको बांधते हुवे पुनः बहुत प्रकृतियोंके बांधनेपर भुजाकार बंध है, जैसे कि गजदन्त के समान अंगुलियों, पोंचा कोनी, बाहोंपर उत्तरोत्तर मोटी होती जारही भुजाका आकार है, उसी प्रकार ग्यारहवें, गुणस्थानसे उतरकर दशवें, नौमे आदि गुणस्थानोंमें अधिक अधिक कर्मोंके बंधनेकी अपेक्षा भुजाकार बंध है। पहिले बहुत प्रकृतियोंका बंध करते हुवे पुनः थोडी संख्यावाली प्रकृतियों को बांधने लगजाना अल्पतर बंध है जैसे कि पहिले गुणस्थानमें दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियां बंधती थीं किन्तु दूसरे में स्त्यानगृद्धि आदि तीनकी व्युच्छित्ति हो जानेपर तीसरे आदिमें छह प्रकृतियां बंधने लग जाती है आठवे के प्रथम भागमें निद्रा और प्रचला की बंधव्युछित्ति हो जानेपर आगे चार ही दशवें गुणस्थानतक बंधती है यों वह अल्पतरबंध हुआ समझा जायेगा। पहिले और पीछे दोनों कालों मे समानबंध होने पर अवस्थितबंध है जैसे कि दशवें तक चक्षुर्दर्शनावरण का बंध अवस्थित हैं।

प्रकृत्यादिभेदाच्चतुर्विधः द्रव्यादिभेदात् पंचविधः। षड्जीवनिकायभेदात् षोढा। रागद्वेष मोहक्रोधमानमायालोभहेतुभेदात् सप्तविधः। ज्ञानावरणादिविकल्पादष्टविधः एवं संख्येयाः विकल्पाः शब्दतो योजनीयाः। च शब्दादध्यवसायस्थानविकल्पादसंख्येयाः प्रदेशस्कन्ध परिणामभेदादनन्ताः ज्ञानावरणाद्यनुभवाविभागपरिच्छेदापेक्षया वा।

प्रकृति आदि यानीं प्रकृतिबंध स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध के भेदसे बंध चार प्रकार का हैं भुजाकार, अल्पतर, अवस्थित, और अवक्तव्य भेदोंसे भी बंधके चार विकल्प हो सकते हैं। तथा द्रव्य आदि यानी द्रव्य, क्षेत्र काल, भव, भाव इन भेदों से बंध के पांच प्रकार है। द्रव्य क्षेत्र आदिका निमित्त पाकर वह कर्मबंध स्थूलरूपसे पांच प्रकार का परिणम जाता है। छह जीवनिकायों के भेदसे स्वामियोंकी अपेक्षा बंध छह प्रकार का भी कहा जा सकता है। बंधके हेतु हो रहे राग, द्वेष, मोह, क्रोध मान, माया, लोभ, इन सात, भेदोंसे बंध सात प्रकार का हैं निमित्त के भेदसे नैमित्तिकमें भेद हो ही जाता है। ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि प्रकृतियोंके भेदसे आठ प्रकार का बंध प्रसिद्ध ही है। नौ पदार्थोंके प्रतिकूल कषायों अनुसार बंध के नौ भेद भी हो सकते हैं। दशधर्मोंके विपरीत आचरण करनेपर हुये कर्मबंधों की दश जातियां भी कही जा सकती है। जगत् में शब्द संख्यात ही हैं यों बंधके शब्दोंकी अपेक्षा संख्याते विकल्पोंकी योजना करलेनी चाहिये। "एकादि संख्येयविकल्पाश्च" यहां पडे हुये च शब्द करके कर्मके असंख्यात और अनन्त भेद भी कहे गये समझलेने चाहिये

कषायाध्यवसायस्थान और अनुभागबंधाध्यवसायस्थान संख्यामें असंख्यात लोकपरिमाण है अतः स्थितिबंध और अनुभागबंध के उपयोगी इन अध्यवसाय स्थानों के विकल्पसे कर्मबंध असंख्यात नामकी विशेष संख्याको लिये हुये है। तथा ज्ञानावरण आदिके अनन्तानन्त प्रदेश परमाणुओं और अनन्तानन्त कर्मस्कन्ध परिणतियों के भेदसे कर्मबंधके अनन्त भेद है अथवा ज्ञानका आवरण कराना आदि तारतम्यरूप से हीनाधिकता को लिये हुये है यों अनन्त प्रकार के सुखदुःखों को देनेरूप अनुकूल अनुभवोंके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा करके कर्मके उन पूर्वोक्त अनन्तानन्तोंसे भी अनन्तानन्त गुणे अनन्तानन्त भेद है, कर्मोंकी शक्तियोंके अविभाग प्रतिच्छेदोंको संख्या बहुत बडी अनन्तानन्त है। अतः संख्याते, असंख्याते और अनन्ते विकल्प पहिले प्रकृतिबंधके संभव जाते हैं।

क्रमप्रयोजनं ज्ञानेनात्मनोऽधिगमात् ज्ञानावरणं सर्वेषामादावुक्तं। ततो दर्शनावरण मनाकारोपलब्धेः। तदनन्तरं वेदनीयवचनं तदव्यभिचारात्। ततो मोहाभिधानं तद्विरोधात्। आयुर्वचनं तत्समीपे तन्निबंधनत्वात्। तदनन्तरं नामवचनं तदुदयापेक्षत्वात् प्रायो नामोदयस्य। ततो गोत्रवचनं प्राप्तशरीरादिलाभस्य संशब्दनाभिव्यक्तेः। परिशेषादन्ते अन्तरायवचनं॥

ग्रन्थकार अब ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मोंके क्रमसे प्रयोग करनेका प्रयोजन कहते हैं। सब कर्मोंके आदिमें ज्ञानावरण को इसलिये कहा गया है कि ज्ञान करके ही आत्माका अधिगम होता है, आत्माके स्वानुभवका निमित्त होनेसे ज्ञान प्रधान या पूज्य है, पूज्य ज्ञानका आवरण भी "नारायण प्रतिनारायण" न्याय अनुसार पहिले कहा गया है। उसके पश्चात् दर्शनावरण कहा गया है। क्योंकि साकार उपयोगवाले ज्ञानसे निराकार दर्शन जघन्य है। ज्ञान करके स्व और अर्थका प्रकट ग्रहण होता है, किन्तु दर्शन करके अर्थका मात्र अव्यक्त आलोकन हो जाता है अर्थविकल्पनास्वरूप आकारसे रहित उपलब्धि होनेके कारण दर्शनावरण पीछे कहा गया है। उस दर्शनावरणके अनन्तर वेदनीय कर्मका कथन है क्योंकि उन ज्ञान और दर्शनोंसे अव्यभिचार होनेके कारण वेदना प्रवर्तती है मोहनीय कर्मकाल पाकर वेदनीय कर्म भी घाति कर्मोंके समान जीवके वास्तविक सुखको बिगाडता है अतः सूत्रकारने मोहनीयके आदिमे पढदिया है। उस वेदनीयके पश्चात् मोहनीयका कथन करना आवश्यक है कारण कि उन ज्ञान, दर्शन, सुखदुःखका विरोध करनेवाला मोह है। क्वचित् मोहनीय कर्म करके मूढ होरहा जीव न जानता है, न आलोकन करता है, और सुखदुःखोंका वेदन भी नहीं करपाता है। उन पूर्वोक्त कर्मोंके समीपमे पश्चात् आयुःकर्मका प्रयोग है, क्योंकि उस आयुःको ही कारण मानकर प्राणियों के सुख, दुःख आदि प्रवर्तते हैं। उस आयुःकर्मके अव्यवहित पश्चात्

नामकर्मका वचन किया जाता है क्योंकि उस आयुःके उदयकी अपेक्षा रख रहा प्रायः गति आदि नाम कर्मका उदय देखा जाता है "आयुबलेण अवट्ठिदिभवस्स इदि णाम आउपुव्वं तु भवमस्सिय णीचुच्चं इदि गोदं णामपुव्वं तु" उस नाम कर्मके पश्चात् गोत्र कर्मका निरूपण करना उचित ही था। कारण कि नामकर्मके विपाक अनुसार शरीर आदिके लाभको प्राप्त कर चुके ही जीव के गोत्रको निमित्त मानकर हुए उच्च नीच्च, आचरण अनुसार शुभ अशुभ शब्दों करके उच्चारण किये जानेकी प्रकटता होती है तिस कारण नामके पीछे गोत्र कह दिया गया है। आयुः,नाम, और गोत्रों का क्रम बडा अच्छा है। सबके शेषमे बचे रहनेसे अन्तरायका कथन अंतमें किया गया हैं। अन्तराय कर्मका प्रतिपक्ष वीर्य है शक्तिरूपवीर्य सभी जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्योंमें पाया जाता हैं जैसे जीवमें अनन्तानन्त वीर्य है उसी प्रकार पुद्गलोंमें भी अनन्तानन्त सामर्थ्य हैं। जीव पुद्गलोंकी गति के सहकारी धर्मद्रव्य और सभी द्रव्योंकी स्थितिमें सहकारी अधर्म द्रव्यकी सामर्थ्य छोटी नहीं है अनन्त है। कालपरमाणुयें तो अनन्त सामर्थ्यों की धार रहीं प्रतीत हो ही रहीं हैं। "परिशुद्धप्रतिभानां सुलभमेतत्" यों "जीवाजीवगदमिति चरिमे" अन्तराय पीछे कहा गया है। इस प्रकार उक्त सूत्रके द्वंद्वसमास गर्भित पदों के यथाक्रमसे निरूपण का बीज कह दिया है।

अथोत्तरप्रकृतिबंधं प्रतिपिपादयिषुस्तत्संख्याभेदान् सूत्रयन्नाह;—

पहिला मूल प्रकृतिबंध आठ प्रकारका कहा दिया गया हैं अब दूसरे उत्तर प्रकृतिबंध की शिष्यों को प्रतिपत्ति करानेकी अभिलाषा रखते हुवे सूत्रकार महाराज उस उत्तर प्रकृतिबंधके सख्या भेदोंकी सूत्ररचना करते हुये कह रहे हैं।

पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्विपंचभेदा यथाक्रमम् ॥५॥

पांच भेदवाला ज्ञानावरणीय कर्म है, नौ प्रकारवाला दर्शनावरण कर्म हैं। वेदनीयके दो भेद हैं, अट्ठाईस प्रकारोंवाला मोहनीय हैं, आयुःकर्मके चार भेद हैं। नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियां व्यालीस प्रकार हैं गोत्रकर्म द्विविध है, अन्तराय कर्मकी उत्तर प्रकृति गणना पांच है। आठ प्रकार प्रकृतिबंधके यथाक्रमसे ये पांच, नौ आदि विकल्प हो जाते हैं, यह इस सूत्रमें कहा गया है।

पंचादिपंचान्तानां द्वंद्वपूर्वोऽन्यपदार्थनिर्देशः। द्वितीयग्रहणमिति चेन्न परिशेषात्सिद्धेः। पूर्वत्राद्यवचनात् इह हि परिशेषादेव द्वितीयउत्तरप्रकृति बंध इति सिध्यति। भेदशब्दः प्रत्येकंपरिसमाप्यते। यथाक्रमं यथानुपूर्वं तेन ज्ञानावरणं पंचभेदमित्यादिसंबंधः परिपाट्या द्रष्टव्यः। एतदेवाह;—

पांच, नौ, को आदि लेकर आठवे पांच पर्यंत शब्दोंका पूर्वभेद द्वंद्वसमासकर पीछे अन्य पदार्थ को प्रधान रखनेवाले बहुव्रीहि समासद्वारा निर्देश करलिया जाय अर्थात् पंचच नव च, द्वौ च, अष्टविंशतिश्च, चत्वारश्च, द्विचत्वारिंशच्च, द्वौ च, पंचच, यों विग्रहकर "पचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्विपच" वह पद बनालिया जाय। पुनः वे पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, व्यालीस, दो और पांच ये भेद जिस उत्तर प्रकृतिबध के हैं वह "पंचनवद्व्यष्टाविशंतिचतुर्द्विचत्वरिंशद्विपंचभेदा:" ऐसा बहुवचनान्त पाठ हैं तो पहिले "गोत्रान्तराया:" इस बहुवचनान्त पदके साथ "भेदा येषां" यों निरुक्ति कर सामानाधिकरण्य विचार लिया जाता है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि पहिले सूत्र में जब आद्यपद कण्ठोक्त है, तो यहां द्वितीय पदका ग्रहण करना चाहिये, तभी इन भेदोंवाला दूसरे उत्तर प्रकृतिबंधका समीचीन प्रत्यय हो सकेगा, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि परिशेषन्यायसे द्वितीय शब्द को बिना कहे ही प्रकरण अनुसार सामर्थ्य से सिद्धि हो जाती है। पहिले सूत्रमें आद्यका कथन कह देनेसे यहां परिशेषन्याय अनुसार ही दूसरा उत्तर प्रकृतिबंध है, यह नियम से सिद्ध हो जाता है। आदिका मूल प्रकृतिबंध कहा जा चुका है तिस कारण यह दूसरा उत्तर प्रकृतिबध ही समझा जायेगा। संक्षिप्त शब्दों करके अत्यधिक वाच्यार्थ को कह रहे सूत्रकार विचारे सामर्थ्यसिद्ध पदोंको नहीं कहा करते हैं, परिशेषसिद्ध को कह भी दिया जाय, फिर भी पुनरुक्तता दोष उठानेवाले कहां चुप बैठनेवाले हैं ? अत: हित, मित उच्चारण ही मुक्तिस्वरूप उमाका स्वामी है, समन्तभद्र है अकलंक है। श्रेष्ठविद्याका आनन्द है। द्वंद्वके अन्तमें पडे हुये भेद शब्दकी प्रत्येक पदमे पिछली ओर समाप्ति कर दी जाती हैं "पंचभेद:, निवभेदः द्विभेद:, इत्यादि रूपसे सम्बध करलेना चाहिये। सूत्रमें पडे हुये यथाक्रमका अर्थ सूत्रोक्त पदों की आनुपूर्वीका उल्लंघन नहीं करना है तिस कारण ज्ञानावरण कर्म पांच भेदोंवाला है और दर्शनावरण नौ भेदोंवाला है, इत्यादि रूपसे उक्त पदोंके प्रयोग की परिपाटी करके चौथे और पांचवे सूत्रका सम्बध हुआ देखलेना चाहिये। इस ही सूत्रोक्त विषयको ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा युक्तिपूर्वक कह रहे हैं।

ते च पंचादिभेदा: स्युर्यथाक्रममितीरणात्
कार्यप्रभेदत: साध्या: सद्भि: प्रकृतयोपरा: ॥१॥

वे ज्ञानावरण आदिक कर्म यथाक्रमसे इन पांच आदि भेदोंवाले है ऐसा इस सूत्रमें कथन कर देनेसे सदागम प्रमाणवादी सज्जन विद्वानों करके कार्योंका प्रभेरद होरहा

दीखनेसे दूसरीं उत्तर प्रकृतियां भी साध लेने योग्य है। भावार्थ-ज्ञानका आवरण हो जाना। आदि कार्य विशेषोंसे जैसे ज्ञानावरण आदि मूल प्रकृतियोंका अनुमान करलिया जाता हैं, उसी प्रकार उनके भी व्याप्य कार्य हो रहे मतिज्ञानका आवरण चक्षुरिंद्रियावरण आदि भेद प्रभेदों (ज्ञापकहेतु) से कारण स्वरूप उत्तर प्रकृतियों को साध लिया जाता है "पर्वतो वन्हिमान् धूमात्" के समान कार्य हेतुसे कारण की सिद्धि करनेपर कारण विचारा-ज्ञाप्यसाध्य हो जाता है और कार्य तो ज्ञापक हेतु हो जाता है। यों अनेक भेद प्रभेदरूप दृश्यमान कार्योंसे अंतरंग कारण हो रहे कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियों या उत्तरोत्तर प्रकृतियोंका अनुमान करलिया जाता है।

तत्र केषां ज्ञानानां पंचानामाव्रियमाणानामावृतिकार्यभेदात्पंचभेदं ज्ञानावरणमित्याह;-

वहां किसीका प्रश्न है कि उत्तर प्रकृतियों द्वारा आवरण किये जा रहे कौन कौन से पांच ज्ञानोंकी आवृत्ति हो रहे स्वरूप कार्यों के भेदसे ज्ञानावरण कर्म भला उन कर्मोंमें पांच भेदोंवाला माना गया है ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर सूत्रकार महाराज अग्रिमसूत्रको समाधानार्थ कह रहे हैं।

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥६॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, इन पांच ज्ञानोंके आवरण करनेवाले कर्म पांच होते है, अर्थात् मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण, ये ज्ञानावरण कर्म की पांच उत्तर प्रकृतियां हैं।

मत्यादीन्युक्तलक्षणानि, मत्यादीनामिति पाठो लघुत्वादिति चेन्न, प्रत्येकमभि-संबंधार्थत्वात्। तेन पंच ज्ञानावरणानि सिद्धानि भवंति। पंचवचनात्पंचसंख्याप्रतीतिरिति चेन्न, प्रत्येकं पंचत्वप्रसंगात्। प्रतिपदं पठेत्। मतेरावरणं, श्रुतस्यावरणमित्याद्यभिसंबंधात् प्रत्येकं पंचावरणानि प्रसज्यन्ते।

मति, आदि ज्ञानोंके लक्षण तो प्रथम अध्याय में कहे जा चुके हैं। यहाँ कोई पण्डित आशंका उठाता है कि मति आदिक ज्ञान जब कहे ही जा चुके हैं तो यहां आदि शब्द करके श्रुतज्ञान आदिका ग्रहण होय ही जायगा। अतः "मत्यादीनां" इतना ही पाठ सूत्रमें किया जाय, क्योंकि इसमें अनेक अक्षरोंका लाघव है जो कि सूत्रमें अत्यावश्यक है, ग्रन्थकार

कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि प्रत्येक में परली बाजूसे आवरणका सबंध करनेके लिये पांचों पदोंका पाठ करना पडा है । यदि ऐसा नहीं कहा जाकर केवल "मत्यादीनां" कहदिया जाता तो उन मति आदि पांचोंका एक ही आवरण है यों परिज्ञान करलिया जाता, जो कि इष्ट नहीं है । पांच ज्ञानोंके पांच आवरण अभीष्ट है, यह प्रयोजन पांचों को कण्ठोक्त करने पर ही सिद्ध होता हैं । तिस कारण पांच ज्ञानावरण कर्म सिद्ध हो जाते हैं । पुनरपि वही पण्डित आक्षेप करता हैं कि पूर्वसूत्रमें ज्ञानावरण की उत्तर प्रकृतियां पांच कही जा चुकी हैं, मति आदि ज्ञान पांच भी कहे गये हैं, तिस कारण ज्ञानावरण कर्म की पांच सख्या की प्रतीति हो जायेगी । फिर "मत्यादीनां" ऐसा लघुसूत्र छोडकर व्यर्थमें इतना लम्बा सूत्र करने की क्या आवश्यकता है ? आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि मतिज्ञान आदि प्रत्येक के पांच पांच भेद हो जानेका प्रसंग आजावेगा उक्त सूत्रके पांच शब्दोंको मत्यादि प्रत्येक में पढदिया जावेगा । मतिज्ञान के आवरण पांच श्रुतज्ञानके आवरण पांच इत्यादि रूपसे प्रत्येक में पांच पदका सबंध हो जानेसे प्रत्येक के पांच पांच आवरण हो जानेका प्रसंग आ जाता है । हां सूत्रमें मति,श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, और केवल इन प्रत्येक पदों का ग्रहण हो जानेपर तो इन उक्त पदों की सामर्थ्यसे ही अभीष्ट अर्थ को समीचीन ज्ञप्ति की जा सकती है । यथाक्रम की अनुवृत्ति अनुसार पांच पदका मति, श्रुत आदि समस्त पांचों के साथ संबंध किया जायेगा । गम्भीर महान पुरुष व्यर्थ की बातें नहीं बका करते हैं । कोई धनका अभिलाषी दीन पुरुष यदि किसी महामना उदात्त धनिक के निकट याचना करने के लिये जाता है धनिक पुरुष यदि कारणवश उसको निषेध भी कर दे पुनः कुछ समयतक दीन पुरुष के साथ वह सेठ यहां वहां की बातें करता हैं कि भाई तुमको क्या आवश्यकता है ? तुम कहां रहते हो ? तुम्हारे कितने बालबच्चे है ?, इत्यादिक व्यर्थसी प्रतीत हो रही बातें भी प्रयोग सिद्धि की घटक है । आज नही तो कल उस दीनयाचक की अभीष्ट सिद्धि होयगी, पर होयगी । अतः अतिसंक्षिप्त कहने की टेव रखनेवाले का कदाचित् अधिक कह देना व्यर्थ नहीं जाता है । वह कुसीद (ब्याज) सहित मूल को चुका देता है ।

कश्चिदाह-मत्यादीनां सत्त्वासत्त्वयोरावृत्यभाव इति तं प्रत्याह, न चात्रादेशवचनात् सतश्चावरणदर्शनात् नभसोंभोधरपटलवत् । मत्यादीनां सत्त्वैकान्ते नासत्त्वैकांते च क्षायोपशमिकत्वविरोधात् कथंचित् सतामेवावरणसंभवः ।

यहाँ कोई सांख्य या नैयायिक मत अनुसार शंका उठाता है कि मति आदिकों का विद्यमान होना माननेपर अथवा आत्मामें अविद्यमान होना मानने पर दोनों पक्षोमें आवरण

होना घटित नहीं होता है। देखिये, आत्मा में मति आदि ज्ञानोंका सद्भाव माना जायेगा तो वे अपना आत्मलाभ कर ही चुके हैं। विद्यमान पदार्थ का आवरण कुछ भी नहीं हुआ, ज्ञान कुछ लड्डूके समान तो है नहीं, जो कि विद्यमान होरहा ही कटोरदान करके ढंक देने के समान आवरण माने गये, कर्म से ढंक दिया जाय। ज्ञान तो उत्पत्ति मात्र से चरितार्थ हो जाता है सांप के निकल जानेपर लकीर को पीटते रहने से कोई लाभ नहीं हैं, उलटा संकल्प हिंसाका पाप और चढ बैठता है। तृतीयपक्ष अनुसार आत्मामें ज्ञानका असद्भाव मान जायेगा तब तो उसके ऊपर आवरण करना कथमपि नहीं सम्भवता है जैसे कि असत् हो रहे खर विषाण का किसी वस्त्र, डिब्बा आदि करके आवरण नही किया जासकता है। इस प्रकार कह चुकनेपर उस कश्चित् पण्डित के प्रति ग्रन्थकार समाधानवचन को कहते हैं कि यह दोष हमारे उपर नहीं आता है। कारण कि यहां नयों की विवक्षासे आपेक्षिक कथन है आत्मामें चेतनागुण अनुजीवी होकर शाश्वत रहता है। कारणों के मिल जानेपर उसकी मति, श्रुत आदि परिणतियां हो सकती हैं शक्ति की अपेक्षा जैसे मट्टीमे घड़ा हैं यानी कारण मिल जाय तो मिट्टी घटस्वरूप हो सकती है। उसी प्रकार द्रव्यार्थिक नयसे आत्मा में सत् हो रहे मति आदिकोंका आवरण हुआ समझलिया जाय और पर्यायार्थिक नयसे नहीं विद्यमान हो रहे दोनोंका कर्म करके आवरण हुआ है जैसे कि मट्टीमें तत्कालीन घट पर्याय नही है। जैन मतमें सर्वथा सत् कार्यवाद नहीं माना गया है और सर्वथा असत् कार्यवाद भी नही अभीष्ट किया गया है, यों कथंचित् सत् होरहे और कथंचित् असत् होरहे ज्ञानोंका आवरण होना सभव जाता है। आपने जो यह कहा था कि सत् का आवरण नहीं होता है उसपर हमारा यों कहना है कि देखिये विद्यमान होरहे प्रकाश युक्त पुद्गलसे संयुक्त आकाश मण्डलक मेघपटल, आंधी, आदि करके आवरण हो रहा देखा जाता है मेघोंकी काली घटाओंसे सूर्य भी छिप जाता है भीतों या तिजोरियोंसे भूषण, रत्न, आदि छिपे रहते हैं, उसी प्रकार शक्तिरूपेण विद्यमान होरहे मति आदिकों का आवरण सम्भव जाता है। एक बात यह भीहै कि मति आदिकों के सर्वथा विद्यमान होनेका एकान्त माननेपर और मति आदिकों के सर्वथा नास्तित्व का एकान्त माननेपर उनके क्षायोपशमिकपनेका विरोध हो जायेगा। वर्तमान कालके सर्वघातिस्पर्धकोंका उदयाभाव यानी बिनाफल दिये हुये खिरजानारूप क्षय और आगामी कालमें उदय आनेवाले सर्वघातिनिषेकोंका वहां का वहीं उपशम बने रहना, तथा देशघाति प्रकृतियों का उदय हो जाना स्वरूप क्षयोपशमसे ही भाव उपजते हैं जो कि कथंचित् सत् और कथंचित् असत् हैं। ज्ञानोंसे सर्वथा रीते होरहे शब्द, अंधकार, काजल, सूखेतृण, घी, तेल

आविमें ज्ञानावरण कर्मोंका क्षयोपशम नहीं सम्भवता है तथा ज्ञानसे भरपूर होरहे केवलज्ञानी आत्मामें भी ज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं है। यों कथंचित् सत् होरहे ही ज्ञानोंका आवरण होना संभवता है।

अर्थांतराभावाच्च प्रत्याख्यानावरणवत्। यस्योदये ह्यात्मनः प्रत्याख्यान परिणामो नोत्पद्यते तत्प्रत्याख्यानावरणं न पुनरर्थांतरं प्रत्याख्यानमावृतस्याभावात्। तद्वदात्मनो यत्क्षयोपशमे सति मतिज्ञानादिरूपतयोत्पत्तिस्तन्मत्याद्यावरणं न पुनरर्थांतरं मत्यादिज्ञान-मावृतस्यासंभवात्।

दूसरी बात यह भी है कि जिस प्रकार महाव्रत स्वरूप प्रत्याख्यान कोई पिण्ड सरीखा आत्मामें नहीं रक्खा हुआ है जिसका कि आवरण करनेसे प्रत्याख्यानावरण कर्म माना जाय, किन्तु जिस प्रत्याख्यानावरण नामकर्मका उदय होनेपर आत्माके चारित्रगुणकी प्रत्याख्यानपरिणति नहीं उपजपाती है वह प्रत्याख्यानावरण कर्म है, इससे भिन्न फिर कोई प्रत्याख्याननामक पदार्थ नहीं है। यों आवरण किये जा चुके किसी छुपे हुये प्रत्याख्यानका अभाव है। अतः जैसे कोई अर्थान्तर नहीं होनेसे प्रत्याख्यानावरण अपना नियतकार्य करता हुआ कर्म माना गया है उसी के समान जिस कर्मका क्षयोपशम होतेसन्ते आत्माके चेतनगुणकी मतिज्ञानरूप परिणति करके उत्पत्ति हो जाती है वह मतिज्ञानावरण कर्म है। इसी प्रकार जिस (श्रुतज्ञानावरण आदि) कर्मका क्षयोपशम हो जानेपर आत्माकी श्रुतज्ञानादिरूप करके उत्पत्ति हो जाती है वह श्रुतज्ञानावरण आदि कर्म हैं। किन्तु फिर कोई मति आदिक ज्ञान अर्थान्तर नहीं रक्खा हुआ है, कारण कि आवरण किये जाचुके सद्भूत पदार्थका असम्भव है। भावार्थ पर्याय रूपसे विद्यमान होरहे ज्ञानका आवरण नहीं किया गया है। प्रथमसे ही शीतल वायुके झकोरोंसे प्रसन्न होरहे पुरुष को जैसे पसीना नहीं आपाता है वा चेचकका अव्यर्थ टीका लगादेनेपर मातायें नहीं निकलती हैं, भूंकसे प्रथम ही डटकर खाजानेवाले आतुर धनाढ्यको भूंक लगाती ही नहीं है उसी प्रकार ज्ञानावरणका उदय होते सन्ते प्रथमसे ही ज्ञान नहीं उपजपाता है। हाँ पुरुषार्थद्वारा उसका क्षयोपशम या क्षय करदेनेपर ज्ञान उत्पन्न हो जायेगा अतः कथञ्चित् सत्, असत् ज्ञानोंका आवरण कह रहे कर्म सिद्ध हो जाते है।

अपर आह-अभव्यस्योत्तरावरणद्वयानुपपत्तिस्तदभावात्। न वा, उक्तत्वात्। किमुक्तमिति चेत्, आदेशवचनात् सतश्चावरणदर्शनात् भावांतराभावाच्चेति। द्रव्यार्थादेशात् सतोरपि मनःपर्यय केवलज्ञानयोरावरणोपगमे स्याद्वादिनां नाभव्यस्य भव्यत्वप्रसंगः कदाचित्सदा-वरणविगमासंभवात्। पर्यायार्थादेशादसतोरपि तयोरावरणघटनादुत्पत्तिप्रतिबन्धिनोऽप्यावरणत्व-प्रसिद्धेः तयोरभव्यावर्थांतरयोरभावाच्च न कश्चिद्दोषः।

यहाँ कोई दूसरा विद्वान् एक शंकाको बहुत अच्छे ढंगसे कह रहा है कि अभव्य जीव के परली बाजूके मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण ये दोनों आवरण नहीं बनते हैं। क्योंकि जब अभव्यके सर्वदा पहिला ही गुणस्थान होता है तो छठेसे ऊपर बारहवे गुणस्थानतक सम्भवनेवाला मनःपर्ययज्ञान और तेरहवेसे ऊपर पाये जारहे केवलज्ञान के होनेकी योग्यता ही नहीं है, ऐसी दशामें उन दोनों ज्ञान पर्यायोंका अभाव हो जानेसे फिर किनको आवरण कर रहे, दो परली ओर के आवरण कर्म मान लिये जांय ? बताओ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि हम इसका उत्तर कह चुके हैं। पुनः वह पूछे कि इसका उत्तर क्या कहा जाचुका है ? बताओ। यों किसी विस्मरणशीलका बलात्कारसे प्रश्न उठने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि अभी जो आदेशवचन से समाधान किया जाचुका है, स्वल्पकाल पहिले ही द्रव्यदृष्टिसे सत्का आवरण देखा जारहा कह दिया है और पर्यायदृष्टिसे कोई वहां मनःपर्यय ज्ञान या केवलज्ञान भावान्तर विद्यमान नहीं है यह भी बतला दिया है। प्रत्याख्यानावरणका दृष्टान्त देकर "अर्थान्तराभावाच्च" कह दिया है। द्रव्यार्थिकनय अनुसार कथन करनेसे विद्यमान होरहे भी मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञानका आवरण हो जाना स्वीकार लेनेपर स्याद्वादियोंके यहां अभव्यको भव्यपन का प्रसंग नहीं आजावेगा क्योंकि कदाचित् भी यानी तीन काल में भी उन दोनों आवरणोंके क्षयोपशम या क्षय हो जानेका असम्भव हैं। अर्थात् अभव्य के सर्वदा उक्त दोनों कर्मोंके सर्वघाति स्पर्धकोंका तीव्र उदय रहता है। पर्वतों के नीचे दबी हुई मट्टीमें घट बननेकी शक्ति है तथापि उससे घट बनता नहीं है। चाकके ऊपर रक्खी हुई मट्टी और अगाध समुद्र के नीचे दबी हुई मट्टीका जाति अपेक्षा कोई भेद नहीं है। इसी प्रकार अभव्य और भव्यके चेतना गुणोंमें कोई विजातीय अन्तर नहीं है। दोनों ही गुण कारण मिलजानेपर और प्रतिबंधकोंके हट जानेपर केवलज्ञानरूप हो सकते हैं। भोगभूमि या स्वर्गके कल्पवृक्षोंकी शाखा का दण्ड भी घट को बनानेकी योग्यतारूप कारणता को धारता है। किन्तु प्रतिबंधकोंके नहीं हटनेसे वह फलोपधायक नहीं हो सकता है। जिससे कि वैशेषिकों के मत अनुसार "स्वजन्यभ्रमिजन्यकपाल-द्वयसंयोगवत्व" सम्बंध करके घटका अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती कारण हो सके। किन्तु अभव्य जीवके सर्वदा दोनों आवरण लगे रहते हैं, अतः अभव्यका चेतनागुण उन दो पर्यायोंस्वरूप नहीं परिणाम सकता है। तथा पर्यायार्थिकनय अनुसार कथन कर देनेसे असत् होरही भी उन दोनों मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान पर्यायोंका आवरण होना घटित हो जाता है। क्योंकि उत्पत्तिका प्रतिबंध कर रहे पदार्थको भी आवरणपना प्रसिद्ध है। ज्वरके प्रथम ही ज्वरोपशमक

औषधिके खालेनेपर ज्वरका आवरण हो जाता है। छत या डेरे के भीतर वृष्टिजल या घामका आवरण होरहा है। एक बात यह भी है कि जो कि कही जाचुकी है कि अभव्य आत्मासे सर्वथा भिन्न होरहे उन मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान का अभाव है अर्थात् अभव्यमें कोई दो पर्यायें भिन्न पडी हुई नहीं हैं, जिनका कि आवरण दोनों कर्म करते रहें किन्तु दोनों आवरणों का सतत प्रकृष्ट उदय होते रहनेसे अभव्य आत्माका मनःपर्ययज्ञानरहितपन और केवलज्ञान रहितपन इन दो स्वभावोंसे तदात्मक एकरस परिणमन होता रहता है। अतः स्याद्वादसिद्धान्त अनुसार कोई भी दोष नहीं आता है।

न च मनःपर्ययादिसदसत्त्वमात्रात् द्रव्यतो भव्येतरविभागः। किं तर्हि ? सम्यक्त्वादिव्यक्तिभावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वविकल्पः, कनकेतरपाषाणवत्। न च ज्ञानावरणोदयादज्ञोतिदुःखितस्ततोनादिरेव परमनिवृत्तिरिति दर्शनमुपपन्नं। कुतः पुनर्मत्याद्यावरणसिद्धिरित्याह;–

निर्णय इस प्रकार है कि मनःपर्यय आदिके केवल द्रव्यार्थिकनय अनुसार सत्त्वमात्रसे भव्यपनका और मनःपर्यय, केवलज्ञानोंके असद्भावसे अभव्यपनका द्रव्यरूपेण विभाग नहीं है। क्योंकि अनेक दूरभव्य जीव भी मनःपर्यय और केवलज्ञान को नहीं पासकेंगे ऐसा सिद्धान्त है। अभव्यका द्रव्य भी मनःपर्यय, केवलज्ञान शक्तियोंसे तन्मय हैं। फिर भव्यपन और अभव्यपनका विभाग किस प्रकार है ? इस प्रश्नका उत्तर यों है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान आदि पर्यायोंकी व्यक्ति हो जानेके सद्भावसे भव्य नामका विकल्प निर्णीत है और सम्यग्दर्शन आदिकी व्यक्ति नहीं होनेके कारण अभव्यपनका विकल्प व्यवस्थित है, जैसे कि कनकपाषाण और अन्धपाषाण है। स्वर्णपाषाणमें विद्यमान होरहे सुवर्ण की प्रयोगोंद्वारा अभिव्यक्ति हो जाती है और अत्यन्त गूढ होरहे सोनेको शक्तिरूपेण धार रहे अन्धपाषाणमें से सहस्त्रों प्रयोग करनेपर भी स्वच्छ सोना नहीं निकलपाता है। अग्नि, जल, पात्रका निमित्त मिल जानेपर मूंग सीझ जाती है किन्तु सेकडों मन लक्कड़ जलानेपर भी टोरा मूंग नहीं पकती है। इसी प्रकार जिस जीवके सम्यग्दर्शन आदि पर्यायोंके व्यक्त होनेकी योग्यता है, वह भव्य है और जिसके सम्यग्दर्शनादि की अभिव्यक्ति की योग्यता नहीं है वह अभव्य है। शक्तिरूपेण मनःपर्ययके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा करके भव्य, अभव्यका विकल्प नहीं है "भवितुं योग्यो भव्यः" यों भविष्यकालमें रत्नत्रयकी व्यक्ति योग्य हो जानेके अनुसार भव्यत्व है। अभव्यके कदाचित् भी औपशमिक सम्यग्दर्शनकी प्रकटता नहीं हो पावेगी। इस संसारी जीवके अनादिसे ज्ञानावरणका उदय होनेसे बारहवें गुणस्थानतक अज्ञानभाव

छा रहा है। अतः ज्ञानावरण का सतत उदय बना रहनेसे अज्ञानी जीवकी ज्ञानसामर्थ्य नष्ट हो गई है, अच्छी स्मृतियोंका लोप होजानेसे धर्ममार्ग के सुनने में जीवका उत्साह नहीं है यों ज्ञानके अनादरसे किये गये बहुत दुःखों को जीव भोग रहा है, कल्याणमार्ग में लगानेवाला प्रधान कारण ज्ञान ही है। जब ज्ञानावरण कर्मसे ज्ञान गुणही लुप्तप्राय हो गया है तभीतो अनादि कालसे महान दुःखों को भोग रहा है। तिस कारण सिद्ध होता है कि यह अज्ञान, अतीव दुःखी जीव अनादि कालसे ही कर्मबद्ध हैं। जो कोई सांख्यमती पण्डित जीवकी अनादिकालसे ही परमनिवृत्ति यानी मोक्ष होरही स्वीकार कर रहे हैं, इस प्रकार उन कापिलोंका दर्शन युक्तिसिद्ध नहीं है। कनकपाषाण और अन्धपाषाण के दृष्टान्तद्वारा जीवको अनादिबंधनबद्ध सिद्ध किया जाचुका है। यहां श्रीविद्यानन्द महाराजके प्रति किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि जीवके उक्त सूत्र अनुसार मति आदि ज्ञानों के आवरणोंकी भला किस प्रमाणसे सिद्धि हो जाती है ? बताओ। इस प्रकार विनीत शिष्यकी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार इस अग्रिमवार्तिक को कहे देते हैं।

मत्यादीनां हि पंचानां ज्ञानानां पंचवेदितं
कर्मावरणमन्यस्य हेतोर्भावेप्यभावतः ॥१॥

मति आदिक पांच ज्ञानोंके आवरण करनेवाले कर्म पांच ही उक्त सूत्रमें, निवेदन किये जाचुके ठीक है (प्रतिज्ञा) क्योंकि अन्य बहिरंगहेतुओंके होने पर भी मति आदिक ज्ञानों की उत्पत्तिका अभाव है अर्थात् कतिपय सेठों, राजाओं या पण्डितों के पुत्रों के निकट धन अध्यापक, पुस्तकें, विद्यालय आदि सामग्रियोंके होते हुये भी उनको विशेष विद्वत्ताको प्राप्ति नहीं होती देखी जती है। अतः ज्ञानों का आवरण करनेवाले अव्यभिचारी कारण अंतरंग पौद्गलिककारण होरहे कर्मोंकी सिद्धि हो जाती है "दृष्टकारणव्यभिचारेऽदृष्टकारण सिद्धिः" प्रत्येक कार्यकी नियतनिष्पत्तिमें नियत कारण होना ही चाहिये।

सत्यप्यात्मन्युपादानहेतौ कालाकाशादौ समाने विषये च योग्यदेशवर्तिन्याहार परोपदेशाभ्यासादौ च कस्यचिन्मत्यादिज्ञानविशेषाणामभावात्। ततोन्यत्कारणमदृष्टमनुमीयते तत्तदावरणमेव भवितुमर्हतीति निश्चयः ॥

उक्त कारिकाका विवरण यों है कि ज्ञानके उपादानकारण माने गये आत्माके होते सन्ते तथा काल आकाश, पुस्तक, आदि निमित्त कारणोंके समान होते हुये भी और योग्य देशमें वर्तरहे अवलम्ब कारण विषयके होते हुये, एवं आहार करना, परोपदेश प्राप्ति, अभ्यास

करना, सहपाठियोंके साथ परामर्ष करना आदि उपयोगी कारणोंके मिलजाने पर भी किसी किसी मन्दबुद्धि पुरुषके मति, श्रुत, आदि ज्ञानोंकी विशेष व्युत्पत्तियोंका अभाव देखा जाता है। किसीकी अन्यज्ञानवृद्धि देखी जाती है। अतः अनुमानद्वारा निर्णीत किया जाता है कि उन उक्त कारणोंसे न्यारा कोई अदृष्ट यानी पौद्गलिक कर्म ही ज्ञानका विघातक लग रहा है वह कर्म ही उन ज्ञान आदिकोंका आवरण होने योग्य है। प्रतिभाशालियोंके यहां यह सिद्धान्त निश्चित हो जाता है। कितने ही विद्यार्थी ज्ञानवर्धक कारणोंके मिलजाने पर भी व्युत्पत्ति-शून्य देखे जाते हैं, और अनेक छात्र स्वल्पकारणों द्वारा ही विशेष विद्वत्ता को प्राप्त करलेते हैं, मानो ज्ञान भण्डार की ताली मिलगई। अतः अंतरग कारण होरहे कर्म या कर्मोंके क्षयोपशमका अनुमान हो जाता है "कार्यानुमेयानि कारणानि भवंति"।

अथदर्शनावरणं, नवभेदं कथमित्याह;–

ज्ञानावरणकी उत्तर प्रकृतियोंके भेद समझलिये, इसके अनन्तर अब दर्शनावरण कर्मके नौ भेद किस प्रकार है ? ऐसी प्रतिपित्सा प्रवर्तनेपर सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं, दत्तचित्त होकर सुनिये या पढ़िये ।

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्रा प्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च।७।

चक्षुर्दर्शनका आवरण १ अचक्षुर्दर्शनका आवरण २ अवधि दर्शनका आवरण ३ और केवलदर्शनका आवरण ४ निद्रादर्शनावरण ५ निद्रानिद्रादर्शनावरण ६ प्रचला दर्शनावरण, प्रचलाप्रचला दर्शनावरण ८ तथा स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण ९ ये दर्शनावरण कर्मकी नौ उत्तर प्रकृतियां हैं। भावार्थ, चाक्षुष मतिज्ञान के पूर्व चक्षुद्वारा होनेवाले सामान्य आलोचनका आवरण करनेवाला चक्षुर्दर्शनावरण है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र और मन इन्द्रियोंद्वारा उपजनेवाले मतिज्ञानके पूर्व होनेवाले महासत्तालोचक अचक्षुर्दर्शनका आवरण करनेवाला अंतरंग कारण अचक्षुर्दर्शनावरण कर्म है। अवधि ज्ञानके प्रथम होनेवाले आलोचक अवधि दर्शनको रोकदेनेवाला अवधि दर्शनावरण कर्म है, केवलज्ञानके साथ होनेवाले महा–सत्तालोचक केवलदर्शन का सर्वघाति केवलदर्शनावरण कर्म है, विवेकपूर्ण सत्यार्थ पदार्थों के ज्ञानके कारणभूत दर्शनका पांचो निद्रायें आवरण कर देती है अतः निद्राओंके सम्पादक पौद्गलिक कर्म भी सर्वघाती दर्शनावरण कर्म हैं। मद, खेद, परिश्रमोंके निवारणार्थ विनोद के लिये सोजाना निद्रा है, निद्रा आजाने पर गमन करता हुआ खडा हो जाता है फिर गिर पडता है इत्यादि क्रियायें करता है। निद्रानिद्रा कर्मका उदय हो जानेसे सावधान किया

गया भी आँखों को नहीं उघाड सकता है नींदमें ही नाना बातें कहने लग जाता है। आंखे उघाड़ते हुये ही नींदको रक्तिमा आँखोंमे आकर थोडा आलस्य आजाना, थोड़ा थोड़ा ज्ञान रहते भी वार वार शीघ्र सोजाना, जगजाना प्रचला है। यह नींद सर्वसे श्रेष्ठ है। तथा सोते हुये लार बहने लगजाय, अंग उपांग चलने लगजांय, बडे बडे खुर्राटे आवें वह नींद प्रचला-प्रचला है। स्वप्नमें भी जिससे वीर्यविशेषका प्रादुर्भाव होकर सोता हुआ ही जोव अनेक रौद्रकार्योंको कर आवे, अंटसंट बोले भी फिर भी सावचेत नहीं होय, पुनः गाढा सोजाय, ऐसी स्त्यानगृद्धि को करनेवाला स्त्यानगृद्धि दनर्शनावरण हैं। दर्शनावरण कर्म आत्माके चेतना गुणकी आलोचनापरिणति को रोकता है। यह आलोचनापरिणति ज्ञानसे भिन्न है। प्रमाणनय स्वरूप नहीं है। मिथ्याज्ञान स्वरूप भी नहीं है आलोचनामें मिथ्या या सम्यक् भेद नहीं पाये जाते हैं। "दंसणपुव्वं णाण छदुमत्थाणं" मतिज्ञान और अवधिज्ञानके अव्यवहित पूर्वमें दर्शन होता है। हाँ यदि इन ज्ञानोंकी कुछ देरतक धारा चलती जाय तो सबसे पहिला हुआ दर्शन ही काम देगा कैसे कि अवग्रह ज्ञानके प्रथम दर्शन हो गया अब ईहा, अवाय-धारणा नामक मतिज्ञानोंमें प्रत्येक के लिये पूर्वमें दर्शनकी आवश्यकता नहीं है। कोई मनुष्य पांच मिनट तक यदि किसीके रूपको ही देखता रहा या रस ही चाटता रहा अथवा शब्द ही सुनता रहा तो पांच मिनटों में धारारूपसे हुये सेकडो उपयोग आत्मक चाक्षुष मति-ज्ञान, रासनप्रत्यक्ष, श्रोत्रजमतिज्ञानों में फिर प्रत्येक के लिये पूर्ववर्ती दर्शनका होना अनिवार्य नहीं है। दो मिनट यां पांच मिनट तक होरहे दुर्ध्यान या धर्मज्ञानरूप हजारो लाखों श्रुतज्ञानों में भी प्रत्येक के लिये पूर्वमें दर्शन होना आवश्यक नहीं है। हां श्रुतज्ञान और मनः पर्यय ज्ञानके व्यवहित पूर्वमें दर्शन होता है। कारणकि इन दो ज्ञानोंके प्रथम मतिज्ञान होता है और मतिज्ञानके पहिले दर्शन होताही हैं कहीं धारारूपेण कतिपय श्रुतज्ञान हो जाते हैं और उनके पूर्व अनेक मतिज्ञान प्रवर्त चुके रहते है हाँ उन सबके पहिले एक दर्शन हो चुका पाया जाता है। कुमति कुश्रुतज्ञानपूर्वक हुये विभंग् ज्ञानके प्रथम भी दर्शन नहीं होता है। केवलज्ञानके साथमें ही केवलदर्शन होता है जिसका कि फल त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थोंकी महासत्ताका युगपत् आलोचन करना है। जो कि ज्ञानावरणका क्षय हो जानेपर धाराप्रवाहसे सतत प्रवर्त रहे केवलज्ञानरूप सूर्यके महान् प्रकाशमें सम्मिलित है।

चक्षुरादीनां दर्शनावरण संबधाभ्देवनिर्देशः चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां दर्शनावरणानीति। मदखेदक्लमविनोदार्थः स्वापो निद्रा, उपर्युपरि तद्वृत्तिर्निद्रानिद्रा। प्रचलयत्यात्मानमिति प्रचला, पौनःपुन्येन सैवाहितवृत्तिः प्रचलाप्रचला, स्वप्ने यथा वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः स्त्याने स्वप्ने गृध्यति दीप्यते रौद्रबहुकर्म करोति यदुदयादित्यर्थः।

चक्षु:आदिक यानी चक्षु:, अचक्षु :, अवधि, और और केवल इन चार पदोंका षष्ठी विभक्तिद्वारा भेदरूपसे कथन करना तो दर्शनावरण कर्मके संबंधसे किया गया है, अतः चक्षुका दर्शनावरण, अचक्षुका दर्शनावरण,अवधिका दर्शनावरण और केवलका दर्शनावरण यों भेदनिर्देश है। परिश्रम, भोजन, आदि करके उपजे मदखेद और ग्लानिका निवारण करते हुये विनोद के लिये सो जाना निद्रा है। उस निद्राकी अधिक रूपसे ऊपर ऊपर वृत्ति होना निदानिद्रा है। जो नींद आत्मा या आत्मप्रदेशोंको चलायमान कर देती है इस कारण यह अच्छी नींद प्रचला कही जाती है। यह शोक, श्रम, मद, आदिसे उत्पन्न होती है। प्रीतिका कारण है। बैठे हुये या चलते हुये मनुष्य, पशु, पक्षियों के नेत्र, शरीर के मन्थर या सालस विकारों करके सूचित कर दी जाती है। वह प्रचला ही यदि फिर फिर करके आवृत्तिको प्राप्त हुई वृत्ति को धार लेती है बारबार आती है वह प्रचलाप्रचला है। स्वप्नमें जिस प्रकाण्ड निद्रा करके बलविशेष प्रकट हो जाता है वह स्त्यानगृद्धि है "स्त्यै स्वप्नसंघातयोः" धातुसें स्त्यान शब्द बनालिया जाता है। धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं अतः स्त्यै धातुका अर्थ यहां स्वप्न, समझलिया जाय, गृद्धिका अर्थ दीप्ति है। "गृधु अभिकांक्षायां,, धातुका दीप्ति अर्थ करलिया-जाय, स्त्यान यानी स्वप्नमें गृध्यति यानी उद्दीप्त हो जाता हैं जिस स्त्यान गृद्धिकर्मके उदयसे यह जीव बेहोशीमें अनेक प्रकार के भयावह रौद्र कर्म कर डालता है। यह इस स्त्यानगृद्धिका परिभाषिक अर्थ हुआ विशेष यों है कि यहाँ वहाँ का स्मरण कर अंटसंट पदार्थोंका ज्ञान जो स्वप्नमें होता रहता है वह निद्रासे मिली हुई स्वप्नोंकी भ्रान्त अवस्था न्यारी है। सत्यस्वप्न भी वस्तुतः भ्रमज्ञान ही है, उनका फल सत्य होजानेसे स्वप्नोंमें सत्यपना उपचरित है, स्वप्न अवस्थामें निद्रा, कुज्ञान, ज्ञानाभाव स्मरणाभास, प्रत्यक्षाभास इनको मिश्रण परिणति सुषुप्ति अवस्था न्यारी है।

नानाधिकरणाभावाद्वीप्सानुपपत्तिरिति चेन्न, कालादिभेदेन तद्भेदसिद्धिः, पटुर्भवान् पटुरासीत् पटुतर एव स इति। तथा देशभेदादपि मथुरायां दृष्टस्य पुनः पाटलिपुत्रे दृश्यमानस्य तत्त्ववत्। तत्रैकस्मिन्नप्यात्मनि कालदेशभेदात् नानात्वभाजिवीप्सा युक्ता निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचलेति। आभीक्ष्ण्ये वा द्वित्वप्रसिद्धिः यथा गेहं गेहमनुप्रवेशमास्त इति।

यहाँ कोई तर्की शंका उठाता है कि अनेक अधिकरणों को विषय करनेवाली वीप्सा हुआ करती है जैसे कि वृक्षं वृक्षं प्रति सिंचति" "गृहं गृहं प्रति विद्योतते विद्युत्" वृक्षवृक्षको सींच रहा है, प्रत्येक घर के ऊपर बिजली चमक रही है। यहां नाना अधिकरणोंके होनेपर वीप्सा होसकी है किन्तु निद्रानिद्रा, या प्रचलाप्रचला तो एक ही आत्मामें वर्त रही हैं। अतः

निद्रानिद्रा और प्रचलाप्रचला यह पदप्रयोग साधु नहीं बन सकता हैं। अनेक अधिकरण नहीं होनेसे यह वीप्सा नहीं सम्भवती है? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि काल, देश, अवस्था, आकृति आदि भेद करके उस एक वस्तुके भी भेद सिद्ध हो जाते हैं, आप पटु हैं, पहिले भी पटु ही थे वही अब अत्यधिक दक्ष हो, यों काल भेदसे एक ही व्यक्तिमें पटुकी वीप्सा हो जाती है, तथा देशभेदसे भी एक ही व्यक्तिमें वीप्सा घट जाती हैं 'पहिले मथुरामें देखा गया था वही पुरुष अब पटनामें देखा जा रहा है कि यहां तुम दूसरे ही हो गये हो, उस पुरुषका जैसे देश भेद अनुसार उस वीप्सा का बन जाना घटित हो जाता हैं उसी प्रकार कालभेद और देशभेदसे अनेकपनको धारण कर रहे उस एक आत्मामें भी निद्रानिद्रा और प्रचलाप्रचला यों वीप्सा बन जाना समुचित है अथवा अभीक्ष्यपन यानी बारबार वर्तनेकी विवक्षा करनेपर निद्रानिद्रा और प्रचलाप्रचला यों दोपना प्रसिद्ध हो जाता है जैसे कि बारबार प्रवृत्ति करनेपर घर घर में पीछे पीछे प्रवेश करता हुआ ठहरता है। यहां गेहं गेहं इसमें अभीक्ष्णता में द्वित्व हुआ है।

निद्रादिकर्मसद्वेद्योदयात् निद्रादिपरिणामसिद्धिः। निद्रादीनामभेदेनाभिसंबंध-विरोध इति चेन्न विवक्षातः संबंधात्।

निद्रा आदि कर्म और सद्वेद्यकर्म के उदय से आत्मा के निद्रा आदि परिणामों की सिद्धि हो जाती है। नींद के आ जाने पर शोक, ग्लानि आदि का विनाश हो गया देखा जाता है रोग भी न्यून होता है। अतः अंतरंगमें सद्वेदनीय कर्म का उदय हो रहा स्पष्ट रूप से जान लिया जाता है। सोते समय असद्वेदनीय का मन्द उदय है, हां क्लोरोफार्म सूंघना, मूर्छित हो जाना आदि अवस्थाओं में असद्वेद्य का तीव्र उदय है अर्थात् पापप्रकृति मानी गयी निद्रा के साथ पुण्यप्रकृति सातावेदनीय लगी हुई है। यों तो शिकार खेलना, अब्रह्मसेवना, द्यूतक्रीडा आदि करते समय भी कषायवान् जीवोंको आनन्द आता है। बात यह है कि घातिकर्म माने गये स्त्रीवेद, पुंवेद, निद्रा, हास्य, रति इन कर्मों के उदय के साथ सातावेद-नीय का उदय सहचरित है। श्वेताम्बरों ने हास्य आदि को पुण्यप्रकृतियोंमें गिना है वह प्रशस्त मार्ग नही है। सूत्र में कहे गये निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला; प्रचलाप्रचला और स्त्यान गृद्धि की अनुवृत्ति किये जा रहे दर्शनावरण के साथ अभेद करके संबन्ध कर लेना चाहिये। यहां कोई शंका उठाता है कि चक्षु आदि चार का षष्ठी विभक्ति अनुसार दर्शनावरण के साथ भेदनिर्देश लिया गया है और निद्रा आदि पांच के साथ प्रथमाविभक्ति अनुसार अभेद निर्देश किया गया है यों एक ही दर्शनावरण की अपेक्षा कर भेद और अभेद करके संबंध

किया जाना विरुद्ध पडता है। नौऊ का भेद करके षष्ठी विभक्तिवाला संबंध करना चाहिये, भेद होने पर षष्ठी बिभक्ति हो जाती है। अत: निद्रा आदि पांच का अभेद करके विधेयदल को और दर्शनावरण के साथ संबध कर देनेसे विरोध दोष आता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना। क्योंकि वक्ता के कथन करने की इच्छा से संबंध हो जाता है "विवक्षात: कारकप्रवृत्ते:" एक सूत्र के दो, तीन, वाक्य बनाकर विवक्षा के वश से भेद और अभेद करके संबध हो जाने का कोई विरोध नहीं है।

चक्षुरचक्षुर्दर्शनावरणोदयाच्चक्षुरादींद्रियालोचनविकल:, अवधिदर्शनावरणोदयादवधिदर्शनविप्रयुक्त:, केवलदर्शनावरणोदयादनाविर्भूतकेवलदर्शन:, निद्रानिद्रानिद्रोदयात्तमोमहातमोवस्था, प्रचलाप्रचलाप्रचलोदयाच्चलनातिचलनभाव: ॥ एतदेवाह—

चक्षुर्दर्शनावरणकर्म और अचक्षुर्दर्शनावरणकर्म के उदय से यह जीव चक्षु:-इन्द्रिय और स्पर्शनइन्द्रिय, आदि द्वारा होने वाले आलोचन से रहित हो जाता है। तथा अवधिदर्शनावरणकर्म के उदय से अवधिदर्शन करके विशेषतया छोड दिया जाता है यानी कथमपि अवधिदर्शन नहीं होने पाता है। सर्वघाती हो रहे केवलदर्शनावरण के उदय से इस जीव के केवलदर्शन प्रकट नहीं होने पाता है। एवं निद्राकर्म के उदय से इस जीव के चेतनागुण की अंधकार अवस्था हो जाती है और निद्रानिद्राकर्म के उदय से तो महान् अंधकार अवस्था उपज जाती है। प्रचलाकर्म के उदय से यह जीव चलायमान हो जाता है, बैठा हुआ भी घूमने, ओंघने लग जाता है। शिर, हाथ, पांव, चल जाते हैं, देखता हुआ भी नहीं देखता है। अन्य चार निद्राओं की अपेक्षा इस प्रचला में सहचारी सातावेदनीय का उदय बढिया है। कतिपय पुरुषों को पलंग पर सो जाने की अपेक्षा बैठे ओंघना बडा मीठा, सुखकर अनुभूत होता है। प्रचलाप्रचलाकर्म के उदय से अत्यन्त चलना या कंप परिणाम हो जाता है। बैठा हुआ भी अधिक चक्कर खाता है, सुई आदि करके त्रस्त किया गया भी कुछ नहीं समझता है, हाथ पांवों को हला दो, खेंच लो, आंख खोलकर दिखा दो, तो भी होश में नहीं आता है। पांचवीं नीद स्त्यानगृद्धिकर्म के उदय से भयानक कर्म भी करते हुये सोते ही रहना प्रसिद्ध ही है। इस ही सूत्रोक्त रहस्य को ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा कह रहे हैं।

चतुर्णां चक्षुरादीनां दर्शनानां चतुर्विधं।
निद्रादयश्च पंचेति नव प्रकृतयोस्य ता: ॥ १ ॥

चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन आदिक चार दर्शनों का आवरण करने वाला चार प्रकार का दर्शनावरणकर्म है और निद्रा, निद्रानिद्रा आदिक पांच प्रकार का भी दर्शनावरण

कर्म है यों इस दर्शनावरणकर्म की वे सूत्रोक्त प्रसिद्ध हो रही नौ प्रकृतियां है इनको युक्ति-योंसे भी सिद्ध कर लो।

चतुर्णां हि चक्षुरादिदर्शनानामावरणाच्चतुर्विधमवबोध्यं, तदाव्रियमाणभेद त् त द्भेदसिद्धेः। निद्रादयश्च पंच दर्शनावरणानीति भेदाभेदाभ्यामभिसंबंधोऽत्राविरुद्ध एवेत्युक्तं॥

चेतना गुण की, चक्षुः, अचक्षुः आदि परिणति होने वाले दर्शनों के आवरण करनेवाले होने से दर्शनावरण कर्म चार प्रकार का समझना चाहिये, कारण कि उन पौद्गलिक कर्मों करके आवरण किये जा रहे चार दर्शनों के भेद से उन आवरक कर्मों के भेद हो जाने की सिद्धि हो जाती है। ढके जाने वाले पदार्थों की गणना अनुसार ढकने-वाले पदार्थों का भेद मानना प्रतितिसिद्ध है। यों दर्शनावरण के चार भेद तो चेतनागुण की परिणतियों को ढकने के कारण हुये। तथा निद्रा, निद्रानिद्रा आदिक पांच प्रकार के दर्शनावरण कर्म अन्य भी हैं ये भी पांच कर्म उसी दर्शन परिणति का आधात करते हैं यों भेद और अभेद करके यहां सूत्र में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध रूपसे संबंध कर लिया जाता है, कोई विरोध नहीं पडता हैं। इस ही बात को सूत्रकार ने उक्त सूत्र में स्पष्ट रूप से कह दिया है। भावार्थ-सूत्र के "चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां" इस षष्ठी विभक्तिवाले पद का दर्शनावरण पद के साथ भेदरूप करके अन्वय करना चाहिये और "निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धयश्च" इस प्रथमान्त पद का दर्शनावरण के साथ अभेद रूप से संबंध किया जाता है यों सूत्रोक्त सिद्धान्त अविरुद्ध बन रहा हैं। विवक्षा के वश से भेद और अभेद करके संबंध हो जाना सूत्रकार को अभीष्ट है। सिद्धान्तशास्त्र के अनुसार व्याकरणशास्त्रको चलाओ। शब्दानुसारी व्याकरण के अधीन इस वस्तुपरिणति प्रतिपादक सिद्धान्तशास्त्र को नहीं बनाओ।

अथ तृतीयस्योत्तरप्रकृतिबंधस्य भेदप्रदर्शनार्थमाह;—

अब इस द्वितीय कर्मप्रकृति के उत्तर भेदों का निरूपण करने के पश्चात् तीसरे वेदनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियों के बंध का भेदप्रदर्शन करने के लिये सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को स्पष्ट कह रहे हैं।

सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥

सातारूप से यानी स्वानुकूलरूप से वेदनेयोग्य फल को देनेवाला सद्वेद्य कर्म

और प्रतिकूल रूप से अनुभवने योग्य लौकिक दुःखों का कर्ता असद्वेद्य कर्म यों वेदनीय कर्म की ये दो उत्तर प्रकृतियां हैं।

यस्योदयाद्देवादिगतिषु शारीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यं, यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यं तदेवोपदर्शयति--

जिस पुण्य कर्म के उदय से देव, मनुष्य आदि गतियों में शरीर संबंधी और मनःसंबंधी सुखों की प्राप्ति होती है वह सातावेदनीय कर्म हैं और जिसका फल संसारी जीवों को अनेक प्रकार के दुःखों का देना है वह असाता वेदनीय कर्म है। उस ही सूत्रोक्त सिद्धान्त को ग्रन्थकार श्री विद्यानन्दस्वामी अगली वार्तिक द्वारा युक्तिसिद्ध करते हुये दिखला रहे हैं।

द्वेधा तु सदसद्वेद्ये सातेतरकृतादिमे,
प्रकृती वेदनीयस्य नान्यथा तद्व्यवस्थितिः ॥ १ ॥

निज को अनुकूल सुख प्राप्त हो जाना स्वरूप साता और इससे इतर स्व को प्रतिकूल हो रहे दुःख का प्राप्त हो जाना स्वरूप असाता, इनके द्वारा भेद किया गया होने से वेदनीय कर्म की तो सद्वेद्य और असद्वेद्य ये दो प्रकार की प्रकृतियां इस सूत्र में कही गयी हैं। अन्यथा यानी देखे जा रहे दूसरे प्रकारों से उन साता, असाताओं की व्यवस्था नहीं हो सकती है। अर्थात् सुख के कारण मिला देने पर भी किसी को दुःख व्याप रहा है तथा अन्य को दुःख के कारण मिलने पर भी अंतरंग में सुख का अनुभव हो रहा है यों परिदृष्ट कारणों का सुख दुःख देनेमें व्यभिचार हो रहा है, इस कारण अनुमान प्रमाण द्वारा सुख दुःख देने वाले अंतरंग कारण पौद्गलिक कर्मों की सिद्धि हो जाती हैं। यों वार्तिक में सूत्रोक्त सिद्धान्त का युक्तिपूर्ण अनुमानप्रमाण बना दिया है।

अथ चतुर्थोस्योत्तरप्रकृतिबंधस्य भेदोपदर्शनार्थमाह;--

अब क्रम से प्राप्त हो रहे चौथी मूलप्रकृति माने गये मोहनीय कर्म के उत्तर प्रकृति बंध के भेदों का नातिसंक्षेप, नातिविस्तार, यों मध्यमरूपसे प्रदर्शन कराने के लिये सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं। मोहनीय कर्म के यदि अतिसंक्षेप से भेद किये जाय तो दो, तीन, भेदों द्वारा ही प्रकृष्ट बुद्धिवाले विद्वान् समझ जाते हैं और अतीव विस्तार से यदि मोहनीय के भेदों का निरूपण किया जाय तो शब्दों की अपेक्षा करोडों, अरबों, खरबों, भेद हो सकते हैं। कर्म के फल देने की अनुभाग शक्तियोंका लक्ष्य कर भेद

करने से असंख्यात भेद हो सकते हैं और कर्मव्यक्तियों की अपेक्षा मोहनीय के अनन्त भेद हो सकते हैं जिनका कि लिखना ही अशक्यानुष्ठान है। अतः मध्यमरुचिवाले तत्त्व-जिज्ञासुओं के प्रति मध्यमरूप से भेदों का प्रतिपादन करना ही सूत्रकार महाराज का स्तुत्य प्रयत्न है।

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभय-जुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदा अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलन-विकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥ ९ ॥

दर्शनमोहनोय और चारित्रमोहनीय तथा अकषाय वेदनीय एवं कषायवेदनीय इन संज्ञाओं को धारनेवाले यथाक्रम से तीन, दो, नौ और सोलह भेद, उस मोहनोय कर्म के हैं। प्रथम ही दर्शनमोहनोय के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और उन दोनों का मिला हुआ उभय सम्यङ्मिथ्यात्व ये तीन भेद है। चारित्र मोहनीय कर्म के अल्पकषाय रूप करके और कषाय रूप से वेदनेयोग्य अकषाय और कषाय ये दो भेद हैं तिन में ईषत् कषाय कर्म के हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक वेद ये नौ भेद हैं, तथा कषाय-रूपेण अनुभवने योग्य कषायकर्म के अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, और संज्वलन ये चार विकल्प होते हुये एक एक के क्रोध, मान, माया, और लोभ ये चार-चार भेद होकर कषायवेदनीय मोहकर्म के सोलह भेद हो जाते हैं। यों मोहनीय कर्म के संपूर्ण भेद अट्ठाईस हुये।

दर्शनादिभिस्त्रिद्विनवषोडशभेदानां यथासंख्येन संबधः। दर्शनमोहनीयं त्रिभेदं। चारित्रमोहनोयं द्विभेदं, अकषायवेदनीयं नवविधं, कषायवेदनीयं षोडशविधमिति। तत्र दर्शन-मोहनोयं त्रिभेदं सम्यक्त्व मिथ्यात्व तदुभयानीति। तद्बंधं प्रत्येकं भूत्वा सत्कर्म प्रतीत्य त्रेधा।

इस सूत्र की आदि में प्रयुक्त किये गये दर्शन आदि चार पदों के साथ तीन, दो, नौ और सोलह भेदों के वाचक पदों का यथासंख्य यानी क्रम अनुसार संबंध कर लेना चाहिये। उस से यो अर्थ संपन्न हो जाता है कि दर्शनमोहनीय कर्म तीन प्रकार हैं और चारित्रमोहनीय कर्म के दो भेद हैं। नौ प्रकार वाला अकषाय वेदनोय है तथा कषायवेदनीय सोलह प्रकार का है। उन चारों में पहिला दर्शनमोहनीय कर्म तो सम्यक्त्वप्रकृति और

मिथ्यात्वप्रकृति तथा उन दोनों की दही गुड के समान मिली हुई जात्यन्तर सर्वघाती मिश्र-प्रकृति इस प्रकार तीन भेदोंवाला है। वह दर्शनमोहनीयकर्म मात्र बन्ध के प्रति एकसंख्या वाला होकर पुनः प्रथमोपशम सम्यक्त्वपरिणामों करके चक्की द्वारा कोदों के हुये तीन प्रकार टुकड़ों के समान तीन प्रकार का हो जाता है। अतः सत्ता में विद्यमान हो रहे कर्मों की प्रतीति अनुसार अपेक्षा लगाने पर दर्शनमोहनीय कर्म तीन प्रकार हैं। जिस कर्म के उदय से जीव सर्वज्ञ प्रतिपादित सन्मार्ग से पराङ्मुख हो जाता है, सप्ततत्त्वों का श्रद्धान करने में उत्सुक नहीं रहता है आत्मीय हित और अहित का सद्विचार नहीं कर सकता है वह मिथ्यात्व कर्म है। वही कर्म यदि शुभपरिणामों से कोदों की भुसी समान क्षीणशक्ति हो रहा सन्ता आत्मा के श्रद्धान को नहीं रोकता है, वह सम्यक्त्व नाम का पौद्गलिक कर्म हैं। वही मिथ्यात्व खण्ड कर्म यदि स्वल्प धोये हुये आधी क्षीण, अक्षीण, शक्तिवाले कोदों धान्य के समान उन जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान, अश्रद्धान रूप परणतियों का संपादन करने योग्य होता है वह मिश्र प्रकृति है।

चारित्रमोहनीयं द्वेधा, अकषाय, कषायभेदात्। कषायप्रतिषेधप्रसंग इति चेत् न, ईषदर्थत्वान्नञः। अकषायवेदनीयं नवविधं हास्यादिभेदात्। कषायवेदनीयं षोडशविध-मनंतानुबंध्यादिविकल्पात्।

चारित्रमोहनीय कर्म अकषाय और कषाय इन भेदों से दो प्रकार है। यहाँ कोई शंका उठाता है कि अकषाय शब्द में नञ् का अर्थ अभाव है, ऐसी दशा में अकषाय कहने से कषाय का प्रतिषेध हो जाने का प्रसंग आता है। अकषाय कोई कर्म नहीं हो सकता है। अकषाय तो आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है। अतः चारित्रमोहनीय कर्म का अकषाय नाम का भेद करना उचित नहीं दीखता, विरोध दोष है। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कटाक्ष तो नहीं करना, यहाँ नञ् अव्यय का अर्थ ईषत् यानी छोटा है अल्पकषायका जो कारण है वह अकषाय कर्म है। स्वल्पकषायरूपसे वेदने योग्य हो रहा अकषाय वेदनीय कर्म हास्य, शोक आदि के भेद से नौ प्रकार हैं। दूसरा कषायरूप से अनुभवने योग्य कषाय वेदनीय कर्म तो अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण आदि विकल्पों से सोलह प्रकारवाला है। हास्य और अनन्तानुबन्धी आदि कर्मों के लक्षण प्रसिद्ध ही हैं। आत्मा का सर्वथा व्यामोह यानी महामूढ अवस्था नहीं हो कर कषाय और अकषायरूप से चारित्र मोहनीय कर्म का वेदन होता रहता है। यही मोहनीय कर्म के पुनः वेदनीय रूप से अवांतर भेद करने का अभिप्राय है। मिथ्यात्व कर्म तो आत्मा को सर्वथा मोहित कर देता है। जो सासादन

गुणस्थान के सिवाय सर्वदा दोषोत्पादन करता रहता हैं अतः वह अनंतानुबंधी कर्म हैं। जो स्वल्प भी देशव्रत को नहीं करने देता है वह अप्रत्याख्यानावरण है। यह कर्म अणुव्रतरूप ईषत् प्रत्याख्यान का आवरण करता है। जो पूर्णसंयम नामक प्रत्याख्यान का आवरण करें वे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ हैं। संयम के साथ भी जो एकार्थसमवाय-संबन्ध से आत्मा में कर्मानुभव होता रहे अथवा जिन कर्मोका उदय होनेपर भी संयम जाज्वल्यमान होकर चमकता रहे वे संज्वलन कर्म हैं। यों मोहनीय के अट्ठाईस उत्तर प्रकृतिबंध को समझा दिया गया है।

कुतो मोहस्याष्टाविंशतिः प्रकृतयः सिद्धा इत्याह——

यहां कोई तर्कबुद्धि शिष्य आक्षेप करता है कि किस प्रमाण से मोहनीय कर्म की अट्ठाईस उत्तर प्रकृतियां सिद्ध होती हैं? बताओ। प्रमाणों द्वारा सिद्ध किये विना वचन-मात्र से किसी परोक्ष तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है। ऐसा आक्षेप प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अनुमानप्रमाण रूप उत्तरवार्तिक को कहे देते हैं।

दर्शनेत्यादि सूत्रेण मोहनीयस्य कर्मणः
अष्टाविंशतिराख्यातास्तावद्धा कार्यदर्शनात् ॥ १ ॥

"दर्शनचारित्रमोहनीय" इत्यादि सूत्र करके मोहनीय कर्म की अट्ठाईस उत्तर-प्रकृतियां गुरुपर्वक्रम अनुसार सूत्रकार महाराज ने कह दी हैं (प्रतिज्ञा) तितने प्रकार से कार्यों का दर्शन होने से (हेतु)। अर्थात् जितने प्रकार के कार्य देखे जायेंगे उतने प्रकार के अंतरंग कारणों का अनुमान कर लिया जाता है। तत्त्वार्थ अश्रद्धान आदि अट्ठाईस प्रकार के कार्यो के अतरंग कारण कर्म अट्ठाईस होने ही चाहिये "कार्यलिंगं हि कारणं"।

प्रसिद्धान्येव हि मोहप्रकृतीनामष्टाविंशतेस्तत्त्वार्थाश्रद्धानादीनि कार्याणि मिथ्यात्वादीनामिहेति न प्रतन्यते। ततस्तदुपलंभात्तासामनुमानमनवद्यमन्यथा तदनुपपत्तेर्दृष्ट-कारणव्यभिचाराच्च ॥

मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व आदि अट्ठाईस प्रकृतियों के तत्त्वार्थ अश्रद्धान, हंसना, क्रोध करना, आदिक कार्य इस लोक में आबालवनिता में प्रसिद्ध ही हैं। इस कारण उन मोहनीय कर्म के कार्यों का यहां विस्तार नहीं किया जाता है। तिसकारण उन कार्यों का उपलंभ होने से उन मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों का व्यभिचार आदि दोषरहित

अनुमानप्रमाण हो रहा हैं अन्यथा यानी मोहनीय के अट्ठाईस भेद माने विना उन उपलभ्यमान अट्ठाईस कार्यों की सिद्धि नहीं हो सकती है, यों हेतु की साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति (व्याप्ति) बन रही है। एक बात यह भी हैं कि अन्य दृष्ट कारणों का व्यभिचार हो रहा है। भावार्थ–क्रोध, हास्य आदि के गाली, विदूषक आदि कारण मिलाने पर भी किसी धर्मात्मा पुरुष को क्रोध आदि नहीं उपजते हैं दूसरे को इन कारणों के विना भी क्रोध आदि भाव उपज जाते हैं। अत: क्रोध आदि के दृश्यमान गाली आदि को कारण मानने में व्यभिचार दोष आता है। अतः अंतरंगकारण कर्मों का मानना ही निर्दोष हैं।

अथायुरुत्तरप्रकृतिबंधभेदमुपदर्शयन्नाह;—

अब इसके अनन्तर आयु:कर्म के उत्तर प्रकृतिबंध के भेदों का प्रदर्शन कराते हुये सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं।

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

जीवों के नरक में उदय हो रही नारक आयु और तिर्यञ्च योनि के जीवोंमें पाई जा रही तैर्यग्योन आयुः तथा मनुष्यों के मनुष्य भव करा रही मानुष्य आयु: एवं देवोंमें सम्भव रही दैव आयुः, ये चार प्रकार पांचवे आयु:कर्म की उत्तर प्रकृतियां हैं।

आयूंषीति शेषः। नारकादिभवसंबंधेनायुर्व्यपदेशः।

इस सूत्र में उद्देश्यदल कंठोक्त है, हाँ विधेयदल आयुयं हैं। इतना शेष रह गया हैं उद्देश्यदल और शेष रहे विधेयदल का अन्वय लगाकर ये चार आयुयें हैं यों अर्थ कर लिया जाता है। नारक आदिक या नारक आदि में भवधारण के संबन्ध करके आयु:का भी नारक आदि शब्द करके व्यवहार हो जाता है। "आऊणि भवविवाई" आयुष्य कर्म का भव में विपाक होता है। अतः जो भव का नाम है वही आयु:का नाम उपचार से कह दिया है।

यद्भावाभावयोर्जीवितमरणं तदायुः। अन्नादि तन्निमित्तमिति चेन्न, तस्योपग्राहकत्वात् देवनारकेषु चान्नाद्यभावात्।

जिस विशेष कर्म के उदयापन्न सद्भाव से आत्मा का संसार में विवक्षित पर्याय युक्त होकर जीवन हो रहा है, और जिस उदयप्राप्त कर्म का अभाव होने पर संसारी जीव का मरण हो जाता है, वह आयु:कर्म है। यहाँ कोई शंका करता है कि जीवित और

मरण के साथ तो अन्न, जल, आदि का अन्वय, व्यतिरेक, बन रहा है अन्न, जल, स्वच्छ वायु आदि का लाभ होने पर जीवन स्थिर रहता है और अन्न आदि के न मिलने पर या बिष, रक्तक्षय, शस्त्राघात, आदि कारण मिल जाने पर संसारी जीव का मरण हो जाता है अतः अन्न आदिक ही उन जीवित और मरण के निमित्त कारण हैं, अदृश्य आयुःकर्म नहीं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना, क्योंकि वे अन्न आदिक तो केवल जीवन के सहायक हो सकते हैं प्रकृष्ट कारण नहीं है। दूसरी बात यह है कि देव और नारकी जीवों में अन्न-भक्षण, जलपान आदि का अभाव है देवों के कवल आहार नहीं है, मानसिक आहार है नारकियों के नोकर्म आहार है। यहां लोक में कितने ही मनुष्य, तिर्यंचों को अन्न, जल, औषधि, आदि के मिलने पर भी उनका जीवित स्थिर नही रहता है, मरण हो जाता है कुछ दिनों तक अन्न न खाने पर भी कतिपय उपवासी स्त्री, पुरुष, जीवित बने रहते हैं अतः अन्वयव्यभिचार, व्यतिरेकव्यभिचार, प्राप्त हो जाने से अन्न आदि उस जीवित, मरण के कारण नहीं हैं हाँ कुछ मनुष्य तिर्यञ्चों के सहायक मात्र हो सकते हैं।

नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवनं तन्नरकायुः। क्षुत्पिपासा-शीतोष्णवातादिकृतोपद्रवप्रचुरेषु तिर्यक्षु दस्योदयाद्वसनं तत्तैर्यग्योनं। शारीरमानससुखदुःख भूयिष्ठेषु मनुष्येषु जन्मोदयान्मानुष्यायुषः। शारीरमानससुखप्रायेषु देवेषु जन्मोदयाद्दैवायुषः।

तीव्र शीत की वेदना और तीव्र उष्णता की वेदना को करनेवाले नरकों में जिस निमित्त कर्म को पाकर दीर्घकाल तक भवधारण बना रहता है वह नरक आयुःकर्म है। पहिली, दूसरी, तीसरी और चौथी पृथिवियों में तथा पांचवीं के यौन भागपर्यंत नारकियों को अत्यन्त उष्णवेदना का दुःख है एवं पांचवीं के नीचले पाव भाग और छठी, सातवीं, पृथिवियों में नारकी जीवों को अत्यन्त शीत की बाधा का महान् दुःख है उष्ण वेदना से शीत बाधाका दुःख बढकर है। जिन तिर्यञ्च जीवों में भूख, प्यास, शीतवेदना, उष्णवेदना, तीव्रवायु, वर्षा, डांस, मच्छर आदि करके हुये उपद्रवों की बहुलता पाई जाती है उन तिर्यञ्च पर्यायों में श्वास के अठारह वें भाग रूप अन्तर्मुहूर्त से प्रारम्भकर तीन पल्य तक अनेक जीवों का निवास करना जिस कर्म से होता है वह तैर्यग्योन आयु है। शरीर संबन्धी और मनःसंबंधी सुख दुःखोंकी बहुलता को झेल रहे मनुष्यों में जीवों का मानुष्य आयुके उदय से जन्म हुआ करता है। शारीरिक और मानसिक सुखों के बाहुल्य को धारनेवाले देवों मे जिस आयुके उदय से जन्म हुआ करता है वह देवआयु समझना चाहिये। कभी कभी प्रिया के वियोग से या महान् ऋद्धि वाले देवों का ईर्षासहित निरीक्षण करने से

अथवा अपनी पर्याय के च्युत हो जाने के ज्ञापक चिन्ह हो रहे आज्ञाहानि और माला, गहनों, की कान्तिहीनता अथवा प्रकृष्ट पुण्यशाली देव, इन्द्र, नारायण, चक्रवर्ती द्वारा पराभव प्राप्त हो जाने से देवों के भी मानसिक दुःख प्रकट हो जाता है। इस बात को प्रायः शब्द ध्वनित कर रहा है।

कुत एतान्यायूंषि सिद्धानीत्याह--

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि किस कारण से ये चारों आयुयें युक्तिसिद्ध हैं? बताओ। ऐसी अनुकूलतर्कवाले शिष्य की जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं।

नारकादीनि चत्वारि चायूंषि भवभेदतः।
सिद्धानि तदभावेस्य प्राणिनामव्यवस्थिते ॥ १ ॥

संसारी जीवों का नरक आदि चार भवों में परिभ्रमण करना प्रमाणसिद्ध है इस भवधारण के भेदों से नरक आदिक चार आयुयें अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध हो जाती हैं। कार्य से कारण का अनुमान कर लिया जाता है। उन चार आयुःकर्मों के नहीं मिलने पर (विना) प्राणियों के इस नानाप्रकार भव धारण करने की व्यवस्था नहीं बन सकती है, यो हेतु और साध्य की अन्यथानुपपत्ति सिद्ध है।

अथ नामोत्तरप्रकृतिबंधभेददर्शनार्थमाह;--

पांचवें आयुकर्म की उत्तर प्रकृतियों को गिना चुकने पर अब छठे नामकर्म के उत्तरप्रकृति बंध का भेदप्रदर्शन कराने के लिये सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसंस्थानसंहनन-स्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशस्कीर्ति सेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥

गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बंधन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास,

विहायोगति, ये इक्कीस प्रकृतियां हुयीं, तथा प्रत्येकशरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशस्कीर्ति ये दश प्रकृतियां हैं, ये दशों प्रकृतियां अपने इतर यानी प्रतिपक्षी प्रकृतियों से सहित हैं जो कि साधारणशरीर, स्थावर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, बादर, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय, अयशस्कीर्ति नाम की हैं। एवं अर्हन्तपने का कारण तीर्थंकरत्व नामकर्म यों नाम कर्म की ब्यालीस उत्तर प्रकृतियां हैं। गति चार प्रकार, जाति पांच प्रकार इत्यादि प्रभेदों अनुसार नाम कर्म के तिरानवे भेद भी हैं। अनेक प्रकार जानी जा रहीं सूरत, मूरत, वाणी, आदि अनेक कार्यजातियों की अपेक्षा असंख्यात भेद भी कहे जा सकते हैं।

कुतः पुनरिमे नाम्नः प्रकृतिभेदाः समनुमीयंत इत्याह;—

यहां कोई युक्तिवादी प्रश्न उठाता है कि फिर यह बताओ कि नाम कर्म के ये उत्तरप्रकृतिभेद भला कैसे अनुमानप्रमाण द्वारा ज्ञात कर लिये जाते हैं ? युक्ति रूपी कसौटी पर कसे विना आगम सुवर्ण की महिमा व्यक्त नहीं हो पाती है ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम कारिका द्वारा सूत्रोक्त सिद्धान्त को युक्ति से संस्कृत करें देते हैं। यद्यपि सूत्रकार महोदय ने सभी उक्त या वक्ष्यमाण सिद्धान्तों को युक्तिपूर्ण ही कहा है। फिर भी जिन पण्डितों को आगम वाक्यों में भरी हुई युक्तियां नही ज्ञात हो रही हैं उन्ही युक्तियां को ग्रन्थकार निजनिर्मित वार्तिकों द्वारा अभिव्यक्त करें देते हैं।

द्विचत्वारिंशदाख्याता गतिनामादयस्तथा।
नाम्नः प्रकृतिभेदास्तेऽनुमीयंते स्वकार्यतः ॥ १ ॥

सर्वज्ञ जिनेन्द्र ने जिसप्रकार कर्मसिद्धान्त का निरूपण किया है उसी प्रकार आम्नायानुसार सूत्रकार ने नाम कर्म की गतिनाम, जातिनाम, आदि ब्यालीस उत्तर प्रकृति-भेदों का अन्वाख्यान कर दिया है वे प्रकृतिओं के ब्यालीसों भेद अपने-अपने द्वारा किये गये कार्यों से अनुमान द्वारा जान लिये जाते हैं। गमन होना, अंगोपांग बन जाना, हड्डियों का जोड हो जाना, यशः, अपयशः प्राप्त होना, आदिक दृश्यमान कार्यों से कारणभूत अतीन्द्रिय कर्मो का अनुमान कर लिया जाता है। कर्मों के अतिरिक्त अन्य कारणों से गति आदि कार्यों की उत्पत्ति मानने में अनेक व्यभिचार आदि दोष आते हैं।

यदुदयादात्मा भवांतरं गच्छति सा गतिः। तत्राव्यभिचारिसादृश्यैकीकृतोर्थात्मा

जातिः । यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम, यदुदयादंगोपांगविवेकस्तदंगोपांगनाम, यन्निमित्ता परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणं ।

अब नामकर्म की प्रकृतियों में से प्रत्येकका लक्षण लिखते हैं, प्रथम ही भवांतर को जाना, श्वास, उश्वास, लेते समय फूलजाना, संकुच जाना, आदि अनेक कार्यों को करने वाले गति कर्म का लक्षण कहते हैं। आत्मा जिस कर्म के उदय की पराधीनता से एक विवक्षित भवको छोड कर दूसरे भव को गमन करता है वह जीवविपाकी गति नाम का नामकर्म है उन–उन नरक आदि गतियों में व्यभिचाररहित सदृशता करके एकीभूत कर लिया गया अर्थ आत्मक जाति कर्म है। यह कर्म एकेन्द्रिय, द्वि इन्द्रिय, आदि जीवों में परस्पर सदृशता को बनाता रहता है। जिस कर्म के उदय से जोव के शरीरों की निष्पत्ति होती है वह शरीर नामकर्म है। जिस पौद्गलिक कर्म के उदय से सिर, पीठ, छाती, नितम्ब, दो हाथ, दो पांव ये आठ अंग और माथा, नाक, ओठ आदि उपांगों का पृथक्–पृथक् विन्यास होता हैं वह अंगोपांग नामकर्म है। जिस कर्म के उदय को निमित्त पाकर स्थान और प्रमाण रूप से निर्माण की चारों ओर से सिद्धि कर दी जाती है वह निर्माण कर्म है।

शरीरनामकर्मोदयोपात्तानां यतोन्योन्यसंश्लेषणं तद्बंधनं, अविवरभावेनैकत्वकरणं संघातनाम ।

शरीर संज्ञक नाम कर्म के उदय होने पर ग्रहण कर लिये गये पुद्गलों का जिस कर्म के उदय से परस्पर में भले प्रकार चुपक जाना होता हैं वह बंधन कर्म है। बंधन कर्म के उदय अनुसार वृक्ष की पींड से डालें, डालियां बंधे रहते हैं, धड से बांहे, बाहों में अंगुलियां बंधी रहती है, बंधन के विना वालु के समान शरीर के अवयव सब विखर जाते, बिखरी हुई लकडियों के समान आपस में जकडना नहीं हो सकता था, जो कि दृष्टिगोचर नहीं है। तथा जिस अतीन्द्रिय कर्म का उदय पाकर छिद्ररहितपन करके प्रदेशों का परस्पर एक दूसरे में प्रवेश होकर एकम एकपना कर दिया जाता है वह संघात नामकर्म हैं। शरीर में आवश्यक छिद्रों के अतिरिक्त व्यर्थ के छेदों का नहीं दीखना इसी कर्म के उदय का परिणाम है।

यद्धेतुका शरीराकृतिनिर्वृत्तिस्तत्संस्थाननाम, यदुदयादस्थिबंधनविशेषस्तत्संहननं, यदुदयात् स्पर्शरसगंधवर्णविकल्पाष्टपंचद्विपंचसंख्यास्तानि स्पर्शादिनामानि, यदुदयात्पूर्वशरीराकाराविनाशस्तदानुपूर्व्यनाम यन्निमित्तमगुरुलघुत्वं तदगुरुलघु नाम ।

जिस नामकर्मविशेष को हेतु पाकर औदारिक आदि शरीरों के आकारो की निष्पत्ति होती है वह संस्थान नामक नामकर्म है। इस कर्म के उदय अनुसार ही शरीर की सुव्यवस्थित या अव्यवस्थित आकृतियाँ बन जाती हैं। एवं जिस कर्म के उदय से हाडों का विशेषरूपेण बंधना हो जाता है वह संहनन है। हाड, मांस, चमडे को धारनेवाले जीवों का शरीर तो हाडों पर ही थँम रहा है हां एकेन्द्रिय जीव या देव, नारकियों, के शरीर में विलक्षण दृढता जो है वह हाडों के बिना ही विलक्षण बंधन द्वारा हो जाती है। तथा जिन कर्मों के उदय से शरीर में आठ प्रकार का स्पर्श, पांच प्रकार का रस, दो संख्यावाला गंध, और पांच संख्या को धारने वाला रूप बने वे स्पर्श, रस, आदि नामों को प्राप्त हुये नामकर्म हैं। इनके कर्कषनाम, तिक्तनाम, सुरभिगंधनाम, कृष्णवर्णनाम इत्यादिक बीस अवान्तर भेद हैं। तथा जिस कर्म के उदय से विग्रहगति में आत्मा के गृहीतपूर्व शरीर की आकृति का विनाश नहीं होय वह आनुपूर्व्य नाम कर्म है जैसे कोई तिर्यञ्चजीव यदि नरक को जा रहा हैं उसके नरक आयु और नरक गति का उदय हो गया है, फिर भी नरकगत्यानुपूर्व्यकर्म अनुसार वह जीव विग्रहगति में पहिली तिर्यञ्च शरीर की आकृति को बनाये रक्खेगा। तथा जिस नामकर्म को निमित्त पाकर शरीर लोहपिण्ड के समान भारी नहीं होवे और अकौआ की रुई के समान लघु भी न हो वह अगुरुलघुसंज्ञक नामकर्म है। द्रव्यों में अगुरु-लघु नाम का एक सामान्य गुण भी है जो कि द्रव्य को द्रव्यांतर या पर्याय को पर्यायांतर नहीं होने देकर स्वकीय स्वभावों में ही परिणमन कराता रहता है। दूसरा अगुरुलघु गुण सिद्धों में गोत्रकर्म के अभाव से व्यक्त होता है। यह तीसरा शरीर में विपाक करने-वाला अगुरुलघु नाम का पौद्गलिक नामकर्म है। जो कि शरीर को अतीव भारी और अतीव हलका नहीं होने देता है।

यदुदयात्स्वयंकृतोद्बंधनाद्युपघातस्तदुपघातनाम। यन्निमित्तः परशस्त्राद्याघातनं तत्परघातनाम यदुदयान्निर्वृत्तमातपनं तदातापनाम यन्निमित्तमुद्योतनं तदुद्योतनाम।

जिस कर्म के उदय से स्वयं किये गये ऊपर नीचे बंधजाना, वायु के झंकोरों से लिभिड जाना, नख, सींग, दांत, आदि का अपने ही शरीर में घुस जाना आदि प्रक्रियाओं से निज का उपघात होय वह उपघात नामकर्म है। तथा जिस पौद्गलिक कर्म को निमित्त पाकर परकीय शस्त्रों आदि करके आघात हो जाय वह परघात नामकर्म है, अन्य को घात करने वाले तीक्ष्ण सींग, नख, डाढ आदिक अवयव जिस कर्म के उदय अनुसार बनें वह परघात अच्छा जंचता है, तभी तो उपघात को पापप्रकृतियों में और परघात को

पुण्यप्रकृतियों में गिनाया गया है। एवं जिस कर्म के उदय से पर को आताप करने वाला शरीर निष्पन्न होवे वह आतप नामकर्म है। सूर्यविमान के नीचली ओर उत्पन्न हुये पृथ्वीकायिक जीवों का मूल में उष्ण नहीं होकर परिणाम में दूसरों को आताप करने वाला शरीर इस कर्म के उदय से बनता हैं। तथा जिस कर्म का निमित्त पाकर शरीर उद्योत रूप बन जावे वह पटवीजना, चमकनेवाली गिडार, आदि के शरीर के उद्योत का सम्पादक उद्योत नामकर्म हैं। चन्द्रबिम्ब के अधोभाग में पाये जा रहे पृथ्वीकायिक जीवों के भी उद्योत नामकर्म का उदय है। आतप और उद्योत में इतना ही अन्तर है कि मूल में अनुष्ण और प्रभा में उष्ण प्रतीत होने वाला आतप हैं तथा मूल या प्रभा दोनों में शीत या अनुष्ण प्रतिभासित हो रहा उद्योत है।

यद्धेतुरुच्छ्वासस्तदुच्छ्वास नाम, विहाय आकाशं तत्र गतिनिर्वर्तकं विहायोगतिनाम, एकात्मोपभोगकारणं शरीरं यतस्तत्प्रत्येकशरीरनाम, यतो बह्वात्मसाधारणोपभोग शरीरता तत्साधारणशरीरनाम।

जिस कर्म को हेतु मानकर श्वास और उच्छ्वास बन जाते हैं वह उच्छ्वास नामकर्म है। प्राणापान बनने में उपादान कारण तो आहारवर्गणा नाम का पुद्गल है किन्तु निमित्तकारण यह कर्म हैं। इसी प्रकार अन्य कर्मों के निमित्तकारणपन का विचार कर लेना चाहिये। योग्य हो रहे उपादानकारण को प्रकर्षशक्तिशाली निमित्तकारण यों ही नचाता फिरता है। निमित्तकारण की बडी भारी शक्ति है। विहायस् शब्द का अर्थ आकाश है उस आकाश में गति का सम्पादन कराने वाला विहायोगति नामकर्म है। अर्थात् मनुष्य, देव, घोडे, हाथी, ऊंट, सर्प, खटमल, जूंआं, लट आदि सभी जीव आकाश में गमन करते हैं। ऊपरले भाग छाती में स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा वेग को बढ़ाकर इतर शरीर को आकाश में घसीट ले जाते हैं। जैसे कि बैल गाडी या घोडागाडी बैल और घोड़ों द्वारा ऊपर भाग में खींची जाती हैं नीचले पहिये तो उसी के साथ घसीट लिये जाते हैं। उसी प्रकार आकाश में चल रहे शरीर के ऊपरले भाग के साथ ही नीचला भाग घसीटता हुआ चला जाता है। शरीर कर्म के उदय से बन रहा शरीर जिस कर्म के उदय से एक ही आत्मा के उपभोग का कारण बने वह प्रत्येकशरीर संज्ञक नामकर्म है, और बहुत आत्माओं के साधारणरूप से उपभोग का कारण शरीर जिस कर्म के उदय से बने वह साधारणशरीर नामकर्म है। साधारण शरीर को धारनेवाले अनन्तानन्त जीवों का आहार, श्वासोच्छ्वास लेना आदि साथ ही साथ होता रहता है।

यदुदयाद्द्वीन्द्रियादिषु जन्म तत्त्रसनाम, यन्निमित्तं एकेंद्रियेषु प्रादुर्भावस्तत्स्थावर-नाम, यदुदयादन्यप्रीतिप्रभवस्तत्सुभगनाम। यदुदयाद्रूपादिगुणोपेतोप्यप्रीतिकरस्तद्दुर्भगनाम, यन्निमित्तं मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं तत्सुस्वरनाम, तद्विपरीतं दुःस्वरनाम, यदुदयाद्रमणीयत्वं तच्छुभ-नाम, तद्विपरीतमशुभनाम, सूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मनाम, अन्यबाधाकरशरीरकारणं बादर-नाम, यदुदयादाहारादिपर्याप्तिनिर्वृत्तिस्तत्पर्याप्तिनाम षड्विधं, पर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तिनाम, स्थिरभावस्य निर्वर्तकं स्थिरनाम, तद्विपरीतमस्थिरनाम।

जिस कर्म के उदय से द्वीन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, आदि जीवों में जन्म होवे वह त्रस नामकर्म है। और जिस पूर्वबद्ध पौद्गलिक कर्म को निमित्तकारण पाकर पृथ्वीकायिक आदिक एक स्पर्शनइन्द्रियवाले जीवों में जन्म प्राप्त किया जाय वह स्थावर नामकर्म है। विरूप आकृतिवाला होता सन्ता भी जिस कर्म के उदय से स्व में अन्य जीवों की प्रीति का उत्पादक हो जाय वह सुभग नामक नामकर्म है। और सुन्दरता आदि गुणों से सहित हो रहा भी जीव जिस कर्म के उदय से अन्यों को अप्रीति का कारण हो जाय वह दुर्भग नामकर्म है। तथा जिस कर्म को निमित्त पाकर जीव के मनोज्ञ स्वर की निष्पत्ति होवे वह सुस्वर नामकर्म है तथा उससे विपरीत हो रहा दुःस्वर नामकर्म है अर्थात् अमनोज्ञ स्वर को बनानेवाला कर्म दुःस्वर है। गधा, काक आदि के दुःस्वर कर्म का उदय समझना चाहिये। जिस कर्म के उदय से जीव के रमणीयता प्राप्त होती है वह शुभनाम है और उससे विपरीत जिस कर्म के उदय से देखनेवाले या सुननेवाले को रमणीय नहीं लगे वह अशुभ नामकर्म है। पाषाण, अग्नि, वज्रपटल आदि से न घाता जाय और इनको भी घात नहीं करे ऐसे सूक्ष्म शरीर को बनानेवाला कर्म सूक्ष्म नामकर्म है। इसके विपरीत अन्य को बाधा करनेवाले और अन्य से बाधा को प्राप्त हो जानेवाले शरीर को बनाने का कारण बादर नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से आहार, शरीर आदि पर्याप्तियों की पूर्णता सिद्ध हो जाय वह पर्याप्ति नामकर्म है, उसके आहारपर्याप्तिनाम, शरीरपर्याप्तिनाम, इन्द्रियपर्याप्तिनाम, श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिनाम, भाषापर्याप्तिनाम, मनःपर्याप्तिनाम ये छह प्रकार हैं। छहों पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं होने देने का हेतु अपर्याप्तिनामकर्म है। अपर्याप्ति नामकर्म के उदय से जीव श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण काल तक जीवित रहकर मर जाता है, कोई भी पर्याप्ति इसके पूर्ण नहीं होने पाती है। अंग, उपांग और कतिपय धातु उपधातुओं के स्थिरपन का संपादक स्थिर नामकर्म है और उसके विपरीत अंगोपांगों को कृष करनेवाला या रक्त आदि को चलायमान करने वाला अस्थिर नामकर्म है।

प्रभोपेतशरीरताकारणमादेयनाम, निष्प्रभशरीरकारणमनादेयतानाम, पुण्यगुणप्रख्यापनकारणं यशस्कीर्तिनाम, यशोगुणविशेषः कीर्तिस्तस्य शब्दनमिति न तयोरनर्थान्तरत्वं । तत्प्रत्यनीकफलमयशस्कीर्तिनाम ।

प्रभा से सहित शरीर हो जाने का कारण आदेय नामकर्म है अर्थात् जिस कर्म के उदय से कान्ति, लावण्य, ओजस्वितायुक्त शरीर बने वह आदेय कर्म हैं, प्रभारहित शरीर को बनाने का हेतु अनादेय नामकर्म है। पुण्यवर्धक गुणों के प्रख्यापन करने का हेतु यशस्कीर्ति नामकर्म है। यहाँ कोई शंका उठावे कि यशस् और कीर्ति शब्द का एक ही अर्थ है फिर सूत्रकार ने यशस्कीर्ति यह नाम क्यों रक्खा ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यश का अर्थ विशेष यानी असाधारण प्रकार के गुण हैं और कीर्ति शब्द का अर्थ कीर्तन करना है, तब तो उस स्वपरोपकारक गुण का जनता में सादर हर्षप्रयुक्त कहे गये शब्दों द्वारा प्रख्यापन करना यशस्कीर्तिका अर्थ हुआ, इस कारण उन यशस् और कीर्ति शब्दों में अभेद नहीं है, किन्तु विभिन्न अर्थों का वाचकपना है। उस यशस्कीर्ति से सर्वथा विपरीत फल को उपजानेवाला अर्थात् जगत् में पापवर्धक दोषों का कीर्तन करानेवाला अयशस्कीर्ति नामकर्म समझना चाहिये ।

आर्हन्त्यनिमित्तकारणं तीर्थकरत्वं, गणधरत्वादीनामुपसंख्यानमिति चेन्न, अन्यनिमित्तत्वात् । गणधरत्वस्य श्रुतज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षहेतुकत्वात्, चक्रवर्तित्वादेरुच्चैर्गोत्रोदयनिमित्तकत्वात् । तदेव तीर्थकरत्वस्यापीति चेत् न, तीर्थकरत्वस्य हि तन्निमित्तत्वे गणधरस्य तत्प्रसंगश्चक्रधरादेश्च, न च तदस्ति ततोऽर्हन्निमित्तं यत्तदर्थान्तरं तत्तीर्थकरनामैव । घातिक्षयस्य मुंड (सामान्य) केवल्यादेरपि भावान्न तन्निबंधनं तस्य शंकनीयं, छत्रत्रयादि परमविभूतिफलस्य ततो संभवनिश्चयात् ।

समवसरण, देवागमन, आकाशयान, चौसठि चमर आदि बहिरंग विभूति और अनंतचतुष्टय, असंख्यात जीवों को मोक्षमार्ग में लगा देने की शक्ति, आदि अंतरंग अचिन्त्य विभूति करके सहित हो रहे अर्हन्तपने का निमित्तकारण तीर्थंकरत्व नामकर्म है। यहाँ कोई शंका करता है कि जिसप्रकार महा—महिमा—अन्वित तीर्थंकरत्व नामकर्म को कहा गया है उसी प्रकार गणधरपन, विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानीपन, सर्वावधिज्ञानीपन, परिहारविशुद्धिसंयम, चक्रवर्तीपन, नारायणत्व, प्रतिनारायणत्व, बलभद्रपन आदिक विशिष्ट समृद्धि करा देनेके कारण हो रहे नामकर्मों का भी अतिरिक्त निरूपण करना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना, क्योंकि गणधरपन आदि होने के निमित्तकारण अन्य विद्यमान

हैं। गणधरपना तो श्रुतज्ञानावरणकर्म और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम की प्रकर्षता को हेतु पाकर हो जाता है तथा चक्रवर्तिपन, नारायणपन आदि विशेष विभूतियों का निमित्त-कारण तो विशिष्ट जातिवाले उच्चगोत्र कर्म का उदय है। उच्चगोत्र के लाखों, करोडों, संख्याते भेद हैं। पुनः यहाँ कोई कटाक्ष करे कि वो उच्चगोत्र कर्म हो तीर्थंकरपन का भी कारण हो जायगा, व्यर्थ में तीर्थंकरत्व नामकर्म क्यों माना जा रहा हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना, कारण कि अर्हन्तपन का निमित्तकारण यदि उस उच्चगोत्र कर्म को ही माना जायगा तब तो गणधर महाराज के भी उस अर्हन्तपने का प्रसंग आ जावेगा, तथा उच्चैर्गोत्र कर्म के उदय को धार रहे चक्री, नारायण, आदि के भी तीर्थंकर हो जाने का प्रसंग आ जावेगा किन्तु वह तीर्थंकरपना गणधर, चक्री आदि के संगत नहीं हैं। तिस कारण उस तीर्थंकरपन का निमित्तकारण कोई भिन्न पदार्थ ही होना चाहिये जो अर्हन्तपने का उच्चगोत्र से न्यारा असाधारण कारण है वही तीर्थंकर नामकर्म है। अर्थात् दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं को भावनेवाले जीवों के अर्हन्तपना प्राप्त होता है, उसका कारण तीर्थंकर नामकर्म ही होना चाहिये। अतः तीर्थंकरत्व कर्म का पृथक् ग्रहण किया है। यदि यहाँ कोई यों शंका करे कि चार घाति कर्मों के क्षय को तीर्थंकरपन का कारण मान लिया जाय, उक्त दोष का निवारण हो जायगा। आचार्य कहते हैं कि उसको यह शंका नहीं करनो चाहिये, क्योंकि मूक केवली, सामान्य केवली, अंतकृत् केवली, आदि के भी घातिकर्मों का क्षय विद्यमान है किन्तु उनके अर्हन्तपन नहीं है, अतः उस तीर्थंकरपन का कारण वह घाति-कर्मक्षय नहीं हो सकता हैं, जिस तीर्थंकरत्व कर्म का फल तीन छत्र, प्रकृष्ट दिव्यध्वनि, भामण्डल, आदिक परमविभूतियां हैं इन विभूतियों का उस घातिकर्मक्षय से नहीं सम्भव होनेका निश्चय है। कर्मो का क्षय मोक्ष को तो कर देगा किन्तु सांसारिक परम विभूतियों का नहीं उपजा सकता हैं। लौकिक और पारमार्थिक विभूतियों द्वारा धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करना तीर्थंकर नामकर्म का फल है वह उच्चगोत्र या अन्य सातावेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियों तथा कर्मक्षय करके साध्य नहीं है, इसके लिये परपदार्थ तीर्थंकरत्व जो कि कार्मण-वर्गणा स्वरूप पुद्गल से बना है, उस कर्म की परम आवश्यकता है।

ननु च विहायोगत्यंतानां प्रत्येकशरीरादिभिरेकवाक्यत्वाभावः कुत इति चेत्, पूर्वेषां प्रतिपक्षविरहादेकवाक्यत्वाभावः। प्रधानत्वात्तीर्थंकरत्वस्य पृथग्ग्रहणं, अन्यत्वाच्च प्रत्येकशरीरादिभिरेकवाक्यत्वाभावः प्रत्येतव्यः।

यहाँ पुनः किसी का प्रश्न है कि गति, जाति आदि सूत्र में "विहायोगति"

पर्यन्त एक वाक्य है। दूसरा "सेतराणि" तक वाक्य है उसके आगे तीर्थंकरत्व पद न्यारा पड़ा हुआ है जिस प्रकार विहायोगति पर्यन्त तक का द्वंद्वसमास किया गया है उसीके समान विहायोगतिपर्यन्त पदों का प्रत्येकशरीर, त्रस, आदि पदों के साथ भी एकवाक्यपन का अभाव भला किस कारण से किया गया है? पूरे सूत्र का द्वंद्वसमास कर देना चाहिये था, तीन चार अक्षरों का अधिक निरूपण नहीं कर देना पडने से लाघव हो जाता, ऐसा प्रश्न उतरने पर तो आचार्य कहते हैं कि पूर्व में कहे गये गति आदिक विहायोगति पर्यन्तों के उलटे हो रहे प्रतिपक्ष कर्मों का अभाव है। इमें प्रत्येकशरीर आदि दश कर्मों के प्रतिपक्षी कर्मों का भी सेतर पद से ग्रहण करना है अतः प्रतिपक्षरहित और प्रतिपक्षसहित पदार्थों के एकवाक्य हो जाने का अभाव है। तीर्थंकरत्व का जो पृथक् ग्रहण किया गया है उसका कारण यह है कि सम्पूर्ण शुभ कर्मों में तीर्थंकरत्व प्रकृति प्रधान है। दूसरी बात यह भी है कि तीर्थंकरपना संसार के अन्त में होने वाला है, जिस जीव के उस ही भव से मोक्ष हो जाने वाली है उसी के तेरहवें, चौदहवें, गुणस्थानों में तीर्थंकरत्व प्रकृति का उदय होता है तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव तो उसी भव में या दो, तीन भव पूर्व भी हो जाता है। अन्तः कोटाकोटी सागर की स्थिति पड़ती हैं। तेरहवें गुणस्थान में उदीरणा उदय होता है। इसकारण भिन्न होने से प्रत्येक शरीर आदि के साथ पूरे सूत्र का एकवाक्यपना नहीं किया गया समझ लेना चाहिये, न्यारी विभक्ति वाले तीन पद करने पडे।

प्राधान्यं सर्वनामेभ्यः शतेभ्यः शुद्धिजन्मनः।
बोध्यं तीर्थंकरत्वस्य भवांते फलदायिनः ॥ १ ॥

नामकर्म की सैकडों सम्पूर्ण उत्तरोत्तरप्रकृतियों से उस तीर्थंकरत्व प्रकृति की प्रधानता है जो कि दर्शनविशुद्धि आदिक सोलहकारण भावनाओं से उपजती है या आत्मीय सर्वांग विशुद्धि को जन्म देती है, तथा निकट संसारी जीव को संसारपरिभ्रमण के अन्त में अर्हंतपना शुभफल को देने की टेव रखती है इसकारण सांसारिक और पारमार्थिक सभी पुण्यकर्मों में तीर्थंकरत्व नामकर्म प्रधान है।

गोत्रोत्तरप्रकृतिबंधभेदप्रकाशनार्थमाह—

अब सातवें गोत्र प्रकृति बंध के उत्तर भेदों का प्रकाश करने के लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को स्पष्ट कह रहे हैं।

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

सन्तान क्रम से चले आ रहे लोकमान्य ऊंचे कुलों में जन्म कराने वाला उच्च गोत्र और सन्तान क्रम से चले आ रहे नीचाचरणवाले नीचकुलों में जन्म करानेवाला नीच-गोत्र यों गोत्रकर्म की दो उत्तरप्रकृतियां हैं।

गोत्रं द्विविधमुच्चैर्नीचैरिति विशेषणात्। यस्योदयात् लोके पूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्र, गर्हितेषु यत्कृतं तन्नीचैर्गोत्रं।

ऊंचा और नीचा इस प्रकार विशेषण लग जाने से गोत्रकर्म के दो उत्तर प्रकार हो जाते हैं जिस पौद्गलिक कर्म के उदय से लोक में पूजे जा रहे कुलों में जीव का जन्म होता है वह ऊंचा गोत्रकर्म हैं तथा लोकनिन्दित कुलों में जीव जिस के द्वारा किया गया जन्म लेता हैं वह नीच गोत्रकर्म है।

कुतस्तदेवंविधं सिद्धमित्याह—

कोई तर्कशाली शिष्य प्रश्न उठाता है कि किस युक्ति या प्रमाण से वह गोत्र-कर्म इसप्रकार पूजित या निन्दित कुलों में जन्म करानेवाला दो प्रकार का सिद्ध होता है? बताओ। युक्ति की कसौटी पर कसे विना कोई भी सिद्धान्तसुवर्ण परीक्षोत्तीर्ण नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार निर्णय करने की अभिलाषा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधान वचन कहते हैं।

उच्चैर्नीचैश्च गोत्रं स्याद्द्विभेदं देहिनामिह,
तथा संशब्दनस्यान्यहेतुहीनस्य सिद्धितः ॥ १ ॥

इस जगत् में शरीरधारी जीवों के गोत्रकर्म (पक्ष) उच्चगोत्र और नीचगोत्र या दो भेद वाला लगा हुआ है (साध्य) तिस प्रकार ऊंचे नीचे पन के भलेप्रकार वखाने जाने के अन्य हेतुओं की हीनता की सिद्धि हो रही होने से (हेतु)। अर्थात् ऊंचा आचरण और नीचा आचरण इस व्यवहार की अतीन्द्रिय गोत्रकर्म के साथ अन्यथानुपपत्ति है। अतः अवि-नाभावी हेतु से अतीन्द्रिय पौद्गलिक गोत्र कर्म की सिद्धि हो जाती है। अन्य धन, उम्र, विद्या आदि को उक्त व्यवहार का हेतु मानने पर व्यभिचार दोष आता है।

तथांतरायोत्तरप्रकृतिबंधावबोधनार्थमाहः—

जिसप्रकार उक्त सात मूल प्रकृतियों के बन्ध की उत्तरभेदगणना की गयी है

उसी प्रकार अब आठवें अन्तरायप्रकृति बंध के उत्तर भेदों को समझाने के लिये सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥

दान देने का विघ्न करनेवाला दानांतराय, लाभ का अन्तराय डालनेवाला लाभान्तराय, भोग का विघ्न करनेवाला भोगान्तराय, और उपभोग को बिगाडनेवाला उपभोगान्तराय, एवं वीर्य यानी सोत्साह पुरुषार्थ का अन्तराय करनेवाला वीर्यान्तराय यों पांच प्रकार का अन्तराय कर्म है।

दानादीनामन्तरायापेक्षयार्थव्यतिरेकनिर्देशः, अन्तराय इत्यनुवर्तनात्। दानादिपरिणामव्याघातहेतुत्वात्तद्व्यपदेशः।

इस सूत्र में दान आदि कृत्यों के विघ्नस्वरूप अन्तराय की अपेक्षा करके दान आदि पदार्थों के षष्ठी विभक्ति अनुसार भेद का निर्देश (कथन) किया गया है। "आद्यो-ज्ञान" इत्यादि सूत्र से यहाँ अन्तराय इस पद की अनुवृत्ति कर ली जाती है। दान देना, लाभ प्राप्ति करना, आदि परिणामों के नाश कर देने का कारण होने से उन कर्मों का दानान्तराय, लाभान्तराय आदि शब्दों द्वारा निरूपण कर दिया जाता हैं, तभी तो देने की इच्छा रखता हुआ भी नहीं दे पाता है। लाभ प्राप्त करना चाहता हुआ भी नहीं ले पाता है, भोग भोगना अभीष्ट करता हुआ भी नहीं भोग पाता है, उपभोग करने की तीव्र वाञ्छा करता हुआ भी उपभोग नहीं कर सकता है। जानना, क्रिया करना आदि में अंतरंग से उत्साह करना चाहता हुआ भी सोत्साह नहीं हो पाता है। आत्मा के वीर्य गुण या उसकी दान आदि पर्यायों को बिगाडने वाला यह अन्तराय कर्म है। आत्मा के समान अन्य पुद्गल आकाश, कालाणुयें, धर्म, अधर्म द्रव्यों में भी वीर्यगुण है। सामर्थ्य के विना कोई भी द्रव्य किसी भी कार्य को नहीं कर सकता है मात्र जीव द्रव्य के वीर्य गुण को मंद, मंदतर, मंदतम स्वरूप से विघात करने वाला यह प्रकरणप्राप्त अन्तराय कर्म है।

भोगोपभोगयोरविशेष इति चेन्न, गंधाविशयनादिभेदतस्तद्भेदसिद्धेः। कुतस्ते दानाद्यन्तरायाः प्रसिद्धा इत्याहः—

यहाँ कोई शंकाकार अपने मत को कह रहा है कि भोग और उपभोग में कोई अन्तर नहीं है। सुख को अनुभव कराने का निमित्तकारणपना दोनों में एकसा है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। सुगंध, माला, स्नान करना, खाना, पीना, आदिक एकबार भोगकर त्यागने योग्य पदार्थों में भोग का व्यवहार है और पलंग, स्त्री, हाथी, घोडे, रथ, आदि में उपभोग करने का व्यवहार है यों गंध आदि और शयन आदि भेदों से उन भोग और उपभोग में स्पष्ट रूप से भेद की सिद्धि हो रही है। यहाँ कोई युक्तिवादी तर्क उठाता है कि किस प्रमाण से वे दान आदि में विघ्न डालने वाले दानान्तराय आदि पांच कर्म सिद्ध हो रहे हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अगली वार्तिक को कह रहे हैं।

दानादीनां तु पंचानामंतरायाः प्रसूत्रिताः।
पंच दानादिविघ्नस्य तत्कार्यस्य विशेषतः॥ १॥

दान, लाभ, आदि पांच सत्क्रियाओं के अन्तराय हो रहे पांच कर्म तो उमास्वामी महाराज ने इस सूत्र में प्रमाणसिद्ध हो रहे ही गूंथे हैं (प्रतिज्ञा) उनके पांच दान आदि में विघ्न कर देना स्वरूपकार्यकी विशेषताओं की उपलब्धि होने से (हेतु)। अर्थात् दानादि के यथोचित कारण मिलाने पर भी विघ्न पड जाते हैं। अनेक स्थलों पर बहिरंग कारण कोई दीखते नहीं हैं। अतः विघ्न डालने वाले अंतरंग कर्मों की अनुमान प्रमाण से सिद्धि हो जाती है।

उक्तमेव प्रकृतिबंधप्रपंचमुपसंहरन्नाहः—

पूर्व में कहे जा चुके ही प्रकृतिबंध के विस्तार का उपसंहार करते हुये, ग्रन्थकार अगली वार्तिक को कह रहे हैं।

एवं प्रकृतिभिर्बंधः कर्मभिर्विनिवेदितः।
आद्यः प्रकृतिबंधोत्र जीवस्यानेकधा स्थितः॥ २॥

इस प्रकार इस आठवें अध्याय के आदि भाग में ज्ञान आदि का आवरण करने वाली ज्ञानावरण आदि कर्मप्रकृतियों के साथ आत्मा का बंध हो जाना सूत्रकार ने विशेषरूपेण निवेदन कर दिया है। इन चार बंधों में आदि का प्रकृतिबंध तो जीव के अनेक प्रकार हो रहा व्यवस्थित है। जीव के साथ परतन्त्रता को करनेवाले विजातीय द्रव्य का बंध हो रहा युक्तिसिद्ध है। अनेक दार्शनिक इस कर्मसिद्धान्त को मानने के लिये सहर्ष तैयार हैं। गीताकार ने इसे अभीष्ट किया है। योगदर्शन तो कर्म, पंच महाव्रत, ध्यान आदि अनेक मन्तव्यों को स्वीकार करता है।

तदुत्तरप्रकृतिवदुत्तरोत्तरप्रकृतीनामपि प्रकृतिबंधव्यपदेशात् सामान्यतो विशेषतश्च प्रकृतिबंधः स्थित्यादिबंधापेक्षयान्य एवानेकधोक्तः । तथा च—

उस मूल प्रकृतिबंध की उत्तरप्रकृतियों के बंध समान उत्तरोत्तर प्रकृतियों का बंध भी प्रकृतिबन्ध शब्द करके ही कह दिया गया है क्योंकि सामान्यरूप से जो मूलप्रकृतिबंध हैं, वही विशेषरूप से उत्तरप्रकृतिबंध और उत्तरोत्तरप्रकृतिबंध हैं। विशेषों से रहित सामान्य कोई पदार्थ नहीं है। यह पहिला प्रकृतिबंध तो स्थितिबंध आदि की अपेक्षा करके अन्य ही है जो कि उक्त सूत्रों द्वारा कह दिया गया है। समान जातिवाले कार्योंको करनेकी अपेक्षा से ज्ञानावरण कर्म और नामकर्म के असंख्यात भेद हैं जीवों में ज्ञान के असंख्यात प्रकार पाये जाते हैं। इसी प्रकार नामकर्म के भी असंख्यात भेद हैं। नामकर्म के द्वारा सजातीय असंख्यात प्रकार के कार्य हो रहे समझ में आ जाते हैं। हाँ, अन्य छह कर्मों के संख्यात भेद हैं उनके अरबों, खरबों, संख्यात जाति वाले, अनेक भेद प्रतीत हो रहे हैं। तिस ही प्रकार से व्यवस्थित हो रहे सिद्धान्त को ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा कहे देते हैं।

यावतामनुभवोस्तु फलानां, दृष्टहेतुघटनाच्च जनानां।
तावतीह गणना प्रकृतीस्ताः, कर्मणामनुमिनोतु महात्मा ॥ २ ॥

देखे जा रहे हेतुओं की घटना से जितने भी फल यानी कार्यों के हो जाने का मनुष्यों को अनुभव हो रहा है यहां उतनी ही कर्मों की उन प्रकृतियों का महात्मा, पण्डित, अनुमान कर लो। अर्थात् कर्मों की उत्तरोत्तर प्रकृतियां अनेकानेक हैं, जितने कार्यों का अनुभव हो रहा है उतने अतीन्द्रिय कारण हो रहे कर्मों का अनुमान सुलभता से कर लिया जाता है। शेष कर्मों को आगम से जान लिया जाय। "दृष्टहेत्वघटनात्" ऐसा पाठ सुन्दर दीखता है, देखे जा रहे हेतुओं से जो कार्य बन रहे हैं उनके कारण वे हैं। छत्र से छाया हो जाती है अग्नि से धुआं उपज जाता है किन्तु जहां देखे जा रहे हेतुओं से कार्य घटित नहीं हो पाता हैं दृष्टकारणों का व्यभिचार दोष दीखता है, पढने में परिश्रम करने वाले फेल हो जाते हैं। औषधि करते हुये भी रोग बढ जाता है, धर्म करते हुये भी क्लेश उठा रहे हैं, कतिपय पापी जीव आनन्द (मौज) कर रहे हैं, इस प्रकार दृष्टहेतुओं से घटित नहीं होने वाले जितने भी कार्यों का अनुभव हो रहा है उतनी संख्यावाली कर्मप्रकृतियों की गिनती कर ली जाय, विस्तररुचिवाले शिष्यों के लिये लम्बा, चौडा क्षेत्र पडा हुआ है। युक्तियों का भी टोटा नहीं है।

इति अष्टमाध्यायस्य प्रथममान्हिकम् ।

आठवें अध्याय का श्री विद्यानन्द स्वामी की ग्रन्थरचना में इस प्रकार प्रथम आन्हिक यानी प्रकरणसमूह समाप्त हुआ ।

जन्मत ही जिनकी शमसुखछवि, वीतरागविज्ञानमयी,
सहस नेत्र से निर्निमेष लखि हुआ इन्द्र भी तृप्त नहीं ।
ऐसे इन्द्र असंख्याते जिन के शरणागत खड़े रहें,
वे वरद महावीर हमारे कर्मपटल का नाश करें ।। १ ।।

जम्बूद्वीप पलटने की सामर्थ्य धरे जिन भक्तिमनाः,
असंख्यात देवों से युत सौधर्म दण्डधर भृत्य बना ।
ऐसे इन्द्र असंख्यातों से जिनकी शक्ति अनन्तगुणी,
हैं शरण्य श्रीपार्श्व हमारे तीन भुवन के शिरोमणी ।। २ ।।

—*—*—*—*—*—

दृढसामर्थ्ययुक्तानि कर्माणि निचखान यः
स्वानन्तपुरुषार्थेन तस्मै श्रीश्रेयसे नमः ।। १ ।।

श्री उमास्वामी महाराज प्रकृतिबंध का निरूपण कर अब स्थितिबंधको अग्रिम सूत्र द्वारा कहते हैं ।

आदितस्तिसृणामंतरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः ।।१४।।

इस अध्याय के चौथे सूत्र अनुसार आदि में गिनाई गई ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और वेदनीय इन तीन प्रकृतियों की तथा आठवें अन्तरायकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटीकोटी सागर प्रमाण है। भावार्थ–जैन सिद्धान्त में संख्यामान के इक्कीस भेद हैं। सबसे बडी उत्कृष्ट अनन्तानन्त नाम की इक्कीसवीं संख्या को धार रहे केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद भी किसी नियत संख्या को लिये हुये हैं। यद्यपि केवलज्ञान के अविभाग-प्रतिच्छेदों में दश, सौ, पांचसौ मिला देने से अन्तिम इक्कीसवीं संख्या की मर्यादा का भी उल्लंघन हो जाता है। तथापि जगत् में उस बढी हुई संख्या का अधिकारी कोई पदार्थ नहीं होने के कारण वह इक्कीसवीं संख्या ही सर्वोत्कृष्ट मानी गई है। जब संख्या को धारने वाला कोई पदार्थ ही नहीं है तो व्यर्थ में बक-भक करने से क्या लाभ है, बीसवें मध्यम

अनन्तानन्त में भी अनन्तस्थान ऐसे हैं कि जिन संख्याओं को धारने वाला कोई अधिकारी नहीं है, तो भी उनसे बडा केवलज्ञान है। अतः अनेक स्थानों का उल्लंघन कर केवलज्ञान को कहना पडा। इसी प्रकार असंख्यातासंख्यात, मध्यम युक्तानन्त, आदि संख्याओं में से अनेक संख्याओं के अधिकारी कोई पदार्थ जगत् में नहीं हैं। इस भारतवर्ष में करीब पचपन करोड मनुष्य बसते हैं, एक पैसे से प्रारम्भ कर तीन चार अरबों रुपये तक के वे यथायोग्य अधिकारी हैं। भिकारी से लेकर महाराजा पर्यन्त सभी परिग्रहवान् मनुष्य इन में आ गये, पैसे से प्रारम्भ कर अरबों तक की मध्यवर्ती रुपये, आने, पैसों, की ऐसी भी करोडों संख्यायें हैं जिनका कि कोई स्वामी यहां विद्यमान नहीं है, दो एक पैसा, आना, रुपया, कमती बढती के स्वामी हैं। संख्या करने योग्य संख्याओं से संख्याओं की गिनती अत्यधिक है अतः संख्या के संपूर्ण भेद विशेषों को झेलनेवाले सख्येयों का न मिलना आश्चर्यकर नहीं हैं। जैनसिद्धान्त में एक उपमाप्रमाण भी माना गया है उसके पल्य, सागर, सूची, आदि आठ भेद हैं। त्रिलोकसार ग्रन्थको "रोमहदं छक्केसजलोस्सेगे पणुवीस समपात्ति, संपादं करिय हिदे केसेहिं सागरुप्पत्ती" इस गाथा अनुसार सागर नाम की संख्या उपज जाती है। अतः सूत्रकार ने उपमाप्रमाण का लक्ष्यकर सागरोपम शब्द कहा हैं। कोटी को कोटी से गुणा करने पर एक के उपर चौदह बिन्दवाली दशनील नामक संख्या एक कोटाकोटी की समझी जाय। एक बार में बांध लिया गया ज्ञानावरण कर्म का स्पर्धक आबाधाकाल के पश्चात् उदय में आ रहा संता क्रमसे तीस कोटाकोटी सागर काल में अवश्य निशेष हो जायगा। उसका एक परमाणु भी आत्मा के साथ बंधा नहीं रह जायगा, भले ही फल दिये विना ही कर्मों को खिरना पडे, स्थितिका उत्कर्षण भी अपनी नियत उत्कृष्ट स्थिति से अधिक नहीं हो सकता है।

आदित इति वचनं मध्यांतनिवृत्यर्थं, तिसृणामिति वचनमवधारणार्थं, अंतरायस्य चेति क्रमभेदवचनं समानस्थितिप्रतिपत्त्यर्थं। उक्तपरिमाणं सागरोपमं। कोटीकोटय इति बहुत्वानुपपत्तिरिति चेन्न, राजपुरुषवत्तत्सिद्धेः। कोटीनां कोटयः कोटीकोटय इति।

सूत्र में आदि से यह जो वचन कहा गया है वह मध्य और अन्त का निवारण करने के लिये है, यानी मध्य की या अन्त की तीन प्रकृतियां नहीं पकड ली जाय इसके लिये "आदित" यह कहा गया है। तिस कारण आदि से ही प्रारम्भकर तीन प्रकृतियों का ग्रहण हो जाता है "तिसृणाम्" यों तीन को कहनेवाला वचन तो नियम करने के लिये है, तिस कारण आदि से दो, चार, पांच, का ग्रहण नहीं हो पाता है तीन ही का ग्रहण करना अभीष्ट

है। सूत्र में "अन्तरायस्य च" यों क्रम का भेद कर कथन करना तो समान स्थिति की ज्ञप्ति कराने के लिये है अर्थात् क्रम का भेद कर अन्तराय कर्म की स्थिति का निरूपण करना तो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और वेदनीय कर्मों के समान अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति भी तीस कोटा–कोटी सागर की है, यों समझाने के लिये है। अन्तराय के अतिरिक्त अन्य कर्मों की उत्कृष्टस्थिति ज्ञानावरण आदि तीन कर्मों की उत्कृष्टस्थिति के समान नहीं हैं। उपमा प्रमाण की लवणसमुद्र अनुसार सागर नाम की संख्या का परिमाण कहा जा चुका है। त्रिलोकसार,राजवार्तिक आदि ग्रन्थोंमें सागरोपम संख्याको स्पष्टरूपसे कहा जा चुका है। यहाँ कोई शंका कर रहा है कि कोटी कोटी यों वीप्सा में दो होनेपर "कोटीकोट्यौ" यों सूत्र में द्विवचन प्रयोग होना चाहिये "कोटीकोटयः" ऐसा बहुवचन प्रयोग करना बन नहीं सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि "राजपुरुषः" के समान षष्ठीतत्पुरुष समास करते हुये "कोटीकोटयः" बन गया है अर्थात् राज्ञः पुरुषः, राजा का पुरुष है यहां जैसे संबंध विवक्षा करने पर षष्ठीतत्पुरुष समास किया गया है उसी प्रकार "कोटीनां कोटयः" यों षष्ठी समास कर लिया जाय, करोडों के करोड यानी करोड गुणा करोड यह अर्थ षष्ठीसमास करने पर ही लब्ध होता है इस प्रकार "कोटी–कोटयः" शब्द व्याकरणमुद्रा से निर्दोष सिद्ध है।

पराभिधानं जघन्यस्थितिनिवृत्यर्थं। संज्ञिपंचेंद्रियपर्याप्तकस्य परास्थितिः, अन्येषामागमात्संप्रत्ययः। तद्यथा एकेंद्रियस्य पर्याप्तकस्यैकसागरोपमा सप्तभागास्त्रयः,द्वींद्रियस्य पंचविंशतिसागरोपमाणां सप्तभागास्त्रयः, त्रीन्द्रियस्य पंचाशत्सागरोपमाणां चतुरिंद्रियस्य सागरोपमशतस्य, असंज्ञिपंचेन्द्रियस्य सागरोपमसहस्रस्य, अपर्याप्तसंज्ञिपंचेन्द्रियस्यांतः सागरोपमकोटीकोटयः।एकद्वित्रिचतुःपंचेंद्रियासंज्ञिनां त एव भागाः पल्योपमसंख्येयभागोना इति परमागमप्रवाहः।

इस सूत्र में उत्कृष्ट अर्थ को कहने वाले परा शब्द का ग्रहण करना तो जघन्यस्थिति की निवृत्ति के लिये है यानी यह उत्कृष्टस्थिति है जघन्यस्थिति नहीं है। संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के ही उक्त चार कर्मों की यह उत्कृष्ट स्थिति पडती है, अन्य एकेन्द्रिय आदि जीवों करके बांधे जा रहे ज्ञानावरण आदि चार कर्मों की उत्कृष्टस्थिति का आगम से भले प्रकार निर्णय कर लिया जाय, उसी को ग्रन्थकार स्पष्ट करके इस प्रकार दिखला रहे हैं कि एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव के बांध रहे ज्ञानावरण आदि चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम के तीन बटे सात ($\frac{3}{7}$) भाग है, यानी एकसागर के सातभागों में तीन भाग प्रमाण है। दो इन्द्रियवाले पर्याप्त जीवों के बांध रहे ज्ञानावरणादि चार कर्मों की उत्कृष्ट

स्थिति पच्चीस सागरोपम के तीन बटे सात भाग हैं, तीन इन्द्रिय वाले पर्याप्त जीव के बंध रहे ज्ञानावरणादि चार कर्मों की उत्कृष्टस्थिति पचास सागरोपम के सात भागों में तीन भाग प्रमाण हैं। चार इन्द्रियवाले पर्याप्तजीवों के बंध रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तो सौ सागरोपम के सात भागों में तीन भाग प्रमाण है। अर्थात् तीन सौ बटे सात सागरोपम है ४२३ सागर है। मनरहित असंज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव के बंध रहे ज्ञानावरणादि चार कर्मों में हजार सागरोपम के तीन बटे सात भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति पडेगी। संज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्त के तीस कोटाकोटी सागर की स्थिति सूत्र में ही कह दी है। हाँ लब्ध्यपर्याप्तक संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव के उक्त कर्मों की उत्कृष्टस्थिति अंतः कोटाकोटी सागर प्रमाण पडेगी। करोड से ऊपर और करोडकरोडों यानी दश नील से नीचे की संख्या को अन्तःकोटाकोटी कहते हैं। अपर्याप्त हो रहे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय जीवों के वे ही एक, पचीस, पचास, सौ और हजार सागरों के तीन बटे सात भाग प्रमाण स्थितियां पड़ेगी। किन्तु कर्मों की इन उत्कृष्ट स्थितियों से एकेंद्रिय के पल्योपम के असंख्यातमे भाग और द्वीद्रियादि के पल्य के संख्यातमें भाग प्रमाण असंख्याते वर्ष न्यून पडेगी। इस प्रकार गुरुपरिपाटी अनुसार चले आ रहे उत्कृष्ट सर्वज्ञोक्त आगम सिद्धान्त का प्रवाह बह रहा है। गोम्मटसार में इसका स्पष्ट निरूपण है।

कुतः परा स्थितिराख्यातप्रकृतीनामित्याहः—

इस सूत्र में कण्ठोक्त बखानी गयीं चार प्रकृतियों की यह तीस कोटाकोटी सागर उत्कृष्टस्थिति भला किस प्रमाण से सिद्ध समझी जाय? बताओ। यों किसीका तर्क प्रवर्तने पर ग्रन्थकार दो वार्तिकों द्वारा इस प्रकार समाधान कहते हैं।

आदितस्तिसृणां कर्मप्रकृतीनां परा स्थितिः।
अंतरायस्य च प्रोक्ता तत्फलस्य प्रकर्षतः॥ १॥
सागरोपमकोटीनां कोट्यस्त्रिंशत्तदन्यथ ।
तदभावे प्रमाणस्याभावात्सा केन बाध्यते॥ २॥

इस सूत्र में आ लेकर तीन कर्म प्रकृतियों की और अन्तराय कर्म की तीस कोटाकोटी सागर उत्कृष्टस्थिति बहुत अच्छी कह दी गयी है (प्रतिज्ञा) क्योंकि अधिक से

अधिक प्रकर्षता से उन कर्मों के फल की तीस कोटाकोटी सागरोपम काल तक उपलब्धि होती है (हेतु:) दूसरे प्रकारों से इससे न्यून या अधिक उत्कृष्ट स्थिति मानने पर उत्कृष्टता करके तीस कोटाकोटी सागर तक फल हो नहीं सकता है अतः उस स्थिति का अभाव मानने में प्रमाण का अभाव है (अन्यथानुपपत्ति:)। यों यह युक्तियों से सिद्ध हो रही उत्कृष्टस्थिति भला किस प्रमाण करके बांधी जा सकती है ? अर्थात् बाधकप्रमाणों का असंभव होने से सूत्रोक्त सिद्धान्त युक्त है।

अथ मोहनीयस्य परां स्थितिमुपदर्शयन्नाह: —

अव इसके अनन्तर क्रमप्राप्त मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का प्रदर्शन करा रहे सूत्रकार महाराज इस अगले सूत्र को कह रहे हैं।

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥

चौथे मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तो सत्तर कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

सागरोपमकोटीकोटच: परा स्थितिरित्यनुवर्तते। इयमपि परा स्थिति: संज्ञिपंचेंद्रियस्य पर्याप्तकस्य, एकद्वित्रिचतुरिंद्रियाणामेकपंचविंशतिपंचाशच्छतसागरोपमानि यथासंख्यं, तेषामेवापर्याप्तकानामेकेन्द्रियादीनां पल्योपमासंख्येयभागोना, सैव पर्याप्तासंज्ञिपंचेन्द्रियस्य सागरोपमसहस्रं, तस्यैवापर्याप्तकस्य सागरोपमसहस्रं पल्योपमसंख्येयभागोनं, संज्ञिनोपर्याप्तकस्यांत:सागरोपमकोटीकोटच इति परमागमार्थ:।

इस सूत्र का अर्थ करने में पूर्व सूत्र के "सागरोपमकोटीकोटच:" और "परा स्थिति:" इन पदों की अनुवृत्ति हो रही हैं। अतः उन पदों को जोडकर सूत्र का अर्थ कर लिया जाय। मोहनीय कर्म की यह उत्कृष्टस्थिति भी संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीव के ही बंध रहे मोहनीय कर्म में पडती है। हां, एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चौइन्द्रिय जीवों के तो बंध रहे मोहनीय कर्म में यथासंख्य रूप से एक, पच्चीस, पचास, सौ सागरोपम की पडेगी। और उन ही अपर्याप्तक हो रहे एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय, आदि जीवों के तो पर्याप्त की एक, पच्चीस आदि सागर स्थिति में से पल्योपम के असंख्यात मे भाग और संख्यात में भाग कमती उत्कृष्टस्थिति पडेगी। वही मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति असंज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीव के हजार सागरोपम पडेगी। और उस ही असंज्ञो पंचेन्द्रिय के लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था में मोहनीय कर्म की उत्कृष्टस्थिति हजार सागरोपम से पल्योपम के संख्यात में

भाग न्यून होकर पडेगी। हाँ, संज्ञीलब्ध्यपर्याप्तक के तो अन्त:कोटाकोटी सागरोपम उत्कृष्ट-स्थिति पड़ेगी इस प्रकार परमागम का निर्णीत अर्थ है। गोम्मटसार-कर्मकांड में "एयं पण कदि पण्णं सयं सहस्सं च, मिच्छ वा बंधो, इगिविगलाणं अवरं पल्लासंखूण संखूणं।" इत्यादि गाथाओं अनुसार भी उक्त अर्थ का ही प्रतिपादन होता है।

अथ नामगोत्रयोः का परा स्थितिरित्याह।

मोहनीय के अनन्तर अब नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति क्या है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अगले सूत्र को कह रहे हैं।

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥ १६ ॥

नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तो बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है। किसी भी जीव के एक बार में बंध गये नाम या गोत्रकर्म अधिक से अधिक बीस कोटा कोटी सागर तक ठहर सकेंगे।

सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिरित्यनुवर्तते। इयमपि परा संज्ञिनः, पर्याप्तकस्यैकेन्द्रियस्य एकसागरोपमस्य सप्तभागौ द्वौ, द्वीन्द्रियस्य पंचविंशतेः सागरोपमाणां, त्रींद्रियस्य पंचाशतः, चतुरिन्द्रियस्य शतस्य, असंज्ञिनः पञ्चेन्द्रियस्य सहस्रस्य, संज्ञिनो पर्याप्तकस्यांतःसागरोपमकोटीकोटयः, एकेन्द्रियादेः सैव स्थितिः पल्योपमासंख्येयभागोना।

पूर्वसूत्र के समान इस सूत्र में भी "सागरोपमकोटीकोटयः" और "परा-स्थितिः" इन पदों की अनुवृत्ति कर ली जाती है "सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं" सूत्रों में नहीं देखे गये पद अन्य सूत्रों से अनुवृत्ति द्वारा लगा दिये जाते हैं। यह नाम, गोत्र कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति भी मनवाले पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवके ही बंधती है। एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव के तो नामगोत्रों की उत्कृष्टस्थिति एक सागरोपम के दो सातवें भाग है। द्विइन्द्रिय पर्याप्त जीव के बंध रहे नाम गोत्र कर्मों की उत्कृष्टस्थिति पच्चीस सागरोपम के दो बटे सात भाग है, क्योंकि बीस और सत्तर में दो बटे सात का अन्तर है। जैसे कि तीस और सत्तर में तीन और सात का रूपक है। तीन इन्द्रियवाले पर्याप्त जीव के बंध रहे नाम, गोत्र कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति पचास सागरोपम के सात भागों में से दो भाग प्रमाण १४$\frac{२}{७}$ पडेगी। चौइन्द्रिय पर्याप्त जीव के नामगोत्र कर्मों की स्थिति सौ सागर के सात भागों में दो भाग प्रमाण २८$\frac{४}{७}$ बंधेगी। असंज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्त जीव के नामगोत्रों की उत्कृष्ट स्थिति हजार सागर के दो बटे (गुणित) सात भाग प्रमाण पडेगी। हाँ, संज्ञी अपर्याप्त

जीव के नामगोत्रों की उत्कृष्ट स्थिति अन्तःकोटाकोटीसागरोपम बंधेगी। एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव के नाम–गोत्रों की जो उत्कृष्ट स्थिति है वही पल्योपम के असंख्यात में भाग परिमाण न्यून हो रही सन्ती एकेंद्रिय लब्धि अपर्याप्त के उत्कृष्ट रूप से पड जाती है। हाँ, द्विइन्द्रिय आदि पर्याप्त जीवों की जो उत्कृष्टस्थिति है वही पल्य के संख्यातवें भाग प्रमाण काल से न्यून हो रही सन्ती अपर्याप्त द्विइन्द्रिय आदि जीवों के बध्यमान नाम, गोत्रों की उत्कृष्टस्थिति पड जाती है।

कथं बाधवर्जितमेतत्सूत्रद्वयमित्याहः—

यहाँ कोई तर्कशील छात्र आक्षेप करता है कि "सप्ततिर्मोहनीयस्य" "विंशति-र्नामगोत्रयोः" ये दोनों सूत्र बाधाओं से रहित हैं यह किस प्रकार निर्णीत कर लिया जाय? आगमकथित अतीन्द्रिय सिद्धान्तों में बाधक प्रमाणों का असंभव दिखलाये बिना प्रामाणिकता नहीं आती है। इस प्रकार आक्षेप प्रवर्तते ही झट श्री विद्यानन्द स्वामी इस अगली वार्तिक को समाधानार्थ कह रहे हैं।

सप्ततिर्मोहनीयस्य विंशतिर्नामगोत्रयोः
इति सूत्रद्वयं बाधवर्जमेतेन वर्णितम्॥ १॥

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तरकोटाकोटी सागर हैं। नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटी सागर है। इस प्रकार उक्त दोनों सूत्रों का वाच्यार्थ भला बाधक प्रमाणों से रहित है, इस बात का तो "आदितस्त्रिसृणां" इस दो वार्तिकों के कथन करके ही वर्णन कर दिया गया है। अर्थात् उक्त नियत स्थितियों से दूसरे प्रकार स्थिति को सिद्ध करने वाले प्रमाण का अभाव है। "असंभवद्बाधकत्वात्" अतीन्द्रियार्थसिद्धिः कर ली जाती है।

ततोन्यथा स्थितेर्ग्राहकप्रमाणाभावेनैवेत्यर्थः।

इस वार्तिक में पड़े हुये एतेन शब्द का अर्थ इस प्रकार हैं कि तिस सूत्रोक्त सिद्धान्त से अतिरिक्त अन्य प्रकारों से कमती, बढती, स्थिति के ग्राहकप्रमाणों का अभाव है, इस युक्ति करके उक्त दोनों सूत्रोंका रहस्य उपपन्न हो जाता है।

अथायुषः कोत्कृष्टा स्थितिरित्याह—

इसके अनन्तर आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति क्या है? ऐसी जानने की इच्छा

प्रवर्तने पर सूत्रकार अब अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं ।

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥

आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तो केवल तेंतीस सागर काल प्रमाण है ।

पुनः सागरोपमग्रहणात् कोटीकोटिनिवृत्तिः, परास्थितिरित्यनुवर्तते । इयमपि परास्थितिः संज्ञिनः पर्याप्तकस्य । इतरेषां यथागमं । तद्यथा असंज्ञिनः पंचेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य पल्योपमासंख्येयभागा, शेषाणामुक्ता पूर्वकोटी । इयमपि तथैव बाधवर्जितेत्याहः—

इस सूत्र में सागरोपम शब्द का फिर दुबारा ग्रहण कर देने से अनुवृत्तिद्वारा चले आ रहे "कोटीकोटी" शब्द का निवारण हो जाता है, अतः केवल तेंतीस सागर की स्थिति समझी जाती है "परास्थितिः" इस शब्द की भी यहां अनुवृत्ति हो रही है अतः नरकायुष्य या देवायुष्य कर्म में उत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागर पडती है यह समझ लिया जाता है यह आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति भी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्य या तिर्यञ्च जीव के ही बन्धेगी, जोकि सर्वार्थसिद्धि या सप्तम नरक को जाने वाले हैं । सर्वार्थसिद्धि को मुनि, मनुष्य ही जाते हैं और सप्तमनरक को मनुष्य और मत्स्य तिर्यञ्च जाते हैं । अन्य एकेन्द्रिय आदि के बंध रहे आयुष्य कर्म की स्थितियों का परमागम अनुसार निर्णय कर लिया जाय उसी को कुछ स्पष्ट कर इस प्रकार दिखलाते हैं कि असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त हो रहे जीव करके बांधे जा रहे आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम काल के असंख्यातवें भाग है । असंज्ञी जीव मर कर पहिले नरक तक जाता है शेष देव, नारकी, द्विइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय आदि जीवों करके बांधे जा रहे आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति करोड पूर्व वर्षों की पडती हैं । कर्मभूमि के मनुष्य या तिर्यञ्चों की भुज्यमान आयुः इससे अधिक नहीं होती है । चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वाङ्ग काल होता है और चौरासी लाख पूर्वाङ्गों का एक पूर्व नाम का काल होता है । "पुव्वस दु परिमाणं सदरिं खलु कोडि सद-सहस्साइम्, छप्पण्णं च सहस्सा बोद्धव्वा वास कोडीणं" यह आयुः कर्म की उत्कृष्ट स्थिति भी उस ही प्रकार बाधाओं से रहित है जिस प्रकार कि उपरिकथित कर्मों की स्थिति निर्बाध है । इसी बात को ग्रन्थकार अगली वार्तिक में कह रहे हैं ।

तथायुषस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमसंख्यया ।
परमस्थितिनिर्णीतिरिति साकल्यतः स्मृता ॥ १ ॥

जिस ही प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मों की स्थिति का बाधकाभावों अनुसार युक्तियों करके निर्णय कर दिया है उस ही प्रकार आयुष्य कर्म की उपमाप्रमाण में कही गयी सागर नाम की संख्या करके तेतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति का निर्णय कर लिया जाय यों सम्पूर्ण रूप से आठों मूलकर्मों की सर्वज्ञभाषित और गुरुपरिपाटी अनुसार चली आ रही अतीन्द्रिय स्थिति का निरूपण किया जा चुका है।

कर्मणामष्टानामपि परास्थितिरिति शेषः—

इस कारिका में आठों भी कर्मों की उत्कृष्टस्थिति निर्णीत कर दी गयी है इस अर्थके वाचक पद शेष रह गये हैं। अतः इन पदों को जोडकर वार्तिक के पदों का अर्थसन्दर्भ लगा लेना चाहिये।

अथ वेदनीयस्य काऽपरास्थितिरित्याह।

कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति के बन्ध का निरूपण कर अब सूत्रकार जघन्य स्थिति का निरूपण करते हैं, प्रथम ही लाघव के लिये आनुपूर्वी का उल्लंघन कर स्वसंवेद्य फलवाले वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति क्या है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥

वेदनीय कर्म की जघन्यस्थिति तो बारह मुहूर्त है। दो घडी यानी अडतालीस मिनट काल को एक मुहूर्त कहते हैं।

सूक्ष्म सांपराये इति वाक्यशेषः। एतदेवाह—

इस सूत्र में "सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में यह स्थिति बंध पडता है" इतना वाक्य शेष रह गया है अतः सूत्र और शेष वाक्य का मिलाकर यों अर्थ कर लिया जाय कि दशवें गुणस्थान में बंध रहे वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की पड़ती है। इस ही बात को श्री विद्यानन्द आचार्य अगली वार्तिक द्वारा कह रहे हैं।

अधुना वेदनीयस्य मुहूर्ता द्वादश स्थितिः।
सामर्थ्यान्मध्यमा मध्येऽनेकधा संप्रतीयते ॥ १ ॥

कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण कर चुकनेपर अब इस समय वेदनीय

कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की कही जा रही है। अधुना के स्थानपर "अपरा" पाठ और भी अच्छा है। वेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागर कही गयी है, और जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की है। ऐसी दशा में विना कहे ही मात्र उक्त पदों के सामर्थ्य से यह बात भले प्रकार प्रतीत कर ली जाती है कि मध्य में पडे हुये बारह मुहूर्त से अधिक हो रहे एक, दो, तीन आदि समयों को आदि लेकर एक समय कम तीस कोटा कोटी सागर काल तक असंख्याती अनेक प्रकार की मध्यम स्थितियां हैं वेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति के समान जघन्य, मध्यम, स्थितियों की भी युक्तियों से सिद्धि कर ली जाय, बाधक प्रमाणों का असंभव होना यह हेतु सुबोध्य है। अतीन्द्रिय या गुप्त पदार्थों को "असंभवद्बाधकत्वात्" इस ही एक हेतु से साध लिया जाता है।

अथायुषोनंतरयोः कर्मणोः का जघन्या स्थितिरित्याह: —

अब इसके पश्चात् आयुष्य कर्म के अव्यवहित उत्तरवर्ती कहे गये नाम और गोत्र इन दो कर्मां की जघन्य स्थिति कितनी हैं? इस प्रकार बुभुत्सा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अगले सूत्र को कह रहें हैं।

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥

नाम और गोत्र कर्मों की जघन्य स्थिति तो आठ मुहूर्त है "सव्वठिदीणमुक्कस्सओदु उक्कस्ससंकिलेसेण, विवरीदेण जहण्णो आउगतिय वज्जियाणं तु" तीन आयुओं को छोडकर अन्य सभी कर्मों की जघन्य स्थिति तो सक्लेशरहित परिणामों से बंधती है अतः सबसे कमती मन्दकषाय को धार रहे दशवें गुणस्थान में ही जघन्य स्थिति पडेगी।

मुहूर्ता इत्यनुवर्तते अपरा स्थितिरिति च। सा च सूक्ष्मसांपराये विभाव्यते। तथाहि—

अपरा, स्थिति ये पद और मुहूर्ता यों इन तीन पदों की अनुवृत्ति कर ली जाती है तब उक्त सूत्रार्थ सुघटित हो जाता है। हाँ, वह नाम गोत्र कर्मों की जघन्य स्थिति सूक्ष्मसाँपराय नामक दशवें गुणस्थान में है यह विचार लिया जाता है। ग्रन्थकार इस सूत्रोक्त रहस्य का ही व्याख्यान कर अग्रिम वार्तिक में स्पष्टीकरण करते हैं।

सा नामगोत्रयोरष्टौ मुहूर्ता इति वर्तनात्।
यामादयो व्यवच्छिन्नाः कामं मध्येस्तु मध्यमा ॥ १ ॥

मुहूर्ता इस शब्द की अनुवृत्ति कर देनेसे नाम और गोत्र कर्म की वह जघन्य

स्थिति आठ मुहूर्त की है यह सूत्र में कहा गया प्रतीत हो जाता है। मुहूर्त कह देने से पहर, दिन, वर्ष, घडी आदि का व्यवच्छेद कर दिया गया है। हां, आठ मुहूर्त से एक आदि समय अधिक बीस कोटाकोटीसागर तक मध्य में संभव रहीं प्रहर दिवस आदि असंख्याती मध्यमस्थितियां भले ही बनी रहीं, वे हमें इष्ट हैं। जघन्य और उत्कृष्ट स्थितियों का निरूपण कर चुकने पर मध्यम स्थितियां तो यथेच्छ निरूपित हो ही जाती हैं।

अथोक्तेभ्योऽन्येषां कर्मणां का निकृष्टा स्थितिरित्याह:—

अब कहे जा चुके वेदनीय, नाम, गोत्र, कर्मों से अन्य शेष रहे पांच कर्मों की जघन्य स्थिति क्या है? इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

शेषाणामंतर्मुहूर्ता ॥ २० ॥

शेष में बच रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, मोहनीय और आयुष्य इन पांच कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। आवली से ऊपर और मुहूर्त से नीचे के काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं।

अपरा स्थितिरित्यनुवर्तते। शेषाणि ज्ञानदर्शनावरणान्तरायमोहनीयायूंषि। तत्र ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां सूक्ष्मसांपराये, मोहनीयस्यानिवृत्तिबादरसांपराये, आयुषः संख्येयवर्षायुषतिर्यग्मनुष्येषु।

अपरा और स्थिति इन दो शब्दों की यहां अनुवृत्ति कर ली जाती है। उक्त तीन कर्मों से शेष बच रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, मोहनीय और आयुः ये पांच कर्म हैं। तिनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अन्तराय कर्मों की तो जघन्य स्थिति सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में सम्भवती हैं और मोहनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तवाली नवमे अनिवृत्तिबादरसांपराय नामक गुणस्थान में पडती है। दशवें गुणस्थान में मोहनीय का बंध ही नहीं है। हाँ, आयुकर्म की जघन्य स्थिति तो संख्यात वर्षों की आयुवाले तिर्यञ्च, मनुष्यों के पड सकती है। वे लब्ध्यपर्याप्तक जीव जन्म धारने की अवस्था में श्वास के अठारहवें भाग कालतक जीवित रहते हैं।

सर्व कर्मणां स्थितिबंधमुपसंहरन्नाह।

स्थितिबंध की समाप्ति करते हुये अब सम्पूर्ण कर्म के स्थितिबन्ध का उप

संहार कर रहे ग्रन्थकार इन अग्रिम वार्तिकों को कहते हैं ।

शेषाणां कर्मणामंतमुहूर्ता चेति कात्स्न्र्यतः ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टा स्थितिर्या प्रतिपादितः ॥ १ ॥
तया विशेषितबंधः कर्मभिः स्वयमाहृतैः ।
स्थितिबंधोवबोद्धव्यस्तत्प्राधान्यविवक्षया ॥ २ ॥
स्थित्या केवलया बंधस्तद्वच्छून्यैर्न युज्यते ।
तद्वदाश्रितया त्वस्ति भूमिभूधरयोरिव ॥ ३ ॥
स्थितिशून्यानि कर्माणि निरन्वयविनाशतः ।
प्रदीपादिवदित्येता स्थितेः सिद्धानि धार्यते ॥ ४ ॥

शेष पांच कर्मों की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त है । यों उक्त सात सूत्रों द्वारा आठ कर्मों की परिपूर्णरूप से जो जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट स्थितियों का प्रतिपादन किया गया है उन स्थितियों से विशेषतया अनुरंजित हो रहे और स्वयं योगों द्वारा आहार प्राप्त हो रहे कर्मों के साथ आत्मा का स्थितिबंध हो रहा है । यहां प्रकरण में उस स्थिति के प्रधानपन की विवक्षा करके स्थितिबंध समझ लेना चाहिये । यों तो आस्रव और चारों बन्ध होने का एक ही समय है किन्तु कषायों के स्थितिबंधाध्यवसायस्थानों अनुसार कर्मों में स्थिति पड़ जाना समझा दिया गया है । जीव के योगों और कषायों अनुसार प्रकृतिबंध तथा स्थितिबंध साथ ही होते हैं केवल स्थिति के साथ ही बंध नहीं होता है और उसीके समान स्थिति से शून्य हो रहे कर्मों के साथ भी बंध होना युक्त नहीं है । हां, उस स्थिति वाले कर्मों के आश्रित हो रही स्थिति के साथ बंध तो है जैसे कि भूमि यानी पृथ्वी और भूमिधर पर्वत का आश्रयआश्रयीभाव है, भावार्थ–भूमि आश्रित है और पर्वत आधार है । यहां देखी जा रही भूमि के नीचे बहुत स्थानोंपर कंकड, पत्थर के पहाड मिलते हैं । भूमि को पहाड़ डाटे भी रहते हैं जिससे कि प्रायः भूकम्प नहीं हो पाता है । अथवा "न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः" प्रकृतिरहित न केवल प्रत्यय बोला जाता है और प्रत्यय से रहित कोरी प्रकृति भी नहीं बोली जा सकती हैं । उपचार से भले ही घट, पट, सु, औ, जस्, भू, पच्, तिप्, तस् आदि को बोल लो उसका कोई अर्थ नहीं समझा जाता है । उसी प्रकार कर्मों से रहित केवल स्थिति का या स्थिति से रीते केवल कर्मों का बंध होना उचित

नहीं है। ग्यारहवे, बारहवे और तेरहवे गुणस्थानों में जो सातावेदनीय का बंध होता है उसे बंध ही नहीं समझा जाय अथवा उसमें भी पड गयी एक समय की स्थिति को स्थितिबंध माना जाय, द्वितीय क्षण में उसकी निर्जरा हो जाती है। स्थिति पूरी हो जाने पर कर्म उदय को प्राप्त हो जाते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सामग्री नहीं मिलने से कतिपय कर्मों का प्रदेश उदय हो जाता है शेष का फलोदय यानी रसोदय हो जाता है। पुनः वे स्थितिशून्य कर्म स्वकीय कर्मत्वपर्याय का विनाश हो जाने से प्रदीप आदि के समान दूसरी पुद्गल पर्यायों को धार लेते हैं अर्थात् धोबी वस्त्र से मैल अलग कर देता है, यहां वही मल वस्त्र से हटकर दूसरी पर्याय को धार लेता हैं। किसी भी उपाय से मल पुद्गलद्रव्य का समूलचूल नाश नहीं हो सकता है, प्रदीपकलिका नष्ट होकर काजल अवस्था को धार लेती है प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य सुघटित हो रहे हैं जीवों के परिणामों को निमित्त पाकर कार्मणवर्गणारूप पुद्गल ही ज्ञानावरणादि स्वरूप कर्म हो कर के उपजते हैं कुछ काल तक वे कर्म होकर ठहरते हैं स्थिति पूरो हो जानेपर कर्मत्व परिणामों का विनाश हो जाता है। इस प्रकार ये कर्म भो उत्पाद और व्यय के समान स्थिति से भी प्रसिद्ध हो रहें हैं यह सिद्धान्त चित्त में धारण कर लिया जाता है।

विर्णीता हि स्थितिः सर्वपदार्थानां क्षणादूर्ध्वमपि प्रत्यभिज्ञानादबाधितस्वरूपा-द्भेदप्रत्ययादुत्पादविनाशवत्। ततः स्थितिमद्भिः कर्मभिरात्मनः स्थितिबन्धोऽनेकधा सूत्रितो-नवद्यो बोद्धव्यः प्रकृतिबंधवत्।

बौद्ध पण्डित प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक मानते हैं क्षण के ऊपर दूसरे क्षणमें वे उसका नाश हो जाना अभीष्ट करते हैं। इस बौद्धमन्तव्य का निराकरण कर हम पहले प्रकरणों में सम्पूर्ण पदार्थों की एक क्षण से ऊपर भी अनेक क्षणों तक स्थिति रहती हैं इसका निर्णय कर चुके हैं जब कि बाधाओं से रहित स्वरूप को धारनेवाले "स एव अयं" इस प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से पदार्थों का ध्रौव्य सिद्ध हो रहा है। जैसे कि "यह अमुक से भिन्न है" पहिली अवस्था से यह अवस्था न्यारी उपजी है, इस भेदज्ञान से उत्पाद और विनाश सिद्ध हो रहे बौद्धों को मानने पडते हैं। उसी प्रकार एकत्वप्रत्यभिज्ञान से पदार्थों का काला-न्तरस्थायित्व भी सिद्ध है तिसकारण से यह समझ लिया जाय कि–स्थिति को धार रहे कर्मों के साथ आत्मा का जो अनेक प्रकारों से स्थितिबंध हो रहा उक्त सात सूत्रों में कहा गया है वह निर्दोष है। जैसे कि ज्ञानावरणादि प्रकृतियों के बंध का सूत्रकार ने दोषरहित निरूपण किया है उसी प्रकार स्थितिबंध भी प्रमाणसिद्ध हुआ निर्दोष है।

अथानुभवबंधं व्याचष्टे: —

प्रकृतिबंध और स्थितिबंध की निरूपणा के अनन्तर सूत्रकार अब क्रमप्राप्त अनुभव बंध का अग्रिम सूत्र द्वारा व्याख्यान करते हैं—

विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥

आये हुये कर्मों में तीव्र, मन्द, भावों अनुसार नानाप्रकार अनुग्रह या उपघात रूप विपाक पड जाना अनुभवबंध है । अर्थात् खाये हुये रोटी, दाल, दूध, भुसा, घास, आदि में शरीरप्रकृति अनुसार जैसे रस देने की शक्ति पड जाती है उसी प्रकार कर्मों में भी आत्मा को फल देने की सामर्थ्य पड जाती है । वस्तुतः इस अनुभव बंध द्वारा ही आत्मा अनेक आकुलताओं को प्राप्त हो रहा है ।

विशिष्टः पाको नानाविधो वा विपाकः पूर्वास्रवतीव्रादिभावनिमित्तविशेषाश्रयत्वात् द्रव्यादिनिमित्तभेदेन विश्वरूपत्वाच्च सोनुभवः कथ्यते । शुभपरिणामानां प्रकर्षाच्छुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोनुभवः, अशुभपरिणामानां प्रकर्षात्तद्विपर्ययः ।

विपाक शब्द में वि उपसर्ग का अर्थ विशिष्ट या विविध प्रकार है । कर्मों में विशिष्ट हो रहा अथवा नाना प्रकार पड रहा जो पाक है वह विपाक हैं । पहले छठे अध्याय में कहे गये आस्रव के तीव्र भाव, मन्दभाव आदि विशेष निमित्तों का आश्रय पाने से कर्मों में विशिष्ट पाक हो जाता बताया है अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि भिन्न भिन्न निमित्तों करके सम्पूर्ण जगद्वर्ती अनेक रूप हो जाने से वह नाना प्रकार विपाक हो रहा अनुभव बन्ध कहा जाता है । जगत् में पण्डिताई, मूर्खता, निर्धनता, सुन्दरता, नीरोगजीवन, यशस्वी होना, स्त्री हो जाना, घोडा बन जाना आदि सभी विश्वरूप चमत्कार जो दीख रहा हैं वह सब कर्मों का विपाक है । दानकरना, पूजनकरना, दया करना, आदि शुभपरिणामों की प्रकर्षता से शुभ–पुण्य प्रकृतियों का प्रकृष्ट अनुभवबंध पडती है, और झूंठ बोलना, हिंसा करना, धोखा देना, परनिन्दा करना आदि अशुभ कर्मों की बढवारी से उसका विपर्यय यानी अशुभपापप्रकृतियों का अनुभवबंध प्रकर्ष को लिये हुये पडता है । गोम्मटसार में भी " सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण । विवरीदेण जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं " यही समझाया गया है ।

स किमुखेनात्मनः स्यादित्याहः —

उदय काल में अनेक पाक दे रहा वह अनुभागबंध भला किस मुख करके आत्मा को फल उपजावेगा?ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार अगली वार्तिक को कह रहे हैं।

विपाकोनुभवो ज्ञेयः पुद्गलादिमुखेन तु।
कर्मणां फलनिष्पत्तौ सामर्थ्यायोगतोन्यथा ॥ १ ॥

पुद्गल, क्षेत्र, आदि की मुख्यता करके जीव में कर्मों का विपाक हो रहा तो अनुभवबंध समझना चाहिये, अन्य प्रकारों से जीव को फल की उत्पत्ति कराने में कर्मों का सामर्थ्य नहीं है। भावार्थ–जैसे कि कोई मायाचारी दुष्ट पुरुष किसी सज्जन को अनेक द्वारों से दुःख पहुंचाता रहता है उसी प्रकार कर्म भी पुद्गल, भव आदि द्वारों करके जीव को आकुलतायें उपजाते रहते हैं। अन्य शुद्ध, विशुद्ध ढंगों से उनकी फलदानसामर्थ्य का अयोग है।

पुद्गलविपाकिनां कर्मणामंगोपांगादीनां पुद्गलद्वारेणानुभवोऽन्यथात्मनि फलदाने सामर्थ्याभावात्। क्षेत्रविपाकिनां तु नरकादिगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यादीनां क्षेत्रद्वारेण, जीवविपाकिनां पुनर्ज्ञानावरणसद्वेद्यादीनामात्मभावप्रतिषेधाविधानविधानानां जीवमुख्येनैव, भवविपाकिनां तु नारकाद्यायुषां भवद्वारेण तत एव।

शरीर, मन आदि पुद्गलों में विपाक करना जिनकी टेव है ऐसे शरीर अंगोपांग, निर्माण, स्थिर आदि कर्मप्रकृतियों का पुद्गल द्वारा ही जीव को अनुभाग प्राप्त होता है अन्य प्रकारों से आत्मा को (के लिये) फल देने में कर्मों के सामर्थ्य का अभाव है। परभव के लिये जा रहे जीव को क्षेत्र में विपाक देने की टेववाले नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, तिर्यञ्चगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य आदिक क्षेत्रविपाकी कर्मों का तो गमन क्षेत्र द्वार करके आत्मा में अनुभव प्राप्त होगा। साक्षात् जीव में अनुभाग देने की प्रकृति को धार रहे ज्ञानावरण, सातावेदनीय, मोहनीय, गति, गोत्र, आदि कर्मों का फिर विपाक तो जीव की सन्मुखता करके ही होता है। जीव में विपाक करने वाली कुछ कर्मप्रकृतियां तो ऐसी हैं जो आत्मीय भाव का निषेध नहीं करती हैं। मतिज्ञानावरण आदि देशघाती प्रकृतियां तो प्रतिपक्षी गुण को तारतम्यरूप से न्यून कर देती हैं। गति, जाति, आदिक अघाति कर्म प्रकृतियां तो आत्मीय स्वभावों का प्रतिषेध नहीं करती हैं सूक्ष्मत्व आदिक प्रतिजीवीगुणों को प्रकट नहीं होने देती हैं। हाँ, केवलज्ञानावरण, मिथ्यात्व आदि सर्वघाती कर्म तो आत्मीय अनुजीवी भावों का प्रतिषेध कर रहे हैं। एकसौ अडतालीस प्रकृतियों में से अठत्तर प्रकृतियों का जीव

में ही विपाक होता है। संसरण हो रहे भव में अनुभव कराने के स्वभाव को धार रहीं नरक आयु, तिर्यगायु, आदि चार प्रकृतियों का भव द्वार करके अनुभव होता है। "तत एव" इस हेतु को बासठ पुद्गल विपाकी प्रकृतियों के समान चार क्षेत्र विपाकी, अठत्तर जीवविपाकी, और भवविपाकी, कर्मों के साथ भी लगा लेना। अर्थात् तिस ही कारण से यानी उक्त तीन प्रकार की प्रकृतियों का क्षेत्र, जीव, भव, इनके द्वारा ही आत्मा में अनुभव होता है अन्य प्रकारों से फल देने में इनकी सामर्थ्य नहीं है।

तेन मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवो, अतुल्यजातीयानामुत्तरप्रकृतीनां च निवेदितः। तुल्यजातीयानां तूत्तरप्रकृतीनां परमुखेनापीति प्रतिपत्तव्यमन्यत्रायुर्दर्शनचारित्रमोहेभ्यः, तेषां परमुखेन स्वफलदाने सामर्थ्याभावात्।

तिस निरूपण करके इस रहस्य का भी निवेदन कर दिया गया है कि ज्ञानावरण आदि आठ मूल प्रकृतियों का अपनी-अपनी ही मुख्यता करके आत्मा में विपाक होता है। ज्ञानावरण प्रकृति कभी दर्शनावरण रूप संक्रमण नहीं करती है उच्च गोत्र भले ही नीच गोत्र कर्मरूप परिणामन कर अनुभव देने लग जाय किन्तु नीच गोत्र कर्म कभी नामकर्म बनकर अनुभव नहीं करा सकेगा, तथा जो तुल्यजातिवाली नहीं है ऐसी उत्तर प्रकृतियों का भी स्वकीय मुख करके ही अनुभव होगा। अप्रत्याख्यानावरणक्रोध प्रत्याख्यानावरण रूप से फल दे सकता है किन्तु अप्रत्याख्यानावरण क्रोध का हास्य या रति रूप करके विपाक नहीं होता है। गतिकर्म का स्पर्श कर्मफल रूप से आत्मा में विपाक नहीं होता है। हाँ, तुल्य जातिवालीं उत्तर प्रकृतियों का तो अन्य प्रकृतिरूप करके भी अनुभव हो जाता समझ लेना चाहिये। जैसे कि मतिज्ञानावरण का श्रुतज्ञानावरण के फलरूप से विपाक हो सकते है। हाँ, इन तुल्यजातिवाली उत्तरप्रकृतियोंमें चारों आयुयें तथा दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय को छोड देना चाहिये। उन आयुः आदिक कर्मों की परप्रकृतिजन्य फल की मुख्यता करके अपने फल को देने में सामर्थ्य नहीं है। नरकआयुःकर्म का तिर्यंचआयु या मनुष्य आयुः रूप से विपाक नहीं होता है इसी प्रकार दर्शन मोहनीय कर्म का त्रिपरिणाम होकर चारित्र मोहनीय कर्म के मुख करके फल प्राप्त नहीं होता है।

कुतः पुनर्ज्ञानावरणादिकर्मप्रकृतीनां प्रतिनियतफलदानसामर्थ्यं निश्चीयते इत्याह--

अग्रिम सूत्र के अवतरण को ग्रन्थकार प्रतिपत्ति कराते हैं कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, आदि कर्मप्रकृतियों की प्रत्येक कर्म के लिये नियत हो रहे फल को देने

सामर्थ्य है इस रहस्य का निर्णय किस प्रकार से किया जाय ? बताओ । ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अगले सूत्र को कह रहे हैं ।

स यथानाम ॥ २२ ॥

वह कर्मों का विपाक तो कर्मों की अन्वर्थसंज्ञा अनुसार जान लिया जाय । ज्ञानावरण कर्म का सामर्थ्य ज्ञान को आवरण करने का है, और दर्शनावरण का अनुभव दर्शनशक्ति का घात करना है आदि । बहुत अच्छा प्रमोद का अवसर है कि सर्वज्ञआम्नाय अनुसार कर्मों के नाम वही प्रसिद्ध चले आ रहे हैं जो कि उनका शब्दार्थ निकालता है यों सभी मूल प्रकृतियोंका वाचकनामके वाच्यार्थ अनुसार विपाक हो रहा समझ लिया जाय ।

यस्मादिति शेषस्तेन ज्ञानावरणादीनां सविकल्पानां प्रत्येकमन्वर्थसंज्ञानिर्देशात् तदनुभवसंप्रत्ययः । ज्ञानावरणादिकमेव हि तेषां प्रयोजनं नान्यदिति कथमन्वर्थसंज्ञा न स्यात् ? ततः —

उक्त सूत्र का वाक्यार्थ करते हुये यस्मात् इस शेष रहे पद के अर्थ को जोड लेना चाहिये, तिस कारण सूत्र का अर्थ यों हो जाता है कि भेद-प्रभेदों से सहित हो रहे ज्ञानावरण आदि कर्मों के प्रत्येक की स्वकीय यौगिक अर्थ को ले रही संज्ञा का निर्देश कर देने से उन कर्मों के फल देने की सामर्थ्य का समीचीन ज्ञान हो जाता है । छोटा नाम नहीं रख इतनी लम्बी, चौड़ी, संज्ञा धरने का यही प्रयोजन है कि पुनः उन कर्मों के पारिभाषिक या रूढि अर्थ नहीं करने पडे । उन ज्ञानावरण आदि कर्मों का ज्ञान का आवरण कर देना आदिक ही प्रयोजन है अन्य कोई इतने बडे शब्दप्रयोग का फल नहीं है । हाँ, कर्मों का नाम वाच्यार्थ अनुसार घटित हो जाने से इनकी अन्वर्थ संज्ञा क्यों नहीं समझी जावेगी ? अर्थात् अवश्य इन कर्मों का जो नाम हैं वही इनका कार्य है यह निर्णीत हो जाता है । और तिस निरूपण से क्या सिद्धान्त पुष्ट हुआ ? उसको अगली दो वार्तिकों द्वारा समझियेगा ।

सामर्थ्यान्नामभेदेन ज्ञायेतान्वर्थनामता,
नुर्ज्ञानावरणादीनां कर्मणामन्यथाऽस्मृतेः ॥ १ ॥
तथा चानुभवप्राप्तेरात्मनः कर्मभिर्भवेत् ।
एषोनुभवबन्धोस्यान्यास्रवस्य विशेषतः ॥ २ ॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मों के भिन्न भिन्न नामों अनुसार आत्मा को

फल देने की सामर्थ्य है इससे उन कर्मों की अन्वर्थ संज्ञा को जान लिया जाता है अन्य प्रकारों से उन कर्मों के नामों की स्मृति नहीं हो रही है। गुरुवर्गक्रम अनुसार आचार्य परम्परा में जो बात जैसी स्मृत हो रही चली आ रही है ग्रन्थकारों को उसी प्रकार उसका निरूपण करना पडता है। यहां प्रकरण में कर्मों के नाम उसी प्रकृति गत्ययार्थ को लेकर प्रसिद्ध चले आ रहे हैं और तिस प्रकार अनुभव देते हुये प्राप्त हो रहे कर्मों के साथ संसारी आत्मा का यह तीसरा अनुभवबंध हो जाता है। इस अनुभव बंध की अन्य आस्रव की अपेक्षा विशेषतया है, अर्थात् यदि कर्मों में अनुभवबंध नहीं पडे तो अन्य कोरे आस्रवों या प्रकृति, प्रदेश बन्धों से आत्मा की कोई क्षति नहीं हो सकती है। छोटे से एकेन्द्रिय जीव में स्थितिबंध और प्रदेशबंध भले ही स्वल्प हैं किन्तु अनुभवबंध प्रकृष्ट है। अतः अनुभवबंध अन्य बन्धों की अपेक्षा विशिष्ट हो रहा चमत्कारक है।

किं पुनरस्मादनुभवाद्दत्तफलानि कर्माण्यात्मन्यवतिष्ठंते किं वा निर्जीर्यंत इत्याह —

यहां सूत्रकार महोदय के प्रति किसी जिज्ञासु का प्रश्न है कि फिर इस अनुभव करने से फल को दे चुके वे कर्म क्या आत्मा में वहीं ठहरे रहते हैं? अथवा क्या वे कर्म निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर महामना सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कह रहे है।

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

और उन कर्मों के अनुभव हो जाने के पश्चात् उन कर्मों की निर्जरा हो जाती है। अर्थात् खाया हुआ भात जैसे आत्मा के लिये सुख या दुःख देकर मलाशय द्वारा निकल जाता हैं वहीं पेट में नहीं ठहरा रहता है उसी प्रकार कर्म भी अपनी स्थिति की पूर्णता हो जाने से फल देकर निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं।

पूर्वोपार्जितकर्म परित्यागो निर्जरा। सा द्विप्रकारा विपाकजेतरा च। निमित्तांतरस्य समुच्चयार्थश्चशब्दः। तच्च निमित्तांतरं तपो विज्ञेयं तपसा निर्जरा चेति वक्ष्यमाणत्वात्।

पहिले समयों में उपार्जन कर लिये गये कर्मों का स्थिति अनुसार परित्याग हो जाना निर्जरा है और वह निर्जरा कर्मों के यथाकाल विपाक से उपजी विपाकजा और इससे न्यारी कर्मों के विपाककाल से प्रथम ही पुरुषार्थ द्वारा बलात्कार से उदय में ले आये गये कर्मों के फल से उपजी अविपाकजा यों दो प्रकार की है। इस सूत्र में च शब्द का ग्रहण

तो निर्जरा के अन्य निमित्तकारण का समुच्चय करने के लिये है और वह इससे न्यारा निमित्त तो तप समझना चाहिये कारण कि आगे नववें अध्याय में तप से निर्जरा भी होती है यों सूत्रकार महाराज स्वयं निरूपण करेंगे।

संवरात्परत्र पाठ इति चेन्न, अनुभवानुवाद परिहारार्थत्वात्। पृथग्निर्जरावचनमनर्थकं बन्धेंतर्भावादिति चेन्न अर्थापरिज्ञानात्। फलदानसामर्थ्यं हि अनुभवबंधस्ततोनुभूतानां गृहीतवीर्याणां पुद्गलानां निवृत्तिर्निर्जरा सा कथं तत्रांतर्भवेत्? तस्य तद्धेतुत्वनिर्देशात्तद्भेदोपपत्तेः।

यहाँ कोई शंका उठाता है कि आठवें अध्याय में बंधतत्त्व का निरूपण है, अभी संवरतत्त्व का भी निरूपण नहीं हुआ है संवर से परली और निर्जरा का पाठ होना चाहिये जैसे तत्त्वों का कथन किया गया है उसी क्रम से उनके व्याख्यान का निर्देश होना न्याय उचित है। ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि अनुभव (अनुभागबंध) के पुनः अनुवाद करने का परिहार करने के लिये यहां लाघवप्रयुक्त निर्जरा को कह दिया है। तत्त्वों के उद्देश अनुसार सामान्य रूप से निर्जरा को जान ही लिया है। यदि वहां नवमे अध्याय में ही निर्जरा कही जाती तो कर्मों का विपाक होना अनुभव बंध है इसका पुनः अनुवाद करना पड़ेगा, क्योंकि अनुभव के पश्चात् निर्जरा हो जाती है इस अभीष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति तभी हो सकती है। अतः सूत्रकार का यह प्रयत्न स्तुत्य है। यहाँ कोई शंका करता है कि निर्जरा का पृथक् निरूपण करना व्यर्थ है कारण कि अनुभव बंध में निर्जरा का अन्तर्भाव हो जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यों नहीं कहो, तुमको प्रकरणप्राप्त अर्थ का परिज्ञान नहीं हुआ है। जब कि फल देने की सामर्थ्य को अनुभवबंध कह दिया गया है उससे अनुभव कर लिये गये उन पुद्गलों की निवृत्ति हो जाना निर्जरा है। जो कि कषायों द्वारा आत्मा के अनुग्रह तथा उपघात करने की शक्ति को ग्रहण कर चुके थे, स्थिति पूर्ण हो चुके कर्म आत्मा को फल देकर हट जाते हैं। कर्मत्व पर्याय से च्युत होकर अन्य पुद्गल अवस्थाओं में प्राप्त हो जाते हैं। भला इतने प्रयोजन को कह रही यह प्रसिद्ध निर्जरा उस बंध में किस प्रकार गर्भित हो सकती थी? सूत्रोक्त "ततः" यह हेतु में पंचमी है, अनुभवबंध हेतु है और निर्जरा उसका फल है। यों उस अनुभव बंध को उस निर्जरा का हेतु हो जाने का कथन कर देने से उन हेतु और हेतुमान् में भेद की सिद्धि हो जाती है यदि अनुभव बंध में निर्जरा गर्भित हो जाती तो "स निर्जरा" यों सूत्रपाठ हो जाना चाहिये था।

लघ्वर्थमिहैव तपसा चेति वक्तव्यमिति चेन्न संवरानुग्रहतंत्रत्वात्। तपसा निर्जरा

भवति संवरश्चेति । धर्मेऽन्तर्भावात्संवरहेतुत्वमिति चेन्न, पृथग्ग्रहणस्य प्राधान्यख्यापनार्थत्वात् । एतदेवाह —

पुनः शंकाकार कहता है कि यदि यहां सूत्रकार को विपाक के पश्चात् निर्जरा हो जाने का निरूपण करना आवश्यक प्रतीत हुआ तो फिर यहाँ ही सूत्रलाघव के लिये "तपसा च" तप से भी निर्जरा हो जाती है यों कह देना चाहिये। नवमें अध्याय में "तपसा निर्जरा च" यों नहीं कहना पड़ेगा, "निर्जराच" इतने अक्षरों का लाघव क्या थोडा है ? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। कारण कि संवर का अनुग्रह करने की अधीनता है तप से निर्जरा होती है और संवर भी होता है, यों इस अर्थ के लिये "संवरश्च" यों भी कहना पडेगा, फिर लाघव कहां रहा ? और अच्छा भी नहीं जंचा, "ततो निर्जरा तपसा च" यों कहकर "संवरश्च" कथन करना उचित नहीं दीखता है। पुनः शंकाकार अपने आग्रह को पुष्ट कर रहा है कि उत्तमक्षमा आदि दशधर्मों में उत्तम तप को संवर का हेतु कहा जायेगा यों धर्म में अन्तर्भाव हो जाने से तप में संवर का हेतुपना सिद्ध है और यहाँ तप का कथन कर देने से तप को निर्जरा का कारण जान लिया जायगा। पुनः नवमे अध्याय में तप का ग्रहण करना व्यर्थ पडेगा, अतः लाघव हुआ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि संवर और निर्जरा इन दोनों के हेतुओं में तपः प्रधानभूत है इस प्रधानता का बखान करने के लिये तपःका यहां और वहां पृथक् ग्रहण करना आवश्यक है। इस हो रहस्य को ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकों में कह रहे हैं।

ततश्च निर्जरेत्येतत्संक्षेपार्थमिहोदितं ।
निर्जरा प्रस्तुतेरग्रेप्येतद्भेदप्रसिद्धये ॥ १ ॥
यथाकालं विपाकेन निर्जरा कर्मणामियं ।
वक्ष्यमाणा पुनर्जीवस्योपक्रमनिबन्धना ॥ २ ॥

सूत्रकार महाराज ने यहां संक्षेपपूर्वक अर्थप्रतिपत्ति कराने के लिये "ततश्च निर्जरा" यह सूत्र कह दिया है। कर्मों का विपाक होने के पश्चात् उनकी निर्जरा होती है। यों निर्जरा यहां प्रस्ताव प्राप्त है। नौवें अध्याय में कहते तो अनुभव का पुनः निरूपण करने से गौरव हो जाता। एक प्रयोजन यह भी है कि "ततश्च" कह देने से इस अनुभव-बंध से निर्जरा के भेद की प्रसिद्धि हो जाती है हेतु से हेतुमान् न्यारा होता है। अपनी-अपनी स्थिति अनुसार योग्य काल में कर्मों के विपाक करके यह विपाकजन्य निर्जरा होती रहती

है। दूसरी निर्जरा फिर जीव के उपक्रमक्रियाविशेष को कारण मानकर होती हैं। वह अविपाक निर्जरा भविष्य में कही जायगी। पाल में देकर आम्रफल, पनस आदि का जैसे योग्य काल से पूर्व में ही परिपाक कर दिया जाता है उसी प्रकार आत्मीय पुरुषार्थ करके भविष्य में उदय आने वाले कर्मों का भी विपाक वर्तमान में कर दिया जाता है। फल देकर इन कर्मों का निकल जाना औपक्रमिक निर्जरा है। क्वचित् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों को निमित्त नहीं पाकर स्थितिपूर्ण हो चुके कर्मों का आत्मा को फल दिये विना खिर जाना अविपाकनिर्जरा ली गयी है। तपः से भी अविपाकनिर्जरा होती है।

प्रागनुक्ता समुच्चार्या चशब्देनात्र सा पुनः
तपसा निर्जरा चेति नियमो न निरुच्यते ॥ ३ ॥
फलं दत्वा निवर्तंते द्रव्यकर्माणि देहिनः।
तेनाहृतत्वतः स्वाद्याद्याहारद्रव्यवत्स्वयं ॥ ४ ॥
भावकर्माणि नश्यंति तन्निवृत्त्यविशेषतः।
तत्कार्यत्वाद्यथाग्न्यादिनाशे धूमादिवृत्तयः ॥ ५ ॥

इस सूत्र में च शब्द पडा हुआ है यहां च शब्द करके पहिले नहीं कही गयी निर्जरा का समुच्चय हो जाता है। समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार इन च के चार अर्थों में से यहां समुच्चय अर्थ लिया जाय, वह निर्जरा तप से ही होती है यों नियम करना यहां अभीष्ट नहीं किया गया है, तप से सवर भी हो जाता है। शरीरधारी आत्मा को फल देकर पौद्गलिक द्रव्यकर्म निवृत्त हो जाते हैं (प्रतिज्ञा) कारण कि उस आत्मा करके द्रव्यकर्म होने के योग्य कार्मणवर्गणाओं का स्वयं आहार किया जा चुका है (हेतु) जैसे कि स्वाद लेने योग्य या खाने योग्य आहार द्रव्य फल देकर स्वयं निकल जाता है (दृष्टान्त)। इस अनुमान द्वारा सूत्रोक्त रहस्य को युक्तिसिद्ध कर दिया है। सामान्यरूप से उन द्रव्य कर्मों की निवृत्ति हो जाने के कारण भावकर्म भी नष्ट हो जाते हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि उन द्रव्य कर्मों के कार्य भाव कर्म हैं (हेतु) जिस प्रकार कि अग्नि आदि के नाश हो जाने पर धूम आदि की प्रवृत्तियां नष्ट हो जाती हैं। अर्थात् द्रव्यक्रोध कर्म का उदय आने पर आत्मा में क्रोध उपजा, उधर कर्म विचारा फल देकर खिर गया, इधर क्रोधफल भी क्षणमात्र स्थिर रहकर विघट गया, अग्रिम समयवर्ती भले ही वासना को उपजा जाय। पुनः अग्रिमसमयवर्ती दूसरे द्रव्यक्रोधकर्म का उदय आया तदनुसार अन्य भावक्रोध फल

उपजा । इस प्रकार द्रव्यकर्म और भाव कर्म के उपजने और बिगडने की धारा चलती रहती है। थोडीसी गीले ईंधन की आग ने धुआं उपजाया वह धुआं कुछ देर ठहर कर नष्ट हो गया, पुन: दूसरी आग ने अन्य धुयें को उपजाया, यों प्रवाह चलता रहता है, धूम उत्पादक ईंधन को आग का सर्वथा नाश हो जाने पर धूम उपजता ही नहीं है। अकृत्रिम चैत्यालयों के धूपघटों में उपादान कारणों के मिलते रहने से सर्वदा अग्नि और धुंऐ का कार्यकारणप्रवाह चलता रहता है जैसे कि कुलाचलों के हृदों में उपादानों की प्राप्ति होते रहने से जलप्रवाह सतत चलता है। अग्नि का जो अवयव धुंआ अवयव को उपजा चुका वह अग्नि मर गयी कुछ क्षणों के बाद उससे उत्पन्न धुंआ भी नष्ट हो गया, इसी प्रकार द्रव्य कर्म और भाव कर्म के उत्पाद, विनाशप्रक्रिया की परंपरा प्रवृत्त रही है।

ततः फलोपभोगेपि कर्मणां न क्षयो नृणां ।
पादपादिवदित्येतद्वचोपास्तं कुनोतिकं ॥ ६ ॥
पारतंत्र्यमकुर्वाणाः पुंसो ये कर्मपुद्गलाः ।
कर्मत्वेन विशिष्टास्ते संतोप्यत्रांबरादिवत् ॥ ७ ॥

द्रव्य कर्मों के नाश हो जाने से पुनः भाव कर्म भी नष्ट हो जाते हैं तिस कारण किसी के इस आग्रहपूर्ण वचन का खंडन किया जा चुका है कि जैसे कि आम, अमरूद, शयन आदि फलों का उपयोग करने पर भी, उनके कारणभूत, वृक्ष, पलंग आदि का नाश नहीं होता है, उसी प्रकार कर्मों के द्वारा जीवों को फल का उपभोग करा देनेपर भी कर्मों का क्षय नहीं होता है। ग्रन्थकार कह रहे हैं कि यह वचन खोटी नीति या युक्ति को धार रहा है, सूक्ष्म दृष्टि से विचारा जायगा तो जितने फल का हम उपभोग कर चुके हैं उतने कारण अंशों का पहिले ही विनाश हो चुका है। ऊन या सूत के वस्त्रों से जो गर्मी प्रतिदिन भोग ली जाती है उतना वस्त्र का अंश उसी दिन नष्ट हो जाता है भले ही वह वस्त्र पूर्णरूप से पांच वर्ष में नष्ट हो किन्तु उसके सूक्ष्म अवयव फल देकर क्षण क्षण में नष्ट हो रहे हैं, गहना भी घिसता है। वृक्ष, पलंग, खाद्य, पेय, आदि सभी पदार्थों में फल देकर बिनश जाने की यही प्रक्रिया ठीक बैठती है। जीव को फल देकर कर्म भी नष्ट हो ही जाते हैं। पहिले कर्मपन पर्याय से विशिष्ट हो रहे पुनः फल देकर कर्मत्वपर्याय से छूट गये कर्मपुद्गल जो आत्मा की परतंत्रता को नहीं कर रहे हैं वे विद्यमान हो रहे सन्ते भी वस्त्र या आकाश आदि के समान आत्मा में कुछ भी आकुलता पैदा नहीं कर सकते हैं। अर्थात् एकबार

वस्त्र, मणि, या सुवर्ण से जो मल अलग हो जाता है वह दूर पडा रहकर मणि आदि की क्षति नहीं करता है, हाँ, पुन: भले ही कारण पाकर वह उनका मल बन जाय। यों तो कर्म भी कर्मत्वपर्याय से छूट गये पुन: कालान्तर में कारण पाकर कार्मणवर्गणारूप होकर आत्मा करके आकर्षित हो जाते हैं। किन्तु फल देकर एक बार कर्मत्वपर्याय का नाश हो जाना अवश्यंभावी है। यों सिद्धालय में जहाँ सिद्ध भगवान् विराजमान हैं वहां अनन्तानन्त कार्मणवर्गणायें ठसाठस भरी हुयी हैं। वे सिद्धों को परतंत्र नहीं कर सकती हैं। हाँ, एकेन्द्रिय जीवों करके आकर्षित होकर उन्हें परतन्त्र करती हैं। अन्यत्र के जीव भी उनको खींच सकते हैं। अत: एक बार फल का उपभोग करा चुकने पर पुन: परतन्त्रता को नहीं कर रहे कर्मों का विनाश हो जाना यह सिद्धान्त युक्तिसंगत हैं। फल देकर भी कर्मों का विनाश नहीं होता हैं यह पक्ष अयुक्त है।

तदेवमनुभवबंधं प्रतिपाद्याधुना प्रदेशबंधमवगमयितुमना: प्राह—

तिस कारण इस प्रकार तीसरे अनुभव बंध की प्रतिपत्ति कराकर अब सूत्रकार महाराज चौथे प्रदेशबंध को समझाने के लिये मन में विचार करते हुये इस अग्रिम सूत्र को बढिया कह रहे हैं।

नामप्रत्यया: सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिता: सर्वात्मप्रदेशेष्वनंतानंतप्रदेशा: ॥ २४ ॥

ज्ञानावरण आदि सम्पूर्ण प्रकृतियों की संज्ञा के कारण हो रहे और सम्पूर्ण भवों में मन, वचन, काय सम्बन्धी योगविशेष से आकर सूक्ष्म होकर जीव के साथ एक क्षेत्र में अवगाह कर ठहर गये वे कर्मपुद्गल इन आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में अनन्तानन्त प्रदेशपरमाणुएं स्वरूप गणनीय हो रहे बन्ध जाते हैं। अर्थात् जैसे विशेषजाति के मीठेपन की हीनता, अधिकता से गुड, शक्कर, मिस्री, आदि पदार्थ बन बैठते हैं। सूत की न्यून एँठन, अधिक एँटन, पतलापन, मोटापन, कड़ापन, ढ़ीलापन, नीचे–ऊपर चढने की रचना, रंग आदि अनुसार अनेक जाति के वस्त्र बन जाते हैं। वर्गणाओं में परमाणुओं की हीनता, अधिकता, अनुसार कार्मणवर्गणा, ध्रुववर्गणा, सान्तरनिरन्तरवर्गणा, आदि स्कन्ध बन बैठते हैं, उसी प्रकार परमाणुओं की हीनता, अधिकता से न्यारे–न्यारे ज्ञानावरण आदि कर्म बंध जाते हैं, अत: कर्मों के ये प्रदेश न्यारे–न्यारे नामों के कारण हो रहे हैं। ये कर्मों के प्रदेश संसारी आत्मा के सम्पूर्ण भूत, वर्तमान, भविष्य, भवों में बंध चुके, बंध रहे और

बंधेंगे। एक एक जीव के अनन्तानन्त भव हो चुके हैं। एक भव वर्तमान में हो रहा है मोक्ष जाने वाले जीव के यथायोग्य संख्यात, असंख्यात, अनन्त भव भविष्य में होने वाले हैं। अभव्य या दूरभव्य के अनन्तानन्त भव होंगे। गुजर गये भूतकाल से आगे आने वाला भविष्यकाल अनन्तानन्त गुणा बडा है। वह प्रदेशबन्ध आत्मा के प्रदेश परिस्पन्द हो जाना रूप पन्द्रह योगों से होता है। कर्मपुद्गलों के आ जाने से आत्मा बढ नहीं जाती है। किन्तु वे प्रदेश सूक्ष्म हो रहे सन्ते उसी आत्मीय क्षेत्र में समा जाते हैं और स्थिति पूरी होने तक वहीं ठहरे रहते हैं। वे कर्मप्रदेश आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में बंधते हैं जैसे संतप्त लोहे के गोले में ऊपर, नीचे, भीतर सर्वत्र पानी खिच जाता है उसी प्रकार एक, दो, तीन, आदि प्रदेशों में ही नहीं किन्तु ऊपर, नीचे, तिरछे सब ओर आत्मा में व्याप्त होकर कर्म वर्गणायें बंधती हैं, गिनती में ये कर्मपरमाणुयें अनन्तानन्त हैं। संख्यात, असंख्यात, परीतानन्त, युक्तानन्त मात्र इतनो ही नहीं हैं। एक एक कार्मणवर्गणा में अनन्तानन्त परमाणुयें हैं। जघ य युक्तानन्तप्रमाण अभव्य राशि से अनन्तगुणे और सिद्धराशि के अनन्तवें भाग प्रमाण ऐसे वर्गणास्कन्ध अनन्तानन्त प्रतिक्षण बन्धते रहते हैं। भूतकाल के अनन्तानन्त समयों से असंख्यातवें भाग प्रमाण सिद्धराशि है। पौने नो वर्ष कम अनादिकाल से सिद्धराशि एकत्रित हो रही है। जगत् में पौद्गलिक असंख्य पदार्थों की रचनायें परमाणुओं की न्यूनता, अधिकता से बन बैठती हैं। यदि कर्मबंध में प्रदेशों की गणना नहीं होती तो ज्ञानावरण आदि अनेक कार्यों को कर रहे अन्वर्थ संज्ञावाले भिन्न भिन्न कर्म नहीं बन पाते। अतः सूत्रकार ने चौथा प्रदेशबन्ध इस सूत्र में कह दिया हैं।

नाम्नः प्रत्यया नामप्रत्ययाः इत्युत्तरपदप्रधाना वृत्तिः। नामासां प्रत्यय इति चेन्न, समयविरोधात्। अन्यपदार्थायां हि वृत्तौ नामप्रत्ययो यासां प्रकृतीनामिति सर्व कर्मप्रकृतीनां नामहेतुकत्वं प्रसक्तं, तच्च समयेन विरुद्धयते। तत्र तासां तद्धेतुकत्वेनानभिधानात् प्रतिनियतप्रदोषाद्यास्रवनिमित्तत्वप्रकाशनात्।

"नामप्रत्ययाः" इस पद में नाम के जो कारण हैं सो नामप्रत्यय हैं, इस प्रकार उत्तर पद के अर्थ को प्रधान रखने वालो तत्पुरुषसमास नाम की वृत्ति है। यदि यहां कोई यों कहे कि जिन प्रकृतियों का कारण नाम कर्म है इस प्रकार "नामप्रत्ययाः" की अन्य पदार्थ को प्रधान रखनेवाली बहुव्रीहि समास नाम की वृत्ति कर ली जाय, बहुव्रीहि और तत्पुरुष का प्रकरण मिलने पर प्रथम बहुव्रीहि को स्थान मिलता है। बहुत धान्य रखनेवाले सेठ की उस पुरुष से अधिक प्रतिष्ठा है जो कि चाहे जिसका सेवक बन जाता

है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि बहुव्रीहि समास करने पर अर्थ में जैनसिद्धान्त से विरोध आवेगा, जब कि अन्य पदार्थ को प्रधान रखनेवाली समासवृत्ति की जायगी तो जिन प्रकृतियों का कारण नाम है यों अर्थ करने पर नाम को सम्पूर्ण कर्म प्रकृतियों का हेतुपना प्रसंग प्राप्त हुआ, किन्तु वह तो सिद्धान्त से विरुद्ध पडता है, क्योंकि वहां जैनसिद्धान्त में नाम को उन प्रकृतियों का निमित्तकारणपने करके कथन नहीं किया गया है। ज्ञानावरण आदि प्रत्येक कर्मों के नियत हो रहे प्रदोष, निन्हव, दुःख, शोक आदि को कर्मास्रव का निमित्तकारणपना प्रकाशित किया गया है। अतः तत्पुरुष समास करना ही श्रेष्ठ है। अधिक धान्य रखनेवाले प्रत्यारम्भी व्यापारी (बहुव्रीहि) से वह परोपकारी पुरुष (तत्पुरुष) ही श्रेष्ठ है।

के पुनस्ते नाम्नः प्रत्ययाः कुतो वेत्यावेदयन्नाहः—

यहाँ कोई शंकाशील तर्क करता है कि वे प्रदेश बन्ध भला नाम के कारण हो रहे फिर कौन से हैं ? अथवा किस प्रमाण से वे वैसे सिद्ध हो रहे हैं ? अब ग्रन्थकार इस तर्क के ऊपर आवेदन करते हुये समाधान वचन कहते हैं।

नामान्वर्थं पदं ख्यातं प्रत्ययास्तस्य हेतवः
प्रदेशाः कर्मणोऽनंतानंतमानविशेषिताः ॥ १ ॥
स्कंधात्मना विरुध्यन्ते न प्रमाणेन तत्त्वतः।
स्कंधा भावेत्तद्विज्ञानाभावात् सर्वाग्रहागतेः ॥ २ ॥

"नामप्रत्ययाः" इसका अर्थ यों है कि प्रकृति, प्रत्यय, अनुसार यौगिक अर्थ को कह रहा जो अन्वर्थ पद है वह नाम बखाना गया है उस नाम के प्रत्यय यानी कारण वे कर्म के प्रदेश हैं। जो कि अनन्तानन्त नामक विशेष संख्या के परिमाण से विशिष्ट हो रहे हैं। वे परमाणुयें स्कन्धस्वरूप करके बंध रही हैं। बंध रहे प्रदेश किसी प्रमाण करके विरोध को प्राप्त नहीं होते हैं कारण कि वास्तविक रूप से यदि स्कन्ध को नहीं माना जायगा तो इन्द्रिय जन्य ज्ञानों का अभाव हो जायगा और इन्द्रियजन्य ज्ञानों का अभाव हो जाने से अन्य, अनुमान, आगम, प्रमाणों करके भी जो सम्पूर्ण पदार्थों का ग्रहण होता है उन सब का ग्रहण नहीं हो सकने का प्रसंग आ जावेगा, जो कि इष्ट नहीं है। अर्थात् प्रदेशों का स्कन्ध रूप से बंध होना प्रमाणसिद्ध है। जो बौद्धपण्डित स्कन्धपर्याय को नहीं

मानेंगे उनके यहां इन्द्रियों, हेतुओं और शब्दों से होने वाले प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम प्रमाण नहीं उपजेंगे, क्योंकि ये इन्द्रिय आदिक सब स्कन्ध ही हैं, इन्द्रिया स्कन्धों को ही जानती हैं, यों प्रमाणों के बिना किसी भी पदार्थ का ग्रहण नहीं हो सकेगा। ज्ञानों के बिना ज्ञेय की सिद्धि का कोई उपाय नहीं।

अनन्तानन्तप्रदेशवचनं प्रमाणान्तरव्यपोहार्थं। कर्मणोनन्तानन्ताः प्रदेशाः परमाणुरूपाः कथं स्कंधात्मना परिणमन्ते पर्वतात्मना सूक्ष्मसलिलकणवद्विरोधात्। ततो न ते नाम्नो ज्ञानाभावादेरनुभवफलस्य हेतव इति न शंकनीयं स्कन्धाभावेक्षविज्ञानाभावात्। सर्वपदार्थाग्रहणस्यानुषक्तेः सकलानुमेयार्थानामपि लिंगार्थग्रहणासंभवात्। तृतीयस्थानसंक्रान्तानामपि शब्दगम्यानां प्रकाशकशब्दग्रहणविरोधात्। स्वसंवेदनादात्मग्रहणान्न सर्वाग्रहणमिति चेन्न, शरीरादिस्कंधाभावे मनोनिमित्तकस्य स्वसंवेदनस्यानुपपत्तेः।

सूत्र में प्रदेश परमाणुओं की अनन्तानंतनामक संख्या का जो कथन किया गया है वह अन्य संख्यात, असंख्यात नामक संख्याप्रमाणों का व्यवच्छेद करने के लिये है। यहां कोई पुनः शंका उठाता है कि कर्मों के परमाणुस्वरूप हो रहे अनन्तानन्त प्रदेश भला किस ढंग से स्कंध स्वरूप होकर के परिणमन करते हैं? बताओ। जल के सूक्ष्म कण जैसे मोटे पर्वत स्वरूप होकर के परिणत नहीं हो जाते हैं, उसी प्रकार छोटे छोटे अतींद्रिय परमाणुओं का मोटा मोटा स्कन्ध नहीं बन सकता है। अतीन्द्रिय से इन्द्रियग्राह्य या छोटे से मोटा हो जाने में विरोध दोष आता है। तिस कारण वे प्रदेश ज्ञानाभाव, दर्शनाभाव, दुःखवेदना आदि फलानुभव स्वरूप नाम के कारण नहीं हो सकते हैं। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि स्कन्ध को नहीं मानने पर इन्द्रियजन्य विज्ञान नहीं हो सकता है और ऐसा होने से सभी पदार्थों का ग्रहण नहीं हो सकने का प्रसंग प्राप्त होगा कारण कि अनुमान प्रमाण से जाननेयोग्य अर्थों का भी ग्रहण नही हो सकता है। अनुमान का उत्थापक व्यप्तिविशिष्ट लिंग है जो कि स्कन्ध स्वरूप है स्कन्ध को माने बिना लिंगस्वरूप स्कन्धार्थ के ग्रहण होने का असंभव है। आगमप्रमाण से अर्थों को जान लो सो भी ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि प्रमाणों की गणना प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम इस ढंग से चली आ रही है। जगत् के अनेक अर्थ प्रत्यक्षप्रमाण से जानने योग्य हैं और कतिपय अर्थ दूसरे अनुमान प्रमाण से जाने जाते हैं, बहुत से अर्थों को हम आगमप्रमाण से जानते हैं यों तीसरे स्थान में आगम प्रमाण द्वारा संक्रमण प्राप्त हो रहे वाच्यार्थ भी शब्दों करके जाननेयोग्य हैं। स्कन्ध को माने बिना उन वाच्यार्थों के प्रकाशक हो रहे स्कन्धस्वरूप पौद्गलिक शब्दों

के ग्रहण हो जाने का विरोध है। यों स्कन्ध के बिना अस्मदादिकों को किसी भी प्रमाण की उत्पत्ति नहीं होने से किसी भी अर्थ का ग्रहण नहीं हो सकता है। यदि यहाँ कोई छोटी सी शंका उठावे कि स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से आत्मा का ग्रहण तो हो जायगा। अतः सब का ग्रहण नहीं हो सकेगा, यह जैनों का कथन उचित नही है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कोई स्कन्ध नहीं है, ज्ञानमात्र है, अतः स्कंध को माने विना भले ही इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं होय, धूम से अग्नि का ज्ञान न होय, शब्दों द्वारा वाच्यार्थ की प्रतिपत्ति नहीं होय, किन्तु अमूर्त स्वसंवेदन से आत्मा का प्रत्यक्ष हो ही जाता हैं। कारिका में सब का ग्रहण नहीं होना क्यों लिखा? । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि स्वसंवेदनप्रत्यक्ष भी मन इन्द्रिय से होता है। शरीर-स्कन्ध के वक्षःस्थल में मनोवर्गणाओं करके आठ पत्तेवाले खिले हुये कमल समान पौद्गलिक-मन बनता है। अतः शरीर, वक्षस्थल, आदि स्कन्धों का अभाव मानने पर मन इन्द्रिय को निमित्त पाकर होनेवाले स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती है।

मुक्तस्वसंविदितविज्ञानात् सर्वार्थग्रहणसिद्धेर्न सर्वार्थाग्रहण इति चेन्न, लिंगां शब्दाद्यग्रहणे तद्व्यवस्थानुपपत्तेः। न हि परमाणव एव लिंगशब्दात्मनामात्मसात्कुर्वते, तेषां सर्वथा बुध्द्यगोचरत्वात्। नापि परमाणव एवेंद्रियभाविना लिंगादिग्रहणकरणादिना नियुज्यते न च शरीरा भावेनानुभवाख्यभोगायतनत्वं प्रतिपद्यते अतिप्रसंगात्।

पुनः शंकाकार कटाक्ष करता है कि मोक्ष को प्राप्त हो चुके जीव के स्वसंविदित हो रहे विज्ञान से सम्पूर्ण अर्थों का ग्रहण हो जाना सिद्ध है मुक्त सर्वज्ञ को सम्पूर्ण पदार्थों के जानने में किसी स्कन्ध की आवश्यकता नहीं पडती है, अतः स्कन्ध को माने विना सम्पूर्ण अर्थों का ग्रहण नहीं हो सकने का प्रसंग नहीं आता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं मान बैठना चाहिये, क्योंकि मुक्त जीवों का इस समय प्रत्यक्ष तो है नहीं। हाँ, अविनाभावी लिंग या शब्दस्वरूप आगम से ही मोक्षप्राप्त जीवों की प्रसिद्धि की जायगी, ज्ञापकलिंग या वाचकशब्द आदि का ग्रहण नहीं करने पर उन मुक्तजीवों की और मुक्त जीवों के अतीन्द्रिय ज्ञान की व्यवस्था नहीं बन सकती है। परमाणुयें ही तो लिंग, शब्दस्वरूपों को अपने अधीन नहीं कर लेती हैं। क्योंकि परमाणुयें सभी प्रकारों से बुद्धि के गोचर नहीं हैं अर्थात् बौद्ध यदि यों कहें कि परमाणुयें ही संवृति अनुसार लिंग या शब्दस्वरूप करके भास जाती हैं, कोई स्कन्ध पदार्थ नहीं है। इसपर ग्रन्थकार ने यह कहा है कि अत्यन्तसूक्ष्म, अतीन्द्रिय परमाणुयें जानी नहीं जा सकती हैं। दूसरी बात यह भी है कि स्कन्ध परिणति के बिना केवल परमाणुयें ही तो इन्द्रियों कर होने वाले लिंगग्रहण करना, शब्द ग्रहण करना

आदि परिणामों करके नियुक्त नहीं हो जाती हैं। तीसरी बात यह भी है कि शरीर स्कन्ध को माने विना अनुभव नाम के भोग का स्थापने को कोरी परमाणुयें प्राप्त नहीं कर सकती हैं। यों परमाणुओं को भोगों का अधिष्ठान माननेपर अतिप्रसंग हो जावेगा। अर्थात् "भोगायतनं शरीरं" शरीर नामक विशिष्ट स्कन्ध ही भोगों का अधिकरण है। शरीर अधिष्ठान को पाकर आत्मा भोगों को भोगता है शरीर के विना चाहे जो परमाणुयें ढेल, भस्म, आदि भी भोग के अधिष्ठान बन बैठेंगे जो कि तुम बौद्धों को भी अभीष्ट नहीं पडेगा।

परमाणूनामपि स्वकारणविशेषात्तथोत्पत्तेस्तद्भावाविरोध इति चेन्न, अत्यासन्नासंसृष्टरूपतयोत्पत्तेरेव स्कंधतयोत्पत्तेः, अन्यथैकत्वपरिणामविरोधादुक्तदोषस्य निवारयितुमशक्तेरिति विचारितं प्राक्।

यदि बौद्ध फिर यों कहें कि अपने अपने नियत हो रहे कारण विशेषों से परमाणुयें भी तिस प्रकार इन्द्रिय, लिंग आदि स्वरूप करके उपज जाती हैं, अतः उन लिंग, इन्द्रिय, शरीर, मन, आदि परिणतियों का कोई विरोध नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना, क्योंकि आप बौद्धों ने अवयवी स्कन्धपरिणति को स्वीकार नहीं किया है। अनेक परमाणुयें ही एक दूसरे के अत्यन्त निकट होकर उपज जाती हैं किन्तु वे परस्पर में संसर्ग को प्राप्त (सम्बद्ध) नहीं होती हैं, इस ढंग की उत्पत्ति को ही स्कन्ध रूप की उत्पत्ति मानी है। जैनसिद्धान्त में परमाणुओं से न्यारी स्कन्ध पर्याय मानी गयी है, जो कि अनेक परमाणुओं का बन्ध होकर एकत्व परणति हुई है। अन्यथा यानी वस्तुभूत स्कन्ध पर्याय को माने विना एकत्व बुद्धि को पैदा करने वाले एकत्व परिणाम हो जाने का विरोध हैं, अतः अनेक परमाणुओं का नया बनकर स्कन्ध हुआ है ऐसे स्कन्ध को स्वीकार किये विना उक्त दोषों का निवारण नहीं किया जा सकता हैं। इस बात का हम पहिले प्रकरणों में भी विचार कर चुके हैं। "प्रमाणनयैरधिगमः" इस सूत्र की आठवी वार्तिक "कल्पनारोपितोंशी चेत् स न स्यात् कल्पनांतरे, तस्य नार्थक्रियाशक्तिर्न स्पष्टज्ञानवेद्यता" में अंशी स्कन्ध को विचारणापूर्वक सिद्ध कर दिया है। "निर्देशस्वामित्व" आदि सूत्रों के व्याख्यान में भी अनेकों की एकत्वपरिणति को न्यारा साधा गया है।

ततः सूक्तं कर्मणः प्रदेशाः स्कन्धत्वेन परिणामविशेषात्मानः प्रत्यया न विरुध्यन्ते तत्त्वतः प्रमाणेनाधिगतेरिति। सर्वात्मप्रदेशेष्विति किमर्थमिति चेदुच्यते—

जिस कारण से सूत्र अनुसार ग्रन्थकार ने इस सूत्र की दूसरी वार्तिक में बहुत

अच्छा कहा था कि कर्म के प्रदेश परमाणुयें स्कन्धपने करके परणतिविशेष से नियत कहे गये नाम के कारण हो रहे कोई विरोध को प्राप्त नहीं होते हैं, कारण कि वास्तविक रूप से प्रमाणों करके स्कन्ध मानने पर ही सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान हो सकता है। यहाँ तक इस व्याख्या को समाप्त कर दिया गया है। अब किसी जिज्ञासु का प्रश्न है कि आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में वे प्रदेश बंध जाते हैं, सूत्र में इस प्रकार किस लिये कहा गया है? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर तो ग्रन्थकार महाराज करके उत्तर कहा जाता है।

सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु न कियत्सुचिदेव ते।
तत्फलस्य तथा वित्तेर्नीरे क्षीरप्रदेशवत्॥ १॥

आत्मा के सम्पूर्ण असंख्यातासंख्यातप्रदेशों में वे कर्मप्रदेश बंधते हैं कितने ही एक कुछ थोड़े से दो, चार, दश, वीस प्रदेशों में ही प्रदेशबंध नहीं होता है (प्रतिज्ञा) क्योंकि उन कर्मों के फल का तिस प्रकार सम्पूर्ण आत्मा में परिज्ञान हो रहा है (हेतु) जैसे कि जल में दूध मिला देने से जल में सर्वाङ्ग दूध का प्रवेश हो जाता है (दृष्टान्त) अथवा जल में दूध के प्रदेश सर्वात्मना प्रविष्ट हो जाते हैं।

यथैव हि सर्वत्र कलशोदके क्षीरमिश्रे क्षीररसविशेषस्य फलस्योपलब्धेः सर्वेषु तदुदकप्रदेशेषु क्षीरसंश्लेषः सिद्धस्तथा सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु कर्मफलस्याज्ञानादेरुपलंभात् कर्मप्रदेश संश्लेषः सिद्धयतीति सूक्तमिदं सर्वात्मप्रदेशेष्विति वचनमेकप्रदेशाद्यपोहार्थमिति।

जिस ही प्रकार कलश के दूध मिले हुये जल में सर्वत्र दूध के रस विशेष हो रहे फल की उपलब्धि होती है। अतः जल के उन सम्पूर्ण प्रदेशों में दूध का संसर्ग हो जाना सिद्ध है, तिस ही प्रकार आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में कर्म के फल हो रहे अज्ञान, दुःख आदि का अनुभव होने से कर्मों का प्रदेशबंध हो जाना सिद्ध हो जाता है। इस कारण सूत्रकार ने एक, दो, प्रदेश आदि में ही बन्ध हो जाने के निवारणार्थ आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में बन्ध होना यह कथन बहुत अच्छा युक्तिपूर्ण कह दिया है। यहां यत्किंचित् यह भी कहना है कि चालीस तोला जल भर जाने वाले पात्र में वीस तोला जल है, ऐसी दशा में पात्र आधा भरा है, आधा खाली है। यदि उसी पात्र में वीस तोला दूध डाल दिया जाय तो पात्र भर जाता हैं, जब कि जल देशान्तर में चला गया तो ऐसी दशा में जल में सर्वांग दूध नहीं मिल सका जैसे कि वीस तोला दूध में दो तोला बूरा सर्वाङ्ग मिल जाता है फिर भी नैगिक पद्धति अनुसार यह दृष्टान्त ठीक है। पानी में दूध डाल देने से विलोडे बिना ही वह दूध

पानी में सर्वत्र फैल जाता है अथवा दूध स्वयं जल और मावा का विचित्र प्रकार का संमिश्रण है। गाय के थन में अलौकिक रासायनिक प्रक्रिया द्वारा उन का एकम एक सर्वांग संश्लेष हो रहा है। कर्म और आत्मा का एक क्षेत्र में ही संश्लेष है। बंध के लिये क्षीर नीर का दृष्टान्त बहुत अच्छा है। अरण्यगोमय की राख में पानी घुस जाता है। उटनी के दूध में उतना ही मधु सर्वाङ्ग अनुप्रविष्ट हो जाता है।

सूक्ष्मेत्यादि निर्देशेन किं कृतमित्याह—

उक्त सूत्र में सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाह इत्यादि पदों के कथन करके क्या फल किया गया है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रंथकार इन अग्रिम वार्तिकों को कह रहे हैं।

सूक्ष्मशब्देन च योग्यस्वभावग्रहणाय ते।
पुद्गलाः प्रतिपाद्यन्ते स्थूलानां तदसंभवात् ॥ ४ ॥

सूत्रोक्त सूक्ष्म शब्द का उपादान करना तो ग्रहणयोग्य पुद्गलों के स्वभाव का प्रतिपादन करने के लिये है। यों सूक्ष्म शब्द करके ग्रहणयोग्य स्वभाव के लिये वे पुद्गल कहकर समझाये जाते हैं। स्थूल पुद्गलों की उस योग द्वारा ग्रहण हो जाने की योग्यता का असंभव है। अतः आत्मा करके ग्रहण करने योग्य पुद्गल सूक्ष्म हैं, स्थूल नहीं हैं।

सूक्ष्मग्रहणं ग्रहणयोग्यस्वभावप्रतिपादनार्थमिति वचनात्।

इस सूत्र में सूक्ष्मपद का ग्रहण करना तो ग्रहणयोग्य पुद्गलों के स्वभाव का प्रतिपादन करने के लिये है, इस प्रकार राजवार्तिक ग्रन्थ में वचन मिलता है। अतः योग द्वारा सूक्ष्मवर्गणाओं का आकर्षण होना समझ लिया जाय। यद्यपि धुआं, पानी, वायु आदि स्थूल पदार्थों को भी कुछ दूर से जीव खींच लेता है। मोटे, मोटे कौरों का आहार करता है, फिर भी यह नोकर्म का ग्रहण है, कौर आदि पदार्थों में आहारवर्गणायें छिपी हुई हैं। कर्म बनने योग्य कार्मण वर्गणायें या उनकी परमाणुयें तो सूक्ष्म हैं। स्थूल स्कन्धों से सूक्ष्म-कर्म बनना असंभव है।

एकक्षेत्रावगाहाभिधानं क्षेत्रांतरस्य तत्।
निवृत्यर्थं स्थिताः स्यात्तु क्रियांतरनिवृत्तये ॥ ५ ॥

उक्त सूत्र में उस "एकक्षेत्रावगाह" वाक्य का निरूपण करना तो अन्य क्षेत्र

को निवृत्ति के लिये है। अर्थात् आत्मसंबंधी उसी क्षेत्र में कर्मपुद्गल समा जाता है। कर्म पुद्गलों के आ जाने से दोनों की क्षेत्रांतर में प्राप्ति नहीं हो जाती है। "स्थिताः" यह पद तो गमन, भ्रमण, आदि अन्य क्रियाओं की निवृत्ति के लिये कहा गया समझो।

एकक्षेत्रावगाहवचनं क्षेत्रांतरनिवृत्त्यर्थं, स्थिता इति वचनं क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थमिति प्रतिपादनात्। एकक्षेत्रावगाहः कोसाविति चोच्यते।

उन कर्मों का आत्मा के साथ एकक्षेत्र में अवगाह हो जाता है यह सूत्रकार का कथन करना तो अन्य क्षेत्रों की निवृत्ति करने के लिये है, जो ही क्षेत्र आत्मा के ठहरने का है उन्हीं प्रदेशों में कर्मों का अवगाह है, कर्मों का कोई दूसरा आधारक्षेत्र नहीं है और "स्थिताः" वचन तो अन्य क्रियाओं की निवृत्ति के लिये है। जब कि इस प्रकार अन्य ग्रन्थों में भी प्रतिपादन किया गया है। यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि वह एक क्षेत्र में दोनों का अवगाह हो जाना भला क्या है? बताइये। यों जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार करके और भी उत्तर कहा जा रहा है।

अत्यन्तनिबिडावस्थावगाहोर्थात् प्रतीयते।
तेन तेऽवस्थितास्तत्र गोमयो धूमराशिवत् ॥ ६ ॥

उस एक क्षेत्रावगाह कह देने से इतनी बात विना कहे ही तात्पर्य अर्थ से प्रतीत हो जाती है कि अन्यत्र सघन, निबिड़, संश्लेषण, अवस्था प्राप्त होकर दोनों का अवगाह हो रहा है, तिस कारण सिद्ध हो जाता है कि वे कर्मप्रदेश उस आत्मा में गोबर में धूमराशि के समान स्थित हो रहे हैं। अर्थात् जिस प्रकार गोबर के छोटे से एक इंच लंबे, चौडे टुकडे से दशगज लम्बे, चौडे, घर को ठसा ठस भर देने वाला धुआं स्थित हो रहा है, उस विशाल स्थल में भर गये धूआं के प्रत्येक अवयव के नियत उपादानकारण प्रथम से ही छोटी कण्सी में विद्यमान थे। उसी प्रकार आत्मा के क्षेत्र में ही अनन्तानन्त कर्म स्कन्ध ठहरे हुये हैं।

ततः सूक्ष्माश्च ते एकक्षेत्रावगाहस्थिताश्चेति स्वपदार्थवृत्तिः प्रत्येया, ते च कर्मणः प्रदेशाः।

तिस कारण से यहां सूक्ष्म हो रहे सन्ते वे पुद्गल एक क्षेत्र में अवगाह कर स्थित हो रहे हैं यों अपने ही समासघटित पदों के अर्थ को प्रधान रखने वाला कर्मधारय समास नामक वृत्ति समझ ली जाय। और कर्मधारय समास में विग्रह के लिये कहे गये

"ते" पद से कर्मों के प्रदेश ग्रहण करने चाहिये। उक्त कारिका में बोले गये ते पद का अर्थ भी वे कर्मप्रदेश हैं।

भूयः प्रदेशं नैकत्र प्रदेशे द्रव्यमीक्ष्यते।
परमाणौ यथाक्ष्माभृत्कुलं नैवेति केचन ॥ ७ ॥
तेषामल्पप्रदेशस्थैर्घनैः कार्पासपिण्डकैः।
अनैकान्तिकता हेतोर्भूयो देशैरसंशयम् ॥ ८ ॥

यहाँ किन्हीं का आक्षेप है कि एक प्रदेश में बहुत से प्रदेशवाला द्रव्य समा जाय ऐसा देखने में नहीं आता है जैसे कि एक परमाणु में पर्वतों का समुदाय नहीं आधार पा सकता है तो असंख्यात प्रदेशी आत्मा में अनन्तानन्त कर्म कैसे ठहर सकते हैं ? इस प्रकार कोई पण्डित कह रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि उन पण्डितों के यहां कहा गया हेतु तो संशयरहित व्यभिचार दोषवाला है। बहुत से प्रदेशों में फंले हुये कपासनिर्मित रुई के पिण्ड को दबाकर घना करके अल्पप्रदेशों में स्थित कर दिया जाता है अर्थात् फूली हुयी बहुत रुई की काटनप्रेस में दबाकर छोटी सी गांठ बना ली जाती है। अतः उतने ही प्रदेश-वाले द्रव्य की उतने ही प्रदेशवाले आधार पर स्थिति होती है इस व्याप्ति में पड़े हुये हेतु का घनी रुई से व्यभिचार आता है। प्रयोगों द्वारा बडे बडे पदार्थों को छोटे आधारों में धर दिया जाता है। पदार्थों में अवगाहशक्ति विद्यमान है। दूध में बूरा समा जाता हैं जब स्थूल पदार्थों की यह व्यवस्था है तो सूक्ष्मपदार्थ तो निराबाध होकर एक दूसरे में ठहर जाय या स्वल्पप्रदेश में स्थित हो जाय इस में कोई आश्चर्य नहीं है।

योगविशेषाविति वचनं निमित्तनिर्देशार्थं। कथमित्याह:—

सूत्र में योगविशेष से प्रदेशबन्ध होना जो कहा गया है इसका प्रयोजन तो निमित्त कारण का नाम मात्र कथन करना है। मन वचन, काय, को अवलम्ब पाकर हुये आत्मप्रदेशपरिस्पन्द स्वरूप योगविशेषसे पुद्गल खिचे हुये आ जाते हैं। वह योग प्रदेशबंध का किस प्रकार निमित्त है ऐसी जिज्ञासा उपजने पर ग्रन्थकार यों अगली आधी वार्तिक द्वारा उत्तर कह रहे हैं।

योगः पूर्वोदितस्तस्य विशेषात् कारणात्तथा।
स्थिता तेत्र विना हेतोर्नियतावस्थितिच्चतेः ॥ ९ ॥

पूर्व के छठे अध्याय में "कायवाङ्मनःकर्म योगः" इस सूत्र करके योग कह दिया गया है। उस योग के विशेष से अर्थात् विशेषजाति के योग अथवा मिथ्यात्व आदिके साहित्य को धार रहे योगविशेष नामक कारण से तिस प्रकार पुद्गलों का आस्रव होकर बंध हो जाता हैं। इस सूत्र में "स्थिताः" इस शब्द से नियत क्षेत्र में अवस्थिति हो जाना कहा गया है। वे पुद्गल यहां आत्मा में आकर ठहर जाते हैं चलते, घूमते नहीं रहते हैं। यदि "स्थिताः" नहीं कहते तो हेतु के विना नियत क्षेत्र में अवस्थान हो जाने की क्षति पड जाती, अतः "स्थिताः" कहना आवश्यक है।

सर्वेषु भवेषु सर्वत इत्यनेन कालोपादानं कृतम्।

इस सूत्र में सर्वतः पद का अर्थ "सम्पूर्ण भवों में" यह है। पंचमी विभक्ति के अतिरिक्त अन्य सप्तमी आदि विभक्तियों से भी तस् प्रत्यय हो जाता है, अतः सम्पूर्ण भवों में कर्मबन्ध होता रहता है इस कथन करके सूत्रकार महाराज ने काल का ग्रहण किया है। संसारी जीवों के भूत, वर्तमान और यथायोग्य भविष्य यों सम्पूर्ण भवों में प्रदेश-बन्ध होता रहता है। इसी रहस्य को अगली वार्तिक में ग्रन्थकार कह रहे हैं।

सर्वेष्वपि भवेष्वेते क्वचिदेव भवे न तु।
सर्वतो वचनादेव प्रतिपत्तव्यमंजसा ॥ १० ॥

ये कर्मों के प्रदेशबंध तो सम्पूर्ण भवों में भी होते रहेंगे किसी एक, दो भव में ही नहीं होंगे। इस रहस्य की "सर्वतः" इस कथन से ही निर्दोषप्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये।

इति प्रदेशैर्यो बंधः कर्मस्कंधादिभिर्मतः।
स नु प्रदेशबंधः स्यादेष बंधो विलक्षणः ॥ ११ ॥

इस पूर्वोक्त प्रकार सूत्रोक्त सम्पूर्ण विशेषणों को सार्थक कहते हुये सूत्रकार ने जो आत्मा का कर्म स्कंध, नोकर्म वर्गणा आदि प्रदेश समुदायों के साथ जो बंध माना है वह प्रदेशबंध समझा जायगा, यह प्रदेशबंध उन प्रकृतिबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध से सर्वथा भिन्नलक्षणवाला निराला ही है।

सोयं कारणभेदेन कार्यभेदेन चास्थितः।
स्वभावस्य च भेदेन कर्मबन्धश्चतुर्विधः ॥ १२ ॥

बद्धस्पृष्टादिभेदेनावस्थितादि भिदापि च ।
द्रव्यादिभेदतो नामादिप्रभेदेन वा तथा ॥ १३ ॥

वह यह युक्तियों से प्रसिद्ध हो रहा कर्मबंध न्यारा न्यारा चार प्रकार हैं कारणों के भेद करके और कार्यों के भेद करके तथा स्वभाव के भेद करके चार प्रकार व्यवस्थित होता है अर्थात् चारों के कारण न्यारे न्यारे हैं मिथ्यात्व आदि से विशिष्ट हो रहा योग तो प्रकृतिबंध का कारण है। स्थितिबंधाध्यवसायस्थानों से सहित कषायों की विशेष जाति से स्थितिबंध पड जाता है, अनुभागबंधाध्यवसायस्थानपूर्ण रसप्रद कषायविशेष जाति से अनुभागबंध हो जाता है। और अविभाग प्रतिच्छेदों की न्यून, अधिक संख्या को ले रहे योगविशेषों से प्रदेशबध बन बैठता है। इसी प्रकार इन चारों के कार्य भी न्यारे न्यारे हैं, इन चारों में स्वभाव भी न्यारे न्यारे पडे हुये हैं। कोई कोई इस कारिका का अर्थ यों भी कर सकते हैं कि कारणबंध, कार्यबंध, और स्वभावबंध यों तीन प्रकार का बंध है। द्रव्यबंध कारणबंध है, और भावबंध कार्यबध है, स्वभावबध उभयबंध कहा जा सकता है यह भी तात्पर्य निकाल लो। बद्ध यानी एकरस होकर बांध लिये गये और स्पृष्ट यानी छू लिये गये विस्रसोपचय या फल दिये बिना खिर जानेवाले पुद्गल तथा बद्धाबद्ध आदि भेद करके एवं अवस्थित, भुजाकार, अल्पतर आदि भेदों करके भी कर्मबन्ध कई प्रकार का है। एवं द्रव्यबंध, भावबंध, उभयबंध या द्रव्य क्षेत्र, काल आदि भेदों से भी अथवा नाम, स्थापना, आदि भेदों से भी बन्ध के कई भेद हो सकते हैं। चौथे सूत्र की व्याख्या में कतिपय भेदों का निरूपण किया भी है।

विना प्रकृतिबंधान्न स्युर्ज्ञानावरणादयः ।
कार्यभेदाः स्वयं सिद्धाः स्थितिबंधाद्विना स्थिराः ॥ १४ ॥
न चानुभवबंधेन विनानुभवनं नृणां ।
प्रदेशबंधतः कृत्स्नेनैकैर्न व्याप्यवृत्तये ॥ १५ ॥

अब ग्रन्थकार चारों बन्धों की आवश्यकता को बताते हैं कि पिण्डस्वरूप प्रकृतियों के बन्ध विना ज्ञान का आवरण, दर्शन का आवरण, आदिक भिन्न भिन्न कार्य नहीं हो सकेंगे। यों विना प्रयत्न के स्वयं सिद्ध हो रहे भिन्न भिन्न अज्ञान आदि कार्य सब प्रकृति बंध से होते हैं। और स्थितिबंध को माने विना वे कर्मबंध स्थिर नहीं रह सकेंगे, झट आते

ही खिर जावेंगे, उसी क्षण आकर झड़ जाने वाला कर्म आत्मा को कुछ भी फल नहीं दे सकता है। ऐसी दशा में कर्मों के द्वारा बहुत देर तक हो रहे अज्ञान, सरोगता, यशोगायन, शोक आदि कार्य नहीं देखे जा सकेंगे। तथा अनुभव बंध को माने विना जीवों को फल अनुभवन नहीं हो सकेगा जो कि दिनरात भोगा जा रहा है। एवं प्रदेशबंध के विना न तो सम्पूर्ण और न एक एक कर्मपरमाणुओं के साथ आत्मा व्याप्त होकर बंध सकेगा, जो कि प्रदेशबंध आत्मा को व्यापकर वृत्ति करने के लिये अत्यावश्यक है। यों चारों बन्ध सूत्रकार द्वारा कहे गये युक्तिसिद्ध हैं।

एवं कार्यविशेषेभ्यो विशेषो बंधनिष्ठितः।
प्रत्ययोनेकधा युक्तेरागमाच्च तथाविधात् ॥ १६ ॥

इस प्रकार विशेष विशेष कार्यों से बंधों में प्रतिष्ठित अनेक प्रकार का विशेष समझ लेना चाहिये। युक्तियोंसे और तिसप्रकार के युक्तिपूर्ण आगम से यह सिद्धांत विश्वास कर लेने योग्य है। अर्थात् कारणों के विशेष से अनेक प्रकार बन्धों की उत्पत्ति होती है यों कारण हेतु से साध्य रूप कार्य का अनुमान द्वारा निर्णय कर लो। बन्धों के अनेक कार्य भी देखे जा रहे हैं। अतः कार्यहेतुओं से कारण साध्यों को युक्तियों द्वारा साध लिया जाय इस कर्मबंधसिद्धान्त को साधने के लिये अनेक युक्तियाँ और आप्तोक्त आगमप्रमाण विद्यमान हैं।

पुण्यास्रवोक्तिसामर्थ्यात् पुण्यबंधोऽवगम्यते।
सद्वेद्यादीनि चत्वारि तत्पुण्यमिह सूत्रितम् ॥ १७ ॥

"शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य" इस सूत्र में पुण्य का आस्रव होना भी कहा गया है और भी उच्च गोत्र, यशस्कीर्ति, तीर्थकरत्व, प्रकृतियों का भी आस्रव निरूपा गया है। सातवें अध्याय में भी पुण्यास्रव का कुछ वर्णन है। यों पुण्यास्रव के कथन की सामर्थ्य से जाना जाता है कि जीवों में पुण्य कर्मों का भी बंध होता है। वे पुण्य कर्म कौन हैं? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सद्वेद्य, शुभ आयु आदिक चार कर्म पुण्य हैं। यों इस अगले सूत्रमें श्री उमास्वामी महाराज द्वारा सूचन किया गया है वह सूत्र यों वक्ष्यमाण आकृति का है।

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

सातवेदनीय कर्म और तीन शुभ आयुयें, तथा नामकर्म की सैंतीस शुभ प्रकृतियां और शुभ गोत्रकर्म ये पुण्य प्रकृतियां हैं। इनका अनुकूल पड रहा अनुभवन जीवों को लौकिक सुख को करने वाला परिज्ञात हो रहा है।

शुभग्रहणमायुरादीनां विशेषणं। शुभायुस्त्रिविधं, शुभं नामसप्तत्रिंशद्विकल्पं, उच्चैर्गोत्रं च शुभं। कुतः सद्वेद्यादिप्रसिद्धमित्युच्यते।

इस सूत्र में शुभ पद का ग्रहण करना तो आयुः आदि तीन कर्मों का विशेषण हो रहा है। वेद्य के साथ सत् पूर्व में जुड रहा है यों सद्वेद्य, शुभ आयुः, शुभ नाम, और शुभ गोत्र ये पुण्यप्रकृतियां हैं। यह वाक्यार्थ प्रकट हो जाता है। अर्थात् तिर्यञ्च आयुः, मनुष्य आयुः, और देव आयुः यों आयुः पुण्यकर्म तीन प्रकार है। जीव को नारकी शरीर में ठूंसे रहना नरक आयुः का कार्य है जो कि किसी भी नारकी को अभीष्ट नहीं है। अतः नरक आयुः को पुण्य प्रकृतियों में नहीं गिनाया है, हाँ तिर्यञ्च के शरीर में घुसा रहना स्वयं जीवों को इष्ट है कोई भी तिर्यञ्च मरने के लिये उद्युक्त नहीं रहता है। जैसे कि दुःख सहने में असमर्थ हो रहे नारकी अपना अकाल में ही मरण हो जाना चाहते रहते हैं। शुभ नाम कर्म के सैंतीस भेद हैं, मनुष्यगति और देवगति ये दो गतियां पुण्य हैं। गति कर्म जीव को अग्रिम शरीर का ग्रहण करने के लिये ले जाता है। तिर्यञ्च शरीर में जीव को रुका रहने के लिये ले जाना वाञ्छनीय नहीं है, अतः तिर्यग्गति को पुण्यप्रकृतियों में नहीं गिनाया गया है। पांच जातियों में एक पञ्चेन्द्रियजाति पुण्य कर्म है। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण इन बहिरंग पांचों शरीरों को बनाने वाले पांचों अन्तरंग नामकर्म पुण्य हैं। जो कि अतीन्द्रिय हैं। आठों कर्मों का समुदाय कार्मणशरीर है, इसको बनाने वाला कार्मणशरीर एक न्यारा नामकर्म का भेद है। यों पांचों शरीर कर्म अनुकूल वेदने योग्य होने से पुण्य हैं, औदारिक अंगोपांग, वैक्रियिक अंगोपांग, आहारक अंगोपांग ये तीनों अंगोपांग कर्म शुभ हैं। छह संस्थानों में पहिला समचतुरस्रसंस्थान पुण्य है। छह संहननों में एक पहिला वज्रऋषभनाराचसंहनन पुण्य है। वर्ण, रस, गंध, स्पर्श सभी प्रकार के किन्ही किन्ही जीवों को अच्छे लगते हैं अतः प्रशंसनीय ये चारों ही पुण्य हैं। मनुष्यगत्यानुपूर्व्य और देवगत्यानुपूर्व्य ये दो आनुपूर्व्य कर्म पुण्य हैं। अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति यों पच्चीस प्रकृतियां हुयीं तथा त्रस, बादर पर्याप्ति, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, शुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण, और तीर्थकरत्व, ये बारह यों नाम कर्म में सम्पूर्ण सैंतीस प्रकृतियां पुण्य हैं, तथा दो गोत्र कर्मों में एक उच्चगोत्र शुभ है। इन

ब्यालीस प्रकृतियों की पुण्य संज्ञा है। यहाँ कोई जिज्ञासु पूंछता है कि किन प्रमाणों या युक्तियों से ये सद्वेद्य आदिक पुण्यकर्म सिद्ध किये जाते हैं? बताओ। ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर ग्रन्थकार उत्तरवार्तिकों द्वारा समाधान कहते हैं।

यस्योदयात्सुखं तस्यात्सद्वेद्यं देहिनां तथा,
शुभमायुस्त्रिधा यस्य फलं शुभभवत्रयम् ॥ १ ॥
सप्तत्रिंशद्विकल्पं तु शुभं नाम तथा फलं।
उच्चैर्गोत्रं शुभं प्राहुः शुभसंशब्दनार्थकम् ॥ २ ॥
इति कार्यानुमेयं तद्द्विचत्वारिंशदात्मनि।
पापास्रवोक्तिसामर्थ्यात्पापबंधो व्यवस्थितः ॥ ३ ॥

जिस कर्म के उदय से शरीरधारी जीवों को लौकिक सुख उपजता है वह सद्वेद्य कर्म समझा जायगा तथा तीन प्रकार आयुयें भी शुभ हैं। जिन पुण्य आयुओं का फल शुभ हो रहे तिर्यञ्च, मनुष्य, और देव इन तीन भवों की रोधनविपाकप्रद प्राप्ति हो जाना है। तथा नाम कर्म तो सैंतीस प्रकार का पुण्यरूप शुभ है जिसका कि फल वैसा ही अच्छी गति, जाति आदि रूप करके अनुभवा जा रहा है। लोक में पूजित हो रहे कुलों में जन्म होना अथवा सन्तानक्रम प्राप्त शुभ आचरणों द्वारा श्रेष्ठ बखाना जाना इस प्रयोजन को धार रहे उच्चगोत्र को आचार्य महाराज शुभकर्म कहते हैं। यों सांसारिक सुखी आत्मा में हो रहे कार्यों द्वारा अनुमान कर लेने योग्य ब्यालीस प्रकार का वह पुण्यकर्म प्रतीत कर लिया जाता है। दृश्यमान कार्यों से अदृष्ट पुण्य कर्मों का अनुमान कर लेना सुलभ है। परिशेष में पाप कर्मों के आस्रव का कथन करने की सामर्थ्य से पापप्रकृतियों का बन्ध हो जाना भी युक्तियों करके व्यवस्थित हो रहा है। यहां भी कार्यों से कारण का अनुमान कर लेना सुसाध्य है।

पापं पुनस्ततः पुण्यादन्यदित्यत्र सूत्र्यते:—

फिर पापकर्म तो उस पुण्य कर्म से न्यारा है ऐसी देशना का यहां सूत्र द्वारा निरूपण किया जाता है।

अतोन्यत् पापम् ॥ २६ ॥

इन उपर्युक्त पुण्यप्रकृतियों से अन्य शेष बच रहीं सम्पूर्ण प्रकृतियां पाप हैं। अर्थात् ब्यालीस प्रकृतियां पुण्य हैं और ब्यासी प्रकृतियां पाप हैं। बन्ध की अपेक्षा एकसौ बीस प्रकृतियां हैं। मिश्र और सम्यक्त्व के बढ जाने से उदय की अपेक्षा एकसौ बाईस प्रकृतियां समझी जाती हैं। उत्तर भेद कर देने से सत्त्व की अपेक्षा एकसौ अड़तालीस प्रकृतियां हैं। बन्ध की अपेक्षा एकसौ बीस प्रकृतियों में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, ये चारों प्रकृतियां पुण्य और पाप दोनों में गिनी गयी हैं। अच्छे से अच्छे और बुरे से बुरे स्पर्श आदिक चार किन्ही किन्ही जीवों को प्रतिकूल और अनुकूल होकर अनुभूत हो रहे हैं। यों दोनों पुण्य, पाप प्रकृतियों का जोड एकसौ चौबीस हो जाता है।

असद्वेद्याशुभायुर्नामगोत्राणीत्यर्थः। कुतस्तदवसीयत इत्याहः—

सूत्र में पडे हुये "अन्यत्" पद का यह अर्थ है कि असद्वेद्य, अशुभ आयु, अशुभ नाम प्रकृतियां और नीच गोत्र, ये परिशेष में पापप्रकृतियां गिनी जाती हैं अर्थात् ज्ञानावरण कर्म की पांच, दर्शनावरण की नव, मोहनीय की छब्बीस, अन्तराय की पांच, यों घाति कर्मों की पैतालीस प्रकृतियां हुयीं, यद्यपि निद्रा और प्रचला का कार्य भी सुख नींद लेना अनुकूल अच्छा लग रहा है तथापि वह सातवेदनीय का कार्य है, निद्राओं के साथ सात वेदनीय कर्म का अविनाभाव लग रहा है वस्तुतः मूल में निद्रा अच्छी नहीं है जैसे कि शोक या पीडा से मूर्च्छित हो जाना शोभन नहीं लगता है। वेदनीय कर्म की एक असाता वेदनीय प्रकृति और आयुष्य कर्म में एक नरक आयुः पाप है। कारण कि जीव को नारकी शरीर में ठुंसे रहना इसका कार्य प्रतिकूल वेदनीय हो रहा है। नाम कर्म की नरक गति तिर्यक्गति, पहिली चार जातियां, पिछले पांच संस्थान, आदिम को छोडकर पांच संहनन, प्रशंसनीय नहीं ऐसे वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और नरक गत्यानुपूर्व्य, तिर्यक्गत्यानुपूर्व्य, उपघात, अप्रशस्त-विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति, ये चौतीस प्रकृतियां हैं। गोत्र कर्म में नीचगोत्र पापप्रकृति है यों ब्यासी प्रकृतियां पाप हैं। यहाँ कोई तर्क उठाता है कि उन प्रकृतियों का पापपना किस प्रमाण से निर्णीत किया जाता है? बताओ। ऐसी जिज्ञासा उपस्थित होने पर ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

दुःखादिभ्योऽशुभेभ्यस्तत्फलेभ्यस्त्वनुमीयते,
हेतुभ्यो दृश्यमानेभ्यस्तज्जन्माव्यभिचारतः ॥ १ ॥

उनके दुःख प्राप्त होना, ज्ञान न होना, प्रतिकूल नींद आना, रोगी रहना बुरी आकृति बन जाना, हड्डियों का जोड निकृष्ट लगना, खोटा स्वर, अपयश, नीचकुली बखाना जाना, आदिक अनुभवे जा रहे अशुभ फलों से पापकर्मों का अनुमान कर लिया जाता है। कर्मों से अतिरिक्त अन्य देखे जा रहे कारणों से उन दुःख आदिकों की उत्पत्ति मानने से व्यभिचार दोष आता है। थप्पड लगा देने से बालक सो जाता है, कोई बालक रो जाता है, घोडा सुखिया जाता है कोई उत्साहित हो जाता है, लज्जाशील मनुष्य अत्यधिक दुःख मानता है। इसी प्रकार एक ही कार्य से किसी को यश अन्य को महायश तीसरे को अपयश प्राप्त हो जाता है। एक ही मातापिता के कोई लडका, लडकी सुन्दर, विनीत सदाचारी होते हैं, अन्य असुन्दर, अविनीत पापाचारी, होते हैं। आहार, पान, समान होने पर भी शरीर के अवयव, स्वर, आकृतियां अनेक प्रकार बुरी, भली बन जाता हैं। इत्यादि रूप से दृष्ट हेतुओं का व्यभिचार आता है। हाँ अदृष्ट अतीन्द्रिय कर्मों को इन दुःखादिकका अंतरंग कारण मान लेने से कोई दोष नहीं प्राप्त होता है।

एवं संक्षेपतः कर्मबन्धो द्वेधावतिष्ठते।
पुण्यपापातिरिक्तस्य तस्यात्यंतमसंभवात् ॥ २ ॥

इस प्रकार संक्षेप से दो प्रकार का कर्मबंध युक्ति और आगम से व्यवस्थित हो रहा है। कारण कि मूलरूप से पुण्य और पाप के अतिरिक्त उसके अन्य भेदों का अत्यन्त रूप करके असंभव है। यों उक्त दोनो सूत्रों को इस वार्तिक द्वारा परार्थानुमान बनाकर साध दिया है। जैनों का कर्मसिद्धान्त अकाट्य है, सभी विद्वानों को स्वीकार कर लेने योग्य है, आगम और युक्ति तथा अनुभव जिस विषय को पुष्ट कर रहे हैं उस रहस्य को नतमस्तक होकर स्वीकार कर लेना विद्वानों का कर्तव्य होना चाहिये।

पुण्यं पुण्यानुबंधीष्टं पापं पापानुबंधि च।
किंचित्पापानुबंधि स्यात्किंचित् पुण्यानुबन्धि च ॥ ३ ॥

जैन सिद्धान्त में पदार्थो के अनेक विचित्र स्वभाव इष्ट किये गये हैं। कोई पुण्यकर्म इस प्रकार का है, जो कि वर्तमान में पुण्यस्वरूप होता हुआ भविष्य में भी पुण्य को अनुकूल बांधने वाला है। जैसे कि शुद्धभावों से पूजन करना, तीर्थक्षेत्रों की यात्रा करना, पात्रदान करना, निःस्वार्थ भावों से परोपकार करना, इन पुण्यजन्य क्रियाओं से वर्तमान

में तो पुण्य बंधता ही है साथ ही भविष्य में पुण्यबन्ध हो जाने की वासनायें आत्मा में जम जाती हैं जो कि संतानप्रतिसंतान रूप से पुण्यसंपादिका हैं। नीरोग अवस्था में उत्साह पूर्वक किया गया व्यायाम (कसरत) वर्तमान में शरीरस्फूर्ति को उपजाता है किन्तु भविष्य के लिये भी उमंगों का उत्पादक बन जाता है। इसी प्रकार कतिपय पाप भी पिछले कालों में पाप को बांधने वाले माने गये हैं। मायाचार, धोकेबाजी, परस्त्रीलम्पटता, जुआ खेलना, आदि पापजन्य क्रियाओं से वर्तमान में तो पाप बंधता है साथ ही भविष्य में पापबन्ध की सन्तान का बीज उपज बैठता है। भूषणों के लोभ में आकर बच्चों की हत्या कर देने वाले हिंसक ठग भविष्य में भी अनेक पापों को करते रहते हैं। ये सब न्यारी-न्यारी जाति के पुण्यपाप हैं, कोई कोई पुण्य ऐसे होते हैं जो वर्तमान में पुण्य हैं किन्तु भविष्य में पाप के अनुकूल चलने वाले हैं जैसे कि किसी को धोका देकर उससे धन प्राप्त करने के लिये पूजन या दान करना अथवा मंत्रसंस्कार आदि विधियों को नहीं कराकर यश हडपने के लिये मेला, प्रतिष्ठा, आदि उत्सव कराना, व्यसनी पुरुषों को रुपये, पैसे का दान करना, पूजन करते हुये जाप देते हुये इधर उधर आंख मारना ऐसी क्रियायें कुछ पुण्यबन्ध कराती हैं किन्तु भविष्य में पापबंध कराने के लिये भी अनुकूल पड जाती हैं। एवं कोई कोई पाप ऐसे है जो कि पुण्यबंध के अनुकूल बंध बैठते है। मुनिमहाराज या जैनधर्म की रक्षा के लिये मर जाना, मार देना, भविष्य में विम्बप्रतिष्ठा, विद्यालय आदि में द्रव्य लगा देने का अभिप्राय रखकर पापमय आजीविका कर बैठना, किसी की वस्तु को चुराकर परोपकारी कार्य में लगा देना, अन्य जीवों के उपकार का लक्ष्य कर प्रकृत जीवों को क्लेश पहुंचाना इत्यादिक क्रियायें पापसंपादक हो रहीं भी भविष्य में पुण्यबंध की ओर ले जाती हैं। जगत् में सम्पूर्ण पदार्थ अनेक धर्मात्मक हैं "पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य, सावद्य लेशो बहु पुण्यराशौ। दोषाय नालं कणिका विषस्य, न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ" (श्रीसमन्तभद्राचार्य) जिन पूजक के महान् पुण्यबन्ध में अत्यल्प पापलेश मिला हुआ है। पापपूर्ण कमाई करके धन को धार्मिक कार्य में लगा देने वाले, अभिमानी पुरुष के पापपुञ्ज में पुण्य अंश भी मिल गया है। किसी किसी पुण्य में आधा पाप घुस बैठता है, किसी पाप में भी आधा पुण्य चिपक जाता है। ऐसे ही पहिले पुण्य पीछे भी पुण्य, और पहिले पाप पीछे भी पाप तथा पहिले पुण्य पीछे पाप, एवं पहिले पाप पीछे पुण्य इन चारों भंगों को भी दृष्टान्तपूर्वक समझ लेना चाहिये। एक सम्राट (बादशाह) ने चार प्रश्न किये कि यहां भी पुण्य वहां भी पुण्य, १, यहां पुण्य वहां (मरकर पीछे परलोकमें) पाप, २, यहां पाप वहां पुण्य, ३, यहां पाप वहां भी पाप ४, होय, इन चार प्रश्नों के उत्तर में चतुर मंत्री ने चार दृष्टान्त उपस्थित

कर दिये। पहिला दानी सेठ, दूसरा अभिमानी यशोवांच्छक धर्मरहित लौकिक कार्यों में द्रव्य व्यय करने वाला सेठ, तीसरा निर्धन, रोगी, धार्मिक आचरण करनेवाला मनुष्य, चौथा कुष्ठ रोगी भिकारी यों दृष्टान्तों द्वारा युक्तियों से पुण्य और पाप की अनेक धर्मविशिष्ट जातियों का परिज्ञान हो सकता है।

यथार्थोर्थानुबंधी स्यान्न्यायाचरणपूर्वकः।
तथानर्थोपि चांभोधि समुत्तारादिरर्थकृत् ॥ ४॥

ग्रन्थकार इस ऊपरली कारिका को पुष्ट करने के लिये दृष्टान्त कहते हैं कि जिस प्रकार अर्थ यानी धन का उपार्जन करना कोई कोई भविष्य में अगले धन उपार्जन का अनुकूल होता है, न्यायपूर्वक आचरणों के साथ कमाया गया धन वर्तमान में आजीविका कराता ही है, साथ ही भविष्य में भी उस न्यायोचित व्यवहार करने वाले व्यापारी की बाजार में प्रतिष्ठा (धाक) जम जाती है जो कि आगे भी धनोपार्जन का बीज है। तिसी प्रकार कोई कोई अनर्थ भी यानी अन्यायोपार्जित द्रव्य भी भविष्य में धन उपार्जन करा देता है जैसे कि समुद्र में उतर जाना, वन की आजीविका करना, लोहे का कार्य कर " इत्यादिक जघन्य व्यवसायों में भी धन कमा लिया जाता है। मोती निकालनेके लिये समुद्र में घुसते हैं, द्वीन्द्रिय जीव माने गये हजारों सीपों की हत्या होती है, धर्मकर्म सब छूट जाता है। अनेक धनिक व्यापारी कितने ही दिनों तक जहाज द्वारा समुद्र में प्रवास कर दूर देशान्तर में माल खरीदते हैं बेचते हैं बहुत से देशान्तरों में मांसभक्षण का प्रचार है, धार्मिक आयतन नहीं हैं, श्रावक के षट्कर्म पल नहीं सकते हैं अत एव कहीं–कहीं समुद्रयात्रा का निषेध भी लिखा हुआ पाया जाता है। समुद्र में इस पार से उस पार और उस पार से इस पार उतार देने की आजीविका भी प्रशस्त नहीं है। इसमें अनेक दोष छिपे हुये हैं, किन्तु इससे आर्थिकलाभ अधिक होता है। कितने ही पुरुष छिरिया भेड आदि को पालने, बेचने द्वारा आजीविका करते हैं उनको धनलाभ भी हो जाता है। उत्तम कुलवाले ऐसे निंद्य व्यापारों को करें तो उन्हे धनप्राप्ति नहीं होती है, कतिपय विपत्तियां लग जाती हैं "जाको कारु ताही छाजे, गदहा पीठ मोंगरा बाजे" यह किंवदन्ती बहुत दिनों से चरितार्थ हो रही है। इस वार्तिक में अर्थ को अर्थानुबन्धी और अनर्थ को भी अर्थानुबंधी साध दिया है। युक्तिपूर्वक अपेक्षाओं से दो भंग बन जाते हैं।

अन्यायाचरणायातस्तद्वदर्थोप्यनर्थकृत्।
अनर्थोपीति निर्णीतमुदाहरणमञ्जसा ॥ ५॥

जैसे कि अर्थ और अनर्थ दोनों में भी अर्थानुबन्धीपना विवक्षापूर्वक साध दिया है उसी के समान तीसरा और चौथा भंग यों है कि चोरी, धोका देना, असत्यभाषण, हत्या करना, जुआ खेलना, आदिक अन्यायपूर्वक आचरणों से आ गया अर्थ (धन) पीछे भविष्य में अनर्थों का करनेवाला हो जाता है व्यापारी जेलखाने में दे दिया जाता है, राजा उसका धन लूट लेता है, बीमारी में खर्च हो जाता है, चोर चुरा ले जाते हैं, आग लग जाती हैं, यों निर्धन बनाकर अनेक अनर्थों का वह धन उसको अनेक अनर्थ उत्पन्न कर देता है। तथा कतिपय अनर्थ भी अनर्थों के करने वाले हो रहे हैं। अनेक पुण्यहीन पुरुष दरिद्र कुलों में उपजे हैं धन कमाने के उनके भाव ही नहीं होते हैं, सहायक कारण ही नहीं मिलते हे। अन्यायपूर्वक कोई कार्य कर बैठें तो निर्धन के निर्धन रह जाते हैं। उनकी आत्मा इतनी पददलित, पतित हो जाती है कि उसमें उन्नतभाव कई पीढियों तक जन्मित नहीं होते हैं। खटीक, भंकरा, सिंगी लगानेवाले, कंजरा, कुचमदा, खुरपल्टा, ये सब आजीविकायें वर्तमान में अनर्थ हैं और भविष्य में भी अनर्थों की जड है यों ग्रन्थकार ने निर्दोष रूप से उदाहरणों का निर्णय कर दिया है। भावार्थ–दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक समरूप से घटित हो रहे हैं। पुण्यानुबन्धी पुण्य का दृष्टान्त अर्थानुबन्धी अर्थ है। और पापानुबन्धी पाप का उदाहरण तो अनर्थों को करनेवाला अनर्थ है, तथा पापानुबन्धी पुण्य का दृष्टान्त अनर्थकारी अर्थ है एवं पुण्यानुबंधी पाप का दृष्टान्त अर्थ को करने वाला अनर्थ है। स्याद्वादसिद्धान्त समुद्र महान् गहन है हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह पांचो पापों के सेवनेवाले पुरुष के प्रत्येक पापक्रियाओं में न्यारे–न्यारे अतिशय हैं। कोई मनुष्य केवल हिंसा करता है, अन्य चार पापों को नहीं करता है उसकी हिंसा पहिले की व्रतरहित अवस्था की हिंसा से अन्य स्वभाव को लिये हुये है, दूसरा गृहस्थ दो पापों का त्यागी है, तीन पापों को सेवता है तीसरा मनुष्य चार पापों का त्यागी है एक को सेवता है। चौथा पांचो पापों का त्यागी है; छठा मनुष्य पहिले त्यागी था, अब पापों को सेवने लग गया है, सातवां पापों को सेव रहा है भविष्य में त्याग कर देगा इन सबके पुण्यबन्ध या पापबन्धों में अनेक विलक्षणतायें माननी चाहिये। जिस नाव (बजड़ा) में हजार बोरा चना लद रहा है उसमें से एक सेर चना उतार लिया जाय या अधिक रख दिया जाय तो नाव पानी में ऊंची, नीची अवश्य हो जायगी, भले ही उस सूक्ष्म अन्तर को स्थूलबुद्धिवाले विद्यार्थी नहीं समझ सकें, एक सेर तो वहुत होता है एक तोला या एक चना भी रख दिया जाय या निकाल लिया जाय तो नाव के धँस जाने और ऊथलेपन में अन्तर पड़ जायगा। देखिये, यदि एक तोले में अस्सी

चना चढ जाते मान लिये जाय तो एक सेर भर में ६४०० चना हुये ढाई मन की बोरी में ६४०००० — छः लाख चालीस हजार चने भर गये, हजार बोरी वालो नाव में ६४०००००००— चौंसठ करोड चने हुये। हजार बोरी लाद देनेपर नाव पानी में पन्द्रह अंगुल धस जाती है पन्द्रह अंगुलों में असंख्यातासंख्यात प्रदेश हैं, असंख्याते उत्सर्पिणी अवसर्पिणीकाल के समयों से भी असंख्यात गुणे एक अंगुल में प्रदेश होते हैं। तब तो एक चना निकालने पर भी नाव पानी में असंख्यात प्रदेश ऊपर उठ आवेगी और एक चने को पीस कर पैंनी चीमटी से उठाकर उसका एक कण भी अधिक लाद देने पर उसी समय असंख्यात प्रदेश नीचे पानी में घुस जावेगी। इसी प्रकार पुण्यबंध और पापबन्ध में अनेक कारणों से विशिष्टतायें उपज जाती हैं। विचक्षण प्रतिभाशाली इस तत्व का गम्भीर अध्ययन कर सकते हैं। अनेकान्त सागर में जितना गहरे घुसोगे उतने ही अधिक तत्त्वरत्नों की प्राप्ति कर लोगे।

तत्र पापानुबंधिनः पुण्यस्य, पुण्यानुबंधिनश्च पापस्य कार्यं दर्शयति यत्प्रदर्शन-सामर्थ्यात् पुण्यानुबंधिनः पुण्यस्य पापानुबंधिनश्च पापस्य फलमवसीयते।

उस पुण्य, पापों के सहस्रों भंगों से परिपूर्ण हो रहे अनेकान्त रहस्य में अब ग्रन्थकार पाप को अनुबन्ध करने वाले पुण्य का और पुण्य को अनुकूल बांधने वाले पाप का कार्य दिखलाये देते हैं, जिसको कि दृष्टान्त द्वारा बढिया दिखला देने की सामर्थ्य से ही बिना कहे पुण्यानुबन्धी पुण्य का और पाप को अनुकूल बांधनेवाले पाप का फल निर्णीत कर लिया जाता है इसी बात को अग्रिम दो छन्दों में सुनिये।

प्रथमकमुत संपदां पदं विटगुरवोऽनुभवंति वंद्यपादाः।
तदनु च विपदं गरीयसीं दधति परामपि निंद्यवृत्तितां॥ ६॥
यदिहतदिदमुत्तरैनसो निजसुकृतस्य फलं वदंति तज्ज्ञाः।
तदपरमपि चादिमैनसः सुकृतपरस्य विपर्ययेण वृत्तेः॥ ७॥

व्यभिचारी, धनी, गुरुजन, पण्डा, महन्त, आदि पहिले तो सम्पत्तियों के स्थान का उपभोग करते हैं। असंख्य मनुष्य (स्त्री पुरुष) उनके चरणों की वन्दना करते हैं यह वर्तमान में पुण्यफल हैं किन्तु उसके पीछे बडी भारी विपत्तियों को वे प्राप्त करते हैं। साथ ही सबसे बड़े निन्दा करने योग्य वृत्तिपने को प्राप्त हो जाते हैं, यों पीछे पापफल

की प्राप्ति होती है। यहां इस लोक में या वर्तमानकाल में सुखसामग्री भोगते हुये पीछे बडी भारी विपत्ति और निन्दनीय प्रवृत्तियों का जो झेलना है सो यह उत्तरकालीन पाप का और वर्तमानकालीन अपने उपार्जित पुण्य का फल है, यों उस पुण्यपाप को जाननेवाले अतीन्द्रियदर्शी आचार्य महाराज कहते हैं। तथा उससे न्यारा भी एक फल है जो कि इस पूर्वोक्त के विपर्यय करके यानी उल्टी प्रवृत्ति करने से प्राप्त होता है। वह आदि अवस्था में पाप का और भविष्य के पुण्य को उपार्जन में तत्पर हो रहे कर्मबन्ध का फल है। भावार्थ— जगत् में कितने ही महन्त, भट्टारक, गोस्वामी, साधू बाबा पुज रहे हैं। हजारों भोले भगत उनको धन देते हैं उनका चरणामृत लेते हैं। वे लोग भी अभिमान में और धार्मिक अधिकारों में चूर होकर अनेक पापों को करते हुये इह लोक, परलोक में भारी आपत्तियों को प्राप्त करते हैं। विवेकशील मनुष्य उनके पीछे भारी निन्दा करते हैं। कोई कोई जातिनेता, देशनेता भी अंतरंग में कपट धार कर निःस्वार्थ सेवा करना दिखाते हुये पुज जाते हैं, मौज मारते हैं, किन्तु पीछे वे दुःखों को झेलते हैं छोटे छोटे बच्चे उनकी निन्दा करते हैं। बहुत से राजा, महाराजा या अधिकारी भी इस पापानुबन्धी पुण्य का अनुभव करते हैं। यह उत्तरकालीन पाप और वर्तमानकालीन पुण्य का फल दीख रहा है। तथा इससे उल्टे फल को भोगने वाले जीव भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं। कोई मुनि बीमार है या कोई विद्वान् अच्छा कार्य कर रहा भी निन्दा का पात्र बन रहा है। सज्जनों के ऊपर अनेक उपसर्ग आ पडते हैं कठिन ब्रह्मचर्य को पाल रहीं कतिपय कुलांगनायें दुःख झेल रही हैं। व्रती या दम्भरहित भोले पुरुषों की लोग निन्दा करते हैं यह सब पूर्वोपार्जित पाप का वर्तमान में फल हो रहा है किन्तु भविष्य में पुण्यसामग्री का संपादक पुरुषार्थ भी साथ लग रहा है। इन दो भङ्गों को दृष्टान्तपूर्वक साध देने से पुण्यानुबंधी पुण्य और पापानुबंधी पाप के दृष्टान्त सुलभतया ज्ञात हो जाते हैं। अनेक नीरोग शरीर, धनाढ्य, प्रतिष्ठित, पुत्र पौत्र वाले, वे सज्जन पुरुष मन, वचन, काय से रात दिन न्यायपूर्वक आचरण करते हैं। इसके विपरीत जगत् में ऐसे भी जीव हैं जो वर्तमान में पापफल भोग रहे हैं और भविष्य के लिये भी पापबंध कर रहे हैं। मुडचिरे, क्रोधी, दरिद्र, अपथ्यसेवी, रोगी द्वीन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय आदि क्षुद्रजीव बहुभाग इसी कोटी में ही गिन लेने योग्य हैं।

इति अष्टमाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम्।

इस प्रकार आठवें अध्याय का दूसरा आन्हिक समाप्त किया गया है।

आठवें अध्याय का सारांश

बन्धतत्त्व का निरूपण करनेवाले इस आठवें अध्याय के प्रकरणों की संक्षेप से सूचनिका यों है कि प्रथम ही मिथ्यादर्शन के दो भेद कर परोपदेशजन्य मिथ्यादर्शन के तीनसौ त्रेसठि भेद किये हैं। जिनोक्त परमागम को अनेक सिद्धान्तरत्नों का समुद्र बताया है। नित्यपक्ष या सर्वथा क्षणिकपक्ष में बन्ध मोक्षव्यवस्था नहीं बन सकती है, इसको युक्तियों से सिद्ध किया है, कर्मों का पौद्गलिकपना साधते हुये बन्ध के चार प्रकारों का व्याख्यान किया है। ज्ञानावरण आदि आठ मूलप्रकृतियों को अनुमान से साधकर उनके क्रमानुसार निरूपण का बीज समझा दिया है। किसी अपेक्षा से सत् हो रहे और कथंचित् असत् हो रहे मतिज्ञान आदि के ऊपर आवरण आ जाना बताया है। अभव्य के भी पिछले दो आवरणों की सिद्धि की है। आगमोक्त सभी उत्तर प्रकृतियों को युक्तियों से दृष्टान्तपूर्वक सिद्ध कर दिया है। दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुः कर्मों को उत्तरप्रकृतियों का व्याख्यान किया है जो कि राजवार्तिक महान् ग्रन्थ की वार्तिकों से प्रायः मिल जाता है। इसी प्रकार नाम, गोत्र, और अन्तराय की उत्तर प्रकृतियों का व्याख्यान है। दूसरे आन्हिक में स्थिति-बन्ध को कहते हुये द्वीन्द्रिय आदिक जीवों के बंध रहे कर्मों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थितियां समझाई हैं। अतीन्द्रिय स्थितिबंध और अनुभागबन्ध को साधने में अच्छी से अच्छी जो युक्तियां दी जा सकती हैं वे बताई हैं। फल का उपभोग हो चुकने पर भी कर्मों का क्षय हो नहीं पाता है इस मन्तव्य का निराकरण कर दिया है। प्रदेशबंध को कहते हुये स्कन्ध की सिद्धि कर दी है, कर्मबन्ध के अन्य भी भेद बतलाये हैं। पुण्यबन्ध और पापबंध को युक्तियों से पुष्ट किया है। आठवें अध्याय के अन्त में स्याद्वाद और अनेकान्त का अच्छे ढंग से प्रतिपादन किया है। वर्तमान में अनेक जीव पुण्य का सम्पादन कर रहे हैं किसी किसी पुण्य में पाप का अनुबंध लगा रहता है एवं कतिपय पापों में भी पुण्य की गंध अनु-प्रविष्ट हो रही है। यों देश की या पूर्वापर कालों की विवक्षा कर एवं आत्मीय भावों अनु-सार पुण्य पापों में अनेक धर्मों को बताया है। सातवें अध्याय के अन्त में भी दान का व्याख्यान करते हुये ग्रन्थकार ने अनेकान्त की विलक्षण छटाओं का प्रदर्शन किया था। प्रकाण्ड न्यायशास्त्र के उद्भट पारदर्शी विद्वान् यदि ऐसा प्रयत्न न करें तो आधुनिक हठी दार्शनिकों का मद कैसे गलित होवे, किसी नीतिज्ञ ने ठीक कहा है कि:—
"नीरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत्, विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः ?"
अतः ग्रंथकार का यह प्रयास अतीव प्रशंसास्पद है, सबको नतमस्तक होकर स्वीकार करना

पडता है। आठवें अध्याय के प्रकरणों को दो आन्हिकों में परिपूर्ण कर दिया है। यों इस आठवें अध्याय का संक्षिप्त व्याख्यान है।

इति श्री विद्यानन्द आचार्यविरचिते तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे
अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार यहां तक अनेक अंतरंग, बहिरंग लक्ष्मियों के आश्रय हो रहे श्री
विद्यानन्द आचार्य महाराज करके विशेषरूपेण विद्वत्तापूर्ण रचे गये इस
तत्वार्थसूत्र की श्लोकों में वार्तिक और अलंकारस्वरूप विवरण
करनेवाले तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नामक महान् ग्रन्थ
में आठवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

इति श्री तत्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थराज की आगरामण्डलान्तर्गत चावलीग्राम
निवासि माणिक्यचन्द्रकृत देशभाषामय "तत्वार्थचिन्तामणि" नामक
टीका में आठवां अध्याय पूर्ण हुआ।

पुण्यानुबंधि पापानि पुण्यान्येनःपराणि च।
समूलचूलं घ्नन् पुण्य पापानि स्ताच्छ्रिये जिनः ॥ १ ॥

——*—*—*

अथ नवमोऽध्यायः ।

संख्यातीतसहस्रयोजनमितस्वर्णादिरत्नस्फुरद्- ।
भण्डाराधिपतिः शचीपतिजगाद्यत्प्रातिहार्यं समुद् ।।
मिथ्यात्वादिनिदानपञ्चकभवान् बन्धान्धकारान् क्षिपन् ।
सद्दृग्ज्ञानचरित्ररत्नमहसा वीरः स नोव्यात्सदा ।। १ ।।

अब बंधपदार्थ का निरूपण कर चुकने पर सूत्रकार महाराज सम्वर और निर्जरातत्व की प्ररूपणा करने के लिये नौमे अध्याय का प्रारम्भ करते हैं। प्रथम ही संवरतत्व का लक्षण करते हुये सूत्र कह रहे हैं।

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

ज्ञानावरण आदि कर्मों के आगमन का हेतु हो रहे आत्मीयप्रदेशपरिस्पन्दस्वरूप योग को आस्रव कहा गया है उस आस्रवका अथवा उस योग में विशिष्टताओं का सम्पादन करनेवाले प्रदोष, निन्हव, आदि का निरोध हो जाना संवर तत्व है।

कर्मागमननिमित्ताप्रादुर्भूतिरास्रवनिरोधः, तन्निरोधे सति तत्पूर्वकर्मादानाभावः संवरः। तथा निर्देशः कर्तव्य इति चेन्न, कार्ये कारणोपचारात्। निरुध्यतेऽनेन निरोध इति वा निरोधशब्दस्य करणसाधनत्वात् आस्रवनिरोधः संवर इत्युच्यते न पुनः कर्मादानाभावः स इति। योगविभागो वा आस्रवस्य निरोधः ततः संवर इति। एतदेवाह—

कर्मों के आगमन में निमित्तकारण हो रहे योगविशेष, इन्द्रिय, कषाय, दुःख, शोक आदि का प्रादुर्भाव नहीं होना आस्रवनिरोध है। उस आस्रवनिरोध के हो जाने पर उस आस्रव को पूर्ववर्ती कारण मानकर हो रहे कर्मों के ग्रहण का अभाव हो जाना संवर पदार्थ है। यहाँ कोई शिष्य शंका उठाता है कि मूल सूत्र में आस्रवनिरोध को संवर कहा गया है अब टीका में आस्रवनिरोध हो जाने पर कर्मग्रहण के अभाव को संवर बखाना गया है, प्रतीत होता है कि "आस्रवनिरोधात् संवरः" या "आस्रवनिरोधे संवरः" यों सूत्र समझ लिया गया है। जब कि आस्रव का निरोध होनेपर संवर होना अभीष्ट है तो सूत्रकार को तिसी प्रकार आस्रवनिरोधे सति संवरः अथवा आस्रवनिरोधात्संवरः यों सूत्र पढना चाहिये जिससे कि अभिमत अर्थ की सिद्धि हो जाय, भ्रम के उत्पादक पदों का उच्चारण क्यों किया जा रहा है? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि अनादि आम्नाय अनुसार संवर का निर्देश इसी प्रकार होता चला आ रहा है यहां कार्य में कारणपने का उपचार किया गया है जैसे कि "अन्नं वं प्राणाः" यहाँ अन्न के कार्य हो रहे प्राणों में उद्देश्य रूप करके अन्नपन का उपचार है, तिसी प्रकार आस्रवनिरोध का कार्य हो रहे संवर में आस्रवनिरोध का व्यवहार कर लिया गया है अथवा एक बात यों है कि यहां सूत्र में निरोध शब्द को नि उपसर्ग पूर्वक "रुधिर आवरणे" धातु से कारण में घञ् प्रत्यय कर साधा जाय, इस आत्मीय भाव करके कर्म रोके जाते हैं यों आस्रव निरोध करनेवाला कारण संवर है यह सूत्र द्वारा कहा जाता है किन्तु फिर वह कर्मों के ग्रहण करने का अभाव हो जाना संवर नहीं है जो कि भाव में घञ् प्रत्यय करने पर अर्थ निकलता था यों संवर शब्द का भी कारण में अप् प्रत्यय कर साधन किया जाय, जिससे कि सामानाधिकरण्य बन जाय, जैसे कि "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं" यहां बन जाता है। अथवा दूसरे ढंग से यों भी आम्नाय के उक्त लक्षणवाक्य को घटित कर लिया जाय कि "आस्रवनिरोधः" यह स्वतन्त्र वाक्य रक्खा जाय और "संवरः" यह दूसरा सूत्र स्वतन्त्र समझा जाय। यों दोनों जुडे हुये पदों के योग का विभाग कर दो टुकडे कर लिये जाय तब तो वडा अच्छा अर्थ यह हो गया कि हित को चाहनेवाले जीव करके आस्रव का निरोध करना चाहिये, यह पहिले वाक्य का अर्थ हुआ। सूत्र अपने अर्थ को रचने के लिये यहां-वहां से उचित पदों को खींच लेते हैं। अत्यन्त संक्षेप से सूत्रों की रचना करनेवाले गम्भीर विद्वान् सभी, क्रिया, कारक, पदों को कहां तक बोलते रहें। अतः "हितार्थिना कर्तव्यः" यह पद सूत्र से शेष बच गया समझ लेना चाहिये। उस आस्रवनिरोध से क्या प्रयोजन सधेगा? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर झट सूत्रकार दूसरा वाक्य यों बोल देते हैं कि "संवर" कर्मों का

संवर हो जाना ही इस निरोध का प्रयोजन है। यों निरोध और संवर शब्दों को भाव में घञ् और अच् प्रत्यय कर ही साध लिया जाय। यहांतक सूत्रोक्त रहस्य का व्याख्यान कर दिया हैं, इस ही निरूपण को ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं।

अथास्रवनिरोधः स्यात्संवरोऽपूर्वकर्मणां।
कारणस्य निरोधे हि बंधकार्यस्य नोदयः ॥ १ ॥

अब सूत्रकार नौमे अध्याय के प्रारम्भ में संवरतत्व को कहते हैं। भविष्य काल में आने वाले अपूर्व कर्मों के आस्रव का निरोध हो जाना संवर समझा जायगा, कारण का निरोध हो जाने पर बंधस्वरूप कार्य की उत्पत्ति नियम से नहीं होती है। अर्थात् आस्रव और बंध का समय यद्यपि एक है तथापि आस्रव पूर्ववर्ती है और बंध उत्तरक्षणांशवर्ती है। लोक के नीचे भाग से ऊपरले भाग तक एक परमाणु एक समय में चौदह राजू चली जाती है परमाणु का पंकप्रभा, रत्नप्रभा, ब्रह्मलोक, सर्वार्थसिद्धि इन स्थानों में क्रम से पहुंचना मानना पडेगा यों एक समय के कार्यों में भी क्रम बन जाना सम्भव हो जाता है। अतः बन्ध और आस्रव में कार्यकारणभाव है समान समयवालों में भी दीप और प्रकाश के समान कारणकार्यभाव हो जाने में कोई विरोध नहीं है। अतः कारण हो रहे आस्रव के रुक जाने पर बंधना स्वरूप कार्य भी रुक जाता है।

आस्रवः कारणं बंधस्य कुतः सिद्ध इति चेत्—

यहां कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि बंध का कारण आस्रव है यह सिद्धान्त किस प्रमाण से सिद्ध है? बताओ। यों जिज्ञासा प्रवर्तने पर तो ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को उपस्थित करते हैं।

आस्रवः कारणं बन्धे सिद्धस्तद्भावभावतः।
तन्निरोधे विरुध्येत नात्मा संवृतरूपभृत् ॥ २ ॥

बंधकार्य होने में कारण आस्रव है, कार्य कारणभाव तो अन्वय और व्यतिरेक से सिद्ध हैं, देखिये, उस आस्रव का सद्भाव होने पर बंध की उत्पत्ति का सद्भाव है, आस्रव के नहीं होने पर बंध उपजता नहीं है "यद्भावाभावयोर्यस्योत्पत्त्यनुत्पत्ती तयोः कार्यकारणभावः"। उस आस्रव का निरोध हो जाने पर यह आत्मा संवर प्राप्त हो रहे स्वरूप को धारण कर लेता है। इस सूत्रोक्त सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं पडेगा।

नहि निरोधो निरूपितो अभावस्तस्य भावान्तरस्वभावत्वसमर्थनात्, तेनात्मैव निरुद्धास्रवः संवृतस्वभावभृत् संवरः सिद्धः सर्वथाविरोधाद्भावाभावाभ्यां भवतोऽभवतश्च ।

जैनसिद्धान्त में निरोध पदार्थ कोई तुच्छ या निरुपाख्य पदार्थ नहीं कहा गया है जैसा कि कार्यता, कारणता, आधारता, आधेयता आदि धर्मों से रीते तुच्छ अभावपदार्थ को वैशेपिकों ने इष्ट किया है जैन या मीमांसक ऐसे तुच्छ अभाव को नहीं मानते हैं। हम जैनों के यहाँ अभाव को अन्य भावों स्वरूप हो जाने का दृढ समर्थन किया गया है, जैसे कि रीता भूतल ही घटाभाव है, घट का फूटकर ठीकरा हो जाना ही घटध्वंस है उसी प्रकार करणसाधन व्युत्पत्ति अनुसार गुप्ति, समिति आदिक आत्मीय परिणाम ही आस्रवनिरोध कहे जाते हैं तिसकारण जिसके आस्रव रुक चुके हैं ऐसा गुप्ति, समितिवाला आत्मा ही संवर पा चुके स्वरूप को धार लेता है, यों युक्ति से संवर तत्व सिद्ध हो जाता है। भावस्वरूप आस्रवनिरोध का सद्भाव हो जाने से संवर के हो जाने का और आस्रवनिरोध का अभाव हो जाने से संवर के नहीं होने का सभी प्रकारों से कोई विरोध नहीं है।

बंधस्यास्रवकारणत्ववत् बंधस्यैव निरोधः संवर इति कश्चित्, तदयुक्तमित्याह:—

यहाँ कोई पण्डित आक्षेप करता है कि जिस प्रकार "बन्ध आस्रवकारणं" (बहुव्रीहि) बन्ध का आस्रव को कारणपना है, उसी प्रकार बंध के ही निरोध को संवर कहना चाहिये "बन्धनिरोधः संवरः" यों सूत्ररचना अच्छी जंचती है। आचार्य कहते हैं कि वह किसी पण्डित का कहना युक्तिशून्य है, इसी बात को अगली वार्तिक में कहे देते हैं।

संवरोऽपूर्वबंधस्य निरोध इति भाषितं,
न युक्तमास्रवे सत्यप्येतद्बाधानुषंगतः ॥ ३ ॥

"आस्रवनिरोधः संवरः" ऐसा नहीं कहकर "बंधनिरोधः संवरः" यों सूत्र बनाकर अपूर्व कर्मबन्ध का निरोध हो जाना संवर है। इस प्रकार किसी का भाषण करना युक्तिपूर्ण नहीं है क्योंकि आस्रव के होने पर भी बारहमे, तेरहमें गुणस्थानों में इस बंध के हो जाने की बाधा का प्रसंग आ रहा है। अर्थात् ग्यारहवे, बारहमें, तेरहमे गुण-स्थानों में केवल योग द्वारा सातावेदनीयकर्म का ईर्यापथ आस्रव हो रहा है किन्तु बन्ध नहीं है यों बन्ध का निरोध हो जाने से बारहमें गुणस्थान में सातावेदनीय का संवर समझा जायगा जो कि इष्ट नहीं है।, हां आस्रवनिरोध को संवर कह देने से वहां सातवेदनीय का

संवर नहीं कहा जा सकता है क्योंकि सातवेदनीय का आस्रव हो रहा है। अतः उक्त सूत्रनिर्देश ही समुचित है।

नहि सत्यप्यास्रवे संवरः संभवति सर्वस्य तत्प्रसंगात्। न चापूर्वकर्मबंधस्य निरोधे सत्यास्रवनिरोध एवेति नियमोस्ति क्षीणकषायसयोगकेवलिनोरपूर्वबंधनिरोधेपि कर्मास्रवसिद्धेः। प्रकृत्यादिसकलबंधनिरोधस्तु न नास्रवनिरोधमंतरेण भवतीति तन्निरोध एव बंधनिरोधस्ततो युक्तमेतदास्रवनिरोधः कर्मणामात्मनः संवर इति।

आस्रव होते सन्ते भी संवर संभव जाय यह बात सुसंगत नहीं है, अन्यथा सभी प्राणियों के उस संवर के हो जाने का प्रसंग आ जायगा। मिथ्यादृष्टि जीव के भी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी आदि का संवर बन बैठेगा। एक बात यह भी है कि पहिले नहीं बांधे जा चुके कर्मों के बन्ध का निरोध हो जाने पर आस्रव का निरोध होय ही जाय ऐसा कोई नियम नहीं है। जब कि कषायों का सर्वथा क्षय कर चुके बारहमे गुणस्थानवाले जीव के और तेरहवें गुणस्थानवाले योगसहित केवलज्ञानी आत्मा के अपूर्वकर्मों के बंध का निरोध होते हुये भी वेदनीय कर्म का आस्रव होना सिद्ध है। इस कारण बंध का निरोध संवर नहीं कहा जा सकता है। प्रकृतिबंध, स्थितिबंध आदिक सम्पूर्ण बन्धों का निरोध हो जाना तो आस्रव का निरोध हुये विना नहीं हो पाता है। इस कारण उस आस्रव का निरोध हो जाना ही बन्ध का निरोध है। यों आस्रव के निरोध में बंध का निरोध गर्भित हो जाता है और व्याप्य हो रहे बन्धनिरोधमें व्यापक आस्रव निरोध नहीं समा पाता है तिस कारण से यह सिद्धान्त ही युक्तियों से पूर्ण है कि कर्मों के आस्रव का निरोध हो जाना आत्मा का संवर तत्व है। यहांतक सूत्र का समर्थन समाप्त कर दिया है।

मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययकर्मसंवरणं संवरः। स द्वेधा, द्रव्यभावभेदात्। संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः, तन्निरोधे तत्पूर्वककर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः। तद्विभावनार्थं गुणस्थानविभागवचनं।

मिथ्यादर्शन, अविरति आदि को कारण मानकर ग्रहण किये जा रहे कर्मों का सम्यग्दर्शन, विरति आदिक परिणतियों के हो जाने पर संवरण हो जाना संवर है। द्रव्यसंवर और भावसंवर के भेद से वह संवर दो प्रकार का है। द्रव्य, क्षेत्र आदि निमित्तों से जीव को अन्यभव की प्राप्ति हो जाना संसार है। उस संसरण की निमित्तकारण हो रहीं इन्द्रियलोलुपता, कषायपरिणतियां, हिंसा, व्यभिचार, आदिक क्रियाओं की निवृत्ति हो

जाना भावसंवर है और उस भाव संवरस्वरूप आस्रवनिरोध हो जाने पर उस आस्रवपूर्वक ग्रहण किये जा रहे कर्मपुद्गलों का निराकरण हो जाना द्रव्यसंवर कहा जाता है। उस संवर का परिपूर्ण विचार करने के लिये जैनसिद्धान्त में चौदह गुणस्थानों के विभाग का निरूपण किया गया है।

मिथ्यादृष्टि,सासादनसम्यग्दृष्टि,सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टि,संयतासंयत, प्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसांपराय,सूक्ष्मसांपरायोपशमक,क्षपकोपशांत,क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ,सयोगायोगिकेवलिभेदाद्गुणस्थानविकल्पः।

उन गुणस्थानों के नाम इस प्रकार हैं। १ मिथ्यादृष्टि, २ सासादनसम्यग्दृष्टि ३ सम्यङ्मिथ्यादृष्टि ४ असंयतसम्यग्दृष्टि ५ संयतासंयत ६ प्रमत्तसंयत ७ अप्रमत्तसंयत ८ अपूर्वकरणउपशमकक्षपक ९ अनिवृत्तिबादरसांपरायउपशमकक्षपक १० सूक्ष्मसांपरायउपशमकक्षपक ११ उपशांतकषायवीतरागछद्मस्थ १२ क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ १३ सयोगकेवली १४ अयोगकेवली, इस प्रकार भेद कर देनेसे गुणस्थानों के चौदह विकल्प हो जाते हैं।

तत्र मिथ्यादर्शनोदयवशीकृतो मिथ्यादृष्टिः, तदुदयाभावेऽनन्तानुबंधिकषायोदयविधेयीकृतः सासादनसम्यग्दृष्टिः।

उन चौदह गुणस्थानों में प्रत्येक का लक्षण यथाक्रम से इस प्रकार है कि दर्शनमोहनीय कर्म की पौद्गलिक उत्तरप्रकृति हो रहे मिथ्यादर्शन कर्म के उदय करके वश में कर लिया गया जीव मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। उन उन गुणस्थानों में संभव रहे भावों को धार रहे जीव गुणस्थानी हैं और उन भावों को गुणस्थाम कहते हैं। राजवार्तिक और गोम्मटसार में इन गुणस्थानों का बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया गया है यहाँ संक्षेप से लक्षणमात्र कह दिया है। उस मिथ्यात्वप्रकृति के उदय का अभाव हो जाने पर अनंतानुबंधी कषाय के उदय अनुसार कलुषित कर दिया गया पराधीन जीव सासादनसम्यग्दृष्टि है। उपशमसम्यक्त्व के पहिले करणत्रय पुरुषार्थ करके पांच या सात प्रकृतियों का यद्यपि अन्तरकरण नाम का उपशम कर दिया था, फिर भी उपशम के अन्तर्मुहूर्त काल में कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवली काल शेष रह जाने पर अनन्तानुबन्धी की चार प्रकृतियों में से किसी भी प्रकृति के उदय या उदीरणा अनुसार सम्यक्त्वपर्वत से गिर गया और मिथ्यात्व भूमि तक नहीं पहुंचा जीव सासादनसम्यग्दृष्टि है। आसादन यानी विराधना से सहित हो रहा सम्यग्दर्शन ही सासादनगुणस्थान है। यह जीव नियम

से मिथ्यात्व भूमि पर गिर पडेगा।

सम्यङ्मिथ्यात्वोदयात् सम्यङ्मिथ्यादृष्टिः,सम्यक्त्वोपेतश्चारित्रमोहोदयापादिता-विरतिरसंयतसम्यग्दृष्टिः द्विविषयविरत्यविरतिपरिणतः संयतासंयतः ।

दर्शनमोहनीय की जात्यन्तर सर्वघाती हो रही सम्यङ्मिथ्यात्व नामक प्रकृति का उदय हो जाने से दही और गुड के मिले हुये खटमिट्ठे रस के समान तत्त्वार्थों के श्रद्धान, अश्रद्धान, रूप मिश्र परिणामों को धार रहा जीव सम्यङ्मिथ्यादृष्टि है और मिश्रित परिणाम हो जाना तीसरा गुणस्थान है। चौथा गुणस्थानी असंयत सम्यग्दृष्टि है। औपशमिकसम्यग्दर्शन या क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन अथवा क्षायिकसम्यग्दर्शन से सहित हो रहा भी चारित्रमोहनीय माने गये अप्रत्याख्यानावरण के उदय से इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम-स्वरूप विरति की नहीं प्राप्ति कर रहा जीव असंयत सम्यग्दृष्टि है। इसके स्वरूप भी संयम नहीं हैं किन्तु सम्यग्दर्शन अवश्य हैं, चौथे से लेकर ऊपर के सभी गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन नियम से विद्यमान रहता है। पहिले चार गुणस्थान तो दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा से हैं। दर्शनमोहनीय के उदय, उपशम, क्षय, या क्षयोपशम अनुसार हो जाते हैं। दूसरे में पारिणामिक भाव इसी अपेक्षा सम्भव रहा है। हां, चौथे से ऊपर पांचवें आदिक गुणस्थान तो चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम या उपशम अथवा क्षय से हो जाते हैं। प्राणी और इन्द्रिय इन दोनों विषयों में कथंचित् विरति और कथंचित् अविरति परिणामों से समाहित हो रहा जीव संयतासंयत है। पांचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरणकषायों का उदय सर्वथा नहीं है। हां, प्रत्याख्यानावरणका पाक्षिक अवस्थामें या ग्यारह प्रतिमाओं में तारतम्य रूप से मन्द उदय हैं, संज्वलनकषाय और नोकषायों का उदय है ही, प्राणियों में त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का परित्याग है और स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग नही है। इन्द्रिय-संयम भी एक देश पल रहा है बहुभाग नही पल रहा है। अतः एक ही समय में कुछ संयत और कुछ असंयत होने से पांचवें गुणस्थान वाला जीव संयतासंयत है।

परिप्राप्तसंयमः प्रमादवान् प्रमत्तसंयतः प्रमादविरहितोऽप्रमत्तसंयतः ।

चारित्र मोहनीय की बारह सर्वघाती प्रकृतियों का उदय निवृत्त हो जाने से जिस जीव को संयम प्राप्त हो गया है फिर भी चारित्र से कुछ स्खलित करनेवाले पन्द्रह प्रमादों से युक्त हो रहा वह जीव प्रमत्तसंयत कहा जाता है। संयम में नहीं विचलित हो रहा और प्रमादो से भी विरहित हो रहा जीव अप्रमत्तसंयत है। सातमे गुणस्थान के निर-

कर्मों के आगमन में निमित्तकारण हो रहे योगविशेष, इन्द्रिय, कषाय, दुःख, शोक आदि का प्रादुर्भाव नहीं होना आस्रवनिरोध है। उस आस्रवनिरोध के हो जाने पर उस आस्रव को पूर्ववर्ती कारण मानकर हो रहे कर्मों के ग्रहण का अभाव हो जाना संवर पदार्थ है। यहाँ कोई शिष्य शंका उठाता है कि मूल सूत्र में आस्रवनिरोध को संवर कहा गया है अब टीका में आस्रवनिरोध हो जाने पर कर्मग्रहण के अभाव को संवर बखाना गया है, प्रतीत होता है कि "आस्रवनिरोधात् संवरः" या "आस्रवनिरोधे संवरः" यों सूत्र समझ लिया गया है। जब कि आस्रव का निरोध होनेपर संवर होना अभीष्ट है तो सूत्रकार को तिसी प्रकार आस्रवनिरोधे सति संवरः अथवा आस्रवनिरोधात्संवरः यों सूत्र पढना चाहिये जिससे कि अभिमत अर्थ की सिद्धि हो जाय, भ्रम के उत्पादक पदों का उच्चारण क्यों किया जा रहा है? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि अनादि आम्नाय अनुसार संवर का निर्देश इसी प्रकार होता चला आ रहा है यहां कार्य में कारणपने का उपचार किया गया है जैसे कि "अन्नं वै प्राणाः" यहाँ अन्न के कार्य हो रहे प्राणों में उद्देश्य रूप करके अन्नपन का उपचार है, तिसी प्रकार आस्रवनिरोध का कार्य हो रहे संवर में आस्रवनिरोध का व्यवहार कर लिया गया है अथवा एक बात यों है कि यहां सूत्र में निरोध शब्द को नि उपसर्ग पूर्वक "रुधिर आवरणे" धातु से कारण में घञ् प्रत्यय कर साधा जाय, इस आत्मीय भाव करके कर्म रोके जाते हैं यों आस्रव निरोध करनेवाला कारण संवर है यह सूत्र द्वारा कहा जाता है किन्तु फिर वह कर्मों के ग्रहण करने का अभाव हो जाना संवर नहीं है जो कि भाव में घञ् प्रत्यय करने पर अर्थ निकलता था यों संवर शब्द का भी कारण में अप् प्रत्यय कर साधन किया जाय, जिससे कि सामानाधिकरण्य बन जाय, जैसे कि "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं" यहां बन जाता है। अथवा दूसरे ढंग से यों भी आम्नाय के उक्त लक्षणवाक्य को घटित कर लिया जाय कि "आस्रवनिरोधः" यह स्वतन्त्र वाक्य रक्खा जाय और "संवरः" यह दूसरा सूत्र स्वतन्त्र समझा जाय। यों दोनों जुडे हुये पदों के योग का विभाग कर दो टुकडे कर लिये जाय तब तो वडा अच्छा अर्थ यह हो गया कि हित को चाहनेवाले जीव करके आस्रव का निरोध करना चाहिये, यह पहिले वाक्य का अर्थ हुआ। सूत्र अपने अर्थ को रचने के लिये यहां-वहां से उचित पदों को खींच लेते हैं। अत्यन्त संक्षेप से सूत्रों की रचना करनेवाले गम्भीर विद्वान् सभी, क्रिया, कारक, पदों को कहां तक बोलते रहें। अतः "हितार्थिना कर्तव्यः" यह पद सूत्र से शेष बच गया समझ लेना चाहिये। उस आस्रवनिरोध से क्या प्रयोजन सधेगा? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर झट सूत्रकार दूसरा वाक्य यों बोल देते हैं कि "संवर" कर्मों का

संवर हो जाना ही इस निरोध का प्रयोजन है। यों निरोध और संवर शब्दों को भाव में घञ् और अच् प्रत्यय कर ही साध लिया जाय। यहांतक सूत्रोक्त रहस्य का व्याख्यान कर दिया हैं, इस ही निरूपण को ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं।

अथास्रवनिरोधः स्यात्संवरोऽपूर्वकर्मणां ।
कारणस्य निरोधे हि बंधकार्यस्य नोदयः ॥ १ ॥

अब सूत्रकार नौमे अध्याय के प्रारम्भ में संवरतत्व को कहते हैं। भविष्य काल में आने वाले अपूर्व कर्मों के आस्रव का निरोध हो जाना संवर समझा जायगा, कारण का निरोध हो जाने पर बंधस्वरूप कार्य की उत्पत्ति नियम से नहीं होती है। अर्थात् आस्रव और बंध का समय यद्यपि एक है तथापि आस्रव पूर्ववर्ती है और बंध उत्तरक्षणांशवर्ती है। लोक के नीचे भाग से ऊपरले भाग तक एक परमाणु एक समय में चौदह राजू चली जाती है परमाणु का पंकप्रभा, रत्नप्रभा, ब्रह्मलोक, सर्वार्थसिद्धि इन स्थानों में क्रम से पहुंचना मानना पडेगा यों एक समय के कार्यों में भी क्रम बन जाना सम्भव हो जाता है। अतः बन्ध और आस्रव में कार्यकारणभाव है समान समयवालों में भी दीप और प्रकाश के समान कारणकार्यभाव हो जाने में कोई विरोध नहीं है। अतः कारण हो रहे आस्रव के रुक जाने पर बंधना स्वरूप कार्य भी रुक जाता है।

आस्रवः कारणं बंधस्य कुतः सिद्ध इति चेत्—

यहाँ कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि बंध का कारण आस्रव है यह सिद्धान्त किस प्रमाण से सिद्ध है ? बताओ। यों जिज्ञासा प्रवर्तने पर तो ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को उपस्थित करते हैं।

आस्रवः कारणं बन्धे सिद्धस्तद्भावभावतः ।
तन्निरोधे विरुध्येत नात्मा संवृतरूपभृत् ॥ २ ॥

बंधकार्य होने में कारण आस्रव है, कार्य कारणभाव तो अन्वय और व्यतिरेक से सिद्ध है, देखिये, उस आस्रव का सद्भाव होने पर बंध की उत्पत्ति का सद्भाव है, आस्रव के नहीं होने पर बंध उपजता नहीं है "यद्भावाभावयोर्यस्योत्पत्त्यनुत्पत्ती तयोः कार्यकारण-भावः"। उस आस्रव का निरोध हो जाने पर यह आत्मा संवर प्राप्त हो रहे स्वरूप को धारण कर लेता है। इस सूत्रोक्त सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं पडेगा।

नहि निरोधो निरूपितो अभावस्तस्य भावान्तरस्वभावत्वसमर्थनात्, तेनात्मैव निरुद्धास्रवः संवृतस्वभावभृत् संवरः सिद्धः सर्वथाविरोधाद्भावाभावाभ्यां भवतोऽभवतश्च ।

जैनसिद्धान्त में निरोध पदार्थ कोई तुच्छ या निरुपाख्य पदार्थ नहीं कहा गया है जैसा कि कार्यता, कारणता, आधारता, आधेयता आदि धर्मों से रीते तुच्छ अभावपदार्थ को वैशेषिकों ने इष्ट किया है जैन या मीमांसक ऐसे तुच्छ अभाव को नहीं मानते हैं। हम जैनों के यहाँ अभाव को अन्य भावों स्वरूप हो जाने का दृढ समर्थन किया गया है, जैसे कि रीता भूतल ही घटाभाव है, घट का फूटकर ठीकरा हो जाना ही घटध्वंस है उसी प्रकार करणसाधन व्युत्पत्ति अनुसार गुप्ति, समिति आदिक आत्मीय परिणाम ही आस्रवनिरोध कहे जाते हैं तिसकारण जिसके आस्रव रुक चुके हैं ऐसा गुप्ति, समितिवाला आत्मा ही संवर पा चुके स्वरूप को धार लेता है, यों युक्ति से संवर तत्त्व सिद्ध हो जाता है। भावस्वरूप आस्रवनिरोध का सद्भाव हो जाने से संवर के हो जाने का और आस्रवनिरोध का अभाव हो जाने से संवर के नहीं होने का सभी प्रकारों से कोई विरोध नहीं है।

बंधस्यास्रवकारणत्ववत् बंधस्यैव निरोधः संवर इति कश्चित्, तदयुक्तमित्याह: —

यहाँ कोई पण्डित आक्षेप करता है कि जिस प्रकार "बन्ध आस्रवकारणं" (बहुव्रीहि) बन्ध का आस्रव को कारणपना है, उसी प्रकार बंध के ही निरोध को संवर कहना चाहिये "बन्धनिरोधः संवरः" यों सूत्ररचना अच्छी जंचती है। आचार्य कहते हैं कि वह किसी पण्डित का कहना युक्तिशून्य है, इसी बात को अगली वार्तिक में कहे देते हैं।

संवरोऽपूर्वबंधस्य निरोध इति भाषितं,
न युक्तमास्रवे सत्यप्येतद्बाधानुषंगतः ॥ ३ ॥

"आस्रवनिरोधः संवरः" ऐसा नहीं कहकर "बंधनिरोधः संवरः" यों सूत्र बनाकर अपूर्व कर्मबन्ध का निरोध हो जाना संवर है। इस प्रकार किसी का भाषण करना युक्तिपूर्ण नहीं है क्योंकि आस्रव के होने पर भी बारहमे, तेरहमें गुणस्थानों में इस बंध के हो जाने की बाधा का प्रसंग आ रहा है। अर्थात् ग्यारहवे, बारहमें, तेरहमे गुण-स्थानों में केवल योग द्वारा सातावेदनीयकर्म का ईर्यापथ आस्रव हो रहा है किन्तु बन्ध नहीं है यों बन्ध का निरोध हो जाने से बारहमें गुणस्थान में सातावेदनीय का संवर समझा जायगा जो कि इष्ट नहीं है।, हां आस्रवनिरोध को संवर कह देने से वहां सातवेदनीय का

संवर नहीं कहा जा सकता है क्योंकि सातवेदनीय का आस्रव हो रहा है। अतः उक्त सूत्रनिर्देश ही समुचित है।

नहि सत्यप्यास्रवे संवरः संभवति सर्वस्य तत्प्रसंगात्। न चापूर्वकर्मबंधस्य निरोधे सत्यास्रवनिरोध एवेति नियमोस्ति क्षीणकषायसयोगकेवलिनोरपूर्वबंधनिरोधेपि कर्मास्रवसिद्धेः। प्रकृत्यादिसकलबंधनिरोधस्तु न नास्रवनिरोधमंतरेण भवतीति तन्निरोध एव बंधनिरोधस्ततो युक्तमेतदास्रवनिरोधः कर्मणामात्मनः संवर इति।

आस्रव होते सन्ते भी संवर संभव जाय यह बात सुसंगत नहीं है, अन्यथा सभी प्राणियों के उस संवर के हो जाने का प्रसंग आ जायगा। मिथ्यादृष्टि जीव के भी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी आदि का संवर बन बैठेगा। एक बात यह भी है कि पहिले नहीं बांधे जा चुके कर्मों के बन्ध का निरोध हो जाने पर आस्रव का निरोध होय ही जाय ऐसा कोई नियम नहीं है। जब कि कषायों का सर्वथा क्षय कर चुके बारहमे गुणस्थानवाले जीव के और तेरहवें गुणस्थानवाले योगसहित केवलज्ञानी आत्मा के अपूर्वकर्मों के बंध का निरोध होते हुये भी वेदनीय कर्म का आस्रव होना सिद्ध है। इस कारण बंध का निरोध संवर नहीं कहा जा सकता है। प्रकृतिबंध, स्थितिबंध आदिक सम्पूर्ण बन्धों का निरोध हो जाना तो आस्रव का निरोध हुये विना नहीं हो पाता है। इस कारण उस आस्रव का निरोध हो जाना ही बन्ध का निरोध है। यों आस्रव के निरोध में बंध का निरोध गर्भित हो जाता है और व्याप्य हो रहे बन्धनिरोधमें व्यापक आस्रव निरोध नहीं समा पाता है तिस कारण से यह सिद्धान्त ही युक्तियों से पूर्ण है कि कर्मों के आस्रव का निरोध हो जाना आत्मा का संवर तत्व है। यहांतक सूत्र का समर्थन समाप्त कर दिया है।

मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययकर्मसंवरणं संवरः। स द्वेधा, द्रव्यभावभेदात्। संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः, तन्निरोधे तत्पूर्वककर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः। तद्विभावनार्थं गुणस्थानविभागवचनं।

मिथ्यादर्शन, अविरति आदि को कारण मानकर ग्रहण किये जा रहे कर्मों का सम्यग्दर्शन, विरति आदिक परिणतियों के हो जाने पर संवरण हो जाना संवर है। द्रव्यसंवर और भावसंवर के भेद से वह संवर दो प्रकार का है। द्रव्य, क्षेत्र आदि निमित्तों से जीव को अन्यभव की प्राप्ति हो जाना संसार है। उस संसरण की निमित्तकारण हो रहीं इन्द्रियलोलुपता, कषायपरिणतियां, हिंसा, व्यभिचार, आदिक क्रियाओं की निवृत्ति हो

जाना भावसंवर है और उस भाव संवरस्वरूप आस्रवनिरोध हो जाने पर उस आस्रवपूर्वक ग्रहण किये जा रहे कर्मपुद्गलों का निराकरण हो जाना द्रव्यसंवर कहा जाता है। उस संवर का परिपूर्ण विचार करने के लिये जैनसिद्धान्त में चौदह गुणस्थानों के विभाग का निरूपण किया गया है।

मिथ्यादृष्टि,सासादनसम्यग्दृष्टि,सम्यग्मिथ्यादृष्टयसंयतसम्यग्दृष्टि,संयतासंयत, प्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वाकरणानिवृत्तिबादरसांपराय,सूक्ष्मसांपरायोपशमक,क्षपकोपशांत,क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ,सयोगायोगिकेवलिभेदाद्गुणस्थानविकल्पः।

उन गुणस्थानों के नाम इस प्रकार हैं। १ मिथ्यादृष्टि, २ सासादनसम्यग्दृष्टि ३ सम्यङ्मिथ्यादृष्टि ४ असंयतसम्यग्दृष्टि ५ संयतासंयत ६ प्रमत्तसंयत ७ अप्रमत्तसंयत ८ अपूर्वकरणउपशमकक्षपक ९ अनिवृत्तिबादरसांपरायउपशमकक्षपक १० सूक्ष्मसांपरायउपशमकक्षपक ११ उपशांतकषायवीतरागछद्मस्थ १२ क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ १३ सयोगकेवली १४ अयोगकेवली, इस प्रकार भेद कर देनेसे गुणस्थानों के चौदह विकल्प हो जाते हैं।

तत्र मिथ्यादर्शनोदयवशीकृतो मिथ्यादृष्टिः, तदुदयाभावेऽनन्तानुबंधिकषायोदयविधेयीकृतः सासादनसम्यग्दृष्टिः।

उन चौदह गुणस्थानों में प्रत्येक का लक्षण यथाक्रम से इस प्रकार है कि दर्शनमोहनीय कर्म की पौद्गलिक उत्तरप्रकृति हो रहे मिथ्यादर्शन कर्म के उदय करके वश में कर लिया गया जीव मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। उन उन गुणस्थानों में संभव रहे भावों को धार रहे जीव गुणस्थानी हैं और उन भावों को गुणस्थान कहते हैं। राजवार्तिक और गोम्मटसार में इन गुणस्थानों का बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया गया है यहाँ संक्षेप से लक्षणमात्र कह दिया है। उस मिथ्यात्वप्रकृति के उदय का अभाव हो जाने पर अनंतानुबंधी कषाय के उदय अनुसार कलुषित कर दिया गया पराधीन जीव सासादनसम्यग्दृष्टि है। उपशमसम्यक्त्व के पहिले करणत्रय पुरुषार्थ करके पांच या सात प्रकृतियों का यद्यपि अन्तरकरण नाम का उपशम कर दिया था, फिर भी उपशम के अन्तर्मुहूर्त काल में कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवली काल शेष रह जाने पर अनन्तानुबन्धी की चार प्रकृतियों में से किसी भी प्रकृति के उदय या उदीरणा अनुसार सम्यक्त्वपर्वत से गिर गया और मिथ्यात्व भूमि तक नहीं पहुंचा जीव सासादनसम्यग्दृष्टि है। आसादन यानी विराधना से सहित हो रहा सम्यग्दर्शन हो सासादनगुणस्थान है। यह जीव नियम

से मिथ्यात्व भूमि पर गिर पडेगा ।

सम्यङ्मिथ्यात्वोदयात् सम्यङ्मिथ्यादृष्टिः,सम्यक्त्वोपेतश्चारित्रमोहोदयापादिता-विरतिरसंयतसम्यग्दृष्टिः द्विविषयविरत्यविरतिपरिणतः संयतासंयतः ।

दर्शनमोहनीय की जात्यन्तर सर्वघाती हो रही सम्यङ्मिथ्यात्व नामक प्रकृति का उदय हो जाने से दही और गुड के मिले हुये खटमिट्ठे रस के समान तत्त्वार्थों के श्रद्धान, अश्रद्धान, रूप मिश्र परिणामों को धार रहा जीव सम्यङ्मिथ्यादृष्टि है और मिश्रित परिणाम हो जाना तीसरा गुणस्थान है। चौथा गुणस्थानी असंयत सम्यग्दृष्टि हैं। औपशमिकसम्यग्दर्शन या क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन अथवा क्षायिकसम्यग्दर्शन से सहित हो रहा भी चारित्रमोहनीय माने गये अप्रत्याख्यानावरण के उदय से इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयमस्वरूप विरति की नहीं प्राप्ति कर रहा जीव असंयत सम्यग्दृष्टि है। इसके स्वल्प भी संयम नहीं हैं किन्तु सम्यग्दर्शन अवश्य हैं, चौथे से लेकर ऊपर के सभी गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन नियम से विद्यमान रहता है। पहिले चार गुणस्थान तो दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा से हैं। दर्शनमोहनीय के उदय, उपशम, क्षय, या क्षयोपशम अनुसार हो जाते हैं। दूसरे में पारिणामिक भाव इसी अपेक्षा संभव रहा है। हां, चौथे से ऊपर पांचवें आदिक गुणस्थान तो चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम या उपशम अथवा क्षय से हो जाते हैं। प्राणी और इन्द्रिय इन दोनों विषयों में कथंचित् विरति और कथंचित् अविरति परिणामों से समाहित हो रहा जीव संयतासंयत है। पांचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरणकषायों का उदय सर्वथा नहीं है। हां, प्रत्याख्यानावरणका पाक्षिक अवस्थामें या ग्यारह प्रतिमाओं में तारतम्य रूप से मन्द उदय हैं, संज्वलनकषाय और नोकषायों का उदय है ही, प्राणियों में त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का परित्याग है और स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग नहीं है। इन्द्रियसंयम भी एक देश पल रहा है बहुभाग नहीं पल रहा है। अतः एक ही समय में कुछ संयत और कुछ असंयत होने से पांचवें गुणस्थान वाला जीव संयतासंयत है।

परिप्राप्तसंयमः प्रमादवान् प्रमत्तसंयतः प्रमादविरहितोऽप्रमत्तसंयतः ।

चारित्र मोहनीय की बारह सर्वघाती प्रकृतियों का उदय निवृत्त हो जाने से जिस जीव को संयम प्राप्त हो गया है फिर भी चारित्र से कुछ स्खलित करनेवाले पन्द्रह प्रमादों से युक्त हो रहा वह जीव प्रमत्तसंयत कहा जाता है। संयम में नहीं विचलित हो रहा और प्रमादों से भी विरहित हो रहा जीव अप्रमत्तसंयत है। सातमे गुणस्थान के निर-

तिशय अप्रमत्त और सातिशयअप्रमत्त यों दो भेद हैं। छठे गुणस्थानका उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है और सातमे का काल भी इससे छोटा अन्तर्मुहूर्त है, जो छठे से सातवां और सातवें से छठा यों हजारों, लाखों परावृत्तियां होती रहती हैं। यह सातवां गुणस्थान निरतिशय अप्रमत्त है तथा द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन या क्षायिकसम्यग्दर्शन धारण कर दो श्रेणियों पर चढने के लिये उद्युक्त हो रहा है वह सातवां अधःकरण गुणस्थान सातिशय अप्रमत्त है। यहाँ से ऊपर आठवें, नौमे, दशमे, ग्यारहवें, इन चार गुणस्थानों में उपशमश्रेणी और आठवें, नौमे, दशमे, बारहवें इन चार गुणस्थानों में क्षपक श्रेणी प्रारम्भ हो जाती है। जहां चारित्र मोहनीय की इकईस प्रकृतियों का उपशम करता हुआ चढता है वह उपशम श्रेणी है तथा चार अप्रत्याख्यानावरण, चार प्रत्याख्यानावरण, चार संज्वलन, नौ नोकषाय, इन इकईस प्रकृतियों का क्षय करता हुआ ऊपर चढता है, वह क्षपकश्रेणी है। क्षायिकसम्यग्दृष्टि ही क्षपक श्रेणी पर चढता है।

अपूर्वकरणपरिणामः उपशमकः क्षपकश्चोपचारात् अनिवृत्तिपरिणामवशात् स्थूलभावेनोपशमकः क्षपकश्चानिवृत्तिबादरसांपरायः, सूक्ष्मभावेनोपशमात् क्षपणाच्च सूक्ष्मसांपरायः।

आठवाँ गुणस्थान अपूर्वकरण नामक परिणामों को धार रहा उपशमक भी है क्षपक भी है। यद्यपि आठवें गुणस्थान में उपशमश्रेणी को चढ रहा जीव किन्हीं प्रकृतियों का उपशम या क्षपक श्रेणी को चढ़ रहा जीव किन्हीं प्रकृतियों का क्षय नहीं कर रहा है, हाँ उत्सुक हो रहा है। तथापि द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव पूर्व में उपशम या क्षय कर चुका है अथवा आगे नौमे गुणस्थान में उपशम या क्षय करेगा अतः उपचार से मध्य में भी यह उपशम करने वाला उपशमक अथवा क्षय करने वाला क्षपक कहा जाता है। जो भूतकाल में मन्त्री रह चुका है या भविष्य में मन्त्री होने वाला है वह वर्तमान में भी व्यवहारमुद्रासे मन्त्री कह दिया जाता है। हाँ, अपूर्वकरण परिणामों द्वारा स्थितिखण्डन, अनुभागखण्डन, गुणश्रेणीनिर्जरा, गुणसंक्रमण, ये चार अतिशय हो जाते हैं। अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये परिणाम कतिपय स्थलों पर होते हैं। उपशम सम्यग्दर्शन के पहिले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ये तीन करण होते हैं, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करने या क्षायिक सम्यक्त्वग्रहण के पूर्व में भी ये तीन करण होते हैं। सातवे, आठवें, नौमे गुणस्थानों में भी तीन करण होते हैं इनकी जातियां सर्वत्र न्यारी न्यारी हैं। अधःकरण में पहिले पिछले समयों में परिणाम समान भी हैं विसदृश

भी हैं अनुकृष्टि रचना है अनन्तगुणी विशुद्धि और अप्रशस्तप्रकृतियों का अनुभागबन्ध अनन्तगुणा हीन पडना, तथा शुभ प्रकृतियों का अनन्तगुणी वृद्धि लिये हुये अनुभाग पडना, एवं अशुभप्रकृतियों में स्थिति भी न्यून पडना ये चमत्कार हो जाते हैं और अपूर्वकरणअनिवृत्ति करणों में तो अनेक अतिशय विद्यमान हैं। नौमे गुणस्थान का नाम अनिवृत्तिकरण है दशमे गुणस्थान की अपेक्षा नौमे में स्थूलकषाय हैं अतः अनिवृत्तिकरण परिणामों के वश से अनिवृत्तिबादरसांपराय गुणस्थानवाला जीव कर्म प्रकृतियों का स्थूलरूपेण उपशम कर रहा है और क्षपकश्रेणीवाला क्षय कर रहा है इस नौमे गुणस्थान में उपशम श्रेणी पर चढ रहा जीव हास्य आदि छः, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, पुंवेद, अप्रत्याख्यानावरण, आदिक प्रकृतियों का उपशम कर रहा उपशमक है अथवा वही क्षपकश्रेणी पर चढ रहा अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायों का क्षय कर रहा क्षपक है अन्य ग्रन्थों में उपशम विधि या क्षपकप्रक्रिया का विशेष विस्तार है नौमे गुणस्थान में की गई बादरकृष्टि, सूक्ष्मकृष्टि अनुसार संज्वलन क्रोध का उदय अतीव सूक्ष्म रह जाता है। सूक्ष्मभाव करके कषाय का उपशम या क्षय कर देने से सूक्ष्मसांपरायउपशमक, और सूक्ष्मसांपरायक्षपक जाना जाता है।

सर्वस्योपशमात्क्षपणाच्चोपशांतकषाय क्षीणकषायश्च, घातिकर्मक्षयादनिर्भूतज्ञानाद्यतिशयः केवली। स द्विविधो योगभावाभावभेदात्।

पहिले दश गुणस्थानों तक सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का उपशम कर देने से उपशमश्रेणी चढ रहा जीव ग्यारहवें गुणस्थान में कषायों का उपशम कर चुका उपशांतकषाय हो जाता है तथा क्षपकश्रेणीवाला जीव पूर्ववर्ती गुणस्थानों में समस्त मोहनीयकर्म का क्षय कर चुका बारहमें गुणस्थान में क्षीण हो गयी हैं कषाय जिसकी ऐसा क्षीणकषाय या क्षीणमोह कहा जाता है। ज्ञानावरण आदि चार घातिकर्मों का अत्यन्त क्षय हो जाने से प्रकट हो चुके केवलज्ञान, केवलदर्शन प्रभृति अनेक अतिशयों को धार रहा केवली है, योग का सद्भाव और योग का अभाव इनमे दों से वे केवलज्ञानी दो प्रकार हैं। तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञानी के सत्यमनोयोग, अनुभयमनोयोग, सत्यवचनयोग, अनुभयवचनयोग, औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, कार्मणकाययोग ये सात योग संभवते हैं। और चौदहवें गुणस्थान में केवलज्ञानी के कोई योग नहीं है, यों चौदह गुणस्थानों का सामान्य कथन कर दिया गया है।

तत्र मिथ्यात्वप्रत्ययस्य कर्मणस्तदभावे संवरो ज्ञेयः। असंयमस्त्रिविधोऽनन्तानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानोदयविकल्पात् तत्प्रत्ययस्य तदभावे संवरः, प्रमादोपनीतस्य तदभावे

निशय अप्रमत्त और सातिशयअप्रमत्त यों दो भेद हैं। छठे गुणस्थानका उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है और सातमे का काल भी इससे छोटा अन्तर्मुहूर्त है, जो छठे से सातवां और सातवें से छठा यों हजारों, लाखों परावृत्तियां होती रहती हैं। यह सातवां गुणस्थान निरतिशय अप्रमत्त है तथा द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन या क्षायिकसम्यग्दर्शन धारण कर दो श्रेणियों पर चढने के लिये उद्युक्त हो रहा है वह सातवां अधःकरण गुणस्थान सातिशय अप्रमत्त है। यहाँ से ऊपर आठवें, नौमे, दशमे, ग्यारहवें, इन चार गुणस्थानों में उपशमश्रेणी और आठवें, नौमे, दशमे, बारहवें इन चार गुणस्थानों में क्षपक श्रेणी प्रारम्भ हो जाती है। जहां चारित्र मोहनीय की इकईस प्रकृतियों का उपशम करता हुआ चढता है वह उपशम श्रेणी है तथा चार अप्रत्याख्यानावरण, चार प्रत्याख्यानावरण, चार संज्वलन, नौ नोकषाय, इन इकईस प्रकृतियों का क्षय करता हुआ ऊपर चढता है, वह क्षपकश्रेणी है। क्षायिकसम्यग्दृष्टि ही क्षपक श्रेणी पर चढता है।

अपूर्वकरणपरिणामः उपशमकः क्षपकश्चोपचारात् अनिवृत्तिपरिणामवशात् स्थूलभावेनोपशमकः क्षपकश्चानिवृत्तिबादरसांपरायः, सूक्ष्मभावेनोपशमात् क्षपणाच्च सूक्ष्मसांपरायः।

आठवाँ गुणस्थान अपूर्वकरण नामक परिणामों को धार रहा उपशमक भी है क्षपक भी है। यद्यपि आठवें गुणस्थान में उपशमश्रेणी को चढ रहा जीव किन्हीं प्रकृतियों का उपशम या क्षपक श्रेणी को चढ़ रहा जीव किन्हीं प्रकृतियों का क्षय नहीं कर रहा है, हाँ उत्सुक हो रहा है। तथापि द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव पूर्व में उपशम या क्षय कर चुका है अथवा आगे नौमे गुणस्थान में उपशम या क्षय करेगा अतः उपचार से मध्य में भी यह उपशम करने वाला उपशमक अथवा क्षय करने वाला क्षपक कहा जाता है। जो भूतकाल में मन्त्री रह चुका है या भविष्य में मन्त्री होने वाला है वह वर्तमान में भी व्यवहारमुद्रासे मन्त्री कह दिया जाता है। हाँ, अपूर्वकरण परिणामों द्वारा स्थितिखण्डन, अनुभागखण्डन, गुणश्रेणीनिर्जरा, गुणसंक्रमण, ये चार अतिशय हो जाते हैं। अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये परिणाम कतिपय स्थलों पर होते हैं। उपशम सम्यग्दर्शन के पहिले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ये तीन करण होते हैं, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करने या क्षायिक सम्यक्त्वग्रहण के पूर्व में भी ये तीन करण होते हैं। सातवे, आठवें, नौमे गुणस्थानों में भी तीन करण होते हैं इनकी जातियां सर्वत्र न्यारी न्यारी हैं। अधःकरण में पहिले पिछले समयों में परिणाम समान भी हैं विसदृश

भी हैं अनुकृष्टि रचना है अनन्तगुणी विशुद्धि और अप्रशस्तप्रकृतियों का अनुभागबन्ध अनन्तगुणा हीन पडना, तथा शुभ प्रकृतियों का अनन्तगुणी वृद्धि लिये हुये अनुभाग पडना, एवं अशुभप्रकृतियों में स्थिति भी न्यून पडना ये चमत्कार हो जाते है और अपूर्वकरणअनिवृत्ति करणों में तो अनेक अतिशय विद्यमान हैं। नौमे गुणस्थान का नाम अनिवृत्तिकरण है दशमे गुणस्थान की अपेक्षा नौमे में स्थूलकषाय हैं अतः अनिवृत्तिकरण परिणामों के वश से अनिवृत्तिबादरसांपराय गुणस्थानवाला जीव कर्म प्रकृतियों का स्थूलरूपेण उपशम कर रहा है और क्षपकश्रेणीवाला क्षय कर रहा है इस नौमे गुणस्थान में उपशम श्रेणी पर चढ रहा जीव हास्य आदि छः, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, पुंवेद, अप्रत्याख्यानावरण, आदिक प्रकृतियों का उपशम कर रहा उपशमक है अथवा वही क्षपकश्रेणी पर चढ रहा अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायों का क्षय कर रहा क्षपक है अन्य ग्रन्थों में उपशम विधि या क्षपकप्रक्रिया का विशेष विस्तार है नौमे गुणस्थान में की गई बादरकृष्टि, सूक्ष्मकृष्टि अनुसार संज्वलन क्रोध का उदय अतीव सूक्ष्म रह जाता है। सूक्ष्मभाव करके कषाय का उपशम या क्षय कर देने से सूक्ष्मसांपरायउपशमक, और सूक्ष्मसांपरायक्षपक जाना जाता है।

सर्वस्योपशमात्क्षपणाच्चोपशांतकषाय क्षीणकषायश्च, घातिकर्मक्षयादनिर्भूतज्ञानाद्यतिशयः केवली। स द्विविधो योगभावाभावभेदात्।

पहिले दश गुणस्थानों तक सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का उपशम कर देने से उपशमश्रेणी चढ रहा जीव ग्यारहवें गुणस्थान में कषायों का उपशम कर चुका उपशांतकषाय हो जाता है तथा क्षपकश्रेणीवाला जीव पूर्ववर्ती गुणस्थानों में समस्त मोहनीयकर्म का क्षय कर चुका बारहमें गुणस्थान में क्षीण हो गयीं हैं कषाय जिसकी ऐसा क्षीणकषाय या क्षीणमोह कहा जाता है। ज्ञानावरण आदि चार घातिकर्मों का अत्यन्त क्षय हो जाने से प्रकट हो चुके केवलज्ञान, केवलदर्शन प्रभृति अनेक अतिशयों को धार रहा केवली है, योग का सद्भाव और योग का अभाव इनमे दों से वे केवलज्ञानी दो प्रकार हैं। तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञानी के सत्यमनोयोग, अनुभयमनोयोग, सत्यवचनयोग, अनुभयवचनयोग, औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, कार्मणकाययोग ये सात योग संभवते हैं। और चौदहवें गुणस्थान में केवलज्ञानी के कोई योग नहीं है, यों चौदह गुणस्थानों का सामान्य कथन कर दिया गया है।

तत्र मिथ्यात्वप्रत्ययस्य कर्मणस्तदभावे संवरो ज्ञेयः। असंयमस्त्रिविधोऽनन्तानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानोदयविकल्पात् तत्प्रत्ययस्य तदभावे संवरः, प्रमादोपनीतस्य तदभावे

निरोधः कषायास्रवस्य तन्निरोधे निरासः, केवलयोगनिमित्तं सद्वेद्यं तदभावे तस्य निरोध इति सकलसंवरो अयोगकेवलिनः। सयोगकेवल्यंतेषु गुणस्थानेषु देशसंवरः प्रतिपत्तव्यः।

अब उन गुणस्थानों में कर्मों का संवर यथाक्रम से कहा जाता है। मिथ्यात्व को प्रधान कारण मानकर पहिले गुणस्थान में जो सोलह कर्म आ रहे हैं उस मिथ्यात्व के उदय का अभाव हो जाने पर दूसरे आदि सभी गुणस्थानों में उनका संवर हो रहा समझ लेना चाहिये वे सोलह प्रकृतियां ये हैं।.

मिच्छ हुंडसंढाऽसंपत्तयक्खथावरादावं ।
सुहुमतियं वियलिंदी, णिरयदु णिरयाउगं मिच्छे ।।

मिथ्यात्व, हुंण्डकसंस्थान, नपुंसकवेद, असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिंद्रियजाति, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, नरक आयुष्य १६।

जैनसिद्धान्तमें अनन्तानुबन्धी कषायका उदय और अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय, इन भेदों से असंयम के तीन प्रकार माने गये हैं। दूसरे गुणस्थान में अनन्तानुबधी की प्रधानता से अनन्तानुबंधी क्रोध आदि पच्चीस प्रकृतियों का आस्रव हो रहा है उस अनन्तानुबन्धी के उदय का अभाव हो जाने पर तीसरे आदि सभी गुणस्थानों में अनन्तानुबंधी चार, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, चार बीचके संस्थान, चार बीचके संहनन, अप्रशस्तविहायोगति, स्त्रीवेद, नीचैर्गोत्र, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, तिर्यगायुष्य, और उद्योत, इन पच्चीस प्रकृतियों का संवर हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय की प्रधानता से चौथे गुणस्थान तक अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्य आयु, मनुष्यगति, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रऋषभनाराच संहनन, इन दश प्रकृतियों का आस्रव हो रहा हैं। उस प्रत्याख्यानावरण के उदय का अभाव हो जाने पर ऊपरले पांचवें आदि गुणस्थानों में इनका संवर हैं। तीसरे गुणस्थान में किसी आयु का बन्ध नहीं है। तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय को प्रधानकारण मानकर प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया लोभ इन चार प्रकृतियों का आस्रव होता हैं। पांचवें गुणस्थान से ऊपर छठे आदि गुणस्थानों में इनका संवर है। छठे प्रमत्तगुणस्थान में प्रमाद की प्रधानता से प्राप्त हो रहीं असद्वेद्य, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ, अयशस्कीर्ति इन छह प्रकृतियों का आस्रव हो रहा है उस प्रमाद के हट जाने पर सातवें आदि गुणस्थानों में इनका आस्रव-निरोध हो जाता है। देव आयु का बंध सातवें गुणस्थान तक होता हैं। उसके ऊपर देव आयु का संवर है। केवल कषाय को ही कारण मानकर निद्रा, प्रचला, देवगति आदिक

प्रकृतियों का सातमे आदि गुणस्थानों तक आस्रव हो रहा है, उस कषाय का निरोध हो जाने पर ग्यारहमे आदि गुणस्थानों में उन प्रकृतियों के आस्रव का निरास हो जाता है आठवें गुणस्थान में छत्तीस प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति है, नौवें में पांच की और दशमे में सोलह की व्युच्छित्ति है। ग्यारहमे, बारहमे, तेरहमे गुणस्थानो में मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषायों से सर्वथा रीते केवलयोग को निमित्त पाकर सद्वेद्य कर्म का आस्रव होता रहता है। चौदहवें गुणस्थान में उस योग का भी अभाव हो जाने पर उस सातावेदनीय का भी आस्रव होना रुक जाता है। इस प्रकार अयोगकेवली महाराज के चौदहमे गुणस्थान में एकसौ बीसौ कर्मप्रकृतियों और नोकर्मवर्गणाओं इन सब का पूर्णरूप से संवर है। हाँ, सयोगकेवली पर्यंत ऊपरले तेरह या बारह गुणस्थानों में एकदेश रूप से संवर हुआ समझ लेना चाहिये। पहले गुणस्थान में तीर्थंकर, आहारकद्विक, प्रकृतियों का बंध भले ही नहीं होय किंतु संवर हुआ नहीं कहा जा सकता है। अतः पहिले गुणस्थान में किसी प्रकृति का भी संवर नहीं है। सातिशयमिथ्यादृष्टि के स्थितिखण्डन, अनुभागकाण्डकघात हुये तो क्या?

स कैः क्रियत इत्याहः—

वह संवर किन कारणों करके किया जाता है ? इस प्रकार जानने की इच्छा होने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहें हैं।

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

गुप्ति परिणतियां, समितियां, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षायें, बाईस परीषहों को जीतना और चारित्र इन आत्मीयपुरुषार्थ स्वरूप परिणामों करके वह संवर हो जाता है।

संसारकारणगोपनाद्गुप्तिः, सम्यगयनं समितिः, इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्मः, स्वभावानुचिंतनमनुप्रेक्षा, परिषह्यते इति परीषहास्तेषां जयो न्यक्कारः, चारित्रशब्दो व्याख्यातार्थः। संवृण्वतो गुप्त्यादिभिः गुप्त्यादय एव संवर इति चेन्नास्रवनिमित्तकर्मसंवरणात्। स इति वचनं गुप्त्यादिभिः साक्षात्संबंधनार्थं।

संसार के कारण हो रहे अशुभ परिणामों से आत्मा की रक्षा करती है अर्थात् आत्मा को अशुभ परिणतियों से बाल बाल बचाये रखती है इस कारण यह गुप्ति कही जाती है। दूसरे प्राणियों की पीड़ा का परिहार हो जाय इस इच्छा से भले प्रकार प्रवर्तना समिति है। आत्मा को अभीष्ट स्थान में धर देता है इस कारण यह धर्म कहा जाता है।

शरीर, जगत् आदि के स्वभावों का कई बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। संविदित या असंविदित क्षुधा, पिपासा, आदिक तीव्र वेदनाओं के उपजने पर कर्म की निर्जरा करने के लिये जो पूर्णरीत्या सही जाती हैं इस कारण वे परीषह हैं। उन परीषहों का जीतना यानो शान्तिपूर्वक तिरस्कार करना परीषहजय है "सम्यग्दर्शन,ज्ञान,चारित्राणि,मोक्षमार्गः" इस सूत्र की टीका में चारित्र शब्द के अर्थ का व्याख्यान किया जा चुका है। यहां किसी का आक्षेप है कि "संव्रियते अनेन इति संवरः" यों करण में प्रत्यय करने पर संवरण कर रहे आत्मा के गुप्ति, समिति, आदि परिणामों करके संवर होता है, इस कारण गुप्ति आदिक करण हो संवर हैं तब तो वह संवर इन गुप्ति आदि करके होता है। यह प्रथमान्त और तृतीयान्त का भेदनिर्देश करना उचित नहीं है। संवर ही गुप्ति आदिक हैं या गुप्ति आदिक ही संवर हैं यों कहना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि यहां करण में अच् प्रत्यय नहीं है किन्तु संवरण हो जाना ही (भाव) यहां संवर माना गया है, आस्रव के निमित्त हो रहे कर्मों का संवरण कर देने से यह संवर होता है। उस संवरण क्रिया के गुप्ति आदिक करण इस सूत्र में कह दिये हैं। इस सूत्र मे "सः" यह जो कथन किया गया है वह गुप्ति आदि के साथ संवर का साक्षात् संबन्ध जोडने के लिये है अर्थात् गुप्ति आदिक से ही संवर होता है, अन्य तीर्थस्नान, शिरोमुण्डन, आदि से संवर नही हो पाता हैं।

कुतो गुप्त्यादिभिर्गुप्त्यादय एव वा संवरः स्यादित्याह —

यहाँ कोई तर्क उठाता है कि आपके पास क्या युक्ति है जिससे कि गुप्त्यादिकों करके अथवा गुप्ति आदिक हीं संवर सिद्ध हो सकें? बताओ। इस प्रकार कटाक्ष प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं।

स चास्रवनिरोधः स्याद्गुप्त्यादिभिरुदीरितैः।
तत्कारणविपक्षत्वात्तेषामिति विनिश्चयः॥ १॥

अभी कहे जा चुके गुप्त्यादिकों करके ही आस्रव का निरोध हो रहा वह संवर हो सकेगा (प्रतिज्ञा) क्योंकि उस आस्रव के कारणों का विपक्षपना उन गुप्ति आदिकों के घटित हो रहा है (हेतु) इस प्रकार हेतु की साध्य के साथ बन रही व्याप्ति का विशेषतया निश्चय है, अविनाभावी हेतु से साध्य का बढिया निश्चय हो जाता है।

तत्र गुप्तीनां तत्कारणविपक्षत्वं न तावदसिद्धं, कर्मागमनकारणानां कायादियोगानां विरोधिनः स्वरूपनिश्चयात् । तथा समित्यादीनां वाऽसमित्यादितत्कारणविरुद्धभावनया प्रतिपादनात् ।

उन गुप्ति आदिकों में पहिले कहीं गयीं तीन गुप्तियों को उस आस्रव के कारणों का प्रतिपक्षीपना तो असिद्ध नहीं हैं, जब कि कर्मों के आगमन का कारण हो रहे काययोग, वचनयोग आदि का विरोधी रूप से गुप्तियों के स्वरूप का निश्चय हो रहा है, तिसी प्रकार समिति, धर्म आदि को भी उस आस्रव के कारण हो रहे स्वच्छन्दप्रवर्तन स्वरूप असमिति, अधर्मव्यवहार आदि कारणोंसे विरुद्धपनेकी भावना करके समझाया जाता है । यों तत्कारणविपक्षत्वहेतु को पुष्ट कर दिया है । अनुप्रेक्षायें नहीं भावना या परीषहों को नहीं जीतना ऐसी कषायपरिणतिओं से आस्रव हो जाता है । इनके विरुद्ध अनुप्रेक्षाओं और परीषहजय से नियमेन संवरण होगा ।

अथ धर्मेन्तर्भूतेन तपसा किं संवर एव क्रियते किं वाऽन्यदपि किंचिदित्यारेकायामिदमाहः—

अब यहां कोई शंका उठाता है कि संचित कर्म जबतक नष्ट नहीं होय तब तक केवल संवर से तो मोक्ष नहीं हो सकती है । हाँ, उदय में आकर संचित कर्म भी नष्ट हो सकते हैं किन्तु उनके फलकाल में राग, द्वेष, संभव जाने के कारण पुनः कर्मों का बंध जाना अनिवार्य है । अविपाकनिर्जरा के विना निःश्रेयससिद्धि असंभव है । अतः दश धर्मों में अन्तर्भूत हो रहे सातवें धर्म माने गये तप करके क्या संवर ही किया जाता है ? अथवा क्या तपः करके अन्य भी कोई कार्य किया जा सकता है ? बताओ । इस प्रकार संशय उपस्थित होने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं ।

तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

तप से संवर तो होता ही है यों पूर्वसूत्र में कहा जा चुका है तथा तप से निर्जरा भी बढिया होती है ।

धर्मेन्तर्भावात् पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति चेन्न । निर्जराकरणत्वख्यापनार्थत्वात् तपसः । प्रधानप्रतिपत्त्यर्थं च । संवरनिमित्तत्वसमुच्चयार्थश्चशब्दः । तपसोभ्युदयहेतुत्वान्निर्जरांगत्वाभाव इति चेन्न, एकस्यानेककार्यारंभदर्शनात् । गुणप्रधानफलोपपत्तेर्वा कृषीवलवत् । केन हेतुना—

यहां कोई आक्षेप करता है कि उत्तमक्षमा आदि धर्म के भेदों में तप का अन्तर्भाव हो जाने से यहां पुनः पृथक् रूप से तप का ग्रहण करना व्यर्थ जचता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि पूर्वसूत्र में उत्तमक्षमा, तप, आदि धर्मों को संवर का हेतु कहा गया है और इस सूत्र में तप को निर्जरा का कारणपना प्रसिद्ध करने के लिये तपःका निरूपण है। दूसरी बात यह भी है कि संवर के सम्पूर्ण हेतुओं में तप ही प्रधान है, इस रहस्य को समझाने के लिये ही तप का पृथक् ग्रहण किया गया है। इस सूत्र में पडे हुये च शब्द का अर्थ समुच्चय यानी दूसरे को इकट्ठा करना है। यों इस च शब्द के कथन का प्रयोजन संवर के निमित्त हो जाने का समुच्चय करना हुआ अर्थात् संवर का हेतु भी तप होता हैं। पुनः कोई शंका उठाता है कि तप तो देवेन्द्र,नागेन्द्र आदि अभ्युदय स्थानों की प्राप्ति का कारण माना गया है। अतः पूर्वसंचित कर्मों को निर्जरा का हेतुपना तप को घटित नहीं होता हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। कारण कि एक कारण के द्वारा अनेक कार्यों का आरम्भ होना देखा जाता है जैसे कि एक ही आग जलाना पचाना, फफोला डाल देना, सुखाना आदि अनेक कार्यों को करती है, उसी प्रकार तप भी लौकिक अभ्युदय और एकदेश कर्मक्षय का हेतु हो जाता हैं कोई विरोध नहीं है। अथवा एक बात यह भी है कि जैसे किसान खेती करने में प्रवृत्त होता है, उसका प्रधान लक्ष्य अन्न की उत्पत्ति करना है और गौण रूप से पशुओं के लिये पराल, भुस, आदि का उपजाना भी है, इसी के समान मुनि के भी तपश्चरण का गौणफल स्वर्गाभ्युदय की प्राप्ति हो जाना है और तपस्या का प्रधानफल तो कर्मों का क्षय होकर मोक्षफल की प्राप्ति बन जाना है। कोई पण्डित यहाँ तर्क उठा रहा है कि किस हेतु यानी युक्ति करके यह सूत्रोक्त रहस्य सिद्ध कर दिया जाता है? बताओ। इसका समाधान ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा करते हैं।

तपसा निर्जरा च स्यात् संवरश्चेति सूत्रितं।
संचितापूर्वकर्माप्तिविपक्षत्वेन तस्य नुः॥ १॥

तपश्चरण से जीव के कर्मों की निर्जरा होती है और संवर भी हो जायगा इस प्रकार सूत्र में बहुत अच्छा निरूपण किया जा चुका है (प्रतिज्ञा) क्योंकि उस तप का जीव के संचित कर्म और अपूर्व कर्मों की प्राप्ति का विरोधीपने करके निर्णीत कर लिया गया है अर्थात् जो संचित कर्मों का विरोधी होगा वह अवश्य जीव के संचित कर्मों का क्षय कर देगा। नवीन अपूर्व कर्मों का विरोधी पदार्थ भी नवीन कर्मों को आने नहीं देगा।

उदराग्नि द्वारा किया गया शरीर में निरामय संताप भी संचित दोषों का नाश करता हुआ आगमिष्यमाण दोषों को नहीं आने देता है। उष्णता जीवन है।

तपो ह्यपूर्वदोषनिरोधि संचितदोषविनाशि च लंघनादिवत् प्रसिद्धं ततस्तेन संवर निर्जरयोः क्रिया न विरुध्यते ।

तपश्चर्या तो संवर और निर्जरा दोनों को करती हैं जैसे कि रोगी को लंघन करा देना या पाचन औषधि सेवन कराना आदिक प्रयोग जो हैं सो आने वाले नवीन दोषों को रोक रहे और संचित हो रहे वात, पित्त, कफ, के दोषों का विनाश कर रहे प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार तप भी नियमकरके भविष्य में आने के योग्य अपूर्व कर्मस्वरूप दोषों का निरोध (संवर) कर रहा है। और संचित द्रव्यकर्म दोषों का विनाश (निर्जरा) भी कर रहा है। तिस कारण उस एक तपश्चरण करके संवर और निर्जरा दोनों का किया जाना विरुद्ध नहीं पडता है।

अथ का गुप्तिरित्याहः—

अव कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि ऊपरले सूत्र में कही गई गुप्ति का लक्षण क्या है ? बताओ। ऐसी बुभुत्सा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

मन, वचन, काय, सम्बन्धी योगों का भले प्रकार निग्रह करना यानी विषय कषायों में स्वच्छन्द प्रवृत्ति का रोके रखना गुप्ति है। अर्थात् शुद्ध आत्मा का संचेतन करते हुये पुरुषार्थ द्वारा मन, वचन कायों को उसी में लगाये रखना, निरर्गल नहीं प्रवर्तने देना गुप्ति है जो कि आत्मा का किसी कर्म के उदयादिक की नहीं अपेक्षा रखता हुआ यत्न-साध्य शुभ परिणाम है।

योगशब्दो व्याख्यातार्थः, प्राकाम्याभावो निग्रहः, सम्यगिति विशेषणं, सत्कार-लोकपरिपंक्त्याद्याकांक्षानिवृत्त्यर्थं । तस्मात्कायादिनिरोधात्तन्निमित्तकर्मास्रवणात् संवर प्रसिद्धिः । कीदृक् संवरस्तया (पा) विधीयत इत्याह—

" कायवाङ्मनःकर्म योगः " इस सूत्र में योग शब्द के अर्थ का व्याख्यान किया जा चुका है। यथेष्ट स्वच्छन्द चर्या करना प्राकाम्य है। प्राकाम्य का अभाव कर देना निग्रह कहा जाता है। इस सूत्र में "सम्यक्" यह विशेषण तो सत्कार, लोकपरिपंक्ति,

लाभ, पुरस्कार, यश आदि को आकांक्षाओं के निवारणार्थ कहा है अर्थात् कतिपय जीव मायाचार, लोभकषाय, भय आदि के अधीन होकर लोक में सत्कार, पूजा, यशः, धन आदि की प्राप्ति के लिये भी तीनों योगों का गोपन करते हैं, वह समीचीन गोपन नहीं है। पूजा, मान, गौरव आदि क्रियाओं का होना सत्कार है। यह मुनि महान् है, गुप्तियों को अच्छा पालता है, देश का हित है इत्यादि लोक में चारो ओर से प्रसिद्धि हो जाना लोक परिपंक्ति है। अंतरंग में यश को वांच्छा रखना यशोलाभ है, धन की लिप्सा प्रसिद्ध है इन आकांक्षाओं अनुसार की गई गुप्ति समीचोन गुप्ति नहीं है। काय आदि के उस समीचीन निरोध से उस योग को निमित्त पाकर आने वाले कर्मों का आस्रव नहीं होने के कारण संवर हो जाना प्रसिद्ध है। यहाँ कोई तर्क उठाता है कि उस गुप्ति करके किस प्रकार (क्यों) संवर कर दिया जाता है? ऐसी तर्क उठने पर ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा इस उत्तर को कहते हैं।

योगानां निग्रहः सम्यग्गुप्तिस्त्रेधा तयोत्तमः।
संवरो बंधहेतूनां प्रतिपक्षस्वभावया ॥ १ ॥

मन, वचन, काय का अवलम्ब पाकर हुये आत्मप्रदेशपरिस्पन्द स्वरूप योगों का भले प्रकार निग्रह करना गुप्ति हैं। वह गुप्ति मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति यों तीन प्रकार है। उस गुप्ति करके उत्तम (बढिया) संवर होता है (प्रतिज्ञा) क्योंकि बंध के कारण हो रहे मिथ्यादर्शन, अविरति आदि के प्रतिपक्ष स्वरूप (घातक शत्रु) ये गुप्तियां हैं (हेतु) बंधकारणों के शत्रुभूत इन गुप्तियों करके संवर हो जाना अविनाभावी है।

कः पुनः सकलं संवरं समासादयतीत्याह—

यहाँ कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि फिर यह बताओ कौन जीव सम्पूर्ण संवर हो जाने की निष्पन्नता को प्राप्त करता है? ऐसी निर्णिनीषा उपजने पर ग्रन्थकार अगिली वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

अयोगः केवली सर्वं संवरं प्रतिपद्यते।
द्रव्यतो भावतश्चेति परं श्रेयः समश्नुते ॥ २ ॥

श्रेणी के असंख्यातमे भागप्रमाण सम्पूर्ण असंख्यात योगों से सहित हो रहा चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवलज्ञानो जिनेंद्र महाराज सर्व संवर को प्राप्त करता है। द्रव्य रूप से और भावरूप से चौदहमे गुणस्थान में परिपूर्ण संवर है किसी भी कर्म नोकर्म का

आगमन नहीं है। निर्जरा भी अ, इ, उ, ऋ, लृ इन ह्रस्व पांच अक्षरों के उच्चारण में जितना काल लगता है उतने समय में परिपूर्ण बन बैठती है, इस कारण उत्तरक्षण में ही यह जीव सर्वोत्कृष्ट मोक्ष को भले प्रकार प्राप्त कर लेता है। अर्थात् अपरनिःश्रेयस तो तेरहवें गुणस्थान की आदि में हो जाती है। इससे भी छोटी श्रेणी की मोक्ष चौथे गुणस्थान के पूर्व में सातिशयमिथ्यादृष्टि जीव के अपूर्वकरणदशा में प्रारम्भ हो गई कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा के अवसर से ही होने लगती है। अतः सम्पूर्ण द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मों को अनन्तकाल तक के लिये हो गई मोक्ष को चौदहवें गुणस्थान का अन्तिम समय बीत जाने पर माना गया है। मोक्ष अवस्था गुणस्थानों से अतिक्रान्त है। गोम्मटसार में कहा है कि— " गुणजीवठाणरहिया सण्णापज्जतियाणपरिहीणा,

सेस णवमग्गणूणा सिद्धा सुद्धा सदा होंति ॥ "

काः समितय इत्याहः—

गुप्तियों का प्रतिपादन हो चुका अब समितियां कौन हैं? ऐसी जिज्ञासा उपस्थित होने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

समीचीन ईर्या, समीचीन भाषा, समीचीनएषणा, समीचीन आदाननिक्षेपण और सम्यक् उत्सर्ग ये पांच समितियाँ हैं। जीवों की रक्षा का उद्देश्य कर भूमि को निरखते हुये चलना ईर्या समिति है, हितस्वरूप, परिमित, बोलना भाषासमिति है, दोष और अन्तरायों को टाल कर शुद्ध आहार लेना एषणा समिति है। धर्मप्राप्ति या ज्ञान के साधनों का यत्नाचार पूर्वक ग्रहण करना या निक्षेपण करना आदाननिक्षेपण समिति है, जीवों को दुःख न होय ऐसा लक्ष्य कर शरीरमल का त्याग करना या शरीर को किसी स्थान पर धर देना उत्सर्ग समिति है। मन, वचन, कायों, का गोपन करना अतीव कठिन है। ये कहीं न कहीं प्रवर्तने के लिये समुत्सुक रहते हैं। अतः सर्वदा गुप्ति पालने में अशक्त हो रहे मुनिमहाराज की निर्दोष प्रवृत्ति कराने के लिये ईर्यासमिति आदिक समीचीन योगव्यापार इस सूत्र में कहे गये हैं।

सम्यग्ग्रहणेनानुवर्तमानेन प्रत्येकमभिसंबंध, सम्यगीर्येत्यादि। समितिरित्यन्वर्थसंज्ञा वा तांत्रिकी पंचानां। तत्र चर्यायां जीवबाधापरिहार ईर्यासमितिः, सूक्ष्मबादरैकद्वि,त्रि, चतुरिंद्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपंचेंद्रियपर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुर्दशजीवस्थानानि तद्विकल्प जीव-

बाधापरिहरणं समीर्यासमितिरित्यर्थः ।

इस सूत्र में पूर्व सूत्र से सम्यक् पद की अनुवृत्ति हो रही है अनुवृत्ति किये जा रहे सम्यक् शब्द के ग्रहण के साथ ईर्या आदि प्रत्येक का पूर्व में संबन्ध कर देना चाहिये यहां सम्यक् पद अधिकार में प्राप्त है तब तो सम्यक् ईर्या, सम्यक् भाषा, इत्यादि रूप से समितियों के पांच नाम हो जाते हैं, समिति शब्द का यौगिक अर्थ या रूढि अर्थ निराला है किन्तु यहां प्रकरण में सम् + इण् + क्तिन् इन प्रकृति प्रत्ययों के अर्थ को भी ले रहा अन्वर्थसंज्ञावाला समितिशब्द तो मात्र जैन सिद्धान्त में अर्हन्ततन्त्रानुसार इन्ही ईर्या आदि पांचों को कह रहा परिभाषित हो रहा है । उन पांच समितियों में पहली ईर्यासमिति तो चर्या करने में जीवों की बाधा का परिहार रखना है । जीवस्थानों को जो जान चुकेगा वह ही जीवों की रक्षा कर सकता है जो मूढ पुरुष मात्र मनुष्य को ही जीव मानता हैं अन्य मूर्ख केवल मनुष्य, पशु, पक्षियों में ही जीव मानते हैं कोई कोई कीट पतङ्गों को भी जीव मानने लगे हैं, कतिपय वैज्ञानिक पण्डित वृक्ष, वेलों में भी चैतन्य को स्वीकार करने लगे हैं किन्तु उनके जीभ, नाक, आंख, कान, का मानना सिद्धान्त विरुद्ध है । अग्नि के निकट आ जाने पर कोई वृक्ष कंपने लग जाय या कोई वृक्ष किसी कीट, पतङ्ग, को पकड़ ले, एतावता वृक्ष के आंखें नहीं कही जा सकती हैं यह तो पदार्थों के निमित्त से उनका परिणमन है । छुई मुई यदि हाथ छुआ देने से सकुच जाती है इतने मात्र से उसके लज्जा का सद्भाव नही माना जा सकता है । अनेक जड पदार्थ भी दूसरे द्रव्यों के निमित्त से आश्चर्यजनक परिणतियों को धार लेते हैं क्या वे विचारशाली जीव कहे जा सकते हैं ? कभी नहीं । प्रायः सम्पूर्ण वनस्पतियां अपने अपने नियत समयों में पुष्पों को, फलों को धारती हैं मात्र इतनी क्रिया से वे काल विधि को समझने वालीं नहीं मान लेनी चाहिये न्यारीं न्यारी ऋतुओ में पृथ्वी, जल, वायु आदि के भिन्न भिन्न परिणामों अनुसार उन वन-स्पतिओं को नियत काल में ही फूलना, फलना पडता है ।

"दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो"

निकट भविष्य में मेघ आने वाला है आंधी आवेगी ऐसे परिज्ञान चीटियां; मक्खियां, आदि जीवों के हो जाते हैं, शूकर को चार छः घन्टे प्रथम ही आंधी का-आना सूझ जाता है । कई पक्षियों को भूकम्प आने का पहिले से ही लक्ष्य हो जाता है इतने से ही इनको ज्योतिषाचार्य नहीं कह देना चाहिये । अनेक उत्पातों या शुभ कार्यों के पूर्व में नाना प्रकार अविनाभावी परिणमन होते रहते हैं कीट पतङ्गों को उन सब का यथायोग्य ज्ञान

होता है ज्ञान से हित प्राप्ति और अहित परिहार का हो जाना सुलभ है मनुष्यों की अपेक्षा कीट, पतङ्ग आदिक क्षुद्रजीव उस अविनाभावी परिणमन द्वारा अधिक लाभ उठा लेते हैं कोई कोई पोंगाजन्तु चूक भी जाते हैं। फल, फूलों से रस का ग्रहण कर मधुमक्खी मधु को बना लेती है जिसको कि मनुष्य बना नहीं सकता है, क्या मधुमक्षिका को रसायन शास्त्री कह दिया जाय ? बिल्ली, बन्दर, नौला जिस चंचलता से ठीक सांप के मुंह को पकड लेते हैं पचास वर्ष सिखाने पर भी कोई वैयाकरण पण्डित उक्त जन्मसिद्ध क्रिया को नहीं कर सकता। गेंडुआ, ततइया, बरैया, मकडी, बया, अपने बढ़िया सुरक्षित गृहों को बनाते हैं जिसको कि शिल्प शास्त्री, वास्तुज्ञानी नहीं बना सकता है। कोई भी पण्डित या घसखोदा खाये हुये अन्न का रस, रुधिर, मांस, हड्डी आदिक धातुओं को बनाता हैं यह कोई घट, पट को बनाने के समान सर्वांग बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ नहीं है। आंखों में आंसू कोई दो, चार तोले भर रक्खे हुये नहीं हैं किन्तु शोक, पीडा, करुणा, हर्ष, अपमान का विशेष प्रकरण उपस्थित हो जाने पर आंसू तत्काल बन जाते हैं। न जाने किस निमित्त से क्या क्या कार्य जीवों के बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक तथा पुद्गलों के सामग्री द्वारा बन बैठते हैं। संक्षेप से केवल इतना ही कहना है कि वृक्ष या बल्लियों के आखों, कानों से सम्भवने योग्य हो रहे कार्य जो दीखते हैं वे सब बाह्य, अंतरंग, परिणतियों द्वारा हुये हैं, वृक्षों के आंख, कान, सर्वथा नहीं हैं। वृक्षों में आंख आदि इन्द्रियों के निवृत्ति, या उपकरण, सर्वथा नहीं हैं। पानी नीचे की ओर बहता है, अग्नि ऊपर को जलती है, वायु तिरछी चलती है, पेट में से मस्तिष्क के उपयोगी द्रव्य माथे में चला जाता है। पतला मल मूत्राशयमें पहुंच जाता है इन कृत्यों के लिये पानी आदि को आंखकी आवश्यकता नहीं है। अतः जैन सिद्धान्त अनुसार वृक्ष, जल आदि में केवल स्पर्शन इन्द्रिय को धार रहा जीव विद्यमान है। एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म और बादर दो प्रकार के हैं। दो इन्द्रियवाले, तीन इन्द्रियों को धार रहे, चार इन्द्रियों से शोभित हो रहे, मनरहित केवल पांच इन्द्रियों से सहित हो रहे, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव, और मनःसहित पांच इन्द्रियोंवाले संज्ञीजीव इन सातों प्रकार के जीवों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेदों से चौदह जीवस्थान (जीवसमास) हो जाते हैं। अपर्याप्त नामकर्म के उदय अनुसार जिन जीवों का श्वास के अठारहवें भाग काल तक जीवित रहकर ही मरण हो जाता है वे जीव अपर्याप्त हैं। क्वचित् शरीर पर्याप्ति जबतक पूर्ण नहीं हुई होय तबतक की निवृत्यपर्याप्ति दशा को धार रहे जीव को भी अपर्याप्त कह दिया है। इसके पर्याप्त नामकर्म का उदय है। शरीर पर्याप्ति को पूर्ण कर चुके जीव पर्याप्त हैं। उन जीवोंके अन्य भी उनईस, सत्तावन, अठानवें, आदि विकल्प आगम अनुसार करलिये जाते हैं।

इन जीवों की बाधा का परिहार करना यही समीचीन ईर्या समिति का अर्थ है।

हितमितासंदिग्धाभिधानं भाषासमितिः। अन्नादावुद्गमादिदोषवर्जनमेषणासमितिः, उद्गमादयो हि दोषाः-उद्गमोत्पादनैषणसंयोजनप्रमाणांगारकारणधूपप्रत्ययास्तेषां नवभिरपि कोटिभिर्वर्जनमेषणासमितिरित्यर्थः। धर्मोपकरणानां ग्रहणविसर्जनं प्रति यतनमादाननिक्षेपणासमितिः। जीवाविरोधेनांगमलनिर्हरणं समुत्सर्गसमितिः।

स्व और पर का हित करनेवाले तथा परिमित एवं सन्देहरहित ऐसे वचन बोलना भाषासमिति है। अन्न, जल, आदि में उद्गम, उत्पादन, आदि दोषों का वर्जना एषणासमिति है। उद्गम आदि दोष तो उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजन, प्रमाण, अंगार, कारण, धूमप्रत्यय ये हैं। उन उद्गम आदि दोषों का मन, वचन, काय सम्बन्धी कृतकारित, अनुमोदना स्वरूप, नव भी कोटियों (भंगों) करके त्याग करना एषणा समिति का अर्थ है। धर्म पालने में उपयोगी हो रहे पिच्छ, कमण्डलु पुस्तक, आदि उपकरणों के ग्रहण करने और परित्याग (धरने) के प्रति यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करना आदाननिक्षेपण समिति है। त्रस, स्थावर जीवों को बाधा नहीं होने करके शारीरिक मल और शरीर का स्थापन करना भली उत्सर्गसमिति समझनी चाहिये।

वाक्कायगुप्तिरियमपीति चेन्न, तत्र कालविशेषे सर्वनिग्रहोपपत्तेः। ननु च पात्राभावात् पाणिपुटाहाराणां संवराभाव इति चेन्न पात्रग्रहणात्परिग्रहदोषात् दैन्यप्रसंगाच्च। अन्नवत्तत्प्रसंग इति चेन्न, तेन विनाभावात् चिरकालं तपश्चरणस्य। नैवं तस्य पात्रादि विनाभाव इति न परमर्षिभिः पात्रादि ग्राह्यं प्रासुकान्नग्रहणवत्। कुतः समितीनां संवरत्वमित्याह-

यहाँ कोई आक्षेप करता है कि यह समिति भी वचनगुप्ति और कायगुप्ति है भाषासमिति वचनगुप्ति हो सकती है और ईर्या, एषणा ये सब कायगुप्ति हैं।—आचार्य महाराज कहते हैं कि यह आक्षेप तो ठीक नहीं है। क्योंकि उस गुप्तिका पालन करने पर विशेष काल में सम्पूर्ण योगों का निग्रह करना सिद्ध हो रहा है। गुप्तिपालन करना अतीव कठिन पुरुषार्थसाध्य कार्य है। अतः थोडे से काल तक सम्पूर्ण योगों का निग्रह करते हुये गुप्ति पल सकती है। हां, उस गुप्ति को पालने में असमर्थ हो रहे संयमी की चलने, बोलने आदि में आचारशास्त्र अनुसार प्रवृत्ति होना समिति है। यहां और भी एक शंका उठाई जा रही है कि आप जैनों के यहां मुनिमहाराज को पात्र रखना निषिद्ध कहा है संयमी हाथरूप दोनेमें ही आहार करते हैं। ऐसी दशामें हाथसे गिर गये आहार को निमित्त पाकर प्राणियों

की हिंसा हो जाना सम्भवता है। अतः एषणासमिति नहीं पलने से संवर नहीं होवेगा। आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो ठीक नहीं है। पात्र का ग्रहण करने से मुनि को परिग्रह रखने का दोष लगता है। बर्तन के धोने, रखने, माजने आदि द्वारा अनेक दोष लगेंगे अतः हाथ में ही परीक्षा कर स्वतन्त्र आहार करने से मुनि को दोष नहीं लगता है। एक बात यह भी है कि कमण्डलु, कटोरदान या अन्य कोई पात्र को ग्रहण कर चर्या कर रहे मुनि के दीनता का प्रसंग आता है। सिंहवृत्ति को धारने वाले मुनि पात्र लेकर दीनवृत्ति कभी नहीं करते हैं। भाजन लेकर भोजन के लिये गृहस्थों के घर जाने में आशानुबन्ध विशेष समझा जायगा। यदि यहां शंकाकार यों कहे कि जैसे प्राप्त होने योग्य बढिया बने हुये अन्न आदि खाद्य पदार्थों को छोडकर मुनि दूसरे घर जाकर जो कुछ नहीं छौके गये या नीरस पदार्थ का भोजन कर लेते हैं, तिसी प्रकार रागद्वेष नहीं बढाने वाले सुलभ, कटोरा, कटोरदान आदि पात्रों का प्रसंग बना रह सकता है। आचार्य कहते हैं कि वह प्रसंग तो ठीक नहीं है। क्योंकि उदरगर्त को पूरण करनेवाले उस स्वादरहित अन्न के विना चिरकाल तक तपश्चरण नहीं हो सकता है। तपश्चरण शरीर करके होता है और शरीर की स्थिति आहार विना नहीं सम्भवती है। अतः मुनिमहाराज प्रासुक अन्न को स्वीकार करते हैं। किन्तु इस प्रकार उस तपस्या का पात्र आदिके विना अभाव नहीं है। इस कारण परम ऋषियों करके पात्र, लठिया आदि परिग्रह ग्रहण करनेयोग्य नहीं है। जैसे कि प्राणियों के संसर्ग से रहित हो रहे प्रासुक अन्न का ग्रहण समुचित है वैसा पात्र, वसन, दण्ड आदि का ग्रहण संयम का साधन नहीं है। सावधानीपूर्वक हाथ में लेकर आहार ले रहे मुनि के हाथ से कुछ गिरता नहीं है। अतः जीवों की हिंसा होने की कथमपि संभावना नहीं है। कदाचित् प्रमादवश अन्न गिर पडे तो प्रायश्चित्तविधान द्वारा शुद्धि कर ली जाती है। अब यहां कोई तर्क उठाता है कि समितियों को संवरपना या संवर का कारणपना भला किस प्रमाण से सिद्ध है? बताओ। अपने अपने आगम से कोई भी बात बताई जा सकती है। विना समुचित युक्ति के किसी अत्यन्त अतीन्द्रिय सिद्धान्त को हम मानने के लिये तैयार नहीं। इस प्रकार किसी तार्किक विद्वान् की जिज्ञासा उपजने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं।

सम्यक्प्रवृत्तयः पंचेर्याद्याः समितयः स्मृताः।
असंयमभवस्याभिरास्रवस्य निरोधनं ॥ १ ॥
तद्विपक्षत्वतस्तासामिति देशेन संवरः।
समितौ वर्तमानानां संयतानां यथायथं ॥ २ ॥

तीनों गुप्तियां तो निवृत्तिरूप हैं भले ही शुद्ध आत्मा का अनुभव कर रहे गुप्ति-धारी संयमी को अभ्यंतर पुरुषार्थ द्वारा अन्तरात्मा में अनेक प्रवृत्तियां करनी पड़ें जो कि अत्यावश्यक हैं। किन्तु गुप्तियों को पाल रहे मुनि के बहिरंग में मन, वचन, काय, की कोई प्रवृत्ति नहीं होती है। जैसी कि समितिधारी की शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति हो रही है समिति वाले की अपेक्षा गुप्तिवाले संयमी की अन्तरात्मा में प्रवृत्तियां अधिक है, जो कि स्वसंवेद्य हैं। तभी तो बहिरंग कार्यों में योगों की परिपूर्ण निवृत्ति हो रही है। बात यह है कि सुख निद्रा ले रहे जीव की वहिरंग प्रवृत्तियां बहुभाग रुक गयी हैं। किन्तु अन्तरंग में पाचन, नीरोग होना धातु, उपधातु, मल, मूत्र बनाना आदि क्रियायें जागृत दशा से अत्यधिक हो रही हैं। महारोगी जीव बहिरंग में मूर्छित (बेहोश) हो जाता है, कोई क्रिया नहीं करता दीखता है। किन्तु अंतरंग में शरीरप्रकृति अनुसार बडी क्रियायें कर रहा है, तभी तो शरीर-रक्तशोषण, कफवृद्धि, आदि कार्य हो जाते हैं, क्षयरोगवाले की हड्डियां पोली पड जाती हैं, घुन जाती हैं, यह क्या छोटा कार्य है? संग्रहणीवाले को शरीर की धातुओं, उपधातुओं, को मल बनाना पडता है यह थोड़ा कार्य नहीं हैं। कोई नीरोग देखें घोर प्रयत्न से भी अपनी हड्डियों में हजारों लाखों छेद कर ले, तब तो यह सुलभ कार्य माना जाय। आचार्य कहते हैं कि ये पांच ईर्या,भाषा आदिक समितियां तो समीचीन प्रवृत्तियां मानी गयीं हैं। गुरुपरंपरा से ऐसा ही स्मरण किया जा रहा चला आ रहा है। असंयम परिणामों से उत्पन्न हो रहे आस्रव का इन पांच समितियों करके निरोध हो जाता है (प्रतिज्ञा) क्योंकि उन समितियों को उस आस्रव का विपक्षपना निर्णीत है (हेतु) इस कारण समिति पालने में समीचीन प्रवृत्ति कर रहे संयमी यतियों के यथायोग्य एकदेश करके संवर हो जाता है (निगमन)। अर्थात् व्यवहार में भी देखा गया है कि जो विद्यार्थी या भला पुरुष दूसरे व्यापार, कृषि, आदि कार्यों से व्युपरत रहते हैं वे अध्ययन, पूजन, ध्यान आदि शुभ प्रवृत्तियों को करते हुये उन व्यापार आदि से उपजनेवाली आकुलताओं का संवरण कर लेते हैं।

अथ धर्मप्रतिपादनार्थमाह: —

अब सूत्रकार महाराज समितियों का निरूपण कर चुकने पर विनीत शिष्यों को संवर के तीसरे हेतु माने गये धर्म की प्रतिपत्ति कराने के लिये अगिले सूत्र को स्पष्ट कह रहे हैं।

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥

उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तमशौच, उत्तमसत्य, उत्तमसंयम, उत्तम तपः, उत्तमत्याग, उत्तम आकिंचिन्य, उत्तमब्रह्मचर्य, यों दश प्रकार धर्म है। भावार्थ– "वत्थुसहावो धम्मो" धर्म का प्रसिद्धलक्षण वस्तु का स्वभाव है। अतः ये उत्तम क्षमा आदिक सभी आत्मा के तदात्मक स्वभाव हैं। सिद्ध अवस्था में भी ये पाये जाते हैं तभी तो "ॐ ह्रीं परमब्रह्मणे उत्तमक्षमाधर्माङ्गाय नमः" "ॐ ह्रीं परमब्रह्मणे उत्तममार्दवधर्माङ्गाय नमः" "ॐ ह्रीं परमब्रह्मणे उत्तम आर्जवधर्माङ्गाय नमः" इत्यादि मन्त्र सुघटित होते हैं। शुद्ध आत्मा ही सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म है। जैसे सुखप्राप्ति चरमफल है, उसी प्रकार परिपूर्ण उत्तमक्षमा आदिक भी चरम फल हैं। जबतक ये परिपूर्ण नहीं होय तवतक इनके प्रतिपक्षी माने गये क्रोध आदि विभावों में दोषों की विचारणा करते हुये जीव के उत्तम क्षमा आदि की तत्परतारूप तादात्म्य परिणति हो जाने से कर्मो का संवर हो जाता है। द्वंद्वसमास के आदि में पडा हुआ उत्तमपद दशों शब्दों में अन्वित कर लिया जाता है।

प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं धर्मवचनं, क्रोधोत्पत्तिनिमित्ताविषह्याक्रोशादिसंभवे कालुष्याभावः क्षमा। जात्यादिमदावेशाद्यभिमानाभावो मार्दवं, योगस्यानक्रतार्जवं, प्रकर्षप्राप्तलोभनिवृत्तिः शौचं, गुप्तावन्तर्भाव इति चेन्न, तत्र मानसपरिस्पन्दप्रतिषेधात्। आकिंचन्येऽवरोध इति चेन्न तस्य नैर्मम्यप्रधानत्वात्। तच्चतुर्विधं शौचं ततोऽन्यदेव। कुत इति चेत्, जीवितारोग्येन्द्रियोपभोगभेदात् तद्विषयप्राप्तप्रकर्षलोभनिवृत्तेः शौचलक्षणत्वात्।

केवल आत्मीय भावों में रमण करते हुये मुनि के बहिरंग में सर्वथा प्रवृत्तियों का निग्रह करने के लिये गुप्तियां हैं। उन परमोत्कृष्ट गुप्तियों की प्रयतना करने में असमर्थ हो रहे व्रतियों को प्रवृत्ति का उपाय दिखलाने के लिये समितियों का उपदेश है। यह फिर दश प्रकार के धर्मों का निरूपण करना तो प्रवृत्ति कर रहे संयमी के प्रमाद का परिहार करने के लिये है। क्रोध की उत्पत्ति के निमित्तकारण हो रहे दुष्ट जनों के विशेषतया नहीं सहन करने योग्य गाली देना, उपहास करना, निन्दा करना, ताड़ना, शरीर विघात कर देना आदि कार्यों का प्रकरण सम्भव हो जाने पर कलुषता नहीं करना क्षमा है। प्रकृष्ट जाति, कुल, विज्ञान, ऐश्वर्य, के होते हुये भी उनके द्वारा किये गये मद के आवेश, प्रभुता, आदि अभिमानों का पुरुषार्थ द्वारा अभाव कर डालना मार्दव है। मन, वचन, काय सम्बन्धी योग की वक्रता नहीं रखना आर्जव है। लोभ की प्रकर्षता की प्राप्त हो रही निवृत्ति का करना या वृद्धि को प्राप्त हो रहे लोभ का त्याग कर देना शौच धर्म है। यहाँ कोई शंका करता है कि निवृत्ति स्वरूप मनोगुप्ति में लोभनिवृत्ति स्वरूप शौच का

अन्तर्भाव हो जायगा। शौच का पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो न कहना। कारण कि उस मनोगुप्ति में मन से हुये संपूर्ण परिस्पन्द का प्रतिषेध किया जाता हैं। जो मनोगुप्ति को नहीं कर सकते हैं वे अन्य वस्तुओं में मन को न लगावें, शुद्ध रक्खें, इसलिये यह शौचधर्म कहा गया है। पुनः कोई कहे कि शौच का आकिंचन्य धर्म में गर्भ हो जायगा लोभ का त्यागी ही आकिंचन्य को पालता है, वही शौच धर्म को धारेगा। ग्रन्थकार कहते हैं यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि उस आकिञ्चन्य धर्म में ममत्वरहित परिणामों की प्रधानता हैं। अपने शरीर इन्द्रिय आदि में ममत्वपूर्वक संस्कार, प्रमोद आदि का निवारण करने के लिये आकिंचन्य माना गया है। शौच में मानसिक पवित्रता अभीष्ट है। वह चारों प्रकार का शौच उस आकिंचन्य धर्म से न्यारा ही है। किस प्रकार से वह विभिन्नता है? ऐसी जिज्ञासा उपजने पर तो आचार्य कहते हैं कि देखिये, जीवित रहने का लोभ, रोगरहित बने रहने का लोभ, इन्द्रियों का लोभ और उपभोग करते रहने का लोभ, इन भेदों से लाभ चार प्रकार का है। उन जीवित आदि के विषयरूप से प्राप्त हो रहे पदार्थों में बढे हुये लोभ की निवृत्ति कर देना यह शौच का सिद्धान्तलक्षण आम्नाय-प्राप्त है, यों स्पष्ट अन्तर है।

सत्सु साधुवचनं सत्यं। भाषासमितावन्तर्भाव इति चेन्न, तत्र साध्वसाधुभाषा व्यवहारे हितमितार्थत्वात्, अन्यथानर्थप्रसंगात्। अत्र बव्हपि वक्तव्यं। न भाषादिनिवृत्तिः संयमो गुप्त्यन्तर्भात्। नापि कायादिप्रवृत्तिविशिष्टासंयमः, समितिप्रसंगात्। त्रसस्थावरः वधात् प्रतिषेध आत्यंतिकः संयम इति चेन्न, परिहारविशुद्धिचारित्रेंतर्भावात्। कस्तर्हि संयमः? समितिषु वर्तमानस्य प्राणेन्द्रियपरिहारः संयमः, अतोपहृतसंयममेवसिद्धिः। संयमो हि द्विविधः, उपेक्षासंयमो अपहृतसंयमश्चेति। देशकालविधानस्य परानुरोधनोत्सृष्ट-कायस्य त्रिधागुप्तस्य रागद्वेशानभिषंगलक्षण उपेक्षासंयमः। अपहृतसंयमस्त्रिविध उत्कृष्टो मध्यमो, जघन्यश्चेति। तत्र प्रासुकवसत्याहारमात्रबाह्यसाधनस्य स्वाधीनेतरज्ञानचरणकर-णस्य बाह्यजन्तूपनिपाते सत्यप्यात्मानं ततोपहृत्य जीवान् परिपालयत उत्कृष्टः, मृदुना प्रमृज्य जन्तूनपहरतो मध्यमः, उपकरणान्तरेच्छया जघन्यः।

सज्जनपुरुषों में निर्दोष साधुवचन बोलना सत्य धर्म है। यहाँ कोई शंका उठाता है कि भाषासमिति में हित, मित, सत्य वचन बोलने का अन्तर्भाव हो जाता है पुनः यहां धर्मों में सत्य का ग्रहण व्यर्थ है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। कारण कि वहां भाषासमिति में तो साधु या असाधु पुरुषों में भाषा का व्यवहार करने

पर हित और मित बोलना प्रयोजन है भाषासमितिवाला मुनि सज्जन, दुर्जनों के साथ बोल सकता है किन्तु उनके हितस्वरूप परिमित बात कहेगा अन्यथा अधिक बोलने पर अनर्थदण्ड दोष का प्रसंग लग जायगा, परन्तु यहां सत्यधर्म में केवल सज्जन अथवा उनके भक्तों के साथ वचनव्यवहार रखना अभीष्ट है ज्ञान अथवा चारित्र की शिक्षा देने में बहुत भी बोल सकता है अतः भाषासमिति से सत्य धर्म न्यारा ही है। अब सत्यधर्म के पश्चात् संयम का निरूपण करना न्याय प्राप्त है कोई पण्डित संयम का लक्षण यदि यों करे कि बोलने, व्यर्थ विचारने आदि की निवृत्ति हो जाना संयम है ग्रन्थकार कहते हैं कि यह लक्षण ठीक नहीं पडेगा कारण कि निवृत्ति करने में तत्पर तो गुप्तियां हैं अतः गुप्तियों में अन्तर्भाव हो जाने से संयम कोई गुप्ति से न्यारा नहीं ठहर सकता है। यदि कोई यों कहे कि काय, वचन, आदि की विशिष्ट यानी शुभ प्रवृत्ति करना संयम है सो भी ठीक नहीं जंचेगा। क्योंकि यों तो संयम को समिति हो जाने का प्रसंग आ जावेगा समिति से भिन्न कोई संयम नहीं सिद्ध हो पायेगा। पुनरपि कोई संयम का लक्षण यों करता है कि त्रस जीवों और स्थावर जीवों की हिंसा का अत्यन्त अवस्था को प्राप्त हुआ परित्याग कर देना ही संयम है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी तो ठीक नहीं है क्योंकि जीवों की हिंसा का निषेध तो परिहार विशुद्धि नाम के चारित्र में गर्भित हो जाता है अतः ऐसे संयम का ग्रहण करना व्यर्थ पड़ जायगा, तब तो फिर संयम का लक्षण महाराज तुम्हीं बताओ, क्या है ? ग्रन्थकार उत्तर करते हैं कि ईर्यासमिति आदि में प्रवर्त रहे मुनि के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों की पीडा का परिहार करना प्राणिसंयम है, और इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों में रागभाव नहीं करना इन्द्रिय संयम है ऐसा कर देने से अपहृत नामक संयम के भेद की सिद्धि हो जाती है। बात यह है कि उपेक्षासंयम और अपहृतसंयम इस प्रकार संयम के दो भेद ही हैं। देश, काल की विधि को जानने वाले और जिन्होंने दूसरों के उपरोध करने में सर्वथा शरीर का व्यापार छोड रक्खा है तथा मन, वचन, काय तीनों रूपों से गुप्तियों को धारण कर रहा है ऐसे मुनि का किसी भी विषय में राग, द्वेष का प्रसंग नहीं लगना यह तो पहिले उपेक्षासंयम का लक्षण है। यह संयम सर्वोत्कृष्ट है। दूसरा अपहृत संयम तो उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य यों तीन प्रकार है। उन में उत्कृष्ट तो उस मुनि के संभवता है जो जीव रहित प्रासुक वसतिका (निवासस्थान) और शुद्ध आहार लेना केवल इतने ही बाह्य साधन को रखते हैं और ज्ञान आराधना करना, चारित्र पालना, इन्द्रियों को वश में रखना ये सब जिनके स्वाधीन हैं बहिरंग में प्राणियों का प्रसंग प्राप्त हो जाने पर भी अपने को उन जीवों से सर्वथा बचाकर जीवों की रक्षा कर रहे मुनिमहा-

राज हैं यों इन्द्रियसंयम प्राणिसंयम को पाल रहे मुनि के उत्कृष्ट अपहृत संयम हैं। दूसरा मध्यम अपहृतसंयम उस मुनि के होता है जो कोमल उपकरण (पिच्छिका) से शुद्धकर जीवों का परिहार कर रहे हैं, तीसरा जघन्य अपहृत संयम तो अन्य प्रमार्जक वस्त्र, तृण आदि उपकरणों की इच्छा करके जीवों को रक्षापूर्वक हटाकर स्थानशुद्धि करने वाले संयमी के होता है।

तत्प्रतिपादनार्थः शुद्ध्यष्टकोपदेशः। भावशुद्ध्यादयोऽष्टौ शुद्धयः। तत्र भावशुद्धिः कर्मक्षयोपशमजनिता मोक्षमार्गरुच्याहितप्रसादा रागाद्युपद्रवरहिता, तस्यां सत्यामाचारः प्रकाशते परिशुद्धभित्तिगतचित्रकर्मवत्। कायशुद्धिः निरावरणाभरणा निरस्तसंस्कारा यथाजातमलधारिणी निराकृतांगविकारा सर्वत्र प्रयतवृत्तिः प्रशमसुखं मूर्तिमंतमिव प्रदर्शयन्ती, तस्यां सत्यां न स्वतोऽस्य भयं उपजायते नाप्यन्यतस्तस्य कारणाभावात्।

उस अपहृत संयम की प्रतिपत्ति कराने के लिये आठ शुद्धियों का उपदेश समझ लेना चाहिये। भावशुद्धि, कायशुद्धि, आदिक आठ शुद्धियां हैं उन आठ शुद्धियों में पहिली भावशुद्धि तो कर्मों के क्षयोपशम से उपजी और मोक्षमार्ग के उपयोगी श्रद्धान द्वारा हुई प्रसन्नता को धारण कर रही तथा रागद्वेष आदि उपद्रवों की आकुलता से रहित हो रही है। उस भावशुद्धि के हो जाने पर आचरण का अच्छा प्रकाश हो जाता है जैसे कि बढिया शुद्ध कर ली गई भींत पर प्राप्त हुई चित्रणक्रिया (चित्रलिखना) अच्छी प्रकाशित हो जाती है। दूसरी कायशुद्धि तो मुनिराज की वह है जो कि मुनिमहाराज की काय सभी वस्त्र, छाल आदि आवरणों और कटक, केयूर, कुण्डल आदि भूषणों से रहित है, मुनि के काय में न्हाना, धोना, बाल काढना, मंजन, तेल, उवटन लगाना आदि शारीरिक संस्कारों का आजन्म त्याग कर दिया गया है। उत्पन्न हुये छोटे बच्चों का शरीर जैसे मलों को धारण कर लेता है कोई रागद्वेष विकार नहीं होता है, उसी प्रकार मुनि का शरीर भी बच्चे के समान मलों को ग्लानिरहित धारे रहता है। अगों का मटकना, ऐंडना, उत्थान हो जाना आदि विकारों का निराकरण कर चुका मुनिशरीर है। सभी स्थानों पर सोने, बैठने, खडे होने आदि में मुनिशरीर की वृत्ति बढिया यत्नाचार पूर्वक रहती हैं। मूर्ति के समान प्रशान्ति सुख को अच्छा दिखला रही मुनि की काय है अर्थात् मुनि महाराज के शरीर को देखकर ऐसा भान होता है कि अतीन्द्रिय प्रशम सुख ही मानू मूर्ति को धारण कर विराज गया है। मुनि की यह उपर्युक्त शरीरावस्था ही कायशुद्धि है। उस कायशुद्धि के हो जाने पर इस मुनि के न तो अपने से भय उपजता है और अन्य शस्त्र, शत्रु, घातकपशु

आदि से भी उस मुनि के भय नहीं उपजता है। क्योंकि उस भय का कारण ही नहीं रहा है। संसार में भय के कारण भूषण, वस्त्र, संपत्ति, कुटुम्ब, शरीर इनमें व्यामोह आदिक हैं, जिनका कि संयमी साधु सर्वथा त्याग कर चुका है। सम्यग्दृष्टि जीव ही भयों से रहित है फिर सकलसंयमी की तो बात ही क्या है।

विनयशुद्धिः अर्हदादिषु परमगुरुषु यथार्हपूजाप्रवणाज्ञानादिषु च यथाविधि-भक्तियुक्ता गुरोः सर्वत्रानुकूलवृत्तिः प्रश्नस्वाध्यायवाचनाकथाविज्ञापनादिषु प्रतिपत्तिकुशला देशकालभावावबोधनिपुणा सदाचार्यमतानुचारिणी, तन्मूलाः सर्वसंपदः। ईर्यापथशुद्धिः नानाविधजीवस्थानयोन्याश्रयावबोधजनितप्रयत्नपरिहृतजन्तुपीडा ज्ञानादित्यस्वेंद्रियप्रकाश-निरीक्षितदेशगामिनी द्रुतविलंबितसंभ्रान्तविस्मितलीलाविकारदिगंतरावलोकनादिदोष-विरहितगमना तस्यां सत्यां संयमः प्रतिष्ठितो भवति विभव इति सुनीतौ।

संयमी की विनयशुद्धि तो इस प्रकार है कि अर्हन्परमेष्ठी, सिद्धपरमेष्ठी आदि परमोत्कृष्ट गुरुओं में यथायोग्य भावपूजा करने की तत्परता बनी रहना तथा ज्ञान आदि अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, उपचार इनमें शास्त्रोक्त विधिअनुसार भक्तियुक्त रहना और गुरु के साथ सभी स्थानों पर अनुकूल प्रवृत्ति रखना विनयशुद्धि है, तथैव प्रश्न करना, स्वाध्याय करना, वाचना, कथाओं को समझाना, तीन लोक का स्वरूप समझना, नौ पदार्थों की प्रतीति करना इत्यादिक में श्रद्धापूर्वक कुशल बने रहना विनयशुद्धि है। देश काल और भावों का ज्ञान कराने में निपुण हो रही तथा श्रेष्ठ आचार्यों के मत के अनुकूल चलनेवाली विनयशुद्धि है। उस विनयशुद्धि को मूल कारण मान कर ही सम्पूर्ण ज्ञान आदि सम्पत्तियां उपज जाती हैं। चौथी ईर्यापथ शुद्धि का विवरण यों है कि चौदह, उनईस, सत्तावन, अट्ठानवे आदि अनेक प्रकार के जीवस्थानों तथा नौ, चौरासी लाख, आदि योनिस्थानों के परिज्ञानों से उत्पन्न हुये दयापूर्ण प्रयत्न करके जिसमें जन्तुपीडा का परिहार किया जा चुका है ऐसी ईर्यापथशुद्धि है। भूमिका निरीक्षणकर चलना ईर्या है। ईर्याके मार्ग में जीवों को बाधा न पहुंचे ऐसे अनेक ज्ञान या प्रयत्नों द्वारा ईर्यापथ शुद्धि की जाती है। जैन सिद्धान्त में ज्ञान का प्रकाश सर्व प्रकाशों में प्रधान माना गया है। अतः ज्ञान और सूर्य तथा स्वकीय इन्द्रियों के प्रकाश द्वारा बढ़िया देख लिये गये देश में गमन कर रही ईर्यापथ-शुद्धि है। ईर्यापथ शुद्धि अनुसार अतिशीघ्र चलना, अतिविलम्ब से चलना संभ्रान्त (डमाडोल विचार से या प्रमत्त होकर) गमन, आश्चर्य चकित होते जाना, खेलते कूदते चलना, अंगविकार करते हुये चलना, चलते समय सन्मुख दिशा से अन्य दिशाओं का अवलोकन

करना, अकडते, मटकते, घूमते, नाचते हुये चलना आदि दोषों से रहित गमन किया जाता है। उस ईर्यापथशुद्धि के होते सन्ते संयम उसी प्रकार प्रतिष्ठित हो जाता है जैसे कि बढिया नीति को पालते हुये प्रभु के विभूति या धन की प्रतिष्ठा बढ जाती है।

भिक्षाशुद्धिः परीक्षितोभयप्रचाराप्रमृष्टपूर्वापरस्वांगदेशविधाना आचारसूत्रोक्तकालदेशप्रवृत्तिप्रतिपत्तिकुशला लाभालाभमानापमानसमानमनोवृत्तिः लोकगर्हितकुलपरिवर्जनपरा चंद्रगतिरिव हीनाधिकगृहा विशिष्टोपस्थाना, दीनानाथदानशालाविवाहयजनगेहादिपरिवर्जनोपलक्षित.दीनवृत्तिविगमा प्रासुकाहारगवेषणप्रणिधाना आगमविधिना निरवद्याशनपरिप्राप्तप्राणयात्राफला, तत्प्रतिबद्धा हि चरणसंपत् गुणसंपदिव साधुजनसेवानिबन्धना।

पांचमी भिक्षाशुद्धि यों बन सकती है कि भले प्रकार परीक्षा कर देख लिया गया है जाने, आने दोनों मार्गों का प्रचार जिसमें अथवा बढिया देखकर मुनि दोनों पाओं से प्रचार करें या दोनों नेत्रो से दोनो ओर देखते हुये संयमी चले। और अपने अङ्गों के धरने योग्य पहिले पिछले देशों को भले प्रकार शुद्ध कर लेने की विधि में दत्तावधान रहें तब भिक्षाशुद्धि होगी। आचारशास्त्र में कहे गये उचित काल और समुचित देश की प्रवृत्तियों का परिज्ञान करने में कुशल बने रहना भिक्षाशुद्धि है। भोजन का लाभ हो जाने पर या अलाभ हो जाने पर राग, द्वेष, नहीं करते हुये मनोवृत्ति को समान बनाये रखना और किसी प्रकार कोई सम्मान करे या अपमान करे दोनों अवस्थाओं में एकसी मानसिक प्रवृत्ति रखना भिक्षाशुद्धि है। लोक में निन्दित माने गये कुलों का परित्याग करने में तत्पर हो रहा मुनि भिक्षा की शुद्धि पाल सकेगा। चन्द्रमा की गति जिस प्रकार कभी हीन ग्रहों पर होती है और कभी अधिक ग्रहों पर प्रवर्तती है अथवा उसकी छाया घरों पर जैसे न्यून अधिक पडती है उसी प्रकार मुनिमहाराज भिक्षा के लिये कभी थोड़े घरों में जाते हैं कभी अधिक घरों तक भी पर्यटन करते हुये, किसी एक घर में भिक्षा पा लेते हैं। निर्धन, अप्रतिष्ठित या सधन प्रतिष्ठित दोनों के घर समान वृत्ति से जाते हैं। गरीब, अमीर के घर पर विशेषता को नहीं मानकर उपस्थित होते हैं। दातार गृहस्थ के घर जाकर अधिक देर तक भी नहीं ठहर सकते हैं जिससे कि दीनता या याचकत्व प्रकट होय और अत्यल्प भी नहीं ठहरे जिससे कि दानी को पात्र के आने का पता भी न चले। अतः भिक्षाके लिये दानी के घर पर विशिष्ट काल तक ही मुनी का ठहरना अभीष्ट है। इसी प्रकार रसोईघर या आंगन प्रदेशोंमें ही मुनि ठहर सकते हैं। भण्डारगृह, शयनगृहमें मुनि का ठहर जाना अनुचित है। भिक्षा की शुद्धि रखनेवाले मुनि को दीन (नदीदा) और अनाथ के घर भिक्षा नहीं

लेनी चाहिये। मुनि को दानशाला, विवाहस्थान, पूजाघर और क्रीडास्थान, कारागृह, आदि स्थलों पर भिक्षा के परित्याग रखने का पूरा लक्ष्य रखना पडता है। नारीदेपन को प्रवृत्ति से रहित भिक्षा होनी चाहिये। त्रस स्थावर जीवों से रहित प्रासुक आहार "प्रगता असवो यस्मात्" के ढूंढने में ही चित्त का ध्यान रक्खा जाय। बढिया पुष्ट, गरिष्ठ, स्वादु-भोजन की प्राप्ति का लक्ष्य नहीं रक्खा जाय। शास्त्रविहित मार्ग से निर्दोष हो रहे भोजन की परिप्राप्ति हो जाने से शरीर या प्राणों की यात्रा बनी रहे मात्र इतना ही भोजन का फल समझा जाय ये सब भिक्षाशुद्धि के लिये करने पड़ते हैं। उस भिक्षाशुद्धि के साथ ही अविनाभाव रख रही चारित्रसम्पत्ति है, जैसे कि साधुजनों की सेवा को कारण मानकर सेवक जनों को गुणों की सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार भिक्षाशुद्धि और चरित्रशुद्धि की व्याप्ति बन रही हैं "यत्र यत्र भिक्षाशुद्धिस्तत्रतत्र चरणसम्पत्तिः"।

लाभालाभयोः सुरसविरसयोश्च समसंतोषा भिक्षेति भाष्यते, यथा सलीलसालंकारवरयुवतिभिरुपनीयमानघासो गौर्न तदंगगतसौंदर्यनिरीक्षणपरः तृणमेवात्ति यथा वा तृणजवं नानादेशस्थं यथालाभमभ्यवहरति न योजनासंपदमवेक्षते, यथा भिक्षुरपि भिक्षापरिवेषकजनमृदुललितरूपवेषविलासविलोकननिरुत्सुकः शुष्कद्रवाहारयोजनाविशेषं चानपेक्षमाणः यथागतमश्नातीति गौरिव गोर्वाचारो गोचर इति च व्यपदिश्यते तथा गवेषणेति च।

भिक्षा का लाभ हो जाने में और भिक्षा का लाभ नहीं होने में समान संतोष रखने वाली तथा सुन्दर रस वाले व्यञ्जनों के खाने में और रसरहित पदार्थों के भक्षण में समान संतोष धार रही वह भिक्षा यों बखानी गई है अथवा लाभ, अलाभ, में नीरस, सरस, में समान संतोष को धारने वाले मुनीन्द्रों ने वह भिक्षा यों बखानी है। ऐसी भिक्षा के गोचार, अक्षम्रक्षण, उदराग्निप्रशमन, भ्रामरी, श्वभ्रपूरण ये पांच भेद हैं। पहिली गोचरी वृत्ति इस प्रकार है कि जैसे यौवनलीलाओं और श्रेष्ठ भूषणों से सहित हो रही सुन्दरी युवतियों करके लाया गया है घास जिसके लिये ऐसी गाय उस नवोढा के अङ्गों में प्राप्त हुये सौन्दर्य का निरीक्षण करने में तत्पर नहीं होती हुई केवल तृणों को ही खाने लग जाती है अथवा जिस प्रकार गाय (गोवलीवर्द न्यायेन बैल भी) नाना देशों में स्थित हो रहे तृणों के टुकडों को जैसा तैसा तृणलाभ होता जाता है तदनुसार गोचर भूमि में भ्रमण कर केवल खा ही लेती है कोई घास की योजना यानी रचनादिन्यास आदि शोभा को नहीं नीचे देखती फिरती है उसी प्रकार संयमी भिक्षु भी भिक्षा को परोसने वाले स्त्री, पुरुषों के कोमल श्रृंगारोचितचेष्टाओं सुन्दररूप, वेष, (पहनावा) विलास (श्रृंगारोचित चेष्टायें)

भूषण शब्द आदि के देखने, निरखने, सुनने, में उत्सुक नहीं हो रहा सन्ता तथा सूखे, गीले, आहार की विशेष रचनाओं की नहीं अपेक्षा करता हुआ केवल यथायोग्य प्राप्त हुये जैसे भी शुद्ध भोजन को खा लेता है, यों खाने में गाय का सादृश्य हो जाने से गाय के समान मुनि हैं अथवा गौ के समान चार यानो भोजन या भोजन के लिये गमन है "चर गतिभक्षणयोः" । इस कारण इस भोजन वृत्ति का नाम "गोचार" इस प्रकार व्यवहार में बखाना गया है और तिसी प्रकार गौ के समान भक्ष्य पदार्थ का शोधना, ढूंढना होने से "गवेषणा" यों भी कहा दिया जाता है ।

यथा शकटं रत्नभारपरिपूर्णं येन केनचित् स्नेहेनाक्षलेपनं कृत्वाभिलषितं देशान्तरं वणिग्जनो नयति तथा मुनिर्गुणरत्नभरितां तनुशकटीमनवद्यभिक्षयायुरक्षम्रक्षणेनाभिप्रेतसमाधिपत्तनं प्रापयतीति अक्षम्रक्षणमिति च नाम निरूढं ।

मुनि की दूसरी अक्षम्रक्षण भोजनवृत्ति ऐसी है कि जिस प्रकार रत्न के बोझ से भरपूर हो रहे छकड़ा गाडी को व्यापारी वैश्य मनुष्य जिस किसी भी ऐरे गैरे तेल से धुरा आमन का लेप कर अभीष्ट देशान्तरों को ले जाता है तिसी प्रकार मुनि भी गुणस्वरूप रत्नों से भरी हुई शरीरस्वरूप गाडी को निर्दोष हो रही सरस या नीरस भिक्षा द्वारा आयुःस्वरूप रथांग का तैललेपन करके अभीष्ट हो रहे समाधि नामक नगर (रत्नों के क्रय विक्रय का शहर) को प्राप्त करा देता है। इस उपमानोपमेय या रूप्यरूपक अनुसार इस भिक्षा का नाम अक्षम्रक्षण इस प्रकार नियम से रूढ हो रहा है। अक्षस्य रथाङ्गस्य म्रक्षणं स्नेहलेपनमिव अक्षम्रक्षणं ।

यथा भांडागारे समुत्थिमनलमशुचिना शुचिना वा वारिणा शमयति गृही तथा यतिरपीति उदराग्निप्रशमनमिति च निरुच्यते, दातृजनबाधया विना कुशलो मुनिः भ्रमरवदाहरतीति भ्रमराहार इत्यपि परिभाष्यते, येन केनचित्प्रकारेण श्वभ्रपूरणवदुदरगर्तमनगारः पूरयति स्वादुनेतरेण वाहारेणेति श्वभ्रपूरणमिति च निरुच्यते ।

मुनिमहाराज की तीसरी उदराग्निप्रशमन नाम की भिक्षावृत्ति यों हैं कि जिस प्रकार सोना, रुपया, रत्न, अन्न के कोठार या भण्डारे में खूब लग उठी आग को शुद्ध अथवा अशुद्ध जल करके गृहस्थ शांत कर लेता है, उसी प्रकार संयमी भी शुद्ध खाद्य पेय द्वारा पेट की आग को प्रशान्त कर लेता है चाहे वह खाद्य पदार्थ नीरस, सरस, रूखा, चिकना, कैसा भी हो इस कारण इस भोजनवृत्ति का नाम उदराग्निप्रशमन इस प्रकार शब्दनिरुक्ति

पूर्वक कहा जा रहा चला आया है। संयमी की चौथी भोजन वृत्ति का नाम भ्रामरी यों पड़ा है कि भौरा जैसे पुष्पकलिकाओं को कुछ भी बाधा नहीं देकर उनमें से मकरंद ले लेता है उसी प्रकार दाता जनों को बाधा नहीं पहुंचा कर चतुर मुनि भौंरे के समान आहार करता है इस कारण इस भिक्षावृत्ति को भ्रमरआहार या भ्रामरी ऐसी भी जैनसिद्धान्त में परिभाषा की गई है। भ्रमर किसी भी मञ्जरी को यत्किञ्चित् क्लेश नहीं पहुंचाता है और अनेक पुष्पों से पराग या रस को यथोचित स्वल्प ले लेता है। मुनि का भी यही रूपक है। पांचवे भिक्षाभोजन श्वभ्रपूरण का तात्पर्य यह है कि जिस किसी भी कूडा, कचरा, मिट्टी, कंकड, पत्थर आदि प्रकार करके जैसे गड्ढे को पूर दिया जाता है, उसी प्रकार अनगार मुनि भी अपने पेटरूप गड्ढे को स्वादसहित या स्वादरहित कैसे भी आहार करके भरपूर कर लेता है। इस कारण प्रकृतिप्रत्ययों के अर्थ अनुसार श्वभ्रपूरण इस प्रकार संज्ञा कही जा रही है। शब्द की निरुक्ति कर यही अर्थ निकाला गया है।

प्रतिष्ठापनशुद्धिपरः संयतः नखरोमसिंघाणकनिष्ठीवनशुक्रोच्चारप्रस्रवणशोधने देहपरित्यागे च विदितदेशकालो जन्तूपरोधमन्तरेण प्रयतते।

भिक्षाशुद्धि का विवरण कर अब ग्रन्थकार छठी प्रतिष्ठापना शुद्धि को कहते है कि प्रतिष्ठापना समिति को शुद्ध बनाने में तत्पर हो रहा संयमी मुनि देश काल की व्यवस्था को जानता हुआ अपने, नख, केश, नासिकामल, थूक, वीर्य, मल, मूत्र, पसीना आदि को शुद्ध स्थल पर क्षेपने में और जीवित या मृत, देह के, धरने या परित्यागने में प्राणियों को बाधा या उनके स्वतन्त्र विचरण में विघ्न नहीं होय इस ढंग से प्रयत्न करता हैं। राजकीय नियम अनुसार जहां मल, मूत्र, क्षेपण का निषेध है लौकिक स्त्री, बालक, अथवा पशुपक्षियों के जो बैठने, सोने, आने, जाने के स्थान हैं वहां मुनि को मल, मूत्र, नहीं क्षेपना चाहिये। अपनी देह को भी योग्य स्थान पर धरे। सब से बडी बात यह है कि जीवों को बाधा नहीं पहुंचे, किस देश में, किस काल में कहां कहां जीव उपजते हैं कहां विचरते हैं यह मुनि को परिज्ञान रहना चाहिये, तभी प्रतिष्ठापना में शुद्धि आ सकेगी।

संयतेन शयनासनशुद्धिपरेण स्त्रीवधिकचौरपानशौंडशाकुनिकादिपापजनवासाः वाद्याः (वर्ज्याः) श्रृंगारविकारभूषणोज्वलवेशवेश्याक्रीड़ाभिरामगीतनृत्यवादित्राकुलशालादयः परिहर्तव्याः। अकृत्रिमा गिरिगुहातरुकोटरादयः कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासाः अनात्मोद्देशनिर्वर्तिताः निरारम्भाः सेव्याः।

सातवीं सोने और बैठने की शयनासनशुद्धि में तत्पर हो रहे संयमी करके

ऐसे स्थान छोड़ देने चाहिये जहाँ कि स्त्रीजन और हत्यारे, चोरों, मदिरा पीने वाले, जुआरी तथा पक्षियों को मारने वाले, मांसविक्रेता, व्यभिचारी, आदिक पापीजनों का आवास होय तथा श्रृंगार को बढानेवालीं शालायें, इन्द्रियों में विकारों को उपजाने वाले घर, भूषणों के स्थान, उज्वल पहनावे के स्थल, वेश्याओं के अड्डे, खेलने के क्षेत्र, सुन्दर गायनप्रदेश, नृत्य, वादित्र (बाजे) आदि से आकुलित हो रहीं शालायें भी मुनि को छोड देनी चाहिये ऐसे स्थलों पर आत्मीय ध्यान करने में चित्त नहीं लग सकता है। हाँ, किसी जीव के नहीं बनाये हुये अकृत्रिम हो रहे ये पर्वतों को गुफायें, वृक्षों के कोटर (खोखले) शिलातल आदिक स्थान सेवने योग्य हैं, तथा मनुष्यों के बनाये हुये कृत्रिमस्थान तो सूने घर, झोंपडी, कोठी आदिक, और जो छोड दिये गये या छुडा दिये गये आवास (स्थल) अथवा जो अपने उद्देश से नहीं बनाये गये ऐसे वसतिका धर्मशाला आदिक प्रदेश तथा जिनमें कोई कृषी, वाणिज्य, विवाहविधि नहीं होती हो अधिक आरम्भ, प्रारम्भ नहीं रचा गया होय ऐसे स्थान मुनि को सेवने योग्य हैं। ऐसा लक्ष्य रखने से शयनासन में शुद्धि हो जाती है।

वाक्यशुद्धिः पृथिवीकायिकारंभादिप्रेरणरहिता परुषनिष्ठुरादिपरपीडाकरण-प्रयोगनिरुत्सुका व्रतशीलदेशनादिप्रधानफला हितमितमधुरमनोहरा संयतयोग्या तदधिष्ठाना हि सर्वसंपत इति शुद्ध्यष्टकमुपदिष्टं भगवद्भिः संयमप्रतिपादनार्थं। ततो निरवद्यसंयमः स्यात्।

मुनिमहाराज के वाक्यशुद्धि तो यों पलती है कि पृथिवीकायिक जीव, जल-कायिक जीव आदि का आरम्भ करना, समारम्भ करना, आदि की प्रेरणा से रहित वचनप्रवृत्ति होनी चाहिये अर्थात् मट्टी को खोदो, यहाँ मट्टी भरो, इस सरोवर के पानी को सुखाओ, यहाँ नहर चलाओ, वन में आग लगाओ, ऐसे आरम्भ और हिंसा को बढाने वाले वचनों को मुनि नहीं बोलें, तथा दूसरों की पीड़ा को करने वाले कठोर, रूखे, निन्दाकारक, तिरस्कारक, आदिक वचनों का प्रयोग करने में उत्सुकता रहित मुनि होय। संयमी के उच्चारण का व्रतों का उपदेश, शीलों के धारने का आदेश, पापों के परित्याग का शिक्षण देना आदिक ही प्रधान फल होना चाहिये। सम्पूर्ण प्राणियों को हितस्वरूप, परिमित, मीठे, मनोहर वचन कहना ही संयमी के योग्य हैं। उस वाक्यशुद्धि का आधार पाकर ही लौकिक, पारलौकिक, सम्पूर्ण सम्पत्तियें प्राप्त हो जाती हैं। यों उस अपहृत संयम को समझाने के लिये भगवान् जिनेन्द्रदेव और आरातीय आचार्यों ने इस प्रकार आठ शुद्धियों का उपदेश किया है, उस से निर्दोष संयम पल जायगा।

तपो वक्ष्यमाणमेवं । परिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः । अभ्यंतरतपोविशेषोत्सर्गग्रहणात् सिद्धिरिति चेन्न, तस्यान्यार्थत्वात् । शौचवचनात्सिद्धिरिति चेन्न, तत्रासत्यपि गर्धोत्पत्तेः दानं वा स्वयोग्यं त्यागः ।

कर्मों का क्षय करने के लिये जो तपा जाय वह तप है, निकट भविष्य में तप के बारह भेद कहे जाने वाले हैं । चेतन और अचेतन परिग्रहों की निवृत्ति कर देना त्यागधर्म है । यहां कोई शंका करता है कि छः प्रकार का अभ्यन्तर तप कहा जायगा उसमें उत्सर्ग एक तप का विशेष भेद है । उत्सर्ग या व्युत्सर्ग का अर्थ त्याग ही है । अतः उस उत्सर्ग का ग्रहण कर देने से ही इस त्यागधर्म का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है यहां धर्मों में त्याग नाम का प्रकार रखना व्यर्थ है । आचार्य महाराज कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि तप में पड़े हुये उस उत्सर्ग का अन्य प्रयोजन है कुछ नियत काल तक सम्पूर्ण पदार्थों का त्याग कर देना उत्सर्ग का लक्षण है और काल का नियम नहीं कर शक्ति अनुसार जो दान किया जाय वह त्याग धर्म है। पुनः शंका उठाई जाती है कि शौचधर्म का कथन हो चुका है अतः शौच में अन्तर्भाव हो जाने से पुनः त्याग का प्रतिपादन व्यर्थ है। त्यागने में भी लोभ का त्याग है । शौच धर्म में भी लोभ का परित्याग किया जाता है । अतः शौचधर्म के कथन से ही त्याग के प्रयोजन की सिद्धि हो गयी ग्रन्थकार कहते हैं । कि यह भी कहना प्रशस्त नहीं है । कारण कि उस शौचधर्म में तो परिग्रहके नहीं होने पर भी लोलुपता उपज बैठती है । उस लोलुपता की निवृत्ति के लिये शौच कहा गया है । और यह त्याग तो फिर अपने निकट वर्त रहे पदार्थ का थोड़ा बहुत यथायोग्य परित्याग करना है अथवा संयमी को अपने योग्य ज्ञान, दीक्षा, धर्म वृद्धि, प्रायश्चित्त आदि का दान कर देना त्यागधर्म कहा जाता है ।

ममेदमित्यभिसंधिनिवृत्तिराकिंचन्यं । अनुभूतांगनास्मरणकथाश्रवणस्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनात् ब्रह्मचर्यं, स्वातंत्र्यार्थं गुरौ ब्रह्मणि चर्यमिति वा । अन्वर्थसंज्ञाप्रतिपादनार्थत्वाद्वाऽपौनरुक्त्यं । गुप्त्याद्यन्तर्भूतानामपि संवरधारणसामर्थ्याद्धर्म इति संज्ञाया अन्वर्थताप्रतिपत्तेरन्यथानुपपत्तेरित्यर्थगतेः । तद्भावनाप्रवणत्वाद्वा सप्तप्रकार प्रतिक्रमणवत्, सप्तप्रकारं हि प्रतिक्रमणमीर्यापथिकरात्रिदिवीयपाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकोत्तमस्थानलक्षणत्वात् । तच्च गुप्त्यादिप्रतिष्ठापनार्थं यथा भाव्यते तथोत्तमक्षमादिदशविधधर्मोपि । ततस्तत्रांतर्भूतस्यापि पृथग्वचनं न्याय्यं । उत्तमविशेषणं दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थं । सर्वेषां स्वगुणप्रतिपक्षदोषभावनात्संवरहेतुत्वं । कथमित्याह —

ग्रहण कर लिये गये शरीरादि में "यह मेरा है" इस प्रकार के अभिप्रायों का निवारण कर देना आकिञ्चन्य धर्म है। अनुभव कर ली जा चुकी स्त्री का स्मरण करना कि वह अनेक कला और गुणों से परिपूर्ण थी अथवा स्त्रियों की कथा को सुनना, वाचना, रतिप्रिय स्त्रियों के संग में रहकर सोना, बैठना, स्त्रियों के सुन्दर अंगों का देखना, पौष्टिक पदार्थ खाना, शारीरिकसंस्कार आदि का परित्याग करने से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य धर्म होता है अथवा धर्म को स्वतन्त्रतया पालने के लिये आप ही गुरु हो रहे परम ब्रह्म शुद्ध आत्मा में चर्या रखना यह भी ब्रह्मचर्य है। ऊपर किसी में किसी का अन्तर्भाव हो जाने की जो शंकायें की गयी हैं उन सभी का परिहार यों कर दिया जाय कि यद्यपि गुप्ति, समिति, तप, आदि में अन्तर्भूत हो चुके भी कतिपय धर्मों का यहां उपदेश कर दिया है तो भी अन्वर्थसंज्ञापने की प्रतिपत्ति हो जाना अन्यथा अनुपपन्न है ऐसी अर्थ की गति हो जाने से पुनरुक्तपना नहीं है। भावार्थ–धारणा सामर्थ्यात् धर्मः यह धर्मशब्द का प्रकृति और प्रत्यय से अर्थ निकल आता है। उन धर्मों की संवर के धारने में सामर्थ्य है अतः धर्म संज्ञा अन्वर्थ है। दूसरी बात यह भी है कि सात प्रकार प्रतिक्रमणों के समान उन दश प्रकार के धर्मों की भावना भी गुप्ति आदि के पालने में तत्पर हैं, अतः उनमें अन्तर्भूत हो चुकों का भी प्रयोजनवश पृथक् उपदेश किया जाता है। सात प्रकार का प्रतिक्रमण तो यों हैं कि १ ईर्यापथ संबन्धी २ रात सम्बन्धी ३ दिनसम्बन्धी ४ पखवाडा सम्बन्धी ५ चातुर्मास में होनेवाला ६ वार्षिक ७ उत्तमस्थान सम्बन्धी या उत्तम अर्थ सम्बन्धी, यों सात प्रकार का वह प्रतिक्रमण अर्थात् मेरे खोटे दोष मिथ्या हो जाय ऐसा अंतरंग से अभिप्राय प्रकट करना लक्षित किया जाता है। यह जैसे गुप्ति, समिति, आदि को प्रतिष्ठित करने के लिये भावित किया जाता है उसी प्रकार उत्तमक्षमा आदिक दश प्रकार के धर्म भी गुप्ति आदि में प्रतिष्ठित बने रहने के लिये भावे जाते हैं। तिस कारण से उन गुप्ति आदिकों में गर्भित हो चुके भी कतिचित् धर्मों का यहां पृथक् निरूपण करना न्यायोचित है।

दशों धर्मों में उत्तम विशेषण तो देखे जा रहे लौकिक प्रयोजनों का सर्वथा परिहार करने के लिये है अर्थात् लौकिक प्रयोजन को साधने के लिये यदि क्षमा या मार्दव आदि धारे जायेंगे तो वे उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि नहीं होंगे, उनसे कर्मों का संवर नहीं हो सकेगा। सभी धर्मों को पालते हुये स्व में गुण और अपने प्रतिपक्ष में दोष की भावना भाई जाय जैसे कि ब्रह्मचर्य का पालन करना इह लोक और परलोक में सुखसंपादक है। ब्रह्मचारी की सभी लोग प्रतिष्ठा करते हैं। उसका प्रतिपक्ष हो रहा व्यभिचार करना

बड़ा भारी दोष है चारों पुरुषार्थों का नाश करने वाला है लोक में व्यभिचारी की निन्दा होती है। इसी प्रकार क्षमा क्रोध, मार्दवमान, आर्जव माया, आदि में गुण दोषों की भावना करने से कर्मों के संवर का हेतुपना परिपुष्ट होता है। वह उपरिम वक्तव्य किस प्रकार सिद्ध हो जाता है? ऐसी जिज्ञासा उत्थित होने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिक को स्पष्ट कह रहे हैं।

दृष्टकार्यानपेक्षाणि क्षमादीन्युत्तमानि तु।
स्याद्धर्मः समितिभ्योन्यः क्रोधादिप्रतिपक्षतः ॥ १ ॥

लोक में देखे जा रहे अभिप्रेत कार्यों की नहीं अपेक्षा कर किये गये क्षमा, मार्दव, आर्जव, आदिक धर्म तो उत्तम कहे जावेंगे और जो किसी लौकिकप्रयोजनवश क्षमा आदि पाले गये हैं वे क्षमा, मार्दव, आर्जव, आदि भले ही समझे जाय। किन्तु उत्तमक्षमा, उत्तममार्दवादि नहीं कहे जा सकते हैं। क्रोध, मान, आदि के प्रतिपक्षी हो जाने से ये धर्म उन समितियों से न्यारे हैं।

क्रोधादिप्रतिपक्षत्वमित्येव धर्मः, उत्तमायाः क्षमायाः क्रोधप्रतिपक्षत्वात् मार्दवार्जवशौचानां मानमायालोभविपक्षत्वात् सत्यादीनामनृतासंयमातपोऽत्यागममत्वाब्रह्मप्रतिकूलत्वाच्च। स हि धर्म उत्तमक्षमादीन्येव समितिभ्योन्यः सूत्रितः। नन्वत्र व्यक्तिवचनभेदाद्वैलक्षण्यमिति चेन्न, सर्वेषां धर्मभावाव्यतिरेकस्यैकत्वादाविष्टलिंगत्वाच्च। कस्य पुनः संवरस्य हेतुर्धर्म इत्याह —

क्रोध आदि से प्रतिपक्षपने की भावना करना इस ही कारण ये धर्म हैं। क्योंकि उत्तमक्षमा को क्रोध का प्रतिपक्षपना प्रसिद्ध है। मार्दव, आर्जव और शौच धर्मों को मान माया और लोभ का विपक्षपना सिद्ध है तथा सत्य, संयम, तपः, त्याग आदि धर्मों को झूंठ, असंयम, अतपस्या, अत्याग, ममत्वभाव, अब्रह्म, इन दोषों का प्रतिकूलपना होने से विपक्षपना निर्णीत है। अतः वह धर्म नियम से उत्तम क्षमा आदि स्वरूप ही हो रहा संता पूर्वोक्त समितियों से न्यारा इस सूत्र द्वारा कहा गया है।

यहां कोई शंका करता है कि उद्देश्यदल और विधेयदल में समान विभक्ति और समान वचन होना चाहिये। किन्तु यहां दश उद्देश्य व्यक्तियों का एक धर्म व्यक्ति के साथ वचनभेद हो रहा देखा जाता है। ब्रह्मचर्याणि बहुवचन है और धर्मः एकवचन है। नपुंसक लिंग और पुल्लिंगका भी भेद है। अतः यह सूत्र का कथन विलक्षण है। शब्द के लक्षण

शास्त्र से विरुद्ध पडता है। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो न कहना। शब्दशास्त्र को अर्थतात्पर्य अनुसार चलना चाहिये। उत्तमक्षमा आदि सबके धर्मपने का अभेद हो जाना एक है अतः दशों उद्देश्यों में एक धर्मपने का विधान कर दिया है। एक बात यह भी है कि ब्रह्म-चर्य शब्द अपने नपुंसक लिंग को पकडे हुये हैं और धर्म शब्द अपने पुल्लिग के आवेश में जकडा हुआ है। बहुव्रीहि समास के सिवाय ये अजहल्लिंग माने गये शब्द अपने लिंग को कभी नहीं छोडते हैं। अतः वचन और लिंग का इस सूत्र में सामानाधिकरण्य नहीं है। शब्दों के नियत लिंग भी किसी अर्थ की भित्ति पर अवलम्बित हैं। सिद्धान्तित अर्थ से शून्य हो रहे कोरे व्याकरण का कोई मूल्य नहीं है।

यहां कोई प्रश्न करता है कि ये धर्म फिर किस किस संवर के कारण हो रहे हैं? बताओ। ऐसी बुभुत्सा उपजने पर श्री विद्यानन्द आचार्य इस अगली वार्तिक को कह रहे हैं।

तन्निमित्तास्रवध्वंसी यथायोगं स देशतः।
संवरस्य भवेद्धेतुरसंयतदृगादिषु ॥ २ ॥

उन क्रोध, मान, आदि निमित्तों द्वारा परिस्पन्द आत्मक योग अनुसार जो कर्म आने वाले थे, चौथे असंयत सम्यग्दृष्टि, पांचमे संयतासंयत, आदि गुणस्थानों में यथायोग्य पाले जा रहे वे धर्म उन कर्मों का एकदेश रूप से संवर कर देने के हेतु हो जाते हैं। सम्पूर्ण कर्मों का संवर तो चौदहवें गुणस्थान में है, वह सर्वदेश से संवर है। हाँ, चौथे आदि गुणस्थानों में कतिपय कर्मों का ही संवर हो रहा है अतः यह एकदेश संवर समझा जायगा।

क्रोधादिनिमित्तकास्रवध्वंसीन्युत्तमक्षमादीनि निश्चितानीति तत्स्वभावो धर्मस्तन्निमित्तास्रवप्रध्वंसी कथ्यते। स यथायोगं देशतः संवरस्य हेतुर्भवेदसंशयमेव असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु तत्संभवात्। तथाहि असंयतसम्यग्दृष्टौ तावदनंतानुबंधिक्रोधादिप्रतिपक्षभूताः क्षमादयः संभवंत्येव। संयतासंयते वानंतानुबंध्यप्रत्याख्यानावरणक्रोधादिविपक्षाः, प्रमत्तसंयतादिषु सूक्ष्मसांपरायांतेषु पुनरनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणप्रतिबंधिनः, उपशांतकषायादिषु समस्तक्रोधादिसपत्नाः संगच्छंते विरोधाभावात्। एवं संयमादयोपि प्रमत्तसंयतादिषु यथायोगं संभवंतः प्रतिपत्तव्याः। ते च स्वप्रतिपक्षहेतुकास्रवनिरोधनिबंधनत्वाद्देशसंवरस्य हेतवः स्युः।

जिनके निमित्तकारण क्रोध, मान, आदि हैं उन आस्रवों का ध्वंस करने वा
उत्तमक्षमा, मार्दव, आदि धर्म हैं यह निर्णीत कर दिया गया है (व्याप्ति) इस कारण उ
क्षमादि स्वरूप हो रहा धर्म उन क्रोध आदि को निमित्त पाकर आने वाले आस्रव का प्रध्वं
करने वाला कहा जाता है। वह धर्म अनुकूल योग्यता अनुसार एकदेश से संवर कर
का हेतु हो जायगा। यह सिद्धान्त भी संशयरहित ही हैं। संयम से रहित और सम्यग्दर्शन
सहित ऐसे असंयतसम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान तथा पांचवें आदिक गुणस्थानों
वह संवर भले प्रकार संभवता है।

उसी को स्पष्ट कर ग्रंथकार यों दिखलाते हैं कि मोक्षोपयोग
सब से प्रथम चौथे गुणस्थान में अनंतानुबंधी क्रोध आदि का उदय नहीं है। अत
असंयत सम्यग्दृष्टि अवस्था में अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि के प्रतिपक्षभूत क्षमा, मार्दव, आदि
तो भले प्रकार हो ही रहे हैं। तथा त्रसवध का त्यागी होने से संयत, और स्थावर वध क
त्यागी न होने से असंयत, ऐसे संयतासंयत नामक पांचवें गुणस्थान में अनन्तानुबंधी चौकड़
और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि चौकडी के विपक्ष हो रहे उत्तम क्षमादिक विद्यमा
हैं। प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थान को आदि लेकर सूक्ष्मसांपराय नामक दशमे पर्यन्त
पांच गुणस्थानों में फिर अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण इन बारह
कषायों के शत्रुभूत प्रतिबंधी क्षमादिक भाव जग रहे हैं।

ग्यारहवें उपशांतकषाय आदि गुणस्थानों में अनन्तानुबंधी, अप्रत्या
ख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन इन सब के क्रोध आदि के सपत
यानी शत्रुभूत क्षमादि गुण भले प्रकार संगत हो रहे हैं। कोई विरो
करने वाला नहीं है। जिस प्रकार क्रोध, मान, माया लोभ के प्रतिपक्ष हो रहे क्षमा, मार्दव
आर्जव, शौच धर्मों का गुणस्थानों में सद्भाव है, उसी प्रकार असंयम, अतप, आदि
प्रतिपक्षी हो रहे संयम, तप, आदि धर्म भी छठे प्रमत्तसंयत सातमे अप्रमत्तसंयत आदि
गुणस्थानों में यथायोग्य संभव रहे समझ लेने चाहिये तथा वे उत्तमक्षमा आदिक औ
संयम आदिक दशों धर्म अपने अपने प्रतिपक्ष हो रहे क्रोध आदि को हेतु मान कर हो
वाले आस्रव के निरोध का कारण हो जाने से देशसंवर के हेतु हो जायेंगे, यही कारिक
में कहा गया है।

अथानुप्रेक्षाप्रतिपादनार्थमाह —

धर्मों का निरूपण करने के अनन्तर सूत्रकार महाराज अब अनुक्रमप्राप्त अनु
प्रेक्षाओं की प्रतिपत्ति कराने के लिये अग्रिमसूत्र का उच्चारण कर रहे हैं।

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥

अनित्यपन का विचार करना, कोई के नहीं शरण होनेपन का चिन्तन करना, संसार का विचार करना, अकेलेपन का चिन्तन करना, शरीरादि से आत्मा के भिन्नपने का विचार करना, शरीरादि के अशुद्धपन का चिन्तन करना, आस्रव की चिन्ता करना, संवर की भावना भाना, निर्जरा तत्त्व की अनुप्रेक्षा करना, लोकरचना का चिन्तन करना, सम्यग्ज्ञान का दुर्लभपना भावना, श्रेष्ठधर्म के बढ़िया व्याख्यान हो चुकने को पुनः पुनः भावना करना कि श्री जिनेन्द्र भगवान् ने बहुत अच्छा कार्य किया, जो धर्म का व्याख्यान कर दिया, गुणस्थान, मार्गणाओं का निरूपण किया, यदि वे अन्तकृत्केवली के समान उपदेश दिये विना ही मोक्ष चले जाते तो हम क्या कर लेते, श्री अरहंत के उस बढिया धर्म-व्याख्यान से अनन्तानन्त जीव मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ऐसा धर्म + सु + आङ् + ख्या + क्त + त्व, धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा इस बारहमीं अनुप्रेक्षा का विशाल अर्थ है। एक अच्छी वैद्य-विद्या का उपदेश देनेवाला पण्डित कुछ काल के लिये कतिपय जीवों का उपकार कर देता है, उसकी प्रशंसा की जाती है तो फिर अनेक जन्म, जरा, मृत्यु, महारोगों से पीडित हो रहे अनन्तानन्त प्राणियों को अक्षयअनन्तकाल तक नीरोग बना देने वाले जिनेन्द्र के निर्दोष धर्मोपदेश की महिमा का निरूपण करना तो अशक्यानुष्ठान ही है।

इस प्रकार उक्त बारहों चिन्तन के पीछे चिन्तन पुनः चिन्तन यों भावनायें करना बारह अनुप्रेक्षायें हैं। एक बार हुये ज्ञान को चिन्तन या ध्यान नहीं कहते हैं। किन्तु बीसों, सैकडों ज्ञानों की उसी विषय में अंश तदंशों या तत्सम्बन्धी अन्य भी पदार्थों को ग्रहण कर रही लडी को भावना या ध्यान कहा जाता है। विशेष प्रकार के ज्ञानों को ही भावना मानना चाहिये।

उपात्तानुपात्तद्रव्यसंयोगव्यभिचारस्वभावोऽनित्यत्वं, क्षुभितव्याघ्राभिद्रुतमृगशावकवज्जन्तोर्जरामृत्युरुजांतके परित्राणाभावोऽशरणत्वं, द्रव्यादिनिमित्तादात्मनो भवांतरावाप्तिः संसारः, जन्मजरामरणावृत्तिमहादुःखानुभवनं प्रतिसहायानपेक्षत्वमेकत्वं, शरीरव्यतिरेको लक्षणभेदोन्यत्वं, अशुभकारणत्वादिभिरशुचित्वं, आस्रवसंवरनिर्जराग्रहणमनर्थकमुक्तत्वादिति चेन्न, तद्गुणदोषान्वेषणपरत्वादिह तद्ग्रहणस्य। लोकसंस्थानादिविधिर्व्याख्यातः, रत्नत्रय(स्व)भावाविलाभस्य कृच्छ्रप्रतिपत्तिर्बोधिदुर्लभत्वं, जीवस्थानगुणस्थानानां गत्यादिषु

मार्गणालक्षणो धर्मः स्वाख्यातः, गतींद्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्व संज्ञाहारकेषु मार्गणा। स्वाख्यात इति युच् प्रसंग इति, प्राविवृत्तेः शोभनमाख्यात इति।

आत्मा करके ग्रहण कर लिये गये कर्म नोकर्म पुद्गल द्रव्य उत्पाद हैं और परमाणुयें, अग्राह्यवर्गणायें, नभोवर्गणायें, आदिक तो नहीं ग्रहण किये गये अनुपात्त पुद्गल द्रव्य है। अर्थात् वर्तमान या कुछ आगे पीछे के भूतभविष्य काल में ग्रहण अग्रहण हो जाने की अपेक्षा से उपात्त, अनुपात्त व्यवस्था है। नहीं तो प्रायः सभी पुद्गलों को जीव ग्रहण कर चुका है। यों सभी उपात्त हुये। पदार्थों के भक्ष्यपन या अभक्ष्यपनका नियम भी वर्तमान पर्याय अनुसार है। अन्यथा अन्न, शाक, आदि की पूर्व अवस्थायें खात, मल, मूत्र, हड्डियें, अनछना पानी आदि महान् अशुद्ध पदार्थ हैं। पीछे भी अन्न के रक्त, मांस, मल, आदि बनेंगे जो कि कालान्तर में पुनः अन्न, घास, आदि बन सकेंगे। चोर ने कोई वस्तु चुराई है यदि वस्तु या चोर की पूर्वपर्यायों को विचारा जाय तो कदाचित् वह चीज चोर की हो चुकी है उल्टा साहूकार ने चोर की वस्तु को चुरा रखा है। स्वस्त्री परस्त्री का नियम भी वर्तमान काल की अपेक्षा से ही है। पूर्वजन्मों में अनेक परस्त्रियां किसी विवक्षित जीव की स्वस्त्रियां हो चुकी हैं। ऐसी दशा में भक्ष्यपदार्थ, अचौर्य, परस्त्रीत्यागव्रत, इन सब में वर्तमान पर्यायों के लक्ष्य की ही प्रधानता है।

ग्रन्थकार कह रहे हैं कि इन उपात्त या अनुपात्त हो रहे शरीर, इन्द्रिय, उपभोग्य विषय, स्वजन आदि द्रव्यों के संयोग का व्यभिचारस्वभाव चिन्तन करना अनित्यत्व अनुप्रेक्षा है। अर्थात् संसारमें कोई भी पदार्थ पर्यायरूपसे स्थिर नही। है जिसका संयोग होता है उसीका कुछ काल में वियोग हो जाता है। यह जीव मोहसे धन, कुटुम्ब, आदिको नियमसे संयुक्त मान बैठा है। किन्तु ये सब नियमित मान लिये गये संयोग से विपरीत होकर व्यभिचारस्वरूप हो रहे हैं। अर्थात् स्थायीपनसे अतिरिक्त होकर भंगुर हैं (साध्याभाववद्वृत्तित्वं)।

भूख से विकल हो रहे वाघ से दवा लिये गये मृग छौने का जैसे कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार बुढापा, मृत्यु, रोग, यमराज के उपस्थित हो जाने पर जीवका पूर्णतया रक्षण करने वाला कोई नहीं है ऐसा विचार करना अशरणपना है। यम एक व्यन्तर देव है। इन्द्र का लोकपाल हो रहा वैमानिक देव भी है। किन्तु रूपक प्रकरण अनुसार उदय या उदीरणाप्राप्त आयुष्य कर्म के उस भवसंबन्धी अन्तिम निषेकों को जैनसिद्धान्त में यमराज माना गया है। लोकव्यवहार में मरण आया तो यमदेव ले जाता है ऐसी धारणा है, परंतु आयुकर्म के क्षीण होने पर मरण समय पर आता है। इस में यम का कोई संबंध नहीं है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, आदि निमित्तों से आत्मा को अनेक अन्य भवों की प्राप्ति होते रहना इसका विस्तृत वितर्कण करना संसार अनुप्रेक्षा है।

जन्म लेना, बुढापा प्राप्त करना, मर जाना, पुन: जन्म लेना, बूढा हो जाना, मर जाना, ऐसी अनेक आवृत्तियों में यह जीव अकेला महान् दु:खों का अनुभव करता रहता है उस दु:खानुभव में कोई भी अपेक्षणीय स्वजन, परजन सहायक नहीं होता है अकेला ही जीव पुण्यपाप फलों को भोगता है अकेला हो मोक्ष को भी प्राप्त करता है किसी सहायक की अपेक्षा करना व्यर्थ है कोई सहायक हो भी नहीं सकता है ऐसो तर्कणा एकत्व अनुप्रेक्षा है।

आत्मा और शरीर के भिन्न भिन्न लक्षण होने के कारण शरीर से आत्मा का भेद विचारना और लक्षणों के भेद का परामर्श करना अन्यपन की अनुप्रेक्षा है।

शरीर के कारण हो रहे रज, वीर्य आदि अशुभ हैं, शरीर के कार्य मल, मूत्रादि भी अशुद्ध हैं इत्यादि प्रकारों करके अशुद्धपनेका विचार रखना अशुचित्व अनुप्रेक्षा है।

कर्मों के आस्रव होते रहने की चिन्ता करना आस्रवानुप्रेक्षा है, कर्मों के रुक जाने का सद्विचार करना संवरभावना है, कर्मों की निर्जरा का स्वरूप चिन्तन करना निर्जरानुप्रेक्षा है।

कोई पण्डित यहां शंका करता है कि आस्रव, संवर और निर्जरा का स्वरूप कह दिया गया है अत: उनका यहां पुन: ग्रहण करना व्यर्थ है। आचार्य कहते हैं यह शंका तो ठीक नहीं है। कारण कि यहां उन तीनों का ग्रहण करना तो उनके गुण और दोषों के ढूंढने में तत्पर हो रहा है। आस्रव के दोषों का विचार करना चाहिये, संवर के गुणों की सद्भावना करनी चाहिये, निर्जरा के गुण ओर दोषों की विवेचना करनी चाहिये।

लोक की रचना लम्बाई, चौडाई आदि विधानों का तीसवे, चौथे अध्यायों में व्याख्यान किया जा चुका है।

रत्नत्रय स्वरूप सद्धर्मलाभ भेदविज्ञान, स्वानुभूति आदि के लाभ की बडे कष्ट से प्राप्ति होतो है यों विश्वास रखते हुये भेदज्ञान का दुर्लभपना चीतना बोधि दुर्लभपन अनुप्रेक्षा है।

जिनेन्द्र भगवान् के सिद्धान्त अनुसार जीवस्थान, गुणस्थानों का गति, इन्द्रिय, आदि में ढूंढना स्वरूप धर्म बहुत अच्छा बखान दिया गया है, ऐसा श्रेष्ठ विचार करते रहना धर्मस्वाख्यातत्व अनुप्रेक्षा है।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम दर्शन लेश्या, भव्यत्व सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार इन चौदह परिणतियों में जीवों की मार्गणा की जाती है।

यहाँ कोई वैयाकरण शंका उठाता है कि "स्वाख्यातः" इस पद में "युच्" प्रत्यय हो जाने का प्रसंग है "यु" को अन होकर "स्वाख्यानम्" बनना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो नहीं कहना। क्योंकि यहां "कुगतिः प्रादयः" इस समास विधायक लक्षण सूत्र अनुसार समास वृत्ति हो जाने से सु यानी सुन्दर होकर आख्यान कर दिया गया यों "स्वाख्यात" पद बना दिया है।

अनुप्रेक्षा इति भावसाधनत्वे बहुवचनविरोधः, कर्मसाधनत्वे सामानाधिकरण्याभाव इति चेन्न वा कृदभिहितस्य भावस्य द्रव्यवद्भावात्, सामानाधिकरण्यसिद्धेश्चोभयोः कर्मसाधनत्वात्। मध्येनुप्रेक्षावचनमुभयनिमित्तत्वात्। धर्मपरीषहजययोर्निमित्तभूता ह्यनुप्रेक्षास्तन्मध्येऽभिधीयंते। कुतस्ताः कथ्यंत इत्याहः—

चिन्तन करना ऐसी भावपरिणति अनुप्रेक्षा है और भाव में शयनं, पचनं, गमनं, आदि के समान एक वचन होता है। यहां अनुप्रेक्षा इस शब्द को भाव में प्रत्यय कर यदि साधा जायेगा तो अनुप्रेक्षाः इस बहुवचन पद के बहुवचन होने का विरोध पडेगा "भावे एकत्वं नपुंसकत्वं च"। हाँ, यदि अनुप्रेक्षा शब्द को कर्म में प्रत्यय कर साधा जाय तो बहुवचन घटित हो जायगा। किन्तु अनित्यत्व, एकत्व, आस्रव, संवर आदिक भाववाची पदों के साथ अनुप्रेक्षणीय द्रव्य को कह रहे अनुप्रेक्षा शब्द के साथ समानअधिकरणपने का अभाव हो जायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि कृदन्त प्रत्यय से कह दिया गया भाव तो द्रव्य के समान हो जाता है। जैसे कि "पच्" धातु से भाव में घञ् प्रत्यय करने पर भी पाकौ, पाकाः, ये द्विवचन, बहुवचन के रूप चल जाते हैं। क्योंकि न्यारे न्यारे पचने योग्य पदार्थों का पाक भाव भी न्यारा न्यारा है। तिसी प्रकार अनुप्रेक्षा करने योग्य अनेक पदार्थों के भेद से अनुप्रेक्षा भाव भी भिन्न भिन्न हैं। अतः अनुप्रेक्षा यह बहुवचन कहना न्याय से प्राप्त है।

एक बात यह भी है कि उद्देश दल के अनुचिन्तन पद को और विधेयदल के अनुप्रेक्षा पद को कर्म में प्रत्यय कर साध लिया जाय जो पुनः पुनः चिन्ता जाय वह अनुप्रेक्षा करने योग्य है यों समान अधिकरणपने की सिद्धि हो जाती है। जब कि दोनों पदों को कर्म में प्रत्यय कर कृदन्त पद बना लिया गया है।

कर्म और परीषहजय के मध्य में अनुप्रेक्षाओं का निरूपण तो दोनों का निमित्त-कारणपना होने से कर दिया है। देहलीदीपकन्याय से कारणभूत अनुप्रेक्षाओंका बीच में प्रतिपादन है अनुप्रेक्षाओं की भावना करता हुआ पहिले उत्तम क्षमा आदि धर्मों का पालन करता है और पिछली परीषहों को भी जीतने का उत्साह रखता है। अतः धर्म और परीषहजय के निमित्त हो रहीं अनुप्रेक्षाओं को उन दोनों के मध्य में कह दिया गया है।

यहाँ कोई तर्क उठाता है कि वे बारह अनुप्रेक्षायें किस युक्ति करके प्रसिद्ध हो रही संती संवर के कारणपने से कह दी जा रही हैं? बताओ। ऐसी तर्कणा उठने पर ग्रन्थकार इस अगली वार्तिक को कह रहे हैं।

अनुप्रेक्षाः प्रकीर्त्यंतेऽनित्यत्वाद्यनुचिन्तनं।
द्वादशात्राननुप्रेक्षा विपक्षत्वान्मुनीश्वरैः ॥ १ ॥

मुनियों के ईश्वर हो रहे सर्वज्ञ, गणधर, आचार्य महाराजों या सूत्रकारों ने अनित्यपन, अशरणपन आदि का पुनः पुनः चिन्तन करना ये बारह अनुप्रेक्षायें इस सूत्र में बढ़िया प्ररूपणा कर दी हैं (प्रतिज्ञा) कारण कि शरीर आदि को नित्य मान बैठना चाहे जिसको शरण मान बैठना आदिक अनुप्रेक्षाविहीन परिणतियों की विपक्ष हो रहीं यें अनुप्रेक्षायें हैं (हेतु)। आस्रव के विरोधी कारणों से अवश्य संवर हो जाता है।

परिकल्पिता एवानित्यत्वादयो धर्मास्तेषामात्मनि शरीरादिषु च परमार्थतो ऽसत्वादित्यपरे तान् प्रत्याहः—

यहाँ सांख्यपण्डितों की ओर से कटाक्ष है कि अनित्यपन आदिक धर्म तो सब यहाँ वहाँ से कल्पना कर लिये गये ही हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि आत्मा और शरीर धन आदि में उन धर्मों का वास्तविक रूप से असद्भाव है (हेतु) इस प्रकार जो कोई दूसरे विद्वान् कह रहे हैं उनके प्रति आचार्य महाराज अगली वार्तिक में समाधान वचन कहते हैं।

अनित्यत्वादयो धर्माः संत्यात्मादिषु तात्त्विकाः,
तथा साधनसद्भावात्सर्वेषां स्वेष्टतत्त्ववत् ॥ २ ॥
ततोनुचिन्तनं तेषां नासतां कल्पितात्मनां,
नाप्यनर्थकमिष्टस्य संवरस्य प्रसिद्धितः ॥ ३ ॥

आत्मा, शरीर आदि पदार्थों में पर्यायदृष्टि से वास्तविक हो रहे अनित्यत्व आदिक धर्म विद्यमान हैं (प्रतिज्ञा) तिस प्रकार अनित्यत्व, अशरण, एकत्व, अशुचित्व, आदि को सिद्ध करने वाले साधनों का सद्भाव होने से (हेतु) जैसे कि सम्पूर्ण प्रवादी विद्वानो के यहां अपने इष्टतत्त्व वस्तुभूत माने गये हैं (दृष्टान्त) ।

भावार्थ-बौद्धों के यहाँ स्वलक्षण या ज्ञान को वस्तुभूत माना गया है, सांख्यों ने आत्मा और प्रकृति को परमार्थ तत्त्व माना है, नैयायिकों ने आत्मा, रूप, रस, आदि को वास्तविक तत्त्व इष्ट किया है, चार्वाकने पृथिवी आदिको तत्त्व अभीष्ट किया है । इसी प्रकार अनित्यपन आदि भी वस्तुभित्ति पर अवलम्बित हो रहे धर्म हैं । बबूला, बिजली, दीपशिखा ये सब क्षणभंगुर हैं । महान् कष्ट या मृत्यु में कोई शरण नहीं हैं, रजो वीर्य से उत्पन्न हुआ मल, मूत्र का अधिकरण यह शरीर महान् अपवित्र है, यह जीव दूसरे पदार्थों से भिन्न है, तत्वज्ञान बडा दुर्लभ है, इत्यादिक धर्म सभी वस्तु के स्वरूप में ओत प्रोत होकर अनुप्रविष्ट हो रहे हैं । कोरे कल्पित नहीं हैं । शरीरपर पहन लिये गये वस्त्रमें प्रतिक्षण जीर्णता प्रविष्ट हो रही है, चटाई या दरी प्रतिसमय घिस रही हैं । बच्चे का शरीर अनुक्षण बढ रहा है । सर्पमें काटे जानेके और न्योले में काटने के अवयव वस्तुभूत हैं । अग्नि में दाहकत्व और रुई में दाह्यत्व परिणतियां वस्तुभूत दीख रही हैं । अष्टसहस्री ग्रन्थ में अनेक युक्तियों से वस्तुभूत धर्मों को साध दिया गया है । तिस कारण अनुप्रेक्षाओं में कोरे कल्पित स्वरूप हो रहे उन असद्भूत धर्मोंका बार बार चिन्तन नहीं है । किन्तु वस्तुभूत धर्मों की भावनायें हैं । ये बारह भावनायें व्यर्थ भी नहीं हैं । क्योंकि इष्ट हो रहे संवर की इन से भले प्रकार सिद्धि हो जाती है । वस्तुभूत धर्म अवश्य ही वास्तविक कार्य को कर डालते हैं ।

अथानुप्रेक्षानन्तरं परीषहजयं प्रस्तुवानः सर्वपरीषहाणां सहनं तेत्र किमर्थं सोढव्या इत्याहः—

अब अनुप्रेक्षाओं के अनन्तर परीषहजय के कथन का प्रस्ताव रख रहे सूत्रकार महाराज सम्पूर्ण परीषहों के सहने को और वे यहाँ किसलिये सहन करने योग्य हैं, इस सिद्धान्त के प्रतिपादनार्थ अगले सूत्र को कह रहे हैं।

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥

श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट किये गये मार्ग से च्युत नहीं होने के लिये और निर्जरा के लिये चारों ओर से एक को आदि ले करके उनईस तक सहन करने योग्य जो क्षुधा आदि परिणतियां हैं वे परीषहें हैं।

परीषहा इति महत्त्वादन्वर्थसंज्ञा। प्रकरणात् संवरमार्गप्रतिपत्तिः। तदच्यवनार्थो निर्जरार्थश्च परीषहजयः। तत्र मार्गाच्यवनार्थत्वं कथमस्येत्याह।

संज्ञा वह होनी चाहिये जिससे कि कोई छोटा स्वरूप नहीं हो सके, जैसे कि जैनेन्द्र व्याकरण में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतों की प्र, दी, प संज्ञायें हैं बहुव्रीहिसमास की व, स, संज्ञा है, इकारान्त उकारान्त, शब्दों की सु संज्ञा है। इसी प्रकार परीषहों की छोटी संज्ञा होनी चाहिये थी। परन्तु सूत्रकार का परीषह इतनी बडी संज्ञा करने से यही प्रयोजन है कि इस संज्ञा का अर्थ प्रकृति प्रत्ययोंसे ही निकल कर अन्वर्थ हो जाय। सब ओर से सहन करने योग्य परीषह हैं। संवर का प्रकरण चला आ रहा है इस से परीषहों को संवर के मार्ग होने की दृढ प्रतीति हो जाती है। उस मोक्षमार्ग हो रहे संवर के मार्ग से च्युत नहीं होने के लिये और निर्जरा के लिये परीषहजय किया जाता है। यदि यहाँ कोई प्रश्न करे कि उन दो प्रयोजनों में इस परीषहजय का पहला प्रयोजन माना गया मार्ग से च्युत नहीं होना भला किस प्रकार युक्तिसिद्ध है? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं।

मार्गाच्यवनहेतुत्वं परीषहजयस्य सत्।
परीषहाजये मार्गच्यवनस्य प्रतीतितः॥ १॥

परीषहजय को (पक्ष) जैनमार्ग से च्युत नहीं होने का कारणपना प्रशंसनीय है (साध्य) कारण कि परीषहों के नहीं जीतने पर मार्ग से च्युत हो जाने की प्रतीति हो रही है (हेतु)। अर्थात् अध्ययन में या व्यापार करने में अनेक परीषहें आती हैं उनको जीतने वाला पुरुष ही विद्वान् या धनाढ्य हो जाता है और परीषहों को नहीं जीतनेवाला

प्रत्युत परीषहों से विजित हो जाने वाला आलसो जीव मूर्ख, दरिद्र रह जाता है। यों अविनाभावी हेतु से साध्य की सिद्धि कर दी गई है।

निर्जरार्थत्वं कथमित्याह ।

अब परीषहजय का दूसरा प्रयोजन कर्मों की निर्जरा होना बोलो किस प्रकार सिद्ध समझा जाय? बताओ। ऐसी निर्णय करने की इच्छा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार वक्ष्यमाण वार्तिकों को कहते हैं।

निर्जराकारणत्वं च तपःसिद्धिपरत्वतः,
तदभावे तपोलोपान्निर्जरा क्वातिषक्तितः ॥ २ ॥
परिषोढव्यतां प्राप्तास्तस्मादेते परीषहाः,
परीषहाजयोत्थानामास्रवाणां विरोधतः ॥ ३ ॥

परीषहजय में (पक्ष) निर्जरा का कारणपना विद्यमान है (साध्य) तपस्या की सिद्धि में तत्परता करने वाला होने से (हेतु) उन परीषहों का जीतना नहीं होने पर तप का लोप हो जाने से कहां निर्जरा हो सकती है? विषयों में अत्यन्त आसक्ति के वश होकर परीषहों से आकुलित हो गये मनुष्य के निर्जरा नहीं होने पाती है (अन्यथानुपपत्ति)। यदि परीषहों से उद्विग्न हो रहे पुरुष के भी कर्मों की निर्जरा मानी जायगी तो अतिप्रसंग दोष हो जायगा। भूखे, प्यासे, पीडित हो रहे व्याकुल तिर्यञ्च, मनुष्यों के भी कर्मों की निर्जरा हो जाना बन बैठेगा, जो कि इष्ट नहीं है। तिस कारण उक्त दो प्रयोजनों को साधने वाले होने से ये बाईस परीषहें सब ओर से सहन करने योग्यपनें को प्राप्त हो रही हैं, जैसा कि सूत्रकार ने तव्य प्रत्ययान्त परिषोढव्य पद करके कहा है परीषहजयी पुरुष के संवर होता है। परीषहों के नहीं जीतने पर उठने वाले आस्रवों का विरोध करने वाला होने से परीषहजय संवर का कारण है।

के पुनस्ते परीषहा इत्याहः—

सूत्रकार महाराज के सन्मुख किसी विनीत शिष्य का प्रश्न है कि महाराज फिर यह बताओ कि वे बहुत सी परीषहें कौन हैं? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिमसूत्र को कह रहे हैं।

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवध-याचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥ ९ ॥

क्षुधा (भूँख) प्यास, शीतबाधा, उष्णबाधा, डांस मच्छरों द्वारा पीडित किया जाना, नग्न रहना, अरति, स्त्रियों की बाधा, चलते रहना, नियमित बैठना, कठोरस्थान पर सोना, गाली कुवचन सुनना, शारीरिक वध, माँगना, लाभ नहीं होना, रोग हो जाना, तिनकाकाँटा लग जाना, मलविकार होना, सत्कार पुरस्कार परीषह, विशेष ज्ञानका अभिमान करने की उत्सुकता, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषहें हैं। अर्थात् भूँख की वेदना को सहकर क्षुधाजन्य बाधा की ओर सर्वथा चिंता न करना क्षुत्परीषहजय है। सम्यग्दृष्टि मुनि के भूख, प्यास आदि की ओर चित्तवृत्ति नहीं जाती है। युधिष्ठर, भीम, अर्जुन, सुकोशल, सुकुमाल मुनीश्वरों को अनेक उपसर्गों या परीषहों का संवेदन हो नहीं हो पाया था। वे केवल आत्मध्यान में लवलीन रहे थे। तभी तो क्षपक श्रेणी या उपशम श्रेणी का आरोहण संभवता है। अतः सर्वोत्कृष्ट मार्ग तो यही है कि परीषहों का परिज्ञान ही नहीं होय, हाँ, मध्यममार्ग यह भी है कि परीषहों को जान कर समताभावों से सहते हुये स्वानुभव में लीन हो जाना। अतः पुरुषार्थी आत्माका कर्तव्य है कि वह क्षुधा आदि बाधाओं पर जय प्राप्त करे, यों परीषह का पूरा नाम क्षुत्परीषहजय, पिपासावेदनासहन, शीतवेदना-सहन, इत्यादि समझ लेना चाहिये अथवा उक्त बाईसों के साथ परीषहजय शब्द जोड़ कर पूरे बाईस नाम बना लिये जाय।

परीषहा इति सामानाधिकरण्येनाभिसंबन्धो व्यक्तिभेदेऽपि सामान्यविशेषयोः कथंचिदभेदात्। तेन क्षुधादयो द्वाविंशतिः परीषहाः। तत्र प्रकृष्टक्षुदग्निप्रज्वलने धृत्यंभसोपशमः क्षुज्जयः।

"क्षुधा, पिपासा" को आदि लेकर "अदर्शनानि" पर्यन्त परीषह हैं। यों बाईसों का परीषह इस शब्द के साथ समानअधिकरणपने करके परली ओर संबंध जोड देना चाहिये, व्यक्तिअपेक्षा भेद होने पर भी सामान्य परीषह का और क्षुधा आदि बाईस विशेषों का कथंचित् अभेद हो जाने से समान अधिकरणपना घटित हो जाता है। जैसे कि "आर्या म्लेच्छाश्च मनुष्याः" यहाँ हो रहा है। तिस कारण क्षुधा आदिक बाईसों परीषह हैं ऐसे उद्देश्य, विधेय दल सुचारु हैं। विधेय अंश पूर्व सूत्र में पडा है और उद्देश्य दल इस सूत्र में उपात्त है। उन बाईसों में पहिला परीषहजय यों है कि खूब बढ

रही क्षुधास्वरूप उदराग्नि के जाज्वल्यमान होने पर धैर्य स्वरूप जल से उस अग्नि का उपशम करना क्षुधाविजय है।

उदन्योदीरणहेतूपनिपाते तद्वशाप्राप्तिः पिपासासहनं। पृथगवचनमेकार्थ्यादिति चेन्न, सामर्थ्यभेदात्। अभ्यवहारसामान्यादेकार्थ्यमिति चेन्न अधिकरणभेदात्।

जलपिपासा वेदनीय कर्म की उदीरणा के हेतुओं का प्रसंग प्राप्त हो जाने पर उस प्यास के वश में प्राप्त नहीं हो जाना पिपासापरीषह का सहना है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि क्षुधा और प्यास परीषह का पृथक् निरूपण करना व्यर्थ है कारण कि दोनों का एक ही अर्थ है। जठराग्नि के कुपित होने पर ही भूंख, प्यास, दोनों लगती हैं। आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना। कारण कि भूंख और प्यास दोनों की सामर्थ्य भिन्न भिन्न है। ज्वरी पुरुष को भूंख नहीं लगती है प्यास लगती है। भूख से दूसरी धातुओं की क्षतियां हैं और प्यास से अन्य धातुओं की हानियां हैं। पुनः किसी का आक्षेप है कि मुख द्वारा दुग्धपान आदि कर लेने से भूंख, प्यास, दोनों न्यून हो जाती हैं, यों खाने पीने की प्रवृत्ति का समानपना होनेसे इन दोनों का एक अर्थपना है। न्यारा न्यारा निरूपण नहीं करना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि अधिकरणों का भेद है। भूंख को दूर करने के रोटी, दाल, भात, लड्डू, आदि न्यारे अधिकरण हैं और प्यास का प्रतीकार करने वाले-जल, ठण्डाई, इक्षुरस, अनाररस आदि दूसरे ही आलम्बन हैं अतः संयमी को न्यारे न्यारे पुरुषार्थो द्वारा भूंख, प्यास, दोनों को जीतना पडता है।

शैत्यहेतुसन्निपाते तत्प्रतीकारानभिलाषात् संयमपरिपालनं शीतक्षमा। दाहप्रतीकारकांक्षाभावाच्चारित्ररक्षणमुष्णसहनं, दंशमशकादीनां सहनं। दंशमशकमात्र प्रसंग इति चेन्न, उपलक्षणत्वात् मशकशब्दस्य दंशजातीयानामादिशब्दार्थप्रतिपत्तेः।

शीतबाधा के हेतुओं का खूब उपद्रव होने पर उनके विनाशक प्रतीकारों की अभिलाषा नहीं करने से सयम को सब ओर से पालते रहना तीसरी शीतक्षमा है। तीव्र उष्णता प्रयुक्त दाह के उपस्थित होने पर उसके निराकरण की आकांक्षा का अभाव हो जाने से चारित्र को वाल वाल रक्षित रखना उष्णपरीषहसहन है। डांस, मच्छर, बैमते, दुकचोटी, बर्र, ततैया आदि की बाधाओं को समतापूर्वक सहना स्वल्प भी प्रतीकार करने में मन न लगाना दंशमशकजय है। यहाँ कोई पल्लवग्राही पण्डित आक्षेप उठाता है कि दंशमशक परीषह में डांस, मच्छरों का ही ग्रहण होगा। क्योंकि ये ही सूत्रकार द्वारा कंठोक्त

किये हैं ततैया, बिच्छू, कानखजूरा आदि का ग्रहण नहीं हो सकेगा। आचार्य कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि दंशमशक का उपलक्षण रूप से कथन किया गया है। डंसने वाले डांस जाति के सभी जीवों का ग्रहण हो जाता हैं। उपलक्षण से आदि शब्द के अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाती है दंश, मशक, आदि यह अर्थ निकल पडता है।

जातरूपधारणं नाग्न्यसहनं संयमे रतिभावावरतिपरीषहजयः। सर्वेषामरतिकारणत्वात् पृथगरतिग्रहणानर्थक्यमिति चेन्न, क्षुदाद्यभावेपि मोहोदयात्तत्प्रवृत्तेः।

उत्पन्न हुये बच्चे के समान वस्त्र, भूषणरहित निर्ग्रन्थ स्वरूप को निर्द्वन्द्व धारे रहना नाग्न्यपरीषहजय है। जो पहिले बडे बडे सुन्दर वस्त्रों को धार चुके हैं अपने सुन्दर गोप्य अंगों को कपडों से ढके रहने को टेव रख चुके हैं, उनको संयम अवस्था में बडे यत्न से नग्नतापरीषहजय करना पडता हैं। संयम में रतिपरिणाम यानी लगन लग जाने से इन में चित्त नहीं लगने देने वाले अरति के एकान्तवास, वननिवास आदि कारणों पर विजय प्राप्त करना अरतिपरीषहजय है। यहाँ कोई पण्डितमानी आक्षेप करता है कि भूंख, प्यास, आदि सभी परीषहें अरति के कारण हैं। अतः सभी अरति स्वरूप हैं। फिर अरति का पृथक् निरूपण करना व्यर्थ हैं। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो न कहना। कारण कि क्षुधा, तृषा आदि के न होने पर भी अन्तरंग में मोह का उदय हो जाने से उस अरति (अरुचि) की प्रवृत्ति हो जाती है। वर्तमान में अनेक मनुष्यों के कोई भी आकुलता का कारण न होने पर कदाचित् चितमें अरतियां उपज जाती हैं। किसी में भी मन नहीं लगता है। योंही विनाकारण खेद आकर घेर लेता है। अतः अरतिका पृथक्ग्रहण करना आवश्यक है।

वरांगनारूपदर्शनस्पर्शनादिविनिवृत्तिः स्त्रीपरीषहजयः। प्रज्यादोषनिग्रहश्चर्याविजयः। संकल्पितासनादविचलनं निषद्यातितिक्षा। आगमोदितशयनादप्रच्यवनं शय्यासहनं।

यौवनमत्त सुन्दरी स्त्रियों के रूप को देखने और उनका स्पर्श करने, गीत सुनने आदि की विशेषतया निवृत्ति करना स्त्रीपरीषहजय हैं। अधिक गमन करने से उत्पन्न हुये थक जाना, कांटा लग जाना, बिवाई फट जाना, भुक्तपूर्व यान, वाहनों का स्मरण करना आदि दोषों का आत्मीय पुरुषार्थ द्वारा निग्रह करना चर्यापरीषहविजय है। काल की मर्यादा बांध कर संकल्प कर लिये गये आसन (बैठे रहना) से विचलित नहीं होना निषद्यापरीषह की तितिक्षा यानी क्षमा (सहना) है। आप्तोक्त शास्त्र में कहे गये मुहूर्तमात्र होने वाले शयन से च्युत हो जाने के प्रज्वल हेतु मिलने पर भी निष्क्रिय बने रहना शय्यापरीषहसहन समझ लेना चाहिये।

अनिष्टवचनसहनमाक्रोशपरीषहजयः, मारकेष्वमर्षापोहनभावनं वधमर्षणं। प्राणात्ययेप्याहारादिषु दीनाभिधाननिवृत्तिर्याचनाविजयः। अलाभेपि लाभवत्संतुष्टस्यालाभविजयः। नानाव्याधिप्रतीकारानपेक्षत्वं रोगसहनं। तृणादिनिमित्तवेदनायां मनसोऽप्रणिधानं तृणस्पर्शजयः। स्वपरांगमलोपचयापचयसंकल्पाभावो मलधारणं। केशखेदसहनोपसंख्यानमिति चेन्न, मलषहावरोधात्।

तीव्रमिथ्यादृष्टि म्लेच्छ पापी जनों के अनिष्टवचनों को सह लेना आक्रोशपरीषहजय है। मारनेवाले अधम जीवों में क्रोध करने की निवृत्ति भावते रहना वधमर्षण है। प्राणों के वियोग हो जाने का प्रकरण उपस्थित हो जाने पर भी आहार, वसतिका, औषध, आदि में दीनता के वचन बोलने की निवृत्ति रखना याचनाविजय है। भिक्षा आदि का लाभ नहीं होने पर भी लाभ हुये के समान संतोष को प्राप्त हो रहे संयमी के अलाभपरीषह विजय होता है। वात, पित्त कफों की प्रकृति को निमित्त पाकर उत्पन्न हुई अनेक शारीरिक व्याधियो के निराकरणार्थ किसी भी औषधि, परिचर्या, आदि की अपेक्षा नहीं रखना रोगसहननाम का परीषहजय है। सूखे तृण, काँटे, कंकर, कत्तलें आदि के व्यधन को निमित्त पाकर हुई शारीरिक दुःखवेदना में मन का एकाग्र नहीं लगाये रहना तृणस्पर्शपरीषहजय है। अपने शरीर और परकीय शरीर के मलों की वृद्धि या हानि में ग्लानिवर्द्धक मानसिक विचार नही करना मलधारण कहा जाता है। यहाँ कोई शंका करता है कि केशों का लोंच करने में अथवा उनको नही संस्कार (संभाल) कर रखने में महान् खेद पैदा होता है अतः "केशखेदसहन" नामक परीषह भी मलधारण परीषह के निकट गिननी चाहिये। सूत्रकार की दृष्टि को वार्तिककार संभाल लेते हैं। महान् पुरुषों की दृष्टि को महान् पुरुष ही समझते हैं। उपसंख्यान पद का यह तात्पर्य है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नही कहना। क्योंकि मलधारण परीषह में इस केशखेदसहन का अन्तर्भाव हो जाता है केश भी एक प्रकार का मल है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय या वैष्णवों के यहां जैसे केशों को या संख, सीप को पवित्र माना है, वैसा दिगम्बरों के यहां इनको शुद्ध नही माना गया है, अनेक त्रस जीवों की इन में सतत उत्पत्ति होती रहती है। सूत्रकार महोदय निपुण प्रज्ञावान् है। उनके ग्रन्थ में कोई त्रुटि नहीं है।

मानापमानयोस्तुल्यमनसः सत्कारपुरस्कारानभिलाषः। प्रज्ञोत्कर्षापलेपनिरासः प्रज्ञाविजयः। अज्ञानावमानज्ञानाभिलाषसहनमज्ञानपरीषहजयः।

मान, प्रतिष्ठा, बड़ाई या आत्मगौरव प्राप्त होने में अथवा अपमान याना तिरस्कार हो जाने में तुल्यमनोवृत्ति को रखने वाले संयमी के सत्कार पुरस्कार की अभिलाषा नहीं रखना स्वरूप सत्कारपुरस्कारपरीषहजय है। किसी श्रेष्ठ पुरुष का पूजा करना, प्रशंसा करना सत्कार है प्रतिष्ठित क्रिया और आरम्भ, सभा, आदि में उसको प्रधान बना कर आगे कर देना अथवा सब के पहले आमंत्रित करना पुरस्कार है। प्रकृष्ट ज्ञान को अधिकता हो जाने पर उत्पन्न हुये मद का निराकरण करते रहना प्रज्ञाविजय है। तुच्छ प्रकृति के जीवों को यौवन, धन, ज्ञानोत्कर्ष, प्रभुता का अवसर उपस्थित हो जाने पर अवश्य मद आ जाता है। महान् पुरुष अपनी गम्भीरता द्वारा उस मद के अवलेप का समूलचूल प्रत्याख्यान कर देते हैं। यह मुनि अज्ञ है, कुछ नहो जानता है, इत्यादिक अज्ञता अपमान के आक्षेप वचनों को जो मुनि सह रहा हैं। प्रयत्न करने पर भी ज्ञानातिशय की नहीं प्राप्ति होते सन्ते ज्ञान की अभिलाषाओं को जो सह रहा है, ज्ञानातिशय के नहीं उपजने को मन में नहीं ला रहा है उसके अज्ञानपरीषहविजय है।

प्रव्रज्याद्यनर्थकत्वासमाधानमदर्शनसहनं । श्रद्धानालोचनग्रहणमविशेषादिति चेन्न अव्यभिचारदर्शनार्थत्वात् । मनोरथपरिकल्पनामात्रमिति चेन्न, वक्ष्यमाणकारणसामर्थ्यात् । अवध्यादिदर्शनोपसख्यानमिति चेन्न, अवधिज्ञानाद्यभावे तत्सहचरितदर्शनाभावादज्ञानपरीषहावरोधात् । ननु क्षुदादीनां परिसोढव्यत्वसिद्धिः कथमित्याह—

बडे बड़े दुःखकर तप मैंने किये, पञ्चपरमेष्ठियों की बहुत दिनों तक आराधना भी की, बडे बडे ग्रन्थों का अध्ययन करते हुये बूढा हो गया, फिर भी मुझे स्वात्मोपलब्धि नामक ज्ञान का अतिशय प्राप्त नहीं हुआ। महान् उपवास आदि को करनेवालों के पंचाश्चर्य या प्रातिहार्य होते हैं, यह व्यर्थ बकवाद है, झूंठी बात है, दीक्षा लेने का कोई प्रयोजन नहीं निकला, व्रतों का पालन निष्फल है अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन कोरो धूर्त विडम्बना है, जैनधर्म से स्वाधीनता प्राप्त नहीं हो सकती है, दर्शन, पूजन, ध्यान, कोरे ढोंग हैं इत्यादिक रूप से निकृष्ट विचारों में चित्त को नहीं समाहित करना अदर्शनसहन है। मुनि के निर्मल सम्यग्दर्शन नहीं होनेपर यह परीषह सताती है जिसका कि मुनि को विजय करना पडता है।

यहाँ कोई आक्षेप उठाता है कि दर्शन शब्द का पारिभाषिक अर्थ श्रद्धान करना है और यौगिक अर्थ आलोचन करना है। चक्षुर्दर्शन आदि में भी सत्ता का आलोचन होना माना गया है। अतः यहां कोई विशेषता का सूचक न होने से श्रद्धान और आलोचन दोनों का ग्रहण हो जावेगा, तब तो अश्रद्धान के समान अनालोचन परीषहजय भी आवश्यक

पडा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि व्यभिचार दोषरहित हो रहे श्रद्धानस्वरूप दर्शन का ही ग्रहण किया जाना अदर्शन में पड़े हुये दर्शन का प्रयोजन है मति आदिक पांचो ज्ञानों के साथ अव्यभिचाररहित होकर श्रद्धान नाम का दर्शन लग रहा है किन्तु आलोचन नाम का दर्शन तो श्रुतज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान के पूर्व में नहीं है। यों दोनों ज्ञान मतिज्ञानपूर्वक हैं। अतः यहां अव्यभिचारी श्रद्धानका ग्रहण किया जाय, आलोचन का नहीं। आलोचन का अभाव कोई सहन करने योग्य परीषह नहीं है। फिर कोई आक्षेप करता है कि आपने श्रद्धान अर्थ को मनमानी पकड लिया है। मनोरथों की केवल चारों ओरसे यह कल्पना है। अतः दर्शन का अर्थ श्रद्धान लेना प्रामाणिक नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि भविष्य में कहे जाने वाले कारणों की सामर्थ्य से दर्शन का अर्थ श्रद्धान ही ठीक है। "दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ" इस सूत्र द्वारा अदर्शन परीषह का कारण दर्शनमोहनीय कर्म कहा गया है। तब तो श्रद्धान का अभाव ही अदर्शन हुआ।

पुनः कोई अर्धपण्डित अपना पाण्डित्य दिखलाता है कि अज्ञान, अदर्शन परीषहों के समान अवधिदर्शन न होने, केवलदर्शन न होने, परिहारविशुद्धि न होने आदि सहन करने योग्य अवधिदर्शन नहीं होना आदि परीषहों का भी पृथक् निरूपण करना चाहिये। बाईस के स्थान पर यदि तीस, चालीस, परीषह गिना दी जाय तो छात्रों की व्युत्पत्ति बढेगी। कोई टोटा नहीं पड जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं, यह तो नहीं कहना। क्योंकि अवधिज्ञान, केवलज्ञान आदि के नहीं होने पर उनके साथी हो रहे अवधिदर्शन आदि का भी अभाव हो जाता है। अतः इन सब का अज्ञानपरीषह में ही घेर कर अंतर्भाव कर दिया जाता है। इस प्रकार सहन करने योग्य बाईस परीषहों के जय से मुनि के महान् संवर होता रहता है।

यहाँ कोई जिज्ञासु पुरुष प्रश्न करता है कि क्षुधादिक परीषहों को सब ओर से सहन करने योग्यपने की सिद्धि किस प्रकार हो जाती है? बताओ। ऐसी दशा में ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं।

ते च क्षुदादयः प्रोक्ता द्वाविंशतिरसंशयं।
परिषह्यतया तेषां तत्वसिद्धिविशुद्धये ॥ १ ॥

इस उक्त सूत्र में वे क्षुधा आदिक परीषहें (पक्ष) बहुत अच्छी युक्तियों से निःसंशय होकर बाईस कह दी गई हैं (साध्य) कारण कि तत्त्वसिद्धि की विशुद्धि के लिये

वे क्षुधा आदिक परीषहें सहन करने योग्य हैं (हेतु) अर्थात् संवर तत्त्व और आत्मतत्त्व की विशुद्धि के लिये सहन करने योग्य बाईस परीषहों का सूत्रकार ने बहुत बढ़िया निर्णय कर दिया है।

ते क्षुदादयो हि द्वाविंशतिपरीषहाः परिषोढव्याः प्रोक्ताः सूत्रकारैरसंशयं तेषां विशुद्धयर्थं परिषह्यत्वात् तत एवान्वर्था संज्ञा महती कृता परीषहा इत्युक्तम् ।

वे क्षुधा आदिक बाईस परीषहें निश्चय से सहन करने योग्य हैं यों सूत्रकार उमास्वामी महाराज करके इस सूत्र और पूर्व सूत्र में निःसंशय होकर बहुत अच्छा निरूपण किया जा चुका है, जब कि उन क्षुधा आदिकों को विशुद्धि के लिये परितः सह्यपना नियत हैं, तिस ही कारण अपने वाच्यार्थ को घटित कर रही "परीषह" इतनी बडी संज्ञा की गई है। यह रहस्य ग्रन्थकार द्वारा खोलकर कहा जा चुका है।

अथ कस्मिन् गुणस्थाने कियन्तः संभवन्तीत्याहः—

अब इसके अनन्तर कोई जिज्ञासु विनीत शिष्य उन करुणासागर सूत्रकार महाराज के सन्मुख प्रश्न करता है कि किस किस गुणस्थान में कितनी कितनी परीषहें संभवती हैं ? बताओ। ऐसा विनम्र जिज्ञासु का उपरोध उपस्थित हो जाने पर श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

अत्यन्त सूक्ष्म हो चुके संज्वलन लोभ के उदय को धार रहे सूक्ष्मसांपराय नामक दशमे गुणस्थान में क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा, और अज्ञान ये चौदह परीषहें सम्भव जाती हैं। तथा छद्म से संसार में ठहर रहे किन्तु सर्वथा रागरहित हो रहे ग्यारहमे और बारहमे गुणस्थान में भी उक्त चौदह परीषहें सम्भव रही हैं, जिनका कि विजय दशमे, ग्यारहमे, बारहवें गुणस्थान वालों को यत्न द्वारा करना पडता है।

चतुर्दशवचनादन्यस्याभावः। सूक्ष्मसाम्पराये "नियमानुपपत्तिर्मोहोदयादिति चेन्न, सन्मात्रत्वात् तत्र तस्य। अत एव परीषहाभाव इति चेन्न, बाधाविशेषोपरमे तद्भावस्याविरुध्यासितत्वात् सर्वार्थसिद्धस्य सप्तमनरकपर्यन्तगमनसामर्थ्यवत् ।

इस सूत्र में चौदह ऐसी विशेष संख्या का निरूपण कर देने से इनके अतिरिक्त अन्य आठ परीषहों का अभाव समझा जाता है। यहाँ कोई आक्षेप उठाता है कि ग्यारहवें गुणस्थान में सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का उपशम हो जाने से और बारहवे में मोहनीय का क्षय हो जाने से भले ही मोहनीय को उदय मान कर हो जानेवाली नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कारपुरस्कार, अदर्शन ये आठ परीषहें नहीं होय, किन्तु सूक्ष्मसांपराय नाम के दशमे गुणस्थान में सूक्ष्मलोभ नामक मोह का उदय बना रहने से क्षुधा आदि चौदह ही परीषहों का नियम नहीं बन सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो नहीं कहना। क्योंकि वहां दशमे गुणस्थान में उस लोभसंज्वलन की केवल सत्ता है। कोई कार्यकारी नहीं है। अतः दशमा गुणस्थान भी ग्यारहवे, बारहवें गुणस्थानों के समान ही है।

पुनः किसी का आक्षेप है कि इस ही कारण से यानी दशमे में मोहका मन्द उदय होने से और ग्यारहमे, बारहवे, में मन्द उदय का भी अभाव हो जाने से क्षुधा आदिक चौदह परीषहों का भी अभाव हो जावेगा। मोहनीय का बल नहीं पाकर वेदनीय कर्म भी कोरा सत्ता मात्र है, कुछ फल नहीं दे सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि दशमे, ग्यारहमे, बारहवें गुणस्थानों में क्षुधा आदि की विशेष बाधाओं का विराम होने पर भी उन बाधाओं का सद्भाव शक्तिरूप से प्रकट होकर आक्रमण कर रहा है जैसे कि सर्वार्थसिद्धि विमान में निवास कर रहे एक भवतारी अहमिन्द्र भले ही सातमी माघवीनरक पृथ्वी में गमन नहीं करते हैं, किन्तु सातमे नरकतक गमन करने की उनकी सामर्थ्य है, कार्यरूप में वहां नहीं जाने से कोई उनकी सामर्थ्य नष्ट नहीं हो जाती है। इसी प्रकार उक्त तीन गुणस्थानों में ज्ञानावरण, अन्तराय और असातावेदनीय कर्मों का उदय विद्यमान है। अतः परीषहों का नाममात्र कथन करना युक्तिसंगत है। आत्मीय शुद्धावस्था में संलग्न बने रहने के कारण प्रायः परीषहों का वेदन नहीं होने पाता है।

कथं पुनः सूक्ष्मसांपराये गुणे तद्वति वा छद्मस्थवीतरागे चानुत्पन्नकेवलज्ञाने क्षीणोपशान्तमोहे चतुर्दशैव परीषहाः क्षुदादय इति प्रतिपादयन्नाह—

यहां कोई पुनः तर्क उठाता है कि सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान में अथवा उस दशमे गुणस्थान वाले मुनि में तथा जिनको केवलज्ञान तो उत्पन्न नहीं हुआ किन्तु मोहनीय कर्म क्षय और उपशान्ति को प्राप्त हो चुका है ऐसे छद्मस्थ वीतराग नामक बारहमे, ग्यारहमे गुणस्थानवर्ती मुनि में भला क्षुधा आदिक चौदह ही परीषहें किस प्रकार युक्तिघटित

हो रही हैं ? बताओ। इस तर्क के समाधान की प्रतिपत्ति को कराते हुये ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकों को स्पष्ट रीत्या कह रहे हैं।

स्युः सूक्ष्मसांपराये च चतुर्दशपरीषहाः।
छद्मस्थवीतरागे च ततोऽन्येषामसंभवात् ॥ १ ॥
छद्मस्थवीतरागे हि मोहाभावान्न तत्कृताः।
अष्टौ परीषहाः संति तथातोन्ये चतुर्दश ॥ २ ॥
ते सूक्ष्मसांपरायेपि तस्याकिंचित्करत्वतः।
सतोपि मोहनीयस्य सूक्ष्मस्येति प्रतीयते ॥ ३ ॥
वेदनीयनिमित्तास्ते मा भूवंस्तत एव चेत्।
व्यक्तिरूपा न सन्त्येव शक्तिरूपेण तत्र ते ॥ ४ ॥
मोहनीयसहायस्य वेदनीयस्य तत्फलं।
केवलस्यापि तद्भावेतिप्रसंगो हि दुस्त्यजः ॥ ५ ॥

उक्त सूत्र अनुसार सूक्ष्मसांपराय नामक दशमे गुणस्थान में और वीतराग-छद्मस्थ नामक ग्यारहमे, बारहवें गुणस्थानों में क्षुधा, पिपासा, आदिक चौदह परीषहें ही होंगी। उन चौदहों से अन्य नग्नता आदिक आठ परीषहों का असंभव हो जाने से चौदह का ही नियम है। छद्मस्थ वीतराग गुणस्थानों में मोह का उदय नहीं होने से उस मोहोदय करके की गई आठ परीषहें नहीं हैं।

यहाँ कोई पूर्वोक्त शंका को ही उठाता है कि जिस प्रकार सूक्ष्म सांपराय में सूक्ष्म मोहनीय के उदय का सद्भाव होने पर भी उस मोह के अकिंचित्कर हो जाने के कारण नग्नता आदि आठ परीषहें जैसे नहीं प्रतीत हो रही हैं उस ही प्रकार उनसे न्यारी वेदनीय को निमित्त पाकर होनेवालीं वे क्षुधा आदि चौदह परीषहे भी तिस ही कारण यानी मोहनीय का बलाधान नहीं होने से नहीं होओ ? ऐसा कटाक्ष प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि भले ही व्यक्तिरूप से यानी प्रकट में वे चौदह परीषहें नहीं हैं तथापि उन तीन गुणस्थानों में वे चौदह परीषहें कर्मप्रयुक्त शक्ति-रूप करके विद्यमान ही हैं, मोहनीय कर्म की सहायता को प्राप्त हो रहे वेदनीय कर्म का

जो फल होता है वह केवल असहाय रह गये वेदनीय का भी फल नहीं है। यदि वेदनीय के सद्भाव मात्र से उस फल का होना माना जायगा तो अतिप्रसंग दोष कठिनता से त्यागने योग्य लग बैठेगा। निर्विकल्पक शुद्धोपयोग अवस्था में भी अनेक प्रकार की बाधाओं के अनुभव होने लगेंगे, आठवें, नौमे, गुणस्थानों में स्त्रीवेद, पुंवेद, व नपुंसकवेद का उदय अपने लटके दिखलावेगा। भय कर्म का उदय भी मुनि को भीत कर देगा, क्षपक श्रेणी में शीत, उष्ण वेदनायें खूब सतायेंगी। ऐसी दशा में क्षपक श्रेणी कैसे टिक सकती है ? अतः सूत्रोक्त रहस्य ही पुष्ट समझा जाय।

न हि सार्द्रेंधनादिसहायस्याग्नेर्धूमः कार्यमिति केवलस्यापि स्यात् तथा मोहसहायस्य वेदनीयस्य यत्फलं क्षुधादि तदेकाकिनोपि न युज्यते एव तस्य सर्वदा मोहानपेक्षत्वप्रसंगात्। तथा च समाध्यवस्थायामपि कस्यचिद्‌दुद्भूतिप्रसंगः। तस्मान्न क्षुदादयः सूक्ष्मसांपराये व्यक्तिरूपाः सन्ति मोहादिसहायासंभवात् छद्मस्थवीतरागवदिति, शक्तिरूपा एव ते तत्रावगंतव्याः।

गीला ईंधन, वायु आदि से सहायता प्राप्त हो रहे अग्निका कार्य धूम है। एतावता वह धूम क्या अंगार, तप्त अयोगोलक आदि अवस्था की केवल अग्नि का भी कार्य हो जायगा ? कभी नहीं। तिसी प्रकार मोहनीय कर्म को सहायक पा रहे वेदनीय कर्म का जो फल भूंख, प्यास, लगना आदि है वह फल केवल एकाकी रह गये वेदनीय का भी कहना युक्तिपूर्ण नहीं है। यदि अकेला वेदनीय भी कार्यकारी बन बैठे तो उसको सदा मोहनीय की अपेक्षा रखने के अभाव का प्रसंग हो जायगा और तैसा अनर्थ हो जाने से समाधि अवस्था में भी किसी एक भूंख, प्यास आदि की कटु वेदना फल के प्रकट हो जाने का प्रसंग बन बैठेगा जो कि किसी भी श्वेताम्बर या वैष्णव आदि के यहां अभीष्ट नहीं किया गया है।

तिस कारणसे सिद्ध हो जाता है कि सूक्ष्मसांपरायमें (पक्ष) क्षुधा आदिक परीषहें व्यक्तिरूप प्रकट नहीं हैं (साध्यदल) मोहनीय, ज्ञानावरण, अंतराय आदि की सहायता का असंभव हो जाने से (हेतु) छद्मस्थवीतराग के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार वे परीषहें शक्तिरूप ही वहां उक्त तीन गुणस्थानों में समझ लेनी चाहिये।

अथ भगवति केवलिनि कियन्तः परीषहा इत्याहः—

अब कोई जिज्ञासु पूंछता है कि शरीरधारी आत्मा में आप शक्तिरूप से या व्यक्तिरूप से परीषहों का सद्भाव स्वीकार करते हैं तो तेरहवें, चौदहवें, गुणस्थानवर्ती केवलज्ञानी महाराज में कितनी परीषहें सम्भवती हैं ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा उपस्थित होने पर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

एकादश जिने ॥ ११ ॥

केवलज्ञानी जिनेन्द्र भगवान् में वेदनीय कर्म का सद्भाव होने के कारण क्षुधा, प्यास, शीत, उष्ण, डांस मच्छर, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल ये ग्यारह परीषहें हो जाना संभवता है। अथवा इस सूत्र का दूसरा अर्थ यों है कि "एकेन अधिका न दश" एक से अधिक दश यानी ग्यारह परीषहें भगवान् के नहीं हैं। एकादश शब्द के पेट में से न का अर्थ निषेध काढ लिया है।

तत्र केचित् सन्तीति व्याचक्षते, परे तु न सन्तीति। तदुभयव्याख्यानाविरोधमुपदर्शयन्नाहः —

केवली भगवान् में परीषहों के विचार का वह प्रकरण उपस्थित होने पर इस सूत्र का अर्थ कोई विद्वान् यो बखानते हैं कि केवलज्ञानी में ग्यारह परीषहे हैं, इस व्याख्यान से श्वेताम्बर लोग प्रसन्न होते हैं। अन्य विद्वान् तो जिनेन्द्र में ग्यारह परीषहें नहीं है ऐसा सूत्रार्थ करते हैं। अब ग्रन्थकार महाराज उन दोनों ही व्याख्यानों के विरोधरहितपन को युक्तिपूर्वक दिखलाते हुये इस अगली वार्तिक को कह रहे हैं।

एकादश जिने सन्ति शक्तितस्ते परीषहाः।
व्यक्तितो नेति सामर्थ्यात् व्याख्यानद्वयमिष्यते ॥ १ ॥

जिनेन्द्र भगवान् में वे क्षुधादि ग्यारह परीषहें शक्तिरूप से हैं, व्यक्तिरूप से प्रकट नहीं हैं। इस प्रकार अर्थ सम्बंधी और शब्दसंबन्धी न्याय की सामर्थ्य से दोनों ही व्याख्यान अभीष्ट किये गये हे। अर्थात् श्वेताम्बरों के यहां माने गये केवली के कवलाहारग्रहण करनेका "प्रमेयकमलमार्तण्ड" में बहुत बढिया निराकरण कर दिया गया है जैसे कि—

णट्ठपमाये पढमा सण्णा ण हि तत्थ कारणाभावा।
सेसा कम्मत्थित्ते उवयारे णत्थि णहि कज्जे ॥

सातमे, आठवें, नौमे गुणस्थानों में कार्यरूप आहार, भय, मथुन, परिग्रह, संज्ञायें नहीं हे। क्योंकि अन्तरंग कारण मानो गयी असाता की उदीरणा का अभाव है। साता, असाता की उदीरणा, छठे गुणस्थान तक ही हो जाती है। अतः कर्मों का मात्र अस्तित्व रहने से तीन संज्ञाओं का व्यवहारमात्र हैं। आहारसंज्ञा तो कथमपि नहीं है। उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के कोई भी परीषह व्यक्तिरूप से नहीं पाई जाती है।

वेदनीयोदयभावात् क्षुदादिप्रसंग इति चेन्न, घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात् । तत्सद्भावोपचाराद्ध्यानकल्पनवच्छक्तित एव केवलिन्येकादशपरीषहाः सन्ति न पुनर्व्यक्तितः, केवलाद्वेदनीयाद्युक्तक्षुदाद्यसंभवादित्युपचारतस्ते तत्र परिज्ञातव्याः । कुतस्ते तत्रोपचर्यंत इत्याह—

यहां कोई प्रश्न उठा रहा हैं कि जिनेन्द्र भगवान् में वेदनीय कर्म के उदय का सद्भाव हो जाने से क्षुधा, पिपासा, आदि परीषहों द्वारा सताये जाने का प्रसंग आवेगा कर्मों का उदय अपना कार्य करेगा ही। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि परीषहों द्वारा सताये जाने में घातिकर्मों का उदय सहायक हैं। माया, लोभ, रति, अन्तराय, आदि घातिकर्मों के उदय की सहायता का अभाव हो जाने से उस वेदनीय कर्म की भूंख, प्यास, आदि द्वारा सताने की शक्ति का वियोग हो गया हैं। अतः केवली भगवान् के क्षुधा आदि परीषहों का प्रसंग नहीं आता है।

अथवा एक बात यह भी है कि उस पौद्गलिक वेदनीय द्रव्यकर्म का सद्भाव होने से जिनेन्द्र में ग्यारह परीषहों का केवल उपचार है। अतः सूत्र में "उपचारात्" पद जोड कर अर्थ कर लिया जाय। जैसे कि परिपूर्ण क्षायिक ज्ञानवाले केवलज्ञानी के ध्यान की कल्पना कर ली जाती है। भावार्थ–एक अर्थ में मनोयोग लगा कर प्रवर्त रही अनेक अपूर्वार्थग्राहिणी ज्ञानधारा को ध्यान कहते हैं। जिनेन्द्र को जब सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान है तो उनके ध्यान हो जाना कथमपि नहीं सम्भवता है, अतः ध्यानका उपचारमात्र है। उसी प्रकार शक्ति से ही केवलज्ञानी महोदय में ग्यारह परीषहें हैं किन्तु फिर व्यक्तिरूप से एक भी सहन करने योग्य परीषह नहीं है। सहायरहित केवल वेदनीय कर्म से व्यक्त क्षुधा आदि परीषह हो जाने का असम्भव है। इस कारण उपचार से वे ग्यारह परीषहें उन जिनेन्द्र में युक्तिपूर्वक समझ लेनी चाहिये।

यदि यहां कोई यों प्रश्न करे कि किस युक्ति से उन परीषहों का उस भगवान् में उपचार किया गया है, यों सूत्रार्थ जान लिया जाय? ऐसी निर्णय की इच्छा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इन अगली वार्तिकों को कह रहे हैं।

लेश्यैकदेशयोगस्य सद्भावादुपचर्यते ।
यथा लेश्या जिने तद्वद्वेदनीयस्य तत्वतः ॥ २ ॥

घातिहत्युपचर्यन्ते सत्तामात्रात्परीषहाः।
छद्मस्थवीतरागस्य यथेति परिनिश्चितं ॥३॥
न क्षुदादेरभिव्यक्तिस्तत्र तद्धेतुभावतः।
योगशून्ये जिने यद्वदन्यथातिप्रसंगतः ॥४॥

"कषायोदयानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या" कषाय के उदय से अनुरञ्जित हो रही योगों की प्रवृत्ति लेश्या है। केवली भगवान् के कषायें नहीं हैं, यों लेश्या का एकदेश हो रहे मात्र योग का सद्भाव हो जाने से जैसे जिनेन्द्र भगवान् में लेश्या का उपचार है उसी के समान घातियों का संहार कर चुके भगवान् में वेदनीय कर्म की वस्तुतः सत्ता होने से परीषहों का उपचार किया गया है। भूंख, प्यास आदि लगने में मोह की आवश्यकता है। पिपासा शब्द में तो "पातुमिच्छा" यों इच्छा कण्ठोक्त प्रविष्ट हो रही है। ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानों में मोह का उदय सर्वथा नहीं है। अतः जिस प्रकार छद्मस्थ वीतराग मुनि के भूंख, प्यास, आदि की अभिव्यक्ति, वहां उसके हेतु वेदनीय के सद्भावमात्र से नहीं होने पाती है अथवा जैसे चौदहमें गुणस्थानवर्ती योगरहित अयोग जिनेन्द्र में वेदनीय का केवल सद्भाव हो जाने से कोई भूंख, प्यास, नहीं लगती हैं, उसी प्रकार तेरहवें गुणस्थान में भी कोई परीषह नहीं सताती हैं अन्यथा अतिप्रसंग हो जावेगा। अर्थात्—जिनेन्द्र के लग रहीं पिचासी प्रकृतियों में देवगति, दुर्भग, अयशस्कीर्ति, अपर्याप्त, दुःस्वर, नीच गोत्र आदि प्रकृतियां भी स्वकीय फल को कर बैठेंगी, जो कि इष्ट नहीं है। इस तरह सिद्धान्त का हम पूर्ण रूप से निश्चय कर चुके हैं कि अनन्त सुखी भगवान् के व्यक्तिरूप से परीषहें नहीं हैं। और न उनके द्वारा उत्पन्न दुःख की ही वहां संभावना है।

नैकं हेतुः क्षुदादीनां व्यक्तौ चेदं प्रतीयते।
तस्य (तेषां) मोहोदयाद्व्यक्तेरसद्वेद्योदयेपि च ॥५॥
क्षामोदरत्वसंपत्तौ मोहापाये न सेत्स्यते।
सत्याहाराभिलाषेपि नासद्वेद्योदयादृते ॥६॥
न भोजनोपयोगस्यासत्वेनाप्यनुदीरणा।
असातावेदनीयस्य न चाहारेक्षणादिना ॥७॥

तदित्यशेषसामग्रीजन्याभिव्यज्यते कथं ।
तद्वैकल्ये सयोगस्य पिपासादेरयोगतः ॥८॥

भूख, प्यास, आदि बाधाओं के प्रकट होने में केवल यह एक वेदनीय का उदय ही कारण नहीं प्रतीत हो रहा है। किन्तु असातवेदनीय का उदय होने पर भी मोह का उदय हो जाने से उन क्षुदा आदि की प्रकटता होती है। भूंख की पीडा से पेट के पतलापन या खाली हो जाने की प्राप्ति हो जाने पर भूंख, प्यास, लगती है, किन्तु तेरहवें गुणस्थानमें मोह का क्षय हो जाने पर वह रिक्तोदरपने की प्राप्ति नहीं देखी जाती है। एक बात यह है कि भोज्य पदार्थ के आहार करने की अभिलाषा हो जाने पर भूंख लगती है। आहार की अभिलाषा होने पर भी असातवेदनीय के उदय विना क्षुदा नहीं लगती है। किन्तु भगवान् के मोह का अभाव हो जाने से आहार की अभिलाषा (इच्छा) भी नहीं है।

दूसरी बात यह है कि सामने धरे हुये भोजन का उपयोग प्रारम्भ कर देने से भूंख के अंतरंग कारण क्षुधावेदनीय की उदीरणा हो जाती हैं, जो कि छठे गुणस्थान तक सम्भवती हैं। भोजनके उपयोग का असद्भाव हो जाने पर असातावेदनीय कर्मको अनुदीरणा भी न होय यह भी ठीक नहीं है अर्थात् भगवान् के असातवेदनोय कर्म की उदीरणा नहीं है। आहार के देखने से भी असातावेदनोय कर्म की उदीरणा द्वारा भूंख लगती है। आहार को देखे विना असातवेदनीय की उदीरणा नहीं है यों पूर्वोक्त संपूर्ण सामग्री से भूंख उपजती है। उस मोहोदय, असद्वेद्यउदय, भूख के मारे पेट का पीठ में घुस जाना, आहार की अभिलाषा, भोजन का उपयोग, आहार का लोलुपतापूर्ण देखना यों सामग्री की विकलता हो जाने पर योगसहित केवलज्ञानी के किस प्रकार भूंख लगने की बाधा प्रकट हो सकती है ? अर्थात् नहीं। इसी प्रकार सयोगकेवली के पिपासा, दंशमशक, आदि परीषहें भी युक्ति से घटित नहीं होती हैं। भावार्थ—सामग्री नहीं मिलने से भगवान् के कोई भी परीषह युक्त नहीं है। क्षुधा के विषय में गोम्मटसार की गाथा यों है—

आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमकोठाये,
सादिदरुदीरणाये हवदि हु आहारसण्णा हु ।

आहार के देखने से, आहार खाना प्रारम्भ कर देने से, पेट खाली होने से और अंतरंग में असातवेदनीय की उदीरणा से आहारसंज्ञा उपजती है।

क्षुदादिवेदनोद्भूतौ नार्हतोऽनंतशर्मता ।
निराहारस्य चाशक्तौ स्थातुं नानंतशक्तिता ॥९॥
नित्योपयुक्तबोधस्य न च संज्ञास्ति भोजने ।
पाने चेति क्षुदादीनां नाभिव्यक्तिर्जिनाधिपे ॥१०॥

यह बात भी विचारणीय है कि अर्हन्तपरमेष्ठी के क्षुधा आदि वेदनाओं के प्रकट हो जाने पर अनन्तसुखीपना नहीं रक्षित रह सकता है । बिचारे भूंखे, प्यासे को सुख कहां, धरा है ? तथा भूंखे भगवान् को आहार नहीं मिलने पर चलने, फिरने, बैठे रहने की शक्ति नहीं रहेगी । बैठे रहने की सामर्थ्य नहीं रहने पर केवली के अनन्तशक्तिपना नहीं बन सकता है, जैसे कि हम लोग भूंखे रहने की दशा में न सुखी हैं और बलशाली भी नहीं हैं । अनन्तसुख और अनन्तबल के ठहरे रहने की तो फिर बात ही क्या है ? । जब भगवान सर्वदा केवलज्ञान उपयोग में उपयुक्त बने रहते हैं ऐसे भगवान् को खाने, पीने, में संज्ञा (मतिज्ञान) ही नहीं बन पाती हैं, इस कारण जिनेन्द्र अधिपति में क्षुधा आदिक परीषह को अभिव्यक्ति नहीं है, शक्ति भले हीं कह लो, यों तो धर्मात्मा सज्जन पुरुषों में भी हिंसा करने, कुशील सेवने, मांसभक्षण की शक्तियां विद्यमान हैं । प्रचण्ड मनुष्य भी क्षमा ब्रह्मचर्य को धारण कर सकते हैं, ऐसी मात्र शक्ति का कानी कौडी भी मूल्य नहीं उठता है ।

अथ बादरसांपराये कियन्तः परीषहा इत्याह—

अब सूत्रकार महाराज के सन्मुख किसी विनयशील शिष्य का प्रश्न है कि सूक्ष्मसांपराय आदि गुणस्थानों में आपने कतिपय परीषहें बताई, किन्तु सम्पूर्ण परीषहें भला कहां सम्भवती हैं ? स्थूलकषायवाले छठे आदि गुणस्थानों में भला कितनी परीषहें हैं ? बताओ । ऐसी जिज्ञासा प्रकट करनेपर सूत्रकारमहाराज इस अगिले सूत्र को कह रहे हैं ।

बादरसांपराये सर्वे ॥१२॥

स्थूल कषाय को धारनेवाले छठे, सातवें, आठवें, नौमे, गुणस्थानवाले मुनियों के सभी बाईसों परीषहें सम्भव जाती हैं ।

बादरसांपरायग्रहणात् प्रमत्तादिनिर्देशः निमित्तविशेषस्याक्षीणत्वात् सर्वेषु सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसंयमेषु सर्वसंभवः । केन रूपेण ते तत्र सन्तीत्याह—

वादर सांपराय शब्द के ग्रहणसे प्रमत्त आदि चार गुण स्थानोंका यहां स्वरूप कथन किया गया है। वादर गुणस्थान पदसे नोवां गुणस्थान ही नहीं पकड़ा जाय, किन्तु संयमीके जिन गुणस्थानोंमें मोटी कषाय है यों अर्थकर छठे, सातवे, आठवे नौमें गुणस्थान-वर्ती साधुओंका ग्रहण है परोषहोंके विशेष रूपसे निमित्तकारण ज्ञानावरण आदिक हे छठे से नौवें गुणस्थानतक उन असाधारण निमित्तोंका प्रक्षय नहीं होने के कारण सभी सामायिक, छेदोपस्थाना, और परिहारविशुद्धि संयमके धारीं यतियोंमें सम्पूर्ण वाईसों परीष हो जाने की सम्भावना हैं, सामायिक और छेदोपस्थापना संयम छठे, सातवे, आठवे, नौमें, इन चारों गुणस्थानोंमें पाया जाता है, परिहारविशुद्धि संयम तो छठे और सातवें दो ही गुणस्थानों में मिल सकता हैं।

यहां कोई जिज्ञासु पूछता है कि किस रूपसे यानी व्यक्ति रूपसे या शक्ति रूपसे वे सभी परीषहें उन चार गुणस्थानोंमें विद्यमान है ? बताओ। ऐसी ज्ञातुं इच्छा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिकको कहता (कहते) है।

बादरः सांपरायोस्ति येषां सर्वे परीषहाः।
सन्ति तेषां निमित्तस्य साकल्याद्व्यक्तिरूपतः ॥१॥

जिनके स्थूल कषाय है उन मुनियोंके सभी परीष हें व्यक्ति (प्रकट) रूपसे हो सकतो है (प्रतिज्ञावाक्य) क्योंकि ज्ञानावरण, अन्तराय आदि निमित्त कारणोंकी सकलता (पूर्णसामग्री) व्यक्तिरूपेण विद्यमान है (हेतुदल) ॥

अथ कस्मिन्निमित्ते कः परीषहः ?।

यहां कोई प्रश्न उठाता है कि किस किस पौद्गलिक कर्मप्रकृति के निमित्त कारण पाजानेपर कौन कौन सी परीषहका हो जाना बन बैठता हैं ? बताओ। इसके उत्तर में श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को बोलते हैं।

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥१३॥

ज्ञानावरण कर्म का उदय होने पर प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परोषहें संभव जाती हैं।

ज्ञानावरणे अज्ञानं न प्रज्ञेति चेन्न, ज्ञानावरण सद्भावे तद्भावात्। मोहादिति चेन्न, तद्भेदानां परिगणितत्वात्। सावलेपायाः प्रज्ञाया अपि ज्ञानावरण निमित्तत्वोपपत्तेः मिथ्याज्ञानवत्। एतदेवाह—

यहाँ कोई आक्षेप करता है कि ज्ञानावरण का उदय होजाने पर अज्ञान परोषहका हो जाना समुचित, है, किन्तु प्रज्ञा तो ज्ञानस्वरूप हैं, ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे

प्रज्ञानामका मनोज्ञाकार्य सम्पन्न होगा ज्ञानावरणका उदय पाकर प्रज्ञा नहीं हो सकती है। आचार्य कहते हैं यह तो नहीं समझ बैठना क्योंकि ज्ञानावरणके उदयका सद्भाव होने पर मद को उत्पन्न करनेवाली वह प्रज्ञा उपजती है जिनके ज्ञानावरणका विशुद्ध क्षयोपशम है उनका निरहकार ज्ञान है। ज्ञानावरणका उदय होने पर ही स्वल्प ज्ञान में अभिमान उपज बैठता हैं, खाली घड़ा अधिक छलकता है, एक नोतिज्ञ ने कहा है कि--

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम् ।
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तंमम मनः।
यदा किंचित्किंचिद्बुधजनसकाशादवगत,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः।

भावार्थ— थोडी सम्पत्ति के समान स्वल्प या सदोष ज्ञानसे गर्व (ऐंठ) उपजता है किन्तु परिपूर्ण धनी के समान वहु ज्ञानो के स्तोक भी मद नहो पैदा होता है, अतः वह ज्ञान की ही कमी समझी जायगी, जो कि मदसंसक्त प्रज्ञाको पैदा करेगी।

यहाँ कोई अपना मन्तव्य यों प्रकट करता है कि मद उपजना तो मोहसे होता है मानकषायके उदयसे " मै बडा भारी प्रज्ञाशाली पण्डित हू " ऐसा गर्व कर बैठता है, अतः प्रज्ञाको मोहके उदयसे मानना चाहिये, ज्ञानावरणके उदयसे नहीं। आचार्य कहते हैं यह तो न कहना, क्योंकि दर्शन और चारित्र के विघातक रूपसे उस मोहनीय कर्म के भेदों को आगमानुकूल गिनाया जा चुका है, उनमे प्रज्ञापरीषहका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, मोहनीयकेक्षयोपशम को धारण कर रहे चारित्रवान मुनि के भी प्रज्ञा परीषहका सद्भाव है, इस कारण मदके अवलेपसे सहित होरही प्रज्ञाका भी निमित्त कारण ज्ञानावरण कर्म ही बन सकता है. जैसे कि मिथ्याज्ञान परीषहका निमित्तकारण ज्ञानावरण कर्म हैं, इस ही सिद्धांत को परार्थानुमान प्रमाण द्वारा ग्रन्थकार अगलो वार्तिक में कह रहे हैं।

ज्ञानावरणनिष्पाद्ये प्रज्ञाज्ञाने परीषहो ।
प्रज्ञावलेपनिवृत्ते ज्ञानावरणतोन्यतः ॥१॥

प्रज्ञा और अज्ञान परीषहें (पक्ष) ज्ञानावरण कर्म करके उपजाई जाती है (साध्य) क्योंकि ज्ञानावरण के अतिरिक्त अन्य किसी भी निमित्तसे प्रज्ञाप्रयुक्त मद हो जानेकी निवृत्ति हे (हेतु)। अर्थात् ज्ञानावरणसे ही प्रज्ञासम्बधी मद हो जाना बन बैठता हैं। अथवा " निवृत्तेः " पाठ अच्छा है, अज्ञान यानो ज्ञानाभाव (नञ्का अर्थ प्रसज्य) के

उत्पादक ज्ञानावरणसे वह भिन्न प्रकारका ही ज्ञानावरण है जो कि साभिमान प्रज्ञा को बनाता है, ज्ञानावरण क्षयोपशम के साथ उसी विलक्षण ज्ञानावरण का उदय सम्मिलित हो रहा है।

अन्यद्धि ज्ञानावरणं प्रज्ञावलेपनिमित्तमज्ञाननिमित्तात् ज्ञानावरणात्। न चैवं ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतिसंख्याक्षतिस्तस्य मतिज्ञानावरणमात्रोपरोधात्।

अज्ञान परीषह के निमित्त कारण होरहे ज्ञानावरण से वह ज्ञानावरणकी प्रकृति निश्चयतः न्यारा ही है जोकि प्रज्ञा मे मद के अवलेप क.र देने का निमित्त हो रहा है। यदि यहां कोई यह खटका रक्खे कि इस प्रकार भिन्न जातिका ज्ञानावरण माननेपर तो ज्ञानावरण कर्म के उत्तरप्रकृति भेदों की नियत हो रही पांच संख्याका बिगाड़ हो जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह शल्य तो नहीं रखना, क्योंकि उस जात्यन्तर ज्ञानावरण के सामान्य मतिज्ञानावरणमें अन्तर्भाव कर दिया जाता है अर्थात् जैसे आर्य और म्लेच्छ मनुष्यों से न्यारे पतित व्रात्य, (संस्कारवर्जित) मनुष्य मानने पड़ते है " निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत् " यह मन्तव्य भी रक्षित हो जाता है। जबकि सामान्य का विशेष एक सामान्य भी है, ज्ञानचेतना कर्मचेतना, और कर्मफलचेतना इन तीन चेतना ओंसे एक न्यारी भी सामान्यचेतना है।

पांच प्रमाणों से न्यारा नयात्मक ज्ञान भी समीचीन ज्ञान विशेषों में नहीं गिनाये गये कतिपय विशेषों को सामान्य में ही गर्भित करदिया जाता है। संख्याते शब्द द्वारा विचारे असंख्याते, अनन्ते, कितने भेद गिनाये जा सकते है ? घोड़ों के कितने ही भेद करो, फिर भी टटुआ, लंगडा, काना कोई न कोई घोड़ा छूट ही जायगा, जोकि विशेषोंमें गणना अशक्य होने के कारण सामान्य घोड़ो में गिना दिया जाता हैं। जीव के संसारी और मुक्त भेदों से न्यारे चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती मुनि हैं। अतः उस ज्ञानावरणका भी ज्ञानावरण सामान्य में गर्भित कर लेना चाहिये। मिथ्या, असंयम, और समीचीन संयमसे चौथे गुणस्थान का असंयम न्यारा है। दूसरे गुणस्थान में सम्यक्त्व और मिथ्यात्वसे न्यारा परिणाम है, पञ्च-परमेष्ठियोंसे अन्तकृत् केवली और सामान्यकेवली अतिरिक्त हैं, अत छूट गये विशेष सब सामान्य के पेटमे डाल दिये जाते हैं।

अब दर्शन और अलाभपरीषह के अन्तरंग कारण का निरूपण करने के लिये सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥१४॥

दर्शन मोहनीय कर्मके उदय अनुसार अदर्शन परीषह होते हैं और लाभान्तराय कर्म का उदय हो जानेपर अलाभ परीषह संभवती है।

किं पुनरदर्शनमत्रेत्याह—

सूत्र में कहा गया अदर्शन फिर यहां क्या है ? क्या ज्ञानसे पहिले होनेवाले महासत्ता का आलोचनस्वरूप दर्शन का अभाव है ? अथवा क्या तत्त्वार्थश्रद्धानस्वरूप सम्यग्दर्शन का अभाव अदर्शन समझा जाय ? बताओ ! ऐसी जिज्ञासा उपस्थित होने पर ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिक को कह रहे हैं।

अदर्शनमिहार्थानामश्रद्धानं हि तद्भवेत् ।
सति दर्शनमोहेऽस्य न ज्ञानात् प्रागदर्शनं ॥१॥

यहां सूत्रमें वह अदर्शन तो तत्त्वोंका अश्रद्धान स्वरूप ही हो सकेगा। कारण कि दर्शन मोहनीयका उदय होते सन्ते इस अश्रद्धान स्वरूप अदर्शनका ही संभव जाना सुघटित है। ज्ञान से पूर्व में होनेवाले दर्शन का अभाव यहां अदर्शन नहीं लिया जावेगा। यदि ऐसा होता तो सूत्र में कारण कहते समय दर्शनावरण कहा गया होता।

विशिष्टकारणनिर्देशादवध्यादिदर्शनसंदेहाभावः । अन्तराय इति सामान्य निर्देशेपि सामर्थ्याद्विशेषसंप्रत्ययः । कः पुनरसौ विशेष इत्याह—

यहां दर्शन मोहनीय इस विशिष्ट कारण का कण्ठोक्त निर्देश है, इस कारण अवधि दर्शन, चक्षुर्दर्शन, आदि का सन्देह नहीं होने पाता है। अर्थात् यदि अवधिदर्शन या अचक्षुर्दर्शन का अभाव अभीष्ट होता तो कारणकोटि में दर्शनावरण का उदय कहा जाता, सूत्र में जब कि दर्शनमोहको कारण बताया गया है तो उसका कार्य तत्त्वार्थों का अश्रद्धान नामक अदर्शन ही पकड़ा जा सकता है। इस सूत्र में यद्यपि अन्तराय इस प्रकार सामान्य रूपसे कारण का निर्देश किया गया है। तथापि भविष्य में होने योग्य कार्यकी सामर्थ्यसे सामान्यकर्म अन्तराय के विशेष हो रहे लाभान्तरायकी अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा समीचीन प्रतीति हो जाती है। जिस विशेष की प्रतीति हो जाती है वह विशेष फिर क्या है ? ऐसी जिज्ञासा उपजनेपर ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिक को कह रहे हैं।

अन्तरायोत्र लाभस्य तद्योग्योर्थाद्विशेषतः ।
कारणस्य विशेषाद्धि विशेषः कार्यगः स्थितः ॥२॥

यहाँ सूत्र में पढ़ा गया अन्तराय तो अर्थ तात्पर्य की सामर्थ्य अनुसार उस अलाभपरीषहके योग्य लाभका विशेष रूपसे अन्तराय कर रहा लाभान्तराय पकड़ा जायगा क्योंकि कारण की विशेषताओंसे ही कार्य में प्राप्त हो रहा, विशेष व्यवस्थित है। लाल तन्तुओं या लाल रंगसे ही लाल कपडा बन सकता है " कार्यलिगं हि कारणं " कारण के ज्ञापक हेतु कार्य होता है, लाभांतरायके द्वारा अलाभ परीषह का कथन किया गया है

तेन दर्शनमोहोदये तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणप्रदर्शनं, लाभांतरायोदये चालाभ इति प्रकाशितं भवति ।

तिस कारण उक्त सूत्रद्वारा यह तात्पर्य प्रकाश में ला दिया गया समझा जाता है कि दर्शन मोहनीय कर्मका उदय होने पर तत्त्वार्थोंका अश्रद्धान स्वरूप अदर्शन परीषह उपजती है और लाभान्तरायका उदय हो जाने पर अलाभपरीषह बन बैठता है।

अब जिज्ञासु पूछता होगा कि मोहनीय कर्म का प्रथम भेद होरहे दर्शन मोहनीयके उदय अनुसार एक अदर्शनपरीषह का होना कहा, अब मोहनीय का दूसरा भेद माने गये, चारित्रमोहनीयका उदय होते सन्ते कितनी परीषहे हैं ? बताओ। ऐसी जिज्ञासाकी संभावना होने पर सूत्रकार महाराज अगिले सूत्र को कह रहे हैं।

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः॥१५॥

पुंवेद, अरति, आदिक चारित्रमोहनीय कर्म का उदय हो जाने पर नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कारपुरस्कार, ये सात परीषहें हो जाना संभवता है।

निषद्यापरीषहस्य मोहोदयनिमित्तत्वं प्राणिपीडार्थत्वात्, पुंवेदोदयादिनिमित्तत्वान्नाग्न्यादीनामिति चारित्रमोहोदयनिबन्धना एते । तदेवाह--

चारित्र मोहनीय कर्म का उदय हो जानेपर प्राणियों को पीड़ा देने का परिणाम उपजता है, अतः प्राणियों की पीड़ा का निराकरण करने के लिये निषद्यापरीषह सही जाती है। यों निषद्या परीषह का निमित्तकारण चारित्रमोहनीय का उदय माना गया है और नग्नता आदि परीषहों का निमित्त कारण तो पुंवेद का उदय, अरति का उदय आदि हैं। इस प्रकार ये नग्नता आदि परीषहें चारित्रमोह के उदयको कारण मानकर उपजरहीं इस सूत्रमें कही गयी हैं। उस ही सूत्रोक्तरहस्यको ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिक द्वारा कह रहे हैं।

नाग्न्याद्याः सप्त चारित्रमोहे सति परीषहाः ।
सामान्यतो विशेषाच्च तद्विशेषेषु तेऽर्थतः ॥१॥
ज्ञानावरणमोहान्तरायसंभूतयो मताः ।
इत्येकादश ते तेषामभावे न कचित्सदा ॥२॥

सामान्य रूपसे चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होते सन्ते नग्नता आदिक परीषहें सहनी पडती है। उन चारित्र मोहनोय के विशेष प्रकारोंका उदय होते सन्ते वे परीषहे अर्थ के अनुसार विशेष रूपसे हो जाती है, जैसे कि अरति का अर्थ रुचि नहीं लगना इस अर्थ से अरति नामक विशेष चारित्र मोहनीय कर्म का उदय तो अरति परीषहका कारण हैं। अर्थ अनुसार नग्नता और परीषह का कारण पुंवेद का उदय है, यों विशेष कर्मोंके कारण विशेष हैं। अबतक यों उक्त तीन सूत्रो मे ज्ञानावरण, मोहनीय, और अन्तराय कर्मोंद्वारा अच्छी उपजायीं जारही वे प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन, अलाभ, नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, अयाचना, सत्कारपुरस्कार, यों ग्यारह परिषहे मानी गयी हैं। उन उक्त ज्ञानावरणादि कर्मोंका अभाव हो जानेपर सर्वदा किसी भी आत्मा में ये परिषहें नहीं उपज पाती हैं।

अवशेष बचरहीं ग्यारह परिषहों के निमित्त कारण हो रहें कर्मविशेष का प्रति पादन करनें के लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहतें हैं।

वेदनीये शेषाः ॥१६॥

कही जा चुकी ग्यारह परिषहों से शेष बच गयी क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश मशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल ये ग्यारह परिषहे तो वेदनीय कर्म का उदय होते सन्ते संभव जाती है।

उक्तादन्यनिर्देश शेष इति। ते च क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावध रोगतृणस्पर्शमलपरीषहाः। किमेकाकिन्येव वेदनीयेऽमी भवन्त्युत सहकार्यपेक्षे सतीत्याशंकायामिदमाह----

सूत्रमे कहा गया शेष यह शब्द कही जा चुकी प्रज्ञा, अज्ञान, आदि ग्यारह परीषहों से भिन्न हो रही क्षुधा, पिपासा, आदि परिषहों का कथन करनेवाला है और वे शेष परीषहे तो क्षुधार्ति, प्यासदुःख, शीतबाधा, उष्णवेदना, दंशमशकव्याधि, चर्याकष्ट शय्यापीडा वधखेद, रोगव्यथा, तृणस्पर्शव्यथन, मलक्लेश ये ग्यारह है। यहा कोई शंका उपस्थित करता है कि वे क्षुधा आदिक ग्यारह परीषहे क्या अकेले वेदनीय कर्मों के उदयापन्न होने पर ही हो जाती हैं? अथवा क्या अपने सहकारी कारण हो रहे मोहनीय या अन्य कर्म की अपेक्षा रख

रहे वेदनीय कर्मके उदय होनेपर बन बैठती हैं ? बताओ । ऐसी आशंका का प्रकरण प्राप्त हो जाने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिकको समाधानार्थ कह रहे हैं ।

शेषाः स्युर्वेदनीये ते समग्रसहकारिणि ।
इति सर्वत्र विज्ञेयमसाधारणकारणं ॥१॥

सम्पूर्ण सहकारी कारण रूप सामग्रीसे सहित हो रहे वेदनीय कर्म के होनेपर वे शेष परीषहें हो जाती हैं अर्थात् अकेला वेदनीय ही कार्यकारी नही है । "सामग्रीकारणं नत्वेकं" मोहनीय आदि कर्म द्रव्य,क्षेत्र,काल,भाव- संक्लेश परिणाम,निर्बलसंहनन,आकुलता कतिपय कर्मों की उदीरणा,इस यथोचित सामग्री से परिषहे सताती है,जिनका विजय मुनिको यत्न द्वारा करना पडता है । अथवा संयमी मुनि आत्मध्यान मे इतने निमग्न हो जाते हैं कि उनको परीषहोंका परिज्ञान ही नही होने पाता हैं,परीषहोंको परीषह समझकर सहना जघन्य पद है परीषहों को पदार्थपरिणत समझकर समता भावोंसे सहना मध्यम मार्ग है । शुद्ध आत्म स्वरूप मे सुस्थिर होकर रहता रही परीषहों का संवेदन ही नहीं हो पाना उत्तम-चर्या है । यहां प्रकरण मे उक्त ग्यारह परिषहोंका कारण वेदनीय कर्म कहा गया हैं । वह केवल असाधारण कारण हैं । साधारण कारण तो मोहनीय आदिक दूसरे भी सहकारी कारण हैं इसी असाधारण कारणवाली बातको प्रज्ञा, अज्ञान,अदर्शन आदिके कारण हो रहे ज्ञानावरण दर्शनमोहनीय आदिमे भी समझ लेना चाहिये अर्थात् प्रज्ञाका असाधारण कारण ज्ञानावरण कर्म हैं,अन्य मोहनीय आदि भी सहकारी कारण है प्रतिबन्धकों का अभाव रहते हुये कारणान्तरों की पूर्णतारूप असाधारण कारण से उत्तर क्षणमे कार्य हो ही जाता हैं ।

ननु ज्ञानावरणे इत्यादि सूत्रेषु विभक्तिविशेषो निमित्तात् कर्मसंयोग इति चेन्न तद्योगाभावात् । न हि यथा चर्मणि द्वीपिनं हन्तीत्यत्र कर्मसंयोगस्तथात्रास्ति ततोयं सन्निर्देशस्तदुपलक्षणत्वात् गोषु दुह्यमानासु गत इत्यादिवत् ।

यहां कोई वैयाकरण पण्डित शंका उठाता है कि 'ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने' दर्शन मोहान्तराययोरदर्शनालाभौ' इत्यादि चार सूत्रोमे विशेष रूपसे सप्तमी विभक्ति तो निमित्तसे कर्मका संयोग हो जाने पर हुयी दिखती है अर्थात् ' निमित्तात् कर्मयोगे ' इस कारक प्रकरण के नियम अनुसार वेदनीये चारित्रमोहे, ज्ञानावरणे, दर्शन मोहान्तराययोः, यहां निमित्तोंमें सप्तमी विभक्ति हुई ज्ञात होती है।आचार्य कहते हें यह तो न कहना,क्योंकि यहां उन निमित्त और निमित्ती का योग (संयोग या समवाय) नहीं है-देखिये जिस प्रकार कि:-

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरं
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः ॥

चामके निमित्त (फल) वाघ को मार रहा है, यहाँ जिस प्रकार कर्मका संयो है चाम और व्याघ्र का अवयव अवयवी होने से समवाय सम्बन्ध है, निमित्त यानी फल । रहा चाम उस व्याघ्र नामक कर्मके साथ संबन्ध हो रहा है तिसप्रकार यहां ज्ञानावरण औ अज्ञान का कोई संयोग या समवाय संबध अभीष्ट नही है। वेदनीय या ज्ञनावरण निमित्त यान फल होय और क्षुधा आदिक या अज्ञान निमित्ती होय यह सिद्धान्त भी युक्त नहीं है, जि से कि 'वेदनीये शेषा:' इस प्रकार शेष पद मे द्वितीया विभक्ति होने का प्रसंग प्राप्त होवे।

वस्तुतः यहां निमित्त निमित्तिभाव नहीं है तिस कारण यहां सति सप्तमी रखन यः स्वं च भावेन भावलक्षणं, जिस क्रिया का काल जाना जा रहा प्रसिद्ध है उस क्रिया से दुसरी अज्ञात क्रिया के काल को ज्ञप्ति करना यहाँ लक्षण है, जिसकी क्रियासे क्रियान्तर लक्षित किया जाय उस ज्ञापक क्रिया के आश्रय को कह रहे पद मे सप्तमी विभक्ति हो जाती है अतः यह वेदनीय आदि पदोमे सप्तमी विभक्ति का निरूपण तो सत् अर्थ को कथन करने वाला है। क्योंकि एक ज्ञातसे दूसरे अज्ञात को दिखलाया गया है, जैसे कि कोई चाकर गोदो-हन के समय रोटी खाने गया था, स्वामी ने उससे पूछा कि तुम कब गये थे ? भृत्य उत्तर देता है कि जब गाये दोही जा रही थी तब मै गया था। वे दोही जा चुकी थी तब मै यहां आ गया था अथवा 'छात्रेषु अधीयमानेषु गतः' छात्र जब पढ रहे थे तब गया था, इत्यादिक प्रयोगो मे जैसे सन्ते अर्थ मे सप्तमी हो रही है उसी प्रकार भावलक्षण हो जानेपर वेदनीय के होते सन्ते शेष परीषहे होती है, नहीं होवेपर नहीं होती हैं, यों सप्तमी विभक्ति को सुघटित करलेना चाहिये।

अत्रैकस्मिन्न त्मनि सकृत् कियंतः परीषहाः संभवन्तीत्याह :—

परीषहों के निमित्त कारण, लक्षण और भेदों को समझ लिया, अब यहां यह समझाओं कि एक आत्मा में एक बार कितनी परीषहे संभव जाती है ? ऐसी विनीत भव्य को जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिमसूत्र का स्पष्ट उच्चारण कर रहे हैं।

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥१७॥

एक समय मे (एकदम) एक आत्मामें एक परीषह को आदि लेकर विकल्पना करने योग्य होरही सन्ती उन्नीस परीषहें तक सम्भव जाती हैं। अर्थात् कदाचित् एक कदा-चित् दो कभी तीन ऐसी विकल्पना करते हुऐ एक बारमे उनईस परीषहे पर्यन्त हो सकती हैं। विरोध होने के कारण शीत और उष्ण इन दो मे से एक तथा शय्या, निषद्या, चर्या इन तीन मे से एक, यों पूरी बाईसों नहीं होकर एक समय में उनईस ही सम्भवती है।

आङभिविध्यर्थः। शीतोष्णशय्यानिषद्याचर्याणामसहभावाच्चैकान्नविंशतिसंभवः। प्रज्ञाज्ञानयोर्विरोधादन्यतराभावे अष्टादशप्रसंग इति चेन्न, अपेक्षातो विरोधाभावात्।

श्रुतज्ञानापेक्षया हि प्रज्ञाप्रकर्षे सत्यवध्याद्यभावापेक्षया अज्ञानोत्पत्तेः। दंशमशकस्य युगत्प्रवृत्तेरेकोनविंशति विकल्प इति चेन्न, प्रकारार्थत्वात्। मशक एवेत्ययं परीषहोऽन्यथातिप्रसंगात्। दंशग्रहणात् तुल्यजातीय इति चेन्न श्रुतिविरोधात्। न हि दंशशब्दः प्रकारमभिधत्ते मशकशब्दोपि तत्तुल्यमिति चेन्न, अन्यतरेण परीषहस्य निरूपितत्वात्। न हि दंशशब्देन निरूपिते परीषहे मशकशब्दग्रहणं तदर्थमेव युक्तमतः प्रकारोऽर्थान्तर इति निश्चयः।

यहांपर आङ् अभिविधि-मर्यादाके अर्थमें हैं। शीत-उष्ण, शय्या-निषद्या-चर्या इन परीषहोंका एक साथ सद्भाव संभव न होनेके कारण उनईस परीषहोंतक एकसाथ होना सम्भव है। यहां कोई शंका करता है कि प्रज्ञा व अज्ञान परीषहमे विरोध है अर्थात् ये दोनो एकसाथ नहीं हो सकते हैं, इसलिए अठारह परीषहोंका एकसाथ होनेका प्रसंग आवेगा, ऐसा न कहना, अपेक्षाकी दृष्टिसे अर्थ करनेपर दोनोमे विरोध नहीं आ सकता है। श्रुतज्ञानकी अपेक्षासे अधिक ज्ञान प्राप्त होनेपर अवधि आदि ज्ञानोंके अभावमे खिन्न होकर अज्ञान परीषहकी उत्पत्ति होती है। (ज्ञानकी विशेषताको प्राप्त होनेपर अहंकार उत्पन्न होना प्रज्ञा परीषह है।) इसीप्रकार दंशमशक इन दोनो परीषहोंको दो करना चाहिये, एक करनेपर उनईस नहीं होते हैं। सो दो करनेपर उनईस होते हैं। क्योंकि उन दोनों परीषहोंका एकसाथ संभव हो सकता है,ऐसा भी नहीं कहना। दंशमशक प्रकार अर्थमे प्रयोग किया गया है। मशक ही यह परीषह है, अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा। दंशपद ग्रहण करनेसे मशकका तुल्य जातीय परीषहका ग्रहण है, ऐसा भी नहीं कहना। आगम परंपराका विरोध है। यहां कोई शंका करता है कि दंश शब्द मशकका प्रकारवाची नहीं हो सकता है। मशक शब्द भी उसके बराबर ही है। ऐसा तो नहीं कहना, क्योंकि किसी एक पदसे ही परीषह का कथन किया गया है। दंश शब्दसे परीषह का निरूपण करने पर मशक शब्द उसी अर्थमें प्रयोग नहीं किया गया है। अपितु प्रकारांतरको सूचित करनेके लिए यह प्रयोग किया गया है, यह निश्चय है।

चर्यानिषद्याशय्यानामरतेरविशेषादेकान्नविंशतित्ववचनमिति चेन्न, अरतौ परीषहजयाभावात्. न हि चर्यानिषद्याशय्यानामरतेरेकत्वादेकत्वं युक्तं, तत्र अरतौ परीषह जयायोगात्, तत्कृतपीडासहनात् परीषहजयेष्यत्वमेव तेषामिति द्वाविंशतिवचनमेव युक्तम्॥ तस्मात् :—

यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि चर्या निषद्या शय्या परीषहोंमें और अरति परीषहमें कोई भेद नहीं हैं, इसलिए परीषह उन्नीस होते हैं, ऐसा कथन करना युक्त है, ऐसा तो नहीं कहना। क्योंकि अरतिमे उपर्युक्त परीषहोंका जय नहीं होता है। चर्या निषद्या शय्या और अरति के एकत्वपना युक्त नहीं है, क्योंकि अरतिमे उक्त परीषहों के जीतनेके योगका अभाव है, उन चर्यादिकोंके द्वारा उत्पन्नपीडा को वह अरति परीषह को जीतनेवाला सहन नहीं करता है, इसलिए उन चर्या निषद्या व शय्या परीषहोंको जीतनेमें भिन्नपना ही है, यों बाईस परीषहोंका कथन करना ही युक्तिपूर्ण जंचता है। तिस सूत्रोक्तसिद्धांतसे क्या अभिप्राय निकला ? उसको अग्रिमवार्तिकों द्वारा ज्ञात कीजिये।

सकृदेकादयो भाज्याः क्वचिदेकान्नविंशतिः।
विंशत्यादेरसंभूतेर्विरोधादन्यथापि वा ॥१॥
इत्युक्तेर्नियमाभावः सिद्धस्तेषां समुद्भवे।
सहकारिविहीनत्वं प्रोक्तहेतोरशक्तितः ॥२॥

एक ही वार एक को आदि लेकर उनईस तक विकल्पना योग्य हो रहीं परीषहें किसी किसी आत्मामे उपज बैठती है। बीस, इकईस आदि परीषहोंका एकदम एक आत्मामें उपज जाना संभव नहीं हैं, क्योंकि शीत, उष्ण और चर्या निषद्या शय्याओंका विरोध है तथा अन्य प्रकारोसे भी विरोध दोष आ जावेगा, कभी एक हो जाय, कभी दो हो जाय कभी दस, कभी पन्द्रह यों भाज्या, इसप्रकार कथन कर देनेसे उस परीषहोंके डटकर उपजने में नियम का अभाव सिद्ध है, यानो परीषहे होवे ही ऐसा कोई नियम न रहा, मात्र कर्मका उदय हो जानेपर भी अन्य सहकारी कारणोंकी विशेष रूपेण हीनता हो जानेसे परीषहें नहीं उपज पावेंगी, जैसे कि जिनेन्द्र के असाता वेदनीय का उदय परीषहोंको नहीं उपजा पाता है। भले प्रकार कह दिये गये ज्ञानावरण, अन्तराय, वेदनीय हेतुओंकी अन्य सहकारी कारणोंसे रहितपनकी अवस्थामें परीषहोंके उपजानेकी शक्ति नहीं हैं, तभी तो मोहनीय कर्मका उदय नहीं होनेसे अनन्तसुखी जिनेन्द्रदेवके भूख, प्यास आदि परीषहे नहीं उपजती हैं।

किं पुनश्चारित्रमित्याह—

संवरके छः हेतुओं में से गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषहजय इन पांचका प्रतिपादन किया जा चुका है, अब बतलाओ कि फिर छठा हेतु चारित्र भला क्या पदार्थ है ? ऐसी विनीत शिष्यकी रुचि उपजने पर परमोपकारी सूत्रकार इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यात-मिति चारित्रम् ॥१८॥

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात यों पांच प्रकार चारित्र है। अर्थात् सम्पूर्ण जीवोमे समता भाव रखकर संयम पालते हुए मुनिका, आर्त, रौद्र, ध्यानकी अवस्थासे रहित होकर तात्त्विक चिंतन करना सामायिक है। प्रमाद या अज्ञान द्वारा अतीन्द्रिय कर्मोदय अनुसार किसी निर्दोष क्रियाका विलोप हो जानेपर उससे ग्रहण किये जा चुके अशुभ कर्मोंका प्रतीकार करते हुए आत्माको वहाँका वहीं निर्दोष मार्गमें प्रतिष्ठित कर देना छेदोपस्थापना है।

जीवोंकी बाधाके परिहारके साथ आत्मविशुद्धिको बढा रहा संयम परिहार विशुद्धि है। परिहारविशुद्धि संयमीको चातुर्मासमे एक ही स्थलपर रहनेका नियम लागू नही होता है। चौमासेमें त्रस स्थावर जीवोंकी अधिक उत्पत्ति होनेके कारण दयालु मुनि एक ही स्थानपर विराजते हैं। परिहारविशुद्धि संयमको धार रहे मुनिके शरीरसे किसी भी जीवको बाधा नही पहुंचती है, प्रत्युत जीवोंको आनन्द प्राप्त होता है। मुनिशरीरसे रोगी का गात्र छू जाय तो रोग दूर हो जाय, जीवोंके ऊपर होकर भी मुनि चले जाय तो जीवोंके यह अभिलाषा बनी रहती है कि और भी दो चार बार परिहारविशुद्धिवाले मुनि हमारे ऊपर होकर चले जाय तो बहुत ही आनंद आवे।

अतीव सूक्ष्म हो रहे लोभका उदय होनेपर भी सातिशयविशुद्धिको कर रहा दशमें गुणस्थानवाले मुनिका संयम सूक्ष्मसांपराय है।

मोहनीय कर्मके उपशम या क्षयसे उपजा ग्यारहवे आदि चार गुणस्थानोमें वर्त रहा संयम यथाख्यात चारित्र है। चारित्र शब्दकी निरुक्ति पहिले कही जा चुकी है। तत्त्वज्ञानी जीवका संसारकी जननी हो रहीं अन्तरंग बहिरंग क्रियाओंका निरोध कर अन्तरात्मामें रमण करना चारित्र है।

सामायिकशब्दोतीतार्थः। सामायिकमिति वा समासविषयत्वात् अयंतीत्यायाः तदुपघातहेतवोऽनर्थाः संगता आयाः समायाः सम्यग्वा आयाः समायास्तेषु भवं सामायिकं समायाः प्रयोजनमस्येति च सामायिकमिति समास (य) विषयत्वं सामायिकस्यावस्थानस्य। तच्च सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानपरं। गुप्तिप्रसंग इति चेन्न इह मानसप्रवृत्तिभावात्। समिति प्रसंग इति चेन्न, तत्र यतस्य प्रवृत्त्युपदेशात्। धर्मप्रसंग इति चेन्न, अत्रेति वचनस्य कृत्स्न-कर्मक्षयहेतुत्वज्ञापनार्थत्वात्।

" दिग्देशानर्थदण्ड " आदि सूत्रमे सामायिक शद्बका अर्थ अतीत कालमे कहा जा चुका है। अथवा समासका विषय हो जानेसे सामायिक शद्बको यों बना लिया जाय कि " अपगतौ " धातुसे आय बनाया जाय, आ रहे है इस कारण प्राणियोंके घातके कारण जो अनर्थ है वे आय है। सं उपसर्गका अर्थ संगत है अथवा सं का अर्थ समीचीन भी है। संगत जो आय अथवा समीचीन जो आय सो समाय है, उन समायोमें उत्पन्न हुआ तथा जिसका प्रयोजन समाय हैं इस कारण वह सामायिक हैं। यों समासकर पुनः भव या प्रयोजन अर्थमें ठण् प्रत्यय कर समाय शद्बसे सामायिक शद्ब साधु बना लिया गया हैं, अर्थात् सामायिक मे प्राणिघातका अनर्थ सब दूर चले जाते हैं, अथवा प्राणिघातक अनर्थोंको दूर करनेके ए सामायिक किया जाता है।

यो आत्मीय अवस्थान स्वरूप हो रहा सामायिक समासका विषय कर वखान दिया गया है, और वह सामायिक तो हिंसा, झूंठ, चोरी आदिक सम्पूर्ण पापसहित योगोंका अभेद रूपसे प्रत्याख्यान करनेमे तत्पर है।

यहां कोई आशंका उठाता है कि यदि निवृत्तिमे तत्पर सामायिक है तब तो सामायिक को गुप्ति हो जानेका प्रसंग आजावेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि यहां सामायिकमे मानसिक प्रवृत्ति विद्यमान हैं और गुप्तिमे तो मनोयोग की भी निवृत्ति है।

पुनः किसीका आक्षेप है कि यदि सामायिक करते समय मानसिक प्रवृत्ति है तो सामायिक को समिति हो जानेकी आपत्ति आ जायगी, ऐसी दशामे सामायिक पुनरुक्त हुआ। आचार्य कहते हैं यह भी नहीं मान बैठना।क्योंकि उस सामायिक चारित्रमें जो प्रयत्न कर रहा है उस मुनिको समितियोंमे प्रवृत्ति करनेका उपदेश हैं। अतः सामायिक कारण है और समिति कार्य है, यों कार्यकारण के भेदसे समिति और सामायिक में अन्तर है।

फिर भी किसी का कटाक्ष है कि समिति में प्रवृत्त हो रहे मुनिको दश प्रकार धर्म पालने का भी उपदेश है, ऐसी दशामें सामायिक को धर्म बन जानेका प्रसंग बन बैठेगा अथवा संयम नामके धर्ममें सामायिक गर्भित है, फिर यहां क्यों कहा जा रहा हैं ? आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि इस सूत्रमें इति शब्दका कथन करना सम्पूर्ण कर्मों के क्षय हो जानेका कारणपना समझाने के लिये हैं, इति का अर्थपूर्णता यानी समाप्ति है, चारित्र द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय परिपूर्ण हो जाता है, अतः धर्ममें गर्भित हो रहा भी सामायिक आदि चारित्र अन्तमें कहा गया हैं। जो कि मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् कारण है,इति इसी बात को समझानेके लिए सूत्रोपात्त है।

प्रमादकृतानर्थप्रबंधविलोपे सम्यक्प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना विकल्पनिवृत्तिर्वा । परिहारेण विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिन् तत् परिहारविशुद्धिचारित्रम् । तत्पुनस्त्रिंशद्वर्षजातस्य संवत्सर पृथक्त्वतीर्थंकरपादमूलसेविनः प्रत्याख्याननामधेयपूर्वपारावारपारंगतस्य जन्तु नरोधप्र दुर्भाव कालपरिमाण जन्मयोनिदे द्रव्यस्वभावविधानज्ञस्य प्रमादरहितस्य वा महावीर्यस्य परमानिर्जरस्यातिदुष्करचर्या नुष्ठायिनः तिस्र संध्या वर्जयित्वा द्विगव्यूतिगामिनः संपद्यते नान्यस्य मनागपि तद्विपरीतस्येति प्रतिपत्तव्यं ।

प्रमाद या अज्ञान से किये गये अनर्थोंकी रचना द्वारा निर्दोष क्रियाओंका विलोप हो जाने पर झटिति समीचीन प्रतीकार कर स्वात्मामें व्यवस्थित हो जाना छेदोपस्थापना है अथवा पापपोषक विकल्पों की निवृत्ति हों जाना छेदोपस्थापना संयम हैं ।

प्राणियों की पीडाके परित्यागसे विशिष्ट हो रही आत्मशुद्धि जिस संयम में है वह परिहारविशुद्धि नामका चारित्र है, यह संयम लाखों करोड़ों मुनियो में किसो किसी को हो रहा अतीव विरल है, वह परिहारविशुद्धि फिर उस तपस्वीके होता है कि जो जन्मसे तीस वर्ष पर्यन्त सुखी रहता है, पुनः दीक्षा ग्रहण कर तीर्थंकर के पादमूल में सात आठ वर्ष तक सेवा करते हुए पढ रहा सन्ता प्रत्याख्यान नामक पूर्वस्वरूप समुद्र के पार को प्राप्त हो चुका है, जन्तुओंकी उत्पत्ति का रुक जाना, प्राणियोंका उपजना किस कालमे कौनसे जीव पैदा होते हैं, उनका परिणाम क्या हैं ? जीवोंके जन्मस्थान, योनियां, देशव्यवस्था, द्रव्यों के स्वभाव इत्यादिक विधियों को जो भेदप्रभेद सहित जान रहा है, और जो प्रमाद से रहित है, जिसके महान् पराक्रम है, जिसके उत्तरोत्तर उत्कृष्ट निर्जरा हो रही हैं, अतीव कठिनतासे करने योग्य चर्याको अनुष्ठान करनेकी जिसका टेव है, तीनों संध्याकालोंको छोडकर दो कोस पर्यन्त गमन करनेवाला होय, उस हीं जीवके यह परिहारविशुद्धि संयम की सम्पत्ति प्राप्त होती है । उन उपर्युक्त लक्षणोंसे विपरीत अवस्थाको प्राप्त हो रहे किसी अन्य मुनिको अल्प भी परिहारविशुद्धि संयम प्राप्त नहीं होता है, इस प्रकार प्रतीति कर लेनी चाहिये ।

अतिसूक्ष्मकषायत्वात् सूक्ष्मसांपरायं तस्य गुप्तिसमित्योरंतर्भाव इति चेन्न तद्भावेपि गुणनिमित्तविशेषाश्रयणात् । लोभसंज्वलनाख्यसांपरायः सूक्ष्मोऽस्मिन् भवतीति विशेष आश्रितः । निरवशेषदोहक्षीणमोहत्वात् यथाख्यातचारित्रं, यथाख्यातमिति वा आत्म-स्वभावाव्यतिक्रमेणाख्यातत्वात्, इतेरुपादान ततः कर्मसमाप्तेर्ज्ञापनार्थत्वात् । यथाख्यात चारित्रसिद्धा सकलकर्मक्षयपरिसमाप्तिः ।

पूर्वस्पर्धक, अपूर्वस्पर्धक, बादरकर्षणविधि अनुसार अत्यन्त सूक्ष्म कषाय हो जाने से दशवें गुणस्थानमें जो चारित्र होता है, वह सूक्ष्मसांपराय है ।

यहां कोई आशंका उठाता है कि उस सूक्ष्मसांपराय का गुप्ति मे अन्तर्भाव कर लिया जाय, क्योंकि इसमे प्रवृत्तियों का निरोध होता है, या समिति मे डाल दिया जाय, कारण कि समीचीन अयन यानी प्रवर्तन है । आचार्य कहते हैं कि यों तो नहीं कहना, इसका हेतु यह है कि उन प्रवृत्तिनिरोध या सम्यक् अयनके होते हुये भी सूक्ष्मसांपराय चारित्र के विशेषतया निमित्तकारण हो रहे गुणका यहां आश्रय लिया गया है, लोभसंज्वलन नाम का कषाय जिस गुणस्थानमे धुले हुये कुसूंभी (कसूमल) वस्त्रकी अत्यल्प लालिमा समान अत्यन्त सूक्ष्म हो गया है, इस विशेष का यहां अवलम्ब लिया गया है ।

चारित्र मोहनीय कर्म का परिपूर्ण रूपसे उपशम या क्षय हो चुकनेसे जो ग्यारहवे आदि गुणस्थानों मे संयम होता है वह यथाख्यात चरित्र है, अथवा यथाख्यात शब्दकी निरुक्ति द्वारा यों अर्थ भी निकला जाय कि जिसप्रकार आत्मा का स्वभाव अवस्थित है, उसी प्रकार आत्माके स्वभाव का उल्लघन नहीं करके बखान किया गया होनेसे यह यथाख्यात चारित्र अन्वर्थ है । इस सूत्रमे समाप्ति अर्थ को कह रहे इति शब्दका ग्रहण किया गया, जोकि उस यथाख्यात चारित्र से कर्मों की क्षयद्वारा समाप्ति को ज्ञापन करनेके लिए है । सम्पूर्ण कर्मों की क्षयकी परिपूर्णता यथाख्यातचारित्र से ही सिद्ध होती है ।

सामायिकादीनामुत्तरोत्तरगुणप्रकर्षख्यापनार्थमानुपूर्व्यवचनं, प्राच्यचारित्रद्वयविशुद्धेरल्पत्वादुत्तरचारित्रापेक्षया परिहारविशुद्धिचारित्रस्य ततोनन्तगुणजघन्यशुद्धित्वात् । तस्यैव तदनन्तगुणोत्कृष्टविशुद्धित्वात् पूर्वचारित्रद्वयस्य तदनन्तगुणोत्कृष्टविशुद्धित्वात् । ततः सूक्ष्मसांपरायस्यानंतगुणजघन्यविशुद्धित्वात् तस्यैव तदनन्तगुणोत्कृष्टत्वात्, ततो यथाख्यातचारित्रस्य सम्पूर्णविशुद्धित्वात् । एतदेवाह—

द्वन्द्व समास कर देने पर सुसंज्ञक या अभ्यर्हित अथवा अल्पाच्तर पद पूर्वमे प्रयुक्त हो जाते हैं, यह शब्द संबंधी न्याय है, किन्तु अर्थसम्बंधी न्यायमे उक्त नियम लागू नहीं होता, अतः वक्ता को जिस प्रकार अर्थ की प्रतिपत्ति करानेमें लघुमार्ग प्रतीत होता है, तदनुसार ही पद आगे पीछे धर दिये जाते हैं ।

इस सूत्रमे सामायिक के पीछे छेदोपस्थापना और उसके पीछे परिहारविशुद्धि इत्यादि आनुपूर्वी अनुसार निरूपण करना तो सामायिक आदि चारित्रों मे से उत्तर उत्तर के (अगिले अगिले के) गुणों की प्रकर्षता को प्रसिद्ध कराने के लिए है । पहिले सामायिक छेदोपस्थापना इन दोनों चारित्रों की जघन्य अवस्था की विशुद्धि अगिले चारित्रों की अपेक्षा सबसे थोडी है, उस विशुद्धि से परिहारविशुद्धि चारित्र की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी है ।

उस विशुद्धि से उस ही परिहारविशुद्धि संयम को उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी है, उस परि-हार विशुद्धि की उत्कृष्ट विशुद्धि से सामायिक, छेदोपस्थापना, इन पहिले दोनों चारित्रोंकी उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुणी है, उस सामायिक, छेदोपस्थापनाओंकी उत्कृष्ट विशुद्धि से सूक्ष्म-सांपराय संयमकी जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है, उस सूक्ष्मसांपराय की जघन्य विशुद्धि से उसी सूक्ष्मसांपराय की उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुणी है। तिस सूक्ष्मसांपराय की उत्कृष्ट विशुद्धि से यथाख्यात चारित्र की विशुद्धि अनन्तगुणी है, क्योंकि यह यथाख्यात चारित्र सम्पूर्णपनेसे विशुद्ध हो रहा है, कर्मों के क्षय से हुई और भविष्य मे कर्मोंका क्षय करानेवाली आत्माकी पुरुषार्थजन्य प्रसन्नता को यहां विशुद्धि समझा जाय, जैसे कि संचित हो चुके वात, पित्त, कफ, के कोपजन्य दोषों का या रोगों का अव्यर्थ औषधि द्वारा जितना जितना निरा-करण होता जाता है, उतनी रोगी की प्रसन्नता या स्वस्थता बढती जाती है।

उसी प्रकार उक्त पांचों चारित्रों में विशुद्धि का तारतम्य बढ रहा तोल दिया गया है। इस ही सूत्रोक्त रहस्य को ग्रन्थकार अगिली दो वार्तिको में स्पष्ट कह रहे हैं।

सामायिकादि चारित्रं सूत्रितं पंचधा ततः।
सम्वरः कर्मणां ज्ञेयोऽचारित्रापेक्षजन्मनां ॥१॥
धर्मान्तर्भूतमप्येतत्संयमग्रहणादिह।
पुनरुक्तं प्रधानत्वख्यातये निर्वृतिं प्रति ॥२॥

इस सूत्रमे सामायिकादि पाँच प्रकारके चारित्रका निरूपण किया जा चुका है। चारित्र नहीं पालना स्वरूप अचारित्र की अपेक्षा से जन्म ले रहे कर्मों का उन चारित्रों से संवर हो चुका समझ लेना चाहिये। उत्तमक्षमा आदि दशविध धर्मों मे संयम का ग्रहण है। अतः धर्मों मे अन्तर्भूत हो रहा भी यह संयमस्वरूप चारित्र पुनः यहां इस बातको प्रसिद्ध करने के लिए कहा गया है कि मोक्ष की प्राप्ति के प्रति इस चारित्र की ही प्रधानता है, अव्यवहित रूपेण चारित्र ही मोक्ष का प्रधान कारण है।

अथ तपोवचनं धर्मान्तर्भूतं तद्द्विविधं बाह्यमाभ्यंतरं च, तत्र बाह्यभेद प्रतिपत्त्यर्थमाह :——

चारित्र का निरूपण हो चुका, उसके बाद तपसे निर्जरा भी होती है। यों सूत्रित किया गया है, दशधर्मों मे तपका निरूपण अन्तर्भूत हो रहा है, वह तप बाह्य और अभ्यन्तर भेदोंसे दो प्रकार है, उन दो भेदोंमे से बाह्य भेदों की प्रतिपत्ति कराने के लिए श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः ॥१९॥

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं।

कषाय, विषय, आरम्भोंका परित्याग करते हुये चार प्रकार आहार का त्याग करना वह अनशन है।

संयम की वृद्धि के लिए एक ग्रास, दो कौर आदि न्यून खाना अवमौदर्य हैं।

लालसा की निवृत्ति के लिए भोजन सम्बन्धी अटपटो आखडी कर लेना या प्रवृत्तिओंकी परिसंख्या कर लेना वृत्तिपरिसंख्यान है।

इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेके लिए घी, दही, दूध, मिष्टान्न, तेल, नोन रसोंका यथायोग्य त्याग करना रसपरित्याग है।

ध्यान की सिद्धि के लिए पशु, पक्षी, जन्तुओंसे रीते एकान्त स्थानोंमें सोना, बैठना, विविक्तशय्यासन है। परीषहजय की शक्ति बढाने के लिए प्रतिमायोग धारण करना, शरीर खेदावह आसन लगाना आदिक कायक्लेश है। बहिरंग द्रव्यकी अपेक्षासे ये तप किये जाते हैं, या दूसरे जीवोंको भी इनका प्रत्यक्ष हो जाता है, तिस कारण ये छह बाह्य तप कहे गये हैं।

दृष्टफलानपेक्षं संयमप्रसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनं। तद्द्विविधं अवधृतानवधृतकालभेदात्।

"सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः" इस सूत्रसे सम्यक्पदकी अनुवृत्ति चली आ रही हैं, अतः समीचीन अनशन वही है जो कि कुछ भी मन्त्रसिद्धि यशःप्राप्ति, शारीरिक स्वास्थ्य आदिक देखे जा रहे इहलोकसम्बन्धि फलोंकी नहीं अपेक्षा कर किया जा रहा है, संयम की भले प्रकार सिद्धि होना, भोजन मे राग का उच्छेद हो जाना, कर्मोंका विनाश होना, ध्यान और शास्त्र रहस्य की प्राप्ति हो जाना, इन पार लौकिक श्रेष्ठ फलोंकी प्राप्तिके लिए जो अन-शन किया जायगा वह तपश्चरण समझा जायगा, शेष तो लंघन मात्र हैं, जो कि अशुभ कर्मोंके उदयसे हुआ और अशुभ कर्मों का ही बंध करानेवाला है और यह शास्त्रोक्त अनशन तो कर्मों के क्षयका और निर्जराका सम्पादक हैं।

वह अनशन तप अवधृतकाल और अनवधृतकाल इन भेदोंसे दो प्रकार है। एक छाक, एक दिन, दो दिन आदि बीचमे देकर उपवास करना अवधृत काल हैं और समाधिमरण को कर रहे गृहस्थ या मुनिके मरणपर्यन्त आहार का परित्याग कर देना अन-

अमृतकाल अनशन होता है। पहिले में कालकी मर्यादा नियत कर दी जाती है। दूसरेमें काल की अवधि नियत नहीं की गयी है।

संयमप्रजागरदोषप्रशमनसन्तोषस्वाध्यायसुखसिद्धयर्थमवमौदर्यं। एकागारसप्तवेश्मैकरथ्यार्धग्रामादिविषयसंकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानं।

संयम का पालन, अच्छा जगते रहना, वात, पित्त, कफ, सम्बन्धी दोषोंका बढिया शांत हो जाना, स्वल्प अन्न में सन्तोष हो जाना, सुखपूर्वक स्वाध्याय हो जाना इन सिद्धियोंके लिये अवमौदर्य तप किया जाता है। भिक्षाको दुर्लभ बनानेके लिये मुनिका एक घर मे हो जाना, सात घर उल्लंघन करना, एक ही गली में जाना, आधा कौर खाना अथवा ग्राम पाठ माननेपर आधे ही गाव में गोचरी के लिए गमन, सींगमे गुडकी भेली अटकाकर बैल का मिल जाना, आदि विषयोंका संकल्प करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है।

दांतेंद्रियत्वतेजोहानिसंयमोपरोधव्यावृत्त्याद्यर्थं घृतादिरसपरित्यजनं रसपरित्यागः। रसवत्परित्याग इति चेन्न, मतोर्लुप्तनिर्दिष्टत्वात् शुक्लपट इत्यादिवत्। अव्यतिरेकाद्वा तद्वत्संप्रत्ययः। सर्वत्यागप्रसंग इति चेन्न, प्रकर्षगतेः। प्रकृष्टरसस्यैव द्रव्यस्य त्यागसंप्रत्ययात्। प्रतिज्ञातगंधत्यागस्य प्रकृष्टगंधकस्तूरिकादि त्यागवत्।

इन्द्रियोंका दमन हो जाना, प्रकृतिमे उत्तेजित होने की हानि हो जाना, संयम को रोकनेवाली लम्पटता की व्यावृत्ति हो जाना गरिष्ठता जन्य प्रमाद की हीनता इत्यादिक प्रयोजन को साधनेके लिये घी, दही, दूध, आदि रसोंका कुछ दिनों तक या आजन्म परित्याग कर देना रसपरित्याग है।

यहां कोई शंका उठाता है कि रसशद्व गुणको कह रहा है, गुणीको छोडकर अकेले गुणका ग्रहण या त्याग नहो किया जा सकता है, अतः रसवाले घृतादि पदार्थोंका त्याग कर देना कथन समुचित हुआ तब तो रसवत्परित्याग ऐसा चौथे तप का नाम होना चाहिये, "रसपरित्याग" शद्व अशुद्ध जचता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना, क्योंकि तद्वान् अर्थ को कह रहे मतुप् प्रत्यय का लोप हो चुकनेपर यह रसपरित्याग कहा गया है, मतुप् प्रत्यय के अर्थ मे अच् प्रत्यय भी हो जाता हैं,जिसको कि मत्वर्थीय अच प्रत्यय कहते हैं, "गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिंगास्तु तद्वति" गुणवाचक शब्द कदाचित गुणीको भी कहने मे प्रवर्त जाते हैं, मतुप् का लोप कर अनेक शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं, जैसे कि शुक्लवस्त्र, मधुर आम्र, शीतजल, आदि प्रयोग साधु हैं अथवा एक विचार यह भी है कि गुणको छोडकर गुणी नहीं वर्तता है, यो गुण और गुणीका अभेद हो जानेके कारण गुणसे उस गुणकी धारने वाले की समीचीन प्रतीति हो जाती है, रसवाले द्रव्यका त्याग करनेपर ही रसका त्याग घटित हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

यहाँ कोई आक्षेप उठाता है कि जगत् मे जितने भी पुद्गल द्रव्य हैं सब मे रस विद्यमान है, अतः रसका परित्याग करनेवाला व्रती किसी भी रसवाले मठा, पानी आदि पदार्थ को नहीं खा पी सकेगा, सभीके त्यागका प्रसंग आजावेगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, क्योंकि रूपवान, रूपवान, ज्ञानवान, धनवान आदि स्थलोमे प्रकर्ष अर्थकी प्राप्ति हो जाती है, अत: अधिक रसवाले या तीव्र रसवाले द्रव्यके ही परित्याग करने की भली प्रतीति हो जायगी, जैसे कि कोई मनुष्य गन्धको सूंघनेकी प्रतिज्ञा कर चुका है, वह प्रकृष्ट गन्धवाले,कस्तूरी, इत्र, पुष्प, धूप, पुष्प, आदि तीव्र रागोत्पादक पदार्थोंको ही प्रकर्षगंधका त्याग करता है। अल्प गन्धवाले पदार्थोंका त्यागी नहीं है। वैसे तो सभी पुद्गलो में गंध विद्यमान है, नासिका इन्द्रियवाला उनसे कथमपि नहीं बच सकता है, उसी प्रकार यहां रस का अर्थ प्रकृष्ट रसवाला पदार्थ ग्रहण करना।

कश्चिदाह – अनशनावमौदर्यरसपरित्यागानां वृत्तिपरिसंख्यानावरोधात् पृथगनिर्देशः। तद्विकल्पनिर्देश इति चेन्न, अनवस्थानात्। तं प्रत्याह, न वा कायचेष्टाविषयगणनार्थत्वाद्वृत्तिपरिसंख्यानस्य। अनशनस्याभ्यवहर्तव्यनिवृत्तिरूपत्वादवमौदर्यरसपरित्यागयोरभ्यवहर्तव्यैकदेशनिवृत्तिपरत्वात्ततो भेदप्रसिद्धेः।

यहां कोई पंडित कह रहा है कि अनशन, अवमौदर्य और रसपरित्याग इन तीनों तपोंका वृत्तिपरिसंख्यान नामक तप में अन्तर्भाव हो जायगा, क्योंकि सब ये भिक्षा सम्बन्धी ही नियम हैं, अतः इनका पृथक् उपदेश नहीं करना चाहिये, ग्रन्थका बोझ बढता है, यदि इस आक्षेप का उत्तर पण्डित के प्रति कोई यों देना चाहे कि भले हो वे वृत्तिपरिसंख्यान मे गर्भित हो जाय, किन्तु शिष्यबुद्धि वैशद्यार्थं उस वृत्तिपरिसंख्यान तप के विकल्पों का पृथक् निर्देश कर दिया गया है, जैसे कि "दुःखशोकतापाक्रन्दन" इत्यादि सूत्रमें दुःखके प्रकारोंका न्यारा निरूपण किया जाता है, इस पर पण्डित कहता है कि यह तो नहीं कह सकते हो, क्योंकि वृत्तिपरिसंख्यान के प्रकारोंका यदि पृथक् निरूपण करने लगोगे तो अनवस्था हो जायगी, लाखों, करोडों अटपटी आखडियों के नाम गिनाने पर भी कहीं दूर जाकर नहीं ठहर सकोगे, अतः हमारा आक्षेप तदवस्थ है। अब उस पण्डित के प्रति आचार्य समाधान वचन कहते हैं कि यह दोष उठाना ठीक नहीं है, क्योंकि वृत्तिपरिसंख्यान तप तो काय की चेष्टा आदि विषयोंकी गिनती के लिए किया जाता है कि साधु भिक्षामे प्रवृत्ति कर रहा, इतने ही क्षेत्र तक अपने शरीर की चेष्टा करे, अथवा ऐसे ऐसे गिनती के विषयोंका प्रसंग प्राप्त होय तभी भिक्षा लेवे, किन्तु यह अनशन तप तो खाने पीने व्यवहारमे आने योग्य पदार्थोंकी निवृत्ति कर देना स्वरूप है और अवमौदर्य नाम का तप तो खाने पीने योग्य पदार्थों के एक देश रूपसे

निवृत्ति करनेमे तत्पर हो रहा है तथा रसपरित्याग तप भी खाद्य, पेय, द्रव्योंको एकदेश रूपेण निवृत्ति करनेमे लग रहा है, तिस कारण इनमे महान् भेद प्रसिद्ध है। वृत्तियोंकी मात्रगणना प्रसिद्ध कर देना और खाद्य पेयोंको पूर्णतः या एकदेशतः निवृत्ति कर देना इनमे महान अन्तर है, अतः चारों तप स्वतन्त्र है,कोई किसीमे गर्भित नहीं हो सकता है और न कोई किसीका प्रकार है।

आबाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानादिप्रसिद्धयर्थं विविक्तशय्यासनं। कायक्लेशःस्थानमौनातपनादिरनेकधा। देहदुःखतितिक्षा सुखानभिष्वंगप्रवचनप्रभावनाद्यर्थः। परीषहजातीयत्वात् पौनरुक्त्यमिति चेन्न, स्वकृतक्लेशापेक्षत्वात् कायक्लेशस्य। सम्यगित्यनुवृत्तेर्दृष्टफलनिवृत्तिः, सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिरित्यतः सम्यग्ग्रहणमनुवर्तते। बाह्यद्रव्यापेक्षत्वाद्बाह्यत्वं, परप्रत्यक्षत्वात् तीर्थ्यगृहस्थकार्यत्वाच्चानशनादेः। एतच्च कर्मनिर्दहनात्तपः, देहेंद्रियतापाद्वा। केषां पुनः कर्मणां संवरः स्यात्तपसोऽस्मादित्याह।

निकटवर्ती जीवोंद्वारा कियी जाने योग्य आबाधाओंका परिहार, ब्रम्हचर्य धारण, निराकुल स्वाध्याय करना, अच्छा ध्यान, व्यर्थ बोलने पडनेकी आपत्ति से बच जाना आदिकी अच्छी सिद्धि हो जानेके लिए विविक्तशय्यासन तप किया जाता हैं। जीव रहित एकान्त स्थलमे शयन करने या आसन जमाने से उक्त ब्रम्हचर्य आदि की निष्पत्ति सहजमे हो जाती है। छठा कायक्लेश नामका तप तो प्रतिमा योग धारण कर स्थित हो जाना, मौनव्रत रखना, मध्यान्ह मे सूर्य सम्मुख आतपन योग धारण करना, कठिन आसन लगाना, आदिक अनेक प्रकार है, जोकि शरीरके दुख उपस्थित होने पर सहनशील बन जाना, वैषयिक सुखोंके कारणों में आसक्ति नहीं कर बैठना, जिनशासन की प्रभावना, कर्मोंकी निर्जरा आदिके लिये किया जाता है।

यहां कोई आक्षेप करता है कि यह आतपनयोग, मौनधारण आदि स्वरूप हो रहा कायक्लेश तो परीषहों को ही जातिका है, अतः पुनः उपदेश करनेसे पुनरुक्तता दोष आया। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना, क्योंकि अपने आप चलाकर बुद्धिपूर्वक कायक्लेश किया जाता है और इच्छाके विना ही कारणवश परीषहें प्राप्त हो जाती है। यों अपने द्वारा किये गये क्लेश की अपेक्षा हो जाने से कायक्लेश का परीषहों से भेद है।

इस सूत्रमे "सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः" इस सूत्रसे सम्यक्पदकी अनुवृत्ति चली आ रही है, सम्यक् इसकी अनुवृत्ति हो जानेसे लोक में देखे जा रहे फलोंकी निवृत्ति कर दी जाती है। जो लौकिक फलोंकी अपेक्षा रखकर तप किये जायेंगे, वे

समीचीन अनशन आदि नहीं कहे जा सकते हैं। बाह्य द्रव्योंको अपेक्षा रखना होनेसे ये अनशन आदि किये जाते हैं, अतः इनको बाह्य तप माना गया है।

दूसरी बात यह भी है कि अन्य जनोंको अनशन आदिका घट, पट, के समान प्रत्यक्ष भी हो जाता है, तिस कारण से भी इनको बाह्यपना है।

तीसरी बात यह भी है कि अन्यमतावलम्बी साधुओं करके और गृहस्थों करके भी अनशन आदि कर्तव्य कर लिये जाते हैं, इस कारण इनको बाह्य तप कहा गया है। यह तप शब्द का निरूपण तो कर्मोंका निःशेष दाह कर देने से तपः है, इस तात्पर्य को ले रहा है। जिसप्रकार अग्नि तृण आदिको जला देती है, उसी प्रकार तप भी कर्मोंको तपाकर भस्म कर देता है, अथवा देह और इंद्रियोंको ताप करता है, इस कारण भी अनशन आदिको तप कह दिया जाता है।

यहां कोई तर्क उठाता है कि इस तपसे फिर किन कर्मोंका संवर हो जायगा ? बताओ ! ऐसी जिज्ञासा उपस्थित हो जानेपर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधान वचन कहते हैं।

षोढा बाह्यं विनिर्दिष्टं तपोऽत्रानशनादि यत्।
संवरस्तेन च ज्ञेयो ह्यतपो हेतुकर्मणाम् ॥१॥

इस सूत्रमे अनशन, अवमौदर्य आदि जो छह प्रकारका बहिरंग तप विशेषरूपेण निर्दिष्ट किया गया है, उस करके अतपस्याको हेतु मानकर आने योग्य कर्मोंका संवर हो जाना समझ लेना चाहिये। अर्थात् जो तपस्या नहीं कर रहे हैं उनके कर्मोंका आस्रव हो रहा है तथा उस अतपके विपरीत जो अनशन आदि तपोंको कर रहे हैं उनके कर्मोंका संवर हो जाता है। यह युक्तिसिद्ध सिद्धांत है।

अथाभ्यन्तरं तपःप्रकाशयन्नाह;—

बाह्य तपोंका निरूपण करनेके अनन्तर अब सूत्रकार महाराज अभ्यन्तर तपोंका प्रकाश कराते हुए अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं।

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥

प्रायश्चित्त लेना, विनय करना, वैयावृत्य करना, स्वाध्याय करना, व्युत्सर्ग और ध्यान ये उत्तरवर्ती अन्तरंग तप हैं। प्रमाद से उत्पन्न हुए दोषोंका प्रत्यनीक प्रयोगों द्वारा परिहार कर देना प्रायश्चित्त है, पूज्य पदार्थोंमे आदर करना विनय है, शरीर की चेष्टा या अन्य द्रव्य करके उपासना करना वैयावृत्य है, आलस्यको छोडकर समीचीन श्रुतज्ञान की भावना करना स्वाध्याय है, परपदार्थोंमे आपापन और अपनेपन के संकल्प

का परित्याग कर देना व्युत्सर्ग है, चित्तके विक्षेप का त्याग करते हुए एक अर्थमें ही अनेक ज्ञानोंको उपजाकर चित्तवृत्तिका निरोध करना ध्यान है। अन्तरंग मनका आत्मीय शुभभावोंमें नियंत्रण किये जाने के कारण होनेसे ये छओं अन्तरंग तप माने गये हैं।

तप इति सम्बध्यते। अस्यान्यतीर्थानभ्यस्तत्वातुत्तरत्वं अभ्यन्तरत्वमिति- यावत्, अन्तःकरणव्यापाराद्वाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात्। स्वत एतच्च संवेद्यमिति दर्शयन्नाह।

पूर्व सूत्रमें कहे गये तप इस शब्दको अनुवृत्ति कर यहां संबध कर लिया जाता है। अन्य मतावलम्बियों करके अभ्यास प्राप्त नहीं होनेके कारण इन प्रायश्चित आदिकों की उत्तर तपस्यापना इष्ट किया गया है। उत्तर इस पदका अर्थ यहां प्रकरण अनुसार अभ्यन्तर हैं, यों ये अभ्यन्तर तप हैं यह फलितार्थ निकला।

अन्तरंग इन्द्रिय हो रहे मनका इन प्रायश्चित आदिको मे अवलम्ब व्यापार होनेके कारण और वाह्यद्रव्यकी अपेक्षा न होनेके कारण ये अन्तरंग तप हैं; तथा ये प्रायश्चित आदिक तप स्वतः ही भले प्रकार जानने योग्य हैं, अर्थात् उपवास आदिक जैसे दूसरे जीवों करके भी वेद्य हैं, उसप्रकार प्रायश्चित्त आदिक मानसिक उपयोग हो रहे सन्ते स्वसंवेदन प्रत्यक्षद्वारा ही संवेद्य है, परसंवेद्य नहीं है। इसी बात को ग्रन्थकार अगली वार्तिकद्वारा दिखलाकर स्पष्ट कह रहे है।

प्रायश्चित्तादि षड्भेदं तपः संवरकारणं
स्यादुत्तरं स्वसंवेद्यमिति स्पष्टमनोगतं ॥१॥

संवरका कारण हो रहा प्रायश्चित्त आदि छह भेदवाला अभ्यन्तर तप है, जोकि स्पष्ट रूपसे मन इन्द्रिय द्वारा जान लिया गया, सन्ता स्वसंवेदन प्रत्यक्ष करने योग्य है, अतः यह अन्तरंग तप हो सकता है।

तद्भेदगणनार्थमाह;—

उन अन्तरंग तपोंके भेद प्रभेदों की गणना करनेके लिए सूत्रकार महाराज अग्रिमसूत्रको कह रहे हैं, उसको स्पष्ट सुनिये।

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

ध्यान नामक तपसे पहिले तक क्रमानुसार नौ, चार, दश, पांच, दो इतने भेदवाले प्रायश्चित्त आदिक हैं। अर्थात् प्रायश्चित के नौ भेद हैं, विनयके चार भेद हैं, दशभेदोंको धाररहा वैयावृत्य है, स्वाध्याय के पाँच भेद हैं, दो भेदवाला व्युत्सर्ग है। ध्यानके भेदोंका निरूपण भविष्यमे किया जायगा।

नवादीनां भेदशद्वेनोपसंहितानामन्यपदार्था वृत्तिः। द्विशद्वस्य पूर्वनिपात-प्रसंग इति चेन्न, पूर्वसूत्रापेक्षत्वात्। शाद्वान्न्यायाद्द्वंद्वे सुरल्पाच्तरमिति सूत्रात्संख्याया अल्पीयस्या इत्युपसंख्यानाच्च द्विशद्वस्य पूर्वनिपातप्रसक्तावप्यार्थान्न्यायात् प्रायश्चित्ता-दिसूत्रार्थापेक्षया यथाक्रममभिसंबंधार्थलक्षणमुल्लंध्यते, अर्थस्य बलीयस्त्वात् लक्ष्यानु-विधानाल्लक्षणस्य। एते च नवादयः प्रभेदा इत्याह—

संख्या व संख्येय को कह रहे और परली ओर पडे हुए भेद शद्व के साथ द्वन्द्व समास गर्भित उपसन्धान को प्राप्त हो रहे नव, चतुर आदि पदोंकी अन्य पदार्थोंको प्रधान रख रही बहुव्रोही समास नामकी वृत्ति कर ली जाय, तब तो प्रायश्चित्त आदिके नौ, चार, दश, पांच, दो भेद हैं, यह सूत्रार्थ हो जाता है।

यहां कोई शंका करता है कि सूत्रमे द्वन्द्व समास को प्राप्त हुए द्वि इस शद्व का सबके पूर्व मैं नियम से पड जानेका प्रसंग आता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना, क्योंकि पूर्व सूत्रमे कह कहे गये प्रायश्चित्त आदिके भेदोंकी अपेक्षा अनुसार व्युत्सग के भेदोको प्रतिपत्ति करानेके लिए पीछे द्वि शब्द कहा गया है।

द्वन्द्व समासमैं सुसंज्ञवाले इकारान्त, उकारान्त पदोंका पूर्वमे निपात कर उच्चारण किया जाता हैं, एवं जिस पदमे अतिशय करके अल्प अच् होय उस पद का भी पूर्वसे निपात हो जाता है।

तीसरी बात यह भी सूत्रोंसे अतिरिक्त वार्तिकों द्वारा कही गयी है कि संख्यावाची पदोमे अत्यन्त अल्पसंख्याको कह रहे पदका पूर्वमे निपात होता है।

ये तीनों नियम द्वि शब्दका पहिले उपादान करनेमे लागू हो रहा हैं, यों शद्वशास्त्र सम्बन्धी वैयाकरण न्यायसे द्वि शब्दके पूर्व निपात हो जानेका प्रसंग आ पडने पर भी अर्थसम्बन्धी न्यायसे प्रायश्चित्त, विनय आदि सूत्रके अर्थकी अपेक्षा करके क्रम अनुसार उद्दश्य विधेय दोनोंका सम्बन्ध करनेके लिए व्याकरण के लक्षण सूत्रोंका उल्लंघन कर दिया जाता है, "द्वन्द्वे सुः" "अल्पाच्तरं" इन सूत्रोंसे तथा "संख्याया अल्पीयस्या:" इस उपसंख्यान किये गये वार्तिक से जो द्वि शब्द का पूर्व निपात होना आवश्यक पडा है, अर्थ संबंधी नीतिसे इसकी उपेक्षा की गयी है, क्योंकि न्याय शास्त्रमे शब्दकी अपेक्षा अर्थ अत्यधिक बलवान होता है। व्याकरण के लक्षण सूत्रोंको लक्ष्य के अनुकूल कार्य करना चाहिये, सिद्धांत या न्यायशास्त्रके अनुयायियोंको थोडा व्याकरण का लक्ष्य रखना पडता है, किन्तु वैयाकरणों को अर्थका बहुभाग ध्यान रखना चाहिये, तभी तो "मित्रे चर्षौ" आदि सूत्र बनाने पडे।

ये नौ आदिक प्रभेद है। अन्तरंग तपके छह भेद हैं और उन छह में से पांच के नव आदिक प्रभेद हैं। इसी तत्त्वको ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिक द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं।

प्रोक्ता नवादयो भेदाः प्राग्ध्यानात्ते यथाक्रमं।
प्रायश्चित्तादिभेदानां तपसोभ्यन्तरस्य हि ॥१॥

इस सूत्र द्वारा उमास्वामी महाराजने अभ्यन्तर तप संबंधी प्रायश्चित्त, विनय आदिक भेदोंके ध्यानसे पहिले यथाक्रम से वे नौ, चार आदिक प्रभेद नियम करके बहुत अच्छे कह दिये हैं। एक बार किसीके भेद कर पुनः उन भेदोंके जो प्रकार किये जाते हैं, उनको प्रभेद कहते हैं।

यतस्तपसोऽभ्यन्तरस्य प्रायश्चित्तादय एव भेदात्मानो नवादयस्तेषां भेदा इति प्रभेदास्ते। प्राग्ध्यानदिति वचनं यथासंख्यप्रतिपत्त्यर्थम्।

जिस कारण से कि अभ्यन्तर तपके प्रायश्चित्त, विनय आदिक ही भेद स्वरूप हैं, इस कारण उन प्रायश्चित्त आदिकोंके नौ, चार आदिक जो भेद है, इस कारण वे अभ्यन्तर तपके प्रभेद कहे जाते हैं, पुत्र का पुत्र पौत्र कहलाता है, उसका पुत्र भी प्रपौत्र हो जाता है।

सूत्र में ध्यान से पहिले यह जो निरूपण किया गया है वह संख्या अनुसार प्रभेदों की प्रतिपत्ति करानेके लिए हैं, अन्यथा प्रायश्चित्त आदि छह तपोंका नौ, चार आदि संख्यावाची पांच पदोंके साथ समन्वय नहीं हो सकता था। ध्यान से पहिले यों कह देने पर तो पांच तपों का पांच संख्यापूर्वक भेदोंके साथ यथासंख्य अन्वय बन जाता है, विषमता नहीं होती है।

तत्रास्य तपोभेदस्य नवविकल्पान् प्रतिपादयन्नाह;—

अब उन अभ्यन्तर तपोमे से पहिले भेद हो रहे प्रायश्चित्त नामक तपके नौ विकल्पों की शिष्यों को प्रतिपत्ति कराते हुये सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्रका परिभाषण कर रहे हैं।

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥२२॥

आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना ये प्रायश्चित्त के नौ भेद हैं। गुरु के सन्मुख अपने प्रमादकृत दोषोंका प्रकाशण करना आलोचन है। भविष्यमे दोषों के सर्वथा परित्याग की भावना रखकर

वर्तमान सम्बन्धी स्वकीय दुष्कृत्यों का प्रतीकारार्थ मिथ्यापन भावित करना प्रतिक्रमण है।

" पडिक्कमामि भंते, इरियावहियाए । विरायणाये । अणागुत्ते । पाणुग्गमणे । विज्जुगमणे । हरिदुग्गमणे । उच्चारपस्सवणखेलसिंहाणाये । वियडिपइट्ठवणियाइ जे जीवा । एइन्दिया वा । वेइन्दिया वा । तेइन्दिया वा । चउरिंदिया वा । पंचिंदिया वा । णोल्लिदा वा । पेल्लिदा वा । संघट्टिदा वा । संघादिदा वा। उद्दाविदा वा । परिदाविदा वा । लेस्सिदा वा । छिंदिदा वा । भिंदिदा वा । ठाणदो वा । ठाणचंकमणदो वा । तस्सविसोहि करणं । जाव अरहन्ताणं । भयवन्ताणं । णमोकारं करोमि । ताव कायं । पावकम्मं उच्चरियं । वोस्सरामि (जाप्यं देयं) । णमो अरहंताणं । णमो सिद्धाणं। णमो आयरियाणं । णमो उवज्झायाणं । णमो लोए सव्वसाहूणं ।

ईर्यापथे प्रचलताद्य मया प्रमादा, - देकेंद्रियप्रमुखजीवनिकायबाधा ।
निर्वर्तिता यदि भवेदयुगान्तरेक्षा, मिथ्यातवस्तु दुरितं गुरु(जिन)भक्तितो मे॥
करचरणतनुविघातादटतो निहतः प्रमादतः प्राणी ।
ईर्यापथमिति भीत्या, मुञ्चे तद्दोषहान्यर्थं ।

इच्छामिभन्ते ईरियावहमालोचेउं । पुव्वुत्तरदक्खिणपच्छिमचउदिसासु विदिसासु विहरमाणेण, जगुत्तरदिट्ठिणा, दट्ठव्वा, डव डव चरियाये, प्रमाददोसेण पाणभूद जीवसत्ताणं एदेसिं उवघादो कदो वा, कारिदो वा, किरंतो वा, समणमणुदो वा, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

पापिष्ठेन दुरात्मना जडधिया मायाविना लोभिना,
रागद्वेषमलीमसेन मनसा दुष्कर्म यन्निर्मितं ।
त्रैलोक्याधिपते जिनेंद्र भवतः श्रीपादमूलेऽधुना,
निन्दापूर्वमहं जहामि सततं निर्वर्तये कर्मणां ।

इत्यादि रूपसे प्रतिक्रमण किया जा सकता है, जाप्य या सामायिक के समान प्रतिक्रमण करना भी अति आवश्यक है । आलोचन और प्रतिक्रमण दोनों का संसर्ग होते सन्ते आत्मा को शुद्ध करना तदुभय है । कोई दोष केवल आलोचन कर देने से ही प्रशांत हो जाता है । दूसरा दुष्कृत्य केवल प्रतिक्रमण करने पर निवृत्त हो जाता है । तीसरा दोष ऐसा है जिसका कि आलोचन, प्रतिक्रमण दोनो प्रायश्चित्त करने पर आत्मशुद्धि हो सकती है ।

सबके साथ मिलकर हो रहीं खाने, पीने, उपकरण रखने आदिका व्यवस्थाओंमें से कुछ कालतक के लिये दोषी जीवका पृथग् भाव कर देना विवेक है ।

कार्योत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग है। उपवास आदि करना तप है। कु
दिनों की दीक्षा का त्याग करा देना छेद है। पखवाडा, महीना, आदि के लिये दूर छो
देना परिहार है। वर्तमान की दीक्षा का छेद कर पुनः नये तौर से दीक्षित कर
(होनाः) उपस्थापना है।

यह नौ प्रकारका प्रायश्चित्त है।

लोक मे भी घृणित पदार्थ को देखकर थूक देनेसे या मुहसिकोड, आं
हटाकर वैराग्य संपादक शब्द बोलते हुए करुणापूर्ण भावों द्वारा चित्त की ग्लानि मि
की जाती है। परमार्थत: जीव की अन्तरंग शुद्धवृत्तिओसे दोष दूर होकर आ
विशुद्ध हो जाता है।

प्रायश्चित्तस्य नवविकल्पाः। प्रमाददोषव्युदासभावप्रसादनैःशल्यानवस्थ त्यावृत्तिमर्यादात्यागसंयमदाढर्यभावनादिसिध्यर्थं प्रायश्चित्तं विशुद्धयर्थमित्यर्थः तस्य लोचनादयो निरवद्यवृत्तयो नवविकल्पा भवन्तीत्याह—

इस सूत्रमे प्रायश्चित्त के नौ विकल्प कह दिये गये हैं। प्रमाद से कि
गये दोषोंका निराकरण करने के लिए प्रायश्चित्त किया जाता है, भावोंकी शुद्धिके लि
भी प्रायश्चित्त होता है। कोई अपराध बन जानेसे आत्मा मे शल्य लग बैठती है, उ
शल्य का परित्याग कर निःशल्य हो जाना भी प्रायश्चित्त करनेका प्रयोजन है। पा
कर चुके जीवका चित्त अव्यवस्थित रहता है, प्रायश्चित्त कर लेनेसे वह चित्तकी अव्य
वस्था या अनवस्था व्यावृत्त हो जाती है।

पापी जोव धार्मिक मर्यादाओंका त्याग कर अनर्गल प्रवृत्ति कर बैठता
प्रायश्चित्त कर लेनेसे पुनः मर्यादा का त्याग नहीं हो पाता है।

प्रायश्चित्त कर लेनेसे संयम पालनेमे दृढता हो जाती है, अनित्यपन आ
बारह भावनाओं या पांचव्रतोंकी वाग्गुप्ति आदि पच्चीस भावनाओं तथा आत्मीय शु
भावनाओं की सिद्धिके लिए प्रायश्चित्त किया जाता है।

अन्यथा पापमे प्रवृत्ति नहीं होना, अप्रशस्त कर्मों की स्थिति, अनुभाग व
ह्रास हो जाना, आदिक प्रयोजनोंको साधनेवाला प्रायश्चित्त हैं।

प्रायः का अर्थ अपराध है, चित्तका अर्थ विशेष शुद्धि है, उस अपरा
की आत्मामे शुद्धि करना या अपराध को विशुद्धि के लिये प्रवर्तना यह प्रायश्चि
का अर्थ है। उस प्रायश्चित्त के निर्दोष प्रवृत्ति स्वरूप आलोचना आदिक नौ भेद
रहे हैं। इस ही सूत्रोक्त सिद्धांत को ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा कह रहे हैं।

आलोचनाद्यो भेदाः प्रायश्चित्तस्य ते नव ।
यथागममिह ज्ञेया निरवद्यप्रवृत्तये ॥१॥

प्रायश्चित्त के प्रसिद्ध हो रहे वे आलोचना आदिक नौ भेद आगम अनुसार जान लेना चाहिये, जोकि लगे हुए दोषोंका निवारण करते हुए भविष्य में निर्दोष प्रवृत्ति कराने के लिये उपयुक्त हैं ।

तत्र गुरवे प्रमादनिवेदनं दशदोषविवर्जितमालोचनं । प्रायश्चित्तलघुकरणार्थमुपकरणदानं,यदि लघु मे शक्त्यपेक्षं किंचित्प्रायश्चित्तं दीयते तदाहं दोषं निवेदयामीति दीनवचनं, परादृष्टदोषगूहनेन प्रकटदोषनिवेदनं, प्रमादालस्याभ्यामल्पदोषावज्ञानेन स्थूलदोषप्रतिपादनं, महादोषसंवरणेनाल्पदोषकथनं, ईदृशे दोषे किं प्रायश्चित्तमित्युपायेन प्रच्छन्नं, बहुयतिजनालोचनाशब्दाकुले स्वदोषनिवेदनं, किमिदं गुरूपपादितं प्रायश्चित्तं युक्तमागमे न वेत्यत्यन्यगुरुप्रश्नः,महदपि प्रायश्चित्तं गृहीतं न फलकरमिति संचित्य स्वसमानाय प्रमादावेदनं,परगृहीतस्यैव प्रायश्चित्तस्यानुमतेन स्वदुश्चरितसंवरणं, इति दशालोचनदोषास्तेषां वर्जनमात्मापराधस्याश्वेव निर्माय बालवदृजुबुध्याभिधानं तद्विशिष्टमालोचनं सम्यगवगंतव्यं ।

उन नौ प्रकार प्रायश्चित्तों में पहिला आलोचन यों हैं कि एकान्त मे विराजमान हो रहें प्रसन्न मनवाले गुरु के लिये (सन्मुख) शिष्य का विनय सहित होकर अपने प्रमादकृत अपराधोंका दश दोषोंसे विवर्जित हो रहा स्पष्ट निवेदन कर देना आलोचन है ।

वे दशदोष इस प्रकार है कि गुरु महाराज प्रायश्चित्त लघु कर देवे इसके लिये पिच्छ, कमंडलु, आदि उपकरणोंका दान करना पहिला दोष है । उपकरण दे देनेपर मुझे हलका प्रायश्चित देगे ऐसा विचार कर पुस्तक आदि देना दोष समझा गया हैं ।

शारीरिक प्रकृति से मैं दुर्बल हूं, पीडित हूं, उपवास आदि बडे दण्डोंको झेलने के लिये समर्थ नहीं हो सकता हूं, यदि गुरुजी मेरी हीनशक्ति की अपेक्षा कर कुछ हलका प्रायश्चित्त दे देवे, तब तो मैं उनके सन्मुख दोषोंका निवेदन किये देता हूं, इस प्रकार दीनतापूर्ण वचन कहना दूसरा दोष है ।

दूसरे प्राणियों करके नहीं देखे गये दोषों को छिपाकर दूसरोमैं प्रकट हो चुके दोषोंका ही मायाचार पूर्वक निवेदन करना तीसरा दोष है ।

प्रमाद और आलस्यसे छोटे छोटे (सूक्ष्म) दोषोंका तिरस्कार करते हुये केवल स्थूल दोषोंका गुरुजी के सामने प्रतिपादन करना चौथा दोष है । यह अपराधी

अपने छोटे छोटे दोषों को जान बूझकर छिपा जाता है, मोटे दोषोंको कह देता है । महाकठिन दण्ड प्राप्त होनेके भयसे बडे दोषोंका संवरण करके मात्र छोटे छोटे दोषोंका गुरुके सामने कथन करना पांचवां दोष है ।

गुरुजी महाराज, इस प्रकारके दोष हो जानेपर किसी को क्या प्रायश्चित्त दिया जा सकता है ? इस छलपूर्ण उपायसे दोषोंको लुका छिपाकर गुरू की उपासना करना यह छठा दोष है । या "पृच्छतं" पाठ मान लेने पर पूछना, अर्थ किया जाय ।

पखवाडे, चौमासे, या वर्षके अन्तमे कियो जानेवाली अनेक मुनिजनोंकी आलोचनाओंके शब्दोंसे व्याकुल हो रहे अवसरपर व्याक्षिप्त मनवाले आचार्य महाराज के सन्मुख स्वकीय दोषोंका निवेदन करना सातवां दोष है ।

गुरुजी के द्वारा समझाकर दिया गया यह प्रायश्चित्त (दण्डव्यवस्था) क्या आगम पद्धति मे युक्त है ? अथवा क्या प्रायश्चित्तशास्त्र अनुसार समुचित नहीं है ? इस प्रकार शंका रखते हुये शिष्यका अन्य आचार्य गुरूके सन्मुख प्रश्न उपस्थित करना आठवां दोष है । आठवे दोषमे गुरू के प्रति अश्रद्धा और अपनी दुर्बलता व्यक्त की है ।

बहुत बडा भी प्रायश्चित्त ले लिया गया कुछ दृष्ट फल नहीं करता है, इस प्रकार अपने मनमे अच्छी मान ली गयी कुभावना पूर्ण चिंतना कर गुरूके प्रति दोषोंका नहीं निवेदन करता हुआ आलसी मुनि अपने समान हो रहे दूसरे सहवासीके सन्मुख हो प्रमादोंका निवेदन कर देता है, यह नौमा दोष है ।

नौमा दोषवाले को गुरु के प्रति अश्रद्धा भाव, परलोक का नहीं मानना, अतीन्द्रिय पदार्थों को इष्ट नहीं करना, आत्मीय शुद्धिका अभाव, अनास्तिक्य आदिक ऐब लगे हुये हैं ।

अपने समान दोषवाले दूसरे शिष्य करके गृहीत हो चुके प्रायश्चित्तको मान लेना कि इसी प्रायश्चित्त को मैं ग्रहण कर लूं, सबके सन्मुख कहने मे बडी बुराई होगी इस प्रकार अपने दुश्चरित्रोंको छिपा लेना दशवां दोष है ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अनुसार दंडव्यवस्था बदलती रहती है । जज साहब एक अपराधी को सात वर्ष की सजा देते हैं; उसी प्रकारके दुसरे अपराधी को केवल तीन वर्षका सजा बोलते हैं । इसी प्रकार अन्तरग भावों और परिस्थितियों के वेत्ता आचार्य महाराज अपराधी शिष्योंको अनेक प्रकारकी दंडव्यवस्था बताते हैं । यों आलोचन के दश दोष हैं, उनका परित्याग कर गुरूजी के सन्मुख शीघ्र ही अपने अपराध को देर न कर कह देना चाहिये, जैसे कि कपटरहित बालक अपनी स्वाभाविक

सरल बुद्धिसे स्वकीय दोषोंका अन्यूनातिरिक्त कथन कर देता है, उसी प्रकार छलरहित होकर दशदोषों कर रहित जो आलोचन किया जायगा वह समीचीन विशिष्ट प्रकार का आलोचन समझ लेना चाहिये।

तच्च संयताश्रयं द्विविषयमेकान्ते संयतिकाश्रयं त्रिविषयं प्रकाशे प्रायश्चित्तं गृहीत्वा कुर्वतोऽकुर्वतश्च कुतश्चित्तपश्चरणसाफल्येतराविगुणदोषप्रसक्तिः प्रसिद्धैव।

और वह आलोचन यदि मुनिका आचार्य के प्रति होय तो संयमियों का अवलम्ब पाकर हुआ एकान्त स्थलपर केवल दो मे ही होना चाहिये। (विषयत्वं सप्तम्यर्थः) अर्थात् सयमी यदि प्रायश्चित्त लेवे तो वहां एकान्तमे गुरू और शिष्य दो ही होने चाहिये, तथा यदि संयमवाली आर्यिका का अवलम्ब पाकर यदि प्रायश्चित्त लिया जा रहा है, तो प्रकाश (एकान्तरहित) प्रदेश मे कम से कम तीन प्राणियोमे लिया जाय, अर्थात् आर्यिकासे कोई प्रायश्चित्त लेवे, या आर्यिका किसी आचार्य से प्रायश्चित्त लेवे तो प्रसिद्ध स्थलमे तीन आदि जन अवश्य होने चाहिये, अकेले स्त्री का अकेले पुरुष के साथ एकान्त स्थलमे वार्तालाप आदि करना निषिद्ध हैं।

आचार्य महाराज से प्रायश्चित्तको ग्रहण करके श्रद्धापूर्वक उस प्रायश्चित्त को करनेवाले मुनिके तपश्चरण की सफलता, आत्मीय निर्दोषता, चारित्रविशुद्धि आदि गुणोंका प्रसंग मिल जाना प्रसिद्ध ही है और जो लज्जा, दुर्बलता, तिरस्कार, हीनशक्ति अश्रद्धा आदि किसी भी कारण से उस गृहीत प्रायश्चित्त को नहीं कर रहा है, उस शिष्यके तपश्चरण की निष्फलता, सदोषता, पापबंध, असंयम, आदि दोषोंका प्रसंग हो जाना भी प्रसिद्ध ही है। अतः अतीचार या दोषों से आत्माको बचाकर सर्वदा शोधता रहें।

जो साहुकार अपने लेने, कर्ज, व्याज, भाडा, हानि, लाभका विचार नहीं रखता है, अन्धाधुंद होकर उधार बांटता है, अपव्यय करता है, वह कुछ ही दिनों मै नष्ट (बरबाद) हो जाता है। उसी प्रकार मुमुक्षु संयमीको निर्दोष आलोचन द्वारा अपने दोषोंका निवारण कर चारित्र विशुद्धि करते हुये शीघ्र निःश्रेयसंप्राप्ति का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये।

मिथ्यादुष्कृताभिधानाद्यभिव्यक्तप्रतिक्रिया प्रतिक्रमणं। तदुभयसंसर्गे सति शोधनात्तदुभयं। सर्वस्य प्रतिक्रमणस्यालोचनपूर्वकत्वात् केवलं प्रतिक्रमणमयुक्तमिति चेन्न। तत्र गुरुणाभ्यनुज्ञातेन शिष्येणैवालोचनकरणात्। तदुभयस्मिन् गुरुणैवोभयस्य विधानात्।

मेरे दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय यानी पूर्व कर्मोंके वशसे या प्रमाद अनुसार मुझसे जो खोटा कृत्य बन गया है, वह मिथ्या पड जाओ, इस प्रकार कहने, विचारने चर्या करने आदि प्रयोगों करके पाप का प्रकट रूपमे प्रतीकार कर देना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण नामके प्रायश्चित्त से आत्मा मृदु हो जाता है, भविष्य मे खोटा कर्म करनेमे नहीं प्रवर्तता है।

उन आलोचन और प्रतिक्रमण दोनोंका सम्बन्ध हो जाने पर आत्माकी शुद्धि हो जानेसे जो प्रायश्चित हुआ है, वह तदुभय कहा जाता है। किसी दुष्कृत्यजन्य अशुद्धि से मैला आत्मा आलोचन मात्र से शुद्ध हो जाता है, दूसरे ढंगकी मलिनता को केवल प्रतिक्रमण से हटाकर आत्मा शुद्ध बन बैठता है. किन्तु कोई पापजन्य तीसरी अशुद्धि इस जाति की है, उसका निराकरण तदुभय से ही किया जाता है। जैसे कि किसी दण्डव्यवस्थानुसार अपराधी को शारीरिक क्लेश (जेलखाना) और आर्थिक हानि (जुरमाना) दोनों भुगतने पडते हैं।

यहां कोई शंका करता है कि सभी प्रतीक्रमणों के पूर्व मे आलोचन किया जाता है, अकेला प्रतिक्रमण कर लेना तो समुचित नहीं है, ऐसी दशा मे प्रतिक्रमण और तदुभय मे कोई अन्तर नहीं ठहरा, तब तो "तदभय" का उपादान करना व्यर्थ पडा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, क्योंकि सभी प्रतिक्रमण यद्यपि आलोचन पूर्वक होते हैं, किन्तु उस प्रतिक्रमण मे तो गुरूजी द्वारा विनयपूर्ण आज्ञा प्राप्त कर चुके शिष्य करके ही आलोचन करना पडता है, और तदुभय मे तो गुरुजी करके ही आलोचन और प्रतिक्रमण दोनों का विधान किया जाता है, यों प्रतिक्रमण और तदुभय मे स्पष्ट अन्तर है।

संसक्तान्नपानोपकरणादीनां विभजनं विवेकः। व्युत्सर्गः कायोत्सर्गादिकरणं। तपोनशनादि, दिवसपक्षमासादिप्रव्रज्या हापनं छेदः। पक्षमासादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं परिहारः। पुनर्दीक्षाप्रापणमुपस्थापना। तदिदं नवविधमपि प्रायश्चित्तं किं कस्मिन् प्रमादाचरिते स्यादिति परमागमादवसेयं,तस्य देशकालाद्यपेक्षस्यान्यथावसातुमशक्यत्वात्।

मिलजुल कर व्यवहार मे आ रहे खाने, पीने, उपकरण धरने, शास्त्र विराजमान करनें आदि का पृथग्भाव कर देना विवेक हैं। अर्थात् जो मुनि एक साथ खाते, पीते, बैठते यात्रा करते हैं, अपराधी शिष्यको उन व्यवहारो मे से अलग कर दिया जाता है, यह विभाग करना विवेक नाम का प्रायश्चित्त है। लोक मे भी अपराधी को जाति विरादरी से यथायोग्य अलग कर देना दण्ड चला आ रहा है।

कालका नियम कर कार्योत्सर्ग, कठिन आसन, आदि करना व्युत्सर्ग है। जैसे किसी विद्यार्थी के प्रमाद से वायुद्वारा शास्त्रजीका पत्र उडकर भूमि पर पड गया, इस अविनय का दण्ड गुरुजी ने नमस्कार मन्त्र पढते हुये कायोंत्सर्ग कर लो बतलाया या कुछ देर के लिये एक कठोर आसन से आतपन योग करना आज्ञापित किया, उसी भाँति आत्मशुद्धि के लिये व्युत्सर्ग किया जाता है।

तप नामका छठा प्रायश्चित्त तो उपवास करना, ऊनोदर खाना, आदि प्रसिद्ध ही है।

अनेक दिनों से दीक्षित हो रहे शिष्य की किसी अपराध के बन जाने पर दिन, पक्ष, महिना, चातुर्मास, आदि विभाग कर के दीक्षाका त्याग करा देना छेद नामका प्रायश्चित्त है।

पखवाडा, महिना, ऋतु आदि का विभाग कर दूर हो से अपराधी शिष्य को योग्यतानुसार वर्ज देना परिहार हैं।

महाव्रतोंका मूल से हीं उच्छेद कर पुनः नये स्वरूप से दीक्षा प्राप्त कराना उपस्थापना नामका प्रायश्चित्त है। सो यह नो भी प्रकारका प्रायश्चित्त कौनसा किस किस प्रमाद या दोष के आचरण करने पर हो सकेगा, इस रहस्य को परमोत्कृष्ट आगम से निर्णीत कर लिया जाय। देश, काल, अवस्था, शारीरिक संहनन, आत्मोय भाव आदि की अपेक्षा रख रहे उस प्रायश्चित्त बिधान का आगम या गुरु परिपाटी के अतिरिक्त अन्य प्रकारों (उपायों)से निर्णय नहीं किया जा सकता हैं। आचार्यों करके मुनियों और गृहस्थों को प्रायश्चित्त दिया जाता हैं। गृहस्थों को गृहस्थाचार्य या सदाचारी उद्भट पण्डित भी प्रायश्चित्त की व्यवस्था कर देते हैं। सिद्धांतरहस्य या प्रायश्चित्त के शास्त्रोंका अध्ययन, अध्यापन करना विशेष अधिकारियो मे ही नियमित है, साधारण रूप से प्रायश्चित्त शास्त्रों का उपदेश, आदेश, नहीं दिया जाता है।

अथ विनयविकल्पप्रतिपादनार्थमाह;—

प्रायश्चित्त का प्ररूपण कर चुकने पर अब सूत्रकार महाराज विनय नामक तप के भेदों की प्रतिपत्ति कराने के लिये उस अग्रिम सूत्रका स्पष्ट कथन कर रहें है।

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥२३॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार इनका विनय करना ज्ञानविनय, दर्शन विनय, चारित्रविनय और उपचारविनय हैं। इनमे तीन तो अशुद्ध निश्चयनयके विषय

हो रही अध्यात्म विनय है और चौथी व्यवहारनय का विषय होकर बाह्य अवलम्बनोंसे विशेषित हो रही उपचारविनय है। अन्तरंग पावन पुरुषार्थो से अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्रों को बढाकर विशुद्ध करते हुये स्वयं उनका विनय किया जाता है, वस्तुतः यही परमार्थ विनय है। बहिरंग मे गुरु आदिक का विनय तो भावविनय नहीं होकर द्रव्य विनय है। हां, भावविनय का सहकारी कारण होनेसे उपचारविनय भी सादर पालनीय है।

विनय इत्यनुवर्तते,प्रत्येकमभिसंबंधः, ज्ञानविनय इत्यादि। तत्र सबहुमान ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनयः। पदार्थश्रद्धाने निःशंकितत्वादिलक्षणोपेतता दर्शनविनयः, सामायिकादौ लोकबिन्दुसार पर्यन्ते श्रुतसमुद्रे भगवद्भिः प्रकाशितेन्यथा पदार्थकथनासंभवात्।

" प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्य " इत्यादि सूत्रसे विनयशद्ब की अनुवृत्ति कर ली जाती है। उस विधेय दलमे डाल दिये गये विनय पदका प्रत्येक ज्ञान आदि के साथ परली ओर से संबंध कर लेना चाहिये, तब तो ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, उपचारविनय इस प्रकार विनय तपके चार भेद हो जाते हैं।

उन चार विनयोमे पहिली ज्ञानविनय तो यों है कि जिनागम या स्वकीय शुद्ध ज्ञानका बहुत मान रखते हुए जीव करके सम्यग्ज्ञान के ग्रहण का अभ्यास करना, स्मरण करना, चिंतन करना,आदिक ज्ञान विनय है। "ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च बहुमानेन समन्वितमनिन्हवं ज्ञानमाराध्यम् "। यों अष्टअंगसमन्वित ज्ञान की आराधना करनी पडती है।

जिनोपदिष्ट पदार्थों के श्रद्धान करने मे निःशंकितपन, अविपरीतपन आदि स्वरूपोंसे सहितपना दर्शनविनय है। "सूक्ष्मं जिनोदित तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते,आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः " इस प्रकार तत्त्वो मे अकम्प लोहजल के समान संशयरहित रुचि रखना दर्शन विनय है। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना आदिक चौदह अंगबाह्य श्रुतज्ञानमे अथवा आचार अंग आदि अंगो त । उत्पादपूर्व, अग्रायणीय पूर्व को आदि लेकर त्रिलोक बिन्दुसार चौदह ये पूर्व पर्यन्त, श्रुतसमुद्र मे यथार्थ प्रति-पादन है, इनको प्रणाली के अतिरिक्त अन्य प्रकारों से पदार्थों का कथन करना असंभव है, श्री जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रकाशित हो रहे शास्त्रसमुद्र मैं ही पदार्थों का निरूपण सत्यार्थ हो रहा है, ऐसो निःसंशय दृढता दर्शनविनय को प्राण है।

तद्वतश्चारित्रे समाहितचित्तता चारित्रविनयः । प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वभ्युत्थानाभिगमनांजलिकरणादिरुपचारविनयः, परोक्षेष्वपि कायवाङ्मनोभिरंजलिक्रिया गुणसंकीर्तनानुस्मरणादिः । ज्ञानलाभाचारविशुद्धिसम्यगाराधनाद्यर्थं विनयभावनं । किमर्थं पुनर्ज्ञानादयो विनया इत्यभेदेनोक्ता इत्याह—

उन ज्ञानविनय और दर्शनविनय से सहित हो रहे तपस्वीका चारित्र में समाधियुक्त होकर चित्त लग जाना चारित्र विनय है ।

सन्मुख प्रत्यक्ष किये जा रहे पूजनीय आचार्य, उपाध्याय आदि में सम्भ्रम हर्षयुक्त होकर शीघ्र उठ कर आदर करना, उनके अनुकूल गमन करना, हाथ जोड अञ्जलि करना, प्रणाम करना, अनुनय करना, आदिक सब उपचार विनय है, तथा आचार्य आदि के परोक्ष होने पर भी उनको मन मे विचार कर शरीर से अञ्जलि सहित प्रणाम करना, वचन से उनके गुणोंका अच्छा कीर्तन करना और मनसे उनका या उनके गुणोंका बार बार स्मरण, कीर्तन, प्रशंसा आदि करना उपचारविनय है । यों ज्ञान की प्राप्ति, आचार की शुद्धि, समीचीन आराधनाओंका अनुभव, आत्मीय मृदुता आदि प्रयोजनों के लिये विनय नामक तपकी भावना की जाती है ।

यहां कोई प्रश्न उठाता है कि ज्ञानकी विनय, दर्शन की विनय यों ज्ञान आदि और विनय का षष्ठी विभक्ति अनुसार भेद करके निरूपण करना अच्छा लगता है, किन्तु सूत्रकार ने फिर ज्ञान आदिक चार विनय हैं, यों अभेद करके इस सूत्रमें प्ररूपण किया है, सो वह प्रतिपादन फिर किस प्रयोजन को लिये हुये हैं ? बताओ । ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इन अग्रिम दो वार्तिकों को कह रहे हैं ।

ज्ञानादयोत्र चत्वारो विनयाः प्रतिपादिताः ।
कथंचित्तदभेदस्य सिद्धये परमार्थतः ॥१॥
ज्ञानादिभावना सम्यग्ज्ञानादि विनयो हि नः ।
तस्यांतरंगता न स्यादन्यथान्येन वेदनात् ॥२॥

निश्चय नय अनुसार परमार्थ रूप से उन ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचारों का विनय तप के साथ कथंचित् अभेद हो रहा है, इस रहस्य की सिद्धि के लिये सूत्रकारने इस सूत्रमे अभेद प्रतिपादक प्रथमा विभक्ति अनुसार ज्ञान आदिक चार विनय कह कर समझा दी है । हम जैन दार्शनिकों के यहां ज्ञान, दर्शन आदि की भावना करना ही अर्थात् अपने पुरुषार्थ से अपनी ज्ञान आदि सम्पत्तियों को जैसे

होय तैसे बढाना ही सम्यग्ज्ञान आदि का विनय है। मन्दिरजी में शास्त्र के सन्मुख हाथ जोड लेना या जिनेन्द्र देव के दर्शन कर लेना मात्र यही बहिरंग क्रिया ज्ञान, दर्शन विनय नहीं हैं। अन्यथा यानी यदि ज्ञान आदिको विनय नहीं मानकर हम बहिरंग व्यवहार को ही हम विनय मान बैठते तो अन्य जीवों करके संवेदन हो जानेके कारण उस विनय तपको अंतरंगपना नहीं हो पाता, क्योंकि दूसरोंसे संवेद्य हो रहे अनशन आदि तप या घट, पट, आदिक पदार्थ बहिरंग माने गये हैं। हां, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष करके अनुभूत हो रहे ज्ञान आदि विनय या सुख, दुःख आदि पदार्थ अन्तरंग हैं। सर्वज्ञके अतिरिक्त अन्य जीवों से भी जिसका प्रत्यक्ष हो रहा है वह पदार्थ अन्तरंग नहीं हो सकता है। उपचार विनयमे भी अन्तरंग परिणाम कुछ निराले हो रहे हैं।

अथ वैयावृत्त्यप्रतिपत्त्यर्थमाह;—

विनय नामक अन्तरंग तपका निरूपण कर चुकने पर अब सूत्रकार महाराज शिष्यों को वैयावृत्त्य तपके भेदों की प्रतिपत्ति कराने के लिये इस अगिले सूत्रकी रचना करते हैं।

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानां ॥२४॥

आचार्य की वैयावृत्त्य करना, उपाध्याय महाराजकी टहल करना, तपस्वी की परिचर्या करना, शिक्षा लेनेकी बान रखने वाले मुनियों की अनुकूल वृत्तिता करना, रोगादिक से क्लेश पा रहे ग्लान मुनियों की सेवा करना, वृद्ध मुनि गण की शुश्रूषा करना, कुल मे एकत्रित हो रहे यतिवरों का अनुनय करना, संघकी उपासना करना, साधुओंकी सपर्या करना, मनोज्ञ मुनियोंका परिचारकत्व करना, यों दशप्रकार वैयावृत्त्य नामका तप है।

वैयावृत्त्यमित्यनुवृत्तेः प्रत्येकमभिसंबंधः। व्यावृत्तस्य भावः कर्म वा वैयावृत्त्यं। किमर्थं तदुक्तमित्याह;—

बीसमें सूत्र से वैयावृत्त्य इस शब्द की अनुवृत्ति कर ली जाती हैं, इस कारण उस वैयावृत्त्यपदका षष्ठी विभक्ति वाले आचार्य आदिप्रत्येक के साथ परली ओर सम्बन्ध कर लिया जाय। आचार्य की वैयावृत्त्य, उपाध्याय की वैयावृत्त्य आदिक यों दस भेद कर पूरे नाम समझे जाते हैं। व्यावृत्त शब्द से भाव या कर्म मे ष्यञ् प्रत्यय कर ऐच् का आगम करते हुये वैयावृत्त्य शब्द बना लिया जाता है। व्यावृत्त हो रहे पुरुष का भाव (परिणाम) अथवा कर्म (क्रिया) वैयावृत्त्य है। वह वैयावृत्त्य किसलिये कहा गया है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं।

आचार्यप्रभृतीनां यद्दशानां विनिवेदितं ।
वैयावृत्यं भवेदेतदन्वर्थप्रतिपत्तये ॥१॥

आचार्य, उपाध्याय आदि दश प्रकारके मुनियोंका जो वैयावृत्य करना इस सूत्र मे विशेष रूपेण निवेदन किया जा चुका है, यह तो वैयावृत्य शद्व के प्रकृति प्रत्यय अनुसार निकाले गये अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये हो सकता है। अर्थात् किसी जीवके ऊपर व्याधि, परीषह, उपसर्ग, मिथ्यात्व, आदि विपत्तियोंका प्रसंग आ जाने पर काय की चेष्टा अथवा अन्य द्रव्य करके उन व्याधि आदिकों का प्रतीकार कर देना वैयावृत्य है। गुण मे राग करने की बुद्धि से संयमी के पावोंको दबाना या अन्य भी संयमी का उपकार करना, प्रासुक औषधि खाना, पीना, कराना, आश्रय, काठ का तकिया, तृणों की शैय्या, आदि उपकरणों करके कष्टों को हटाना अथवा उनका श्रद्धान दृढ रखना इत्यादिक सब वैयावृत्य है। वैयावृत्य इतने बडे शब्दकी निरुक्ति करके ही उक्त अर्थ निकल पडता है। श्रावक के उत्तर गुणों मे श्री समन्तभद्र आचार्य ने वैयावृत्य शिक्षाव्रत कहा है और सूत्रकार महाराज ने अतिथि संविभाग कहा हैं। विधि, द्रव्य दाता, पात्र, प्रतिग्रह आदिका लक्ष्य रखते हुये नवकोटिसे विशुद्ध हो रहे दाता का संयमियो के लिये दान देना भी वैयावृत्य है।

आचरंति तस्माद् व्रतानीत्याचार्यः। उपेत्य तस्मादधीयत इत्युपाध्यायः। महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी। शिक्षाशीलः शैक्षः, रुजादिविलष्टशरीरो ग्लानः। गणः स्थविरसंततिः। दीक्षकाचार्यसंस्त्यायः कुलं। चातुर्वर्ण्यश्रमणनिवहः संघः। चिरप्रव्रजितः साधुः। मनोज्ञोभिरूपः। संमतो वा लोकस्य विद्वत्त्ववक्तृत्वमहाकुलत्वादिभिः, असंयतसम्यग्दृष्टिर्वा। तेषां व्याधिपरीषहमिथ्यात्वाद्युपनिपाते तत्प्रतीकारो वैयावृत्त्यं बाह्यद्रव्यासम्भवे स्वकायेन तदानुकूल्यानुष्ठानं च। तच्च समाध्याधाना विचिकित्साभाव प्रवचनवात्सल्याद्यभिव्यक्त्यर्थं। बहूपदेशात् क्वचिन्नियमेन प्रवृत्तिज्ञापनाय भूयसामुपन्यासः।

आचार्य आदि शब्दों की निरुक्ति अनुसार अर्थ यों है कि सम्यग्ज्ञान चारित्र के आधार हो रहे उनसे प्राप्त हो रहें व्रतों का आचरण किया जाता हैं,इस कारण से आचार्य हैं। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, तप इन पांच आचारों का स्वयं आचरण करते हुये जो दूसरे भव्यों को भी आचरण कराते हैं, अत: ये आचार्य हैं।

विनय से प्राप्त होकर, व्रत, शील, भावना और विशिष्ट ज्ञानके आधार हो

रहे उस प्रसिद्ध पाठक से जो शास्त्रज्ञान पढा जाता है, इस कारण यह उपाध्याय है, उप्+अधि+इण+घञ्+सु=उपाध्यायः।

भूम या प्रशंसा अथवा अतिशय अर्थ मे मत्वर्थीय विन् प्रत्यय कर तपस्वी शब्द बनाया जाता है। महान् उपवास, रसपरित्याग, कायक्लेश आदिका प्रमोद सहित अनुष्ठान करनेवाला मुनि तपस्वी कहा जाता है।

जिनागम के शिक्षा लेने की टेव को धार रहा व्रतधारी संयमी शैक्ष्य कहा जाता हैं।

रोग, उपसर्ग आदि करके जो शारीरिक क्लेश उठा रहा है, वह व्रती ग्लान समझा जाता है।

वृद्ध यमियों की संतति (मण्डल) गण है। दीक्षा देनेवाले आचार्य महाराज का संघात (दीक्षित परिमण्डल) कुल हैं। ऋषि, मुनि, यति, अनगार इन चार वर्ण के नग्न साधुओंका समुदाय संघ कहा जाता है।

बहुत कालके दीक्षित हो रहे मुनि साधु माने गये हैं। अत्यन्त सुंदर हो रहे मुनि मनोज्ञ हैं, अथवा विद्वत्ता, वक्तृता, महान् कुलमे उपजना, अनेक लोकोपकारी कार्य करना, सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार ग्रन्थ बनाना, आदि गुणों करके जो जन समुदाय द्वारा सम्माननीय हो रहें हैं, वे मनोज्ञ है। चौथे गुणस्थानवाले असंयमी सम्यग्दृष्टि भी मनोज्ञ कहें जा सकते हैं।

उन आचार्य आदि दशों प्रकार के व्रतियों पर शारीरिक व्याधि, परीषह, मिथ्यादृष्टि हो जानेका प्रसंग, मानसिक व्याकुलता, आदि विघ्नोंके उपस्थित हो जाने पर निर्जीव औषधि, खाद्यपेय पदार्थ, आसन आदि उपकरणों द्वारा उनका प्रतीकार करना वैयावृत्य है।

यदि बहिरंग औषधि खाद्य आदि सामग्री मिलनेका असंभव हो जाय तो अपने शरीर करके उन आचार्य आदिकों के मनोऽनुकूलपन से क्रिया करना भी वैयावृत्य हैं।

वह वैयावृत्य तो अन्य ओर से चित्तवृत्ति का निरोध करते हुये चित्तवृत्ति की एकाग्रता को धारण करना, ग्लानिका अभाव हो जाना, प्रवचन (उत्कृष्ट वचनवाले साधु या आगम) की वत्सलता और स्वामीसहितपन, दुःखप्रतीकार आदि को प्रकट करने के लिये किया जाता हैं। अर्थात् सेवा या वैयावृत्य करनेवाले पुरुषोंका योग मिल जाने पर व्याधिपीडित मुनिका चित्त ध्यान मे संलग्न हो जाता है। सेवको का सेव्य

मुनिके कफ, नासिका मल, मूत्र, पुरीष, आदि मलोंका धोना हठाना आदि क्रिया अनुसार निर्विचिकित्सा अंग पुष्ट होता है। सेवक के प्रवचन की वत्सलत्व गुण को पुष्टि मिलती है। प्रकृष्ट है वचन जिनके प्रकृष्ट जो वचन, इत्यादि निरुक्तियों करके प्रवचन शब्द द्वारा देव, शास्त्र, गुरु, वक्ता, वाग्मी, वादी इन सबका ग्रहण हो जाता है। सेव्य मुनिको अपने सम्भालनेवाले स्वामियों का भी आत्मा मे संवेदन होता रहता है। जोकि जघन्य या मध्यम श्रेणी के साधुओंको कदाचित् अभीष्ट हो रहा है, उत्तम श्रेणीके साधु तो वैयावृत्य किये जाने और नहीं किये जाने दोनो दशा मे समान रूप से आत्म ध्यानस्थ रहते हैं।

यहाँ कोई यह पूछ सकता था कि इस सूत्र मे आचार्य आदि बहुत मुनियोंके नाम क्यों गिनाये हैं? संघकी वैयावृत्य या गणकी वैयावृत्य मात्र इतना कहने से सभी प्रयोजन सध जाता है। इसका समाधान करने के लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि आचार्य आदि बहुतो मे वैयावृत्य करनेका उपदेश दे देने से किसी न किसी में किसी भी सेवक की नियम करके वैयावृत्य करने की प्रवृत्ति हो जाय, इस सिद्धांत का ज्ञापन करने के लिये आचार्य आदि बहुत से व्रतियोंका इस सूत्रमे विशदतया प्ररूपण किया गया है। सूत्रोक्त पद व्यर्थसारिखे होकर अपरिमित अर्थका ज्ञापन कराते हुये पुनः सार्थक हो जाते हैं।

अथ स्वाध्यायप्ररूपणार्थमाह;—

वैयावृत्य के अनन्तर अब प्रसंग प्राप्त हो रहे स्वाध्याय तपका प्ररूपण करने के लिये श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं।

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥२५॥

आप्तोक्त ग्रन्थोंकी वाचना, सर्वज्ञ आम्नाय से चले आ रहे ग्रन्थोंके प्रमेयोंमे संशयच्छेद या निर्णय के लिये विशिष्ट ज्ञानीको पूछना, जान लिये गये विषयका मनसे चिंतन करना, द्वादशांग वाणीके साक्षात् या परम्परा से प्राप्त हुये जैन वाङ्मय का शुद्ध घोकना और धर्मोपदेश देना या सुनना, यों पांच प्रकारका स्वाध्याय तप है।

स्वाध्याय इत्यनुवर्तमानेनाभिसंबंधः। निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रतिपादनं वाचना। संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः पृच्छना। अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा। घोषशुद्धं परिवर्तनमाम्नायः। धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशः। प्रज्ञातिशयप्रशस्ताध्यवसायाद्यर्थं स्वाध्यायः। कथमयमंतरंगरूप इत्याह।

" प्रायश्चित्तविनय " इत्यादि सूत्र से अनुवृत्त किये जा रहे स्वाध्याय इस पदका वाचना आदि प्रत्येक के साथ विधेय दलकी ओर सबंध कर लिया जाय। आप्तोपज्ञ निर्दोष ग्रन्थका या उसके अर्थका अथवा दोनोंका योग्य विनीत पात्र मे प्रतिपादन करना, वाचना नामक स्वाध्याय है।

उत्पन्न हुये संशय का छेद करनेके लिये अथवा निर्णीत हो चुके का पुनरपि बलाधान यानी दृढ अवधारण करने के लिये,जिससे कि कालान्तरमे भी संशय नहीं हो सके, दुसरे प्रकांड विद्वान् के प्रति सविनय प्रश्न उठाकर पूछना, पृच्छना स्वाध्याय है। पूछनेवाला विनीत पुरुष अपने उत्कर्ष या दूसरों का तिरस्कार तथा उपहास हो जानेका अणुमात्र भी विचार न रक्खे। जीतने की इच्छा, जोरसे चिल्लाना, अपना प्रभाव जमाना, आदि दूषण प्रश्नकर्ता को टालने चाहिये, तभी तत्वबुभुत्सा अनुसार यथार्थज्ञानकी प्राप्ति हो सकेगी।

जान लिये गये प्रमेय अर्थका मनसे चिन्तना करते ये अभ्यास करना अथवा उन अर्थों को बार बार चिंतन करना, अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है।

ज्ञात हो चुके पाठको पुनः पुनः परिवर्तन करते हुये शुद्ध घोकना,आम्नाय स्वाध्याय है। घोखते हुये प्रतिष्ठा या अन्य इस लोक सम्बन्धि फलोंकी आशा नही रखी जाय। अधिक शीघ्रतासे या अधिक विलम्ब से उच्चारण करना, गीत गाना, शिर को कपाना, अर्थ को नही समझकर रटना, अति मन्द स्वर से घोखना, इत्यादि ऐबों को टालकर घोखा जाय।

देखे जा रहे लौकिक प्रयोजनों का परित्याग कर मिथ्या मार्ग की निवृत्ति के लिये अथवा दूसरों के सन्देह की व्यावृत्ति के लये आर्षप्रणीत धर्मकथा, आचार प्रकाशन और अंगपूर्व सम्बन्धी प्रज्ञापनीय तत्त्वोंका प्रतिपादन करना, धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय है।

स्वाध्याय तपको करने का प्रयोजन यह है कि हिताहित का विवेक करने वाली प्रज्ञाबुद्धि मे अतिशय उपजे, निर्दोष प्रशसनीय तत्त्वोंका अध्यवसाय किया जाय, आप्तोक्त शास्त्रोंकी अक्षुण्ण स्थिति बनी रहे, श्रोताओं, वक्ताओं के संशय का निराकरण हो जाय, अन्य मिथ्यादार्शनिकों का उपद्रव नही सता सके, दूसरों के हृदय मे जैन सिद्धांत की धाक जमा दी जाय, स्वपक्षमण्डन, परमतखण्डन, अपने को और दूसरे भव्यों को शीघ्र मोक्ष मार्ग पर ले जाना, वैराग्य तपोवृद्धि, आत्मविशुद्धि आदिक फल स्वाध्याय के प्रसिद्ध ही है।

यहां कोई शंका उठाता है कि यह स्वाध्याय अन्तरंगतपः स्वरूप किस प्रकार है ? बताओ। ऐसी आशंका उपस्थित होने पर ग्रन्थकार श्री विद्यानंद स्वामी समाधानार्थ अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं।

स्वाध्यायः पंचधा प्रोक्तो वाचनादिप्रभेदतः।
अंतरंगश्रुतज्ञान – भावनात्मत्वतस्तु सः ॥१॥

वाचना, पृच्छना आदिक प्रभेदों से स्वाध्याय तपः पांच प्रकारका इस सूत्र मे बढिया कहा जा चुका है, (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह स्वाध्याय तो अन्तरंग मे श्रुतज्ञान की भावना स्वरूप हो रहा है, (हेतु) श्रुतज्ञान की भावना अन्तरंग तप है, अतः तदात्मक स्वाध्याय भी अन्तरंग तप कहा जाता है।

अथ व्युत्सर्गप्रतिनिर्देशार्थमाह; –

स्वाध्याय का निरूपण कर चुकने पर अब श्री उमास्वामी महाराज अवसर प्राप्त व्युत्सर्ग नामक तपका परामर्श करते हुये विनीत शिष्योंकी प्रतिपत्ति कराने के लिये अग्रिम सूत्र शीतल वारि को स्वकीयमुखहिमवान से उतार कर कह रहे हैं।

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥२६॥

बाह्य उपधियों (परिग्रहों) और अभ्यन्तर उपधियोंका परित्याग कर देना व्युत्सर्ग नामक तप है।

व्युत्सर्ग इत्यनुवृत्तेर्व्यतिरेकनिर्देशः पूर्ववत्। उपधीयते बलाधानार्थमित्युपधिः। अनुपात्तवस्तुत्यागो बाह्योपधिव्युत्सर्गः। क्रोधादिभावनिवृत्तिरभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्गः। कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वा।

"प्रायश्चित्तविनय" इत्यादि सूत्र से व्युत्सर्ग इस पदकी अनुवृत्ति हो जाने से पूर्वके समान षष्ठी विभक्ति के अनुसार भेद निर्देश करते हुये परली ओर व्युत्सर्ग का अन्वय कर देना अर्थात् 'वि+उत्+सृज्+घञ्' यों भावमें प्रत्यय कर व्युत्सर्ग शब्द बनाया गया है। अतः भाव क्रिया के लिये व्यतिरेक का कथन करनेवाली "बाह्याभ्यन्तरोपध्योः" इस सूत्र मे द्विवचनान्त षष्ठी विभक्ति कही गयी है। पहिले, बाईसवे, तेईसवे, और पच्चीसवे सूत्रोमे अभेद को कह रहे प्रथमा विभक्तिवाले पद है, किन्तु चौवीसवे और छब्बीसवे सूत्र मे वैयावृत्त्य करना और परित्याग कर देना यों विधेय दल को क्रियाओंकी अपेक्षा षष्ठी विभक्ति डाली गयी है। (कर्तृकर्मणोः कृतिषष्ठी)।

भोग और उपभोगों में बलाधान यानी पुष्टि प्राप्त कराने के लिये जो परिग्रहीत हो रहा है, इस कारण यह उपधि है।

आत्मा के साथ कथंचित् एकत्व को प्राप्त होकर नहीं ग्रहण किये गये वस्तुका त्याग कर देना बाह्य उपधियोंको व्युत्सर्ग कहा जाता है। तथा आत्मा के साथ कथंचित् एकत्व को प्राप्त होनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, हास्य, आदि औदयिक भावोंकी निवृत्ति कर देना अभ्यन्तर उपधियोंका व्युत्सर्ग है। नियत काल तक अथवा जीवन पर्यन्त काय का त्याग कर देना भी अभ्यन्तर उपधि का परित्याग है, क्योंकि क्रोध आदिके समान शरीर का भी जीव ने अन्तरंग रूप से परिग्रह कर रक्खा है।

परिग्रहनिवृत्तेरवचनमिति चेन्न, तस्य धनहिरण्यवसनादिविषयत्वात्। धर्माभ्यन्तरभावादिति चेन्न, प्रासुकनिरवद्याहारादिनिवृत्तितंत्रत्वात्। प्रायश्चित्ताभ्यन्तरत्वादिति चेन्न, तस्य प्रतिद्वन्द्विभावात् प्रायश्चित्तस्य हि व्युत्सर्गस्यातिचारः प्रतिद्वन्द्वीष्यते निरपेक्षश्चायं ततो नैतद्वचनमनर्थकं। अनेकत्रावचनमनेनैव गतत्वादिति चेन्न शक्त्यपेक्षत्वात्। तदेवाह—

यहां कोई शंका उठाता है कि महाव्रतोंका उपदेश करते समय परिग्रह की निवृत्ति कह दी गयी है, इस कारण यहां पुनः अन्तरंग बहिरंग परिग्रहोंका त्याग करना व्यर्थ है, तब तो यहां तपों के प्रकरण में व्युत्सर्ग का निरूपण नहीं करना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि, "हिंसानृतस्तेयाब्रम्हपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं" इस सूत्र अनुसार उस परिग्रह निवृत्ति का कथन तो गाय, भैंस, सोना, वस्त्र, धान्य, आदिके परित्याग को विषय करता है और यहां तपस्वी के सभी अन्तरंग, बहिरंग, उपधियों और शरीर का भी ममत्व त्याग कर देना अभीष्ट हो रहा है, तपश्चरण कर रहा मुनि कुछ नियत कालके लिये सम्पूर्ण उपधियों का सांकल्पिक परित्याग कर बैठता है।

पुनः शंकाकार कह रहा है कि उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार के धर्मों में त्याग धर्म भीतर पडा हुआ है, तदनुसार उपधियोंका परित्याग कर दिया जायगा, पुनः यहां व्युत्सर्ग क्यों कहा जा रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना भी तो ठीक नहीं है, कारण कि जीवरहित निर्दोष आहार, औषधि, आदि की निवृत्ति करना यानी दान करना इस क्रिया को कराने के लिये त्यागधर्म पराधीन है, अर्थात् त्यागधर्म अनुसार गृहस्थ आहार, औषधि, वसतिका आदिका दान मुनिके लिये या अन्य

सद्गृहस्थों के लिये करता है और मुनि महाराज भी ज्ञानदान करते हुये चेतन, अचेतन परिग्रहों का परित्याग कर देते हैं, त्याग धर्म में कोई काल का नियम नहीं है, काल का नियम नहीं कर शक्ति अनुसार त्याग कर दिया जाता है।

पुनरपि शंकाकार कह रहा है कि प्रायश्चित्त के भेदों में व्युत्सर्ग भीतर प्रविष्ट हो रहा है, पुनः यहां व्युत्सर्ग क्यों कहा जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह मन्तव्य भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि प्रायश्चित्त में गर्भित हो रहे उस व्युत्सर्ग का प्रतिद्वन्द्वी अतीचार विद्यमान है, व्युत्सर्ग नाम के प्रायश्चित्त का प्रतिपक्ष हो रहा अतीचार दोष इष्ट हो रहा है, कोई दोष लग जाने पर ही आचार्य महाराज शिष्य को कायोत्सर्ग आदि कर लेने का व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त देते हैं, किन्तु यह व्युत्सर्ग तो किसी दोषकी अपेक्षा रखता हुआ नहीं है। स्वतन्त्र पुरुषार्थ द्वारा मुनि उपधियों का परित्याग कर देता है, तिस कारण अभ्यन्तर तपों में व्युत्सर्ग का यह निरूपण करना व्यर्थ नहीं है।

यहां फिर भी किसी का आक्षेप है कि व्युत्सर्ग का, परिग्रहनिवृत्ति, धर्म प्रायश्चित्तों यों अनेक स्थल पर कथन करना निरर्थक दीखता है, यहां अभ्यन्तर तपों में इस व्युत्सर्ग का निरूपण कर देनेसे ही पूर्वोक्त सभी प्रयोजन प्राप्त हो जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तों न कहना, क्योंकि अधिकारी जीवों की शक्ति की अपेक्षा अनुसार अनेक स्थानों पर उपदेश दिया गया है। परमकारुणिक आचार्य महाराजों ने कतिपय ढंगों से मोह, ममता, राग, द्वेष का त्याग कराया है। कहीं पाप लग जाने पर प्रायश्चित्त रूप से उपाधियों का त्याग कराया गया है, और कहीं दोष न लगने पर भी कर्मों की संवर निर्जरा के लिये परिग्रहों का त्याग अभीष्ट है। कुछ त्याग नियत काल तक किये जाते हैं, किसी किसी त्याग में काल की मर्यादा नहीं है, श्री जिनेन्द्र देव के परपदार्थनिवृत्तिस्वरूप और स्वात्मोपलब्धिरूप धर्म की प्राप्ति करना जीवों के सामर्थ्य अनुसार है, उत्तर उत्तर गुणोंका प्रकर्ष करने के लिये और उत्साह उत्पन्न करने के लिये अपेक्षापूर्ण दुबारा, तिबारा, कहना भी पुनरुक्त नहीं समझा जाता है।

"शक्तितस्त्यागतपसी" नानाप्रकार जीवों की शक्ति और परिणामों अनुसार त्याग करने की व्यवस्था है, इस ही प्रसिद्ध सिद्धांत को ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकों द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं।

स्याद्बाह्याभ्यन्तरोपध्यो र्व्युत्सर्गोधिकृतो द्विधा ।
व्रतधर्मात्मको दानप्रायश्चित्तात्मकोऽपरः ॥१॥
कथंचित्यागतां प्राप्तोप्येको निर्दिष्यते नृणां ।
शक्तिभेदव्यपेक्षायां फलेष्वेकोप्यनेकधा ॥२॥

तप के भेदों का निरूपण करते हुये अधिकार प्राप्त हो रहा व्युत्सर्ग तप तो इस सूत्र मे बाह्योपधिका और अभ्यन्तरोपधिका परित्याग करना यों दो प्रकार कहा जा चुका समझो । परिग्रहनिवृत्ति नामक व्रतस्वरूप कहा गया और त्याग धर्म आत्मक हो रहा, तथा दानस्वरूप प्ररूपा गया, एवं प्रायश्चित्त आत्मक बन रहा, विशेष व्युत्सर्ग तो इस अन्तरंग तपस्या स्वरूप व्युत्सर्ग से भिन्न ही हैं, हाँ, सर्वत्र सामान्य रूपसे त्याग विवक्षित हैं । कथंचित् त्यागपने को प्राप्त हो रहा साधारणपने करके एक भी व्युत्सर्ग कर देना मनुष्यों या जीवों की भिन्न भिन्न शक्ति की विशेष अपेक्षा करने पर अनेक रूपेण कह दिया जाता है । तथा एक हो रहा भी व्युत्सर्ग फलों मे भी अनेक प्रकार से निर्दीष्ट हो जाता है ।

भावार्थ :– जैसे एक भी औषधि भिन्न भिन्न अनुयानों की सहकारिता से अनेक रोगोंका दमन कर देती है, उसी प्रकार व्युत्सर्ग भी अनेक आत्मीय स्वभावों से सहकृत हो रहा सन्ता अभ्युदय और निःश्रेयस का सम्पादक हो जाता हैं, आत्मा धर्मी अनेक धर्मों को धार रहा है ।

धर्मे धर्मेन्य एवार्थो धर्मिणोनन्तधर्मणः ।
अंगित्वेन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदंगता ॥
–आप्तमीमांसा

प्रत्येक वस्तु परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की अपेक्षा नास्तित्व धर्म को अटल रूप से झेल रही है । अपने ऊपर रक्खे हुये स्वात्मक अनन्तानन्त अभावो मे से यदि एक अभाव को भी हटा दिया जाय तो तत्काल वस्तुको उक्त प्रतियोगी आत्मक हो जाने के लिये बाध्य हो जाना पड़ेगा । एक विद्यार्थी यदि अपने ऊपर सदात्मक होकर धरे हुये सर्पाभाव, सिंहान्योन्याभाव, आदि को एक क्षण के लिये भी दूर कर दे तो उस छात्र को उसी समय सर्प या सिंह बन जाना पडेगा, उसकी हाय, धाय, पुकार किसी भी न्यायालय (अदालत) में सुनी नहीं जा सकेगी । स्वचतुष्टय अनुसार आत्म–सम्पत्ति को धार रहा पदार्थ प्रत्येक क्षण में स्वातिरिक्त विषयोंके प्रागभाव, प्रध्वंस

अन्योन्याभाव, और अत्यन्ताभाव को सुस्थिर होकर पकडे रहता है, तभी उसका जीवन अक्षुण्ण सद्गत बना रहता है, अन्यथा प्रत्येक वस्तुओं पर आपत्तियों के वज्रघात होते रहते। प्रकरण मे एक व्युत्सर्ग धर्मके अनेक विवर्त दिखलाये गये हैं। इसी बात का विवरण ग्रन्थकार कर रहे हैं।

सावद्यप्रत्याख्यानशक्त्यपेक्षया हि व्रतात्मकस्त्यागः। स चाव्रतास्रव निरोधफलः। पुण्यास्रवफलं तु दानं स्वातिसर्गशक्त्यपेक्षं। धर्मात्मकस्तु संवरणशक्त्य-पेक्षस्त्यागः। प्रायश्चित्तात्मकोतिचारशोधनशक्त्यपेक्षः। अभ्यन्तरतपोरूपस्तु कायोत्स-र्जनशक्त्यपेक्ष इति त्यागसामान्यादेकोप्यनेकः।

वस्तु मे अनन्त गुण है, गुणों की भिन्न भिन्न समयों मे अनेक पर्यायें होती रहती हैं, एक एक पर्याय मे भिन्न भिन्न प्रसगों की परिस्थिति के वश अनेक स्वभाव बन बैठते हैं।

प्रकरण मे आत्माके चरित्र गुणका परिणाम एक व्युत्सर्ग भी है, इसी व्युत्सर्ग को भिन्न भिन्न प्रकरणों पर स्वल्प अन्तर अनुसार अनेक स्वरूपों से कहा गया है। पांच व्रतों में परिग्रहनिवृत्ति नाम का व्रत है, पापों से सहित हो रहे कृत्यों के त्याग कर देने की शक्ति अपेक्षा करके यह व्युत्सर्ग ही व्रत आत्मक त्याग है जो कि वह परिग्रह त्याग स्वरूप हो रहा अव्रत परिणामों को हेतु मानकर आने वाले दुष्कर्मों का निरोध कर देना इस फल को लिये हुये हैं। अर्थात् परिग्रह संरक्षण से जो पाप बन्ध होनेवाला था उसको पांचमा व्रतस्वरूप हो रहा व्युत्सर्ग रोक देता है। तथा "अनु-ग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं" स्वकीय अर्थ के त्यागने की शक्ति की अपेक्षा रखता हुआ दानस्वरूप व्युत्सर्ग तो पुण्यकर्मों का आस्रव होना, इस फल का संपादक है। दानस्वरूप व्युत्सर्ग करते रहने से भोगभूमि मे उपजना, देव हो जाना आदि अनेक अभ्युदयों की प्राप्ति हो जाती है। हाँ, उत्तम क्षमा आदि दशविध धर्मों मे से त्याग धर्म आत्मक हो रहा व्युत्सर्ग तो संवरण शक्ति की अपेक्षा रखता हुआ त्याग स्वभाववाला परिणाम है, जब कि धर्मों से संवर होता है, अतः त्याग आत्मक व्युत्सर्ग से कर्मों का संवर अवश्य भावी है, एवं नौ भेदवाले प्रायश्चित्तों मे भी व्युत्सर्ग गिनाया गया हैं, प्रायश्चित्तों से अतीचारों का शोधन हो जाता है, यों दशस्वरूप अतीचारों के शोधने की शक्ति की अपेक्षा रखता हुआ व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त आत्मक भी हैं।

इसी प्रकार यहां अभ्यन्तर तपों मे व्युत्सर्ग का पाठ हैं, अतः अभ्यन्तर तपःस्वरूप हो रहा व्युत्सर्ग तो कार्योत्सर्ग करना, उपात्त, अनुपात्त, उपधियोंका त्याग

करना, नियतकाल अथवा जोवन पर्यन्त काय को त्याग देना, इन शक्तियोंकी अपेक्षा रखता हुआ न्यारा ही विशेष पर्याय है। निवृत्ति धर्म के उत्तरोत्तर गुणों की प्रकर्षता हो जाने से और संयमी के उत्साह की उत्पत्ति कराना स्वरूप प्रयोजन होने से पुनरुक्त पना नहीं है। इस प्रकार त्याग सामान्य होने से एक भी हो रहा व्युत्सर्ग बिचारा विशेषणों के भेद से अनेक हो जाता है, उसके फल भी मेघजल के प्रयोजनसमान परिस्थिति वश अनेक हैं।

स च निःसंगनिर्भयजीविताशाव्युदासाद्यर्थं व्युत्सर्गः। कथमुपध्योर्बाह्या-ताभ्यन्तरता च मता यतस्तयो व्युत्सर्गः स्यादित्याह—

तथा वह व्युत्सर्ग नामका तप तो परिग्रह रहितपन, भयरहितपन, जीवित रहनेकी आशा का परित्याग हो जाना, दोषोंका उच्छेद हो जाना, मोक्षमार्गकी भावना मे तत्पर बने रहना, दुष्कर्मों का संवर हो जाना, आत्मशुद्धि होना, आदि प्रयोजनों की सिद्धि के लिये किया जाता है।

यहां कोई प्रश्न कर रहा है कि इन दो उपधियो को बाह्यपना और अभ्यन्तरपना कैसे माना गया है ? जिससे कि उनका त्याग करना, व्युत्सर्ग नामका तप हो सके, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधानार्थ इस उत्तरवार्तिक को स्पष्ट कह रहे हैं।

बाह्याभ्यन्तरतोपध्योरनुपात्तेतरत्वतः।
जीवेन तत्र कायाद्यैर्वेद्यावेद्ये नृणां मता ॥१॥

संसारी जीव करके नहीं ग्रहीत होनेसे और ग्रहीत होनेसे उपधियोंका बाह्यपना और अभ्यन्तरपना व्यवस्थित हो रहा है, उन दोनोमे संयमो मनुष्योंके काय आदि करके वेद्य हो रहा बाह्य उपधित्याग है, और व्रती पुरुषोंकी शारीरिक चेष्टा आदि करके नहीं जानने योग्य तो उपधिका अभ्यन्तरपना माना गया है, अर्थात् वस्त्र, धन, गृह, कुटुम्ब आदि बाह्य वस्तुओं और उनके त्यागको साधारण जनता भी जानती है, हां, क्रोध, मान, शरीर ममत्व, आदिका ज्ञान और आत्मा मे उनके त्याग परिणाम का दूसरों को ज्ञान होना कठिन है। दोनों ही उपधियों के त्याग स्वपर परिणाम अन्तरंग हैं, अतः व्युत्सर्ग को अन्तरंग तपमे परिगणित किया गया है।

अथ ध्यानं व्याख्यातुकामः प्राहः ;—

पांचवे व्युत्सर्ग तपका निरूपण कर चुकने पर अब ग्रन्थकार छठे ध्यान

नामक तपके व्याख्यान करने की इच्छा रखते हुये इस अग्रिमसूत्र को बहुत बढिया व्यक्त कर रहे हैं ।

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमांतर्मुहूर्तात् ॥२७॥

वज्रवृषभनाराच और वज्रनाराच तथा नाराच इन तीन उत्तम संहननों मे से किसी भी एक संहनन को धार रहे जीवके किसी एक अर्थमे अव्यग्र, अनन्यमनस्क होकर जो चिंताओंका निरोध हो जाना है वह ध्यान है, जो कि आवलि कालसे ऊपर और दो घटी से नीचे के अन्तर्मुहूर्त नामक काल तक हो सकता है। भावार्थ— एक ध्यान अन्तर्मुहूर्त से अधिक दो घन्टे, चारघन्टे, एक दिन, दो दिन आदि कालों तक नहीं किया जा सकता है। कई घन्टे तक जो ध्यान लगाये बैठे दीखते हैं, उनके उतनी देरमे अनेक ज्ञान हो चुके हैं, जैसे कि उत्तर वैक्रियिक शरीर अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं ठहरता है, हां, उसकी पुनः पुनः उत्पत्ति होकर सततधारा कई घन्टो दिनो तक एक सी बनी रह सकती है। बड़े अन्तर्मुहूर्त कालतक तो उत्तम संहननवाले पुरुष ही ध्यान लगा सकते हैं। हीन संहननवाले जीव भी आर्त्त,ध्यान या धर्मध्यान कर सकते हैं । हां, महासंक्लेशरूप प्रधान आर्त्त, रौद्र ध्यान तो उत्तम संहननवाले जीवके ही प्रवर्तते है। संहनन के उदय से सर्वथा रीते हो रहे देव, नारकियों के भी उक्त तीन ध्यान सम्भवते हैं। मोक्षके उपयोगी प्रकृष्ट ध्यान तो उत्तम संहननवालों के ही बनेंगे। अन्य विषयोंसे चिंताओंको हटाकर एक ही अर्थ मे मानसिक विचारोंको केन्द्रीभूत कर देना, शुभ ध्यान या अशुभध्यान कहा जायगा । शेष चिन्ताओं को भावना या सामान्यज्ञान समझा जायगा ।

किमनेन सूत्रेण क्रियत इत्याह; —

इस उमास्वामी महाराज के सूत्र करके क्या अभिधेय की ज्ञप्ति को जा रही है ? ऐसी जिज्ञासा उपज जाने पर ग्रन्थकार अग्रिमवार्त्तिक का निरूपण कर रहे हैं, उसको सुनिये ।

उत्तमेत्यादिसूत्रेण ध्यानं ध्याताभिधीयते ।
ध्येयं च ध्यानकालश्च सामर्थ्यात्तत्परिक्रिया ॥१॥

" उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता " इत्यादि सूत्र करके ध्यान, ध्यान करने वाला जीव, ध्यान करने योग्य ध्येय पदार्थ और ध्यान धारे रहनेका काल, ये चार बाते कण्ठोक्त कह दी गयी है । तथा कण्ठोक्त किये बिना ही अर्थापत्ति की सामर्थ्य से उस

ध्यान का परिकर भी इसी सूत्र से अभिधेय हो जाता हैं। भावार्थ- ध्यान का प्रकरण अतीव गम्भीर है, विशेष ध्यानोंकी प्रक्रिया के लिये गुरु परिपाटी की आवश्यकता है, तथापि सूत्रकार महाराज ने इस सूत्रमे शिष्योको समझाने के लिये बहुत कह दिया है।

एक अर्थ मे मानसिक उपयोग को रोके रहना ध्यान है। उत्तम संहननों का धारी पुरुष ध्यान करनेवाला अच्छा ध्याता हैं। अन्य विषयों से चिंताओं का संहरण कर स्तिमित अन्तःकरण की वृत्तियों को जिस अर्थ में लगा दिया जाता है, वह पदार्थ ध्येय है। और अन्तर्मुहूर्त तक एक ध्यान टिक सकता है, यह सूत्र मे ध्यान का काल कह दिया गया हैं। ध्यान का परिकर तो योगियो के गम्य हैं।

श्री राजवार्तिक मैं शुक्लध्यान और धर्मध्यान के परिकर का विवरण यों किया हैं कि उत्तम संहनन वाला पुरुष परीषहोंकी बाधाओंको सह सकनेवाला स्वात्मोपलब्धि के लिये या ध्यान योग के लिये समर्थ होता है। पर्वतों की गुहा, नदीकिनारा, वन, जीर्ण उपवन, शून्यगृह आदि किसी एक शुद्ध स्थानपर ध्यान लगावे, उस स्थान पर उपद्रवी पशु, पक्षी, सर्प, मनुष्य आदि का आना जाना न होय। अधिक शीत और अधिक उष्ण भी नहीं होय, तीव्र वायु, वर्षा, घाम से रहित होय, अन्य भी ढोल बजना, नाचना, गाना, कोलाहल होना, आदि चित्तविक्षेप के कारणोंसे रहित होय, ऐसे स्वानुकूल स्पर्श वाले शुद्ध स्थानपर प्रमाद को नहीं करनेवाले सुखासन से बैठ कर या खडे होकर ध्यान लगावे, पल्यंकासन से सीधा बैठकर शरीर को सुस्थिर रखता हुआ अपनी गोद मे डेरे (बाये) हस्ततल पर दक्षिण हाथको ऊपर हथेली करके धरता हुआ नासाग्रनयन होकर ध्यान लगावे। दातोंको खोलने या भींचने का प्रयत्न नहीं करता हुआ थोडा नम्रमुख होकर मुखपर प्रसन्नता धरता हुआ सौम्यदृष्टि होकर ध्यान करे। निद्रा, आलस्य, राग, रति, शोक, द्वेष, ग्लानि, आदि विकारों को दूर कर मन्द मन्द श्वास, उच्छ्वास का प्रचार कर रहा नाभिके ऊपर, हृदय, मस्तक अन्यायु किसी परिचित अंग मे मनोवृत्ति का विन्यास कर मोक्ष को चाहनेवाला जीव प्रशस्त ध्यान करे।

क्षमा, अहिंसा, ब्रम्हचर्य, मार्दव आदि गुणों को तदात्मक होकर रक्षित रख रहा आत्मतत्व को जानने मे उपयुक्त हो रहा मनुष्य ध्यानी कहा जा सकता है। केवल प्राणायाम लगाकर या अन्य किसी हठयोग की पद्धति से कितने दिनों या महिनों तक मत्त, मूर्छित या मृतकल्प होकर पडे रहना, ध्यान या योग नहीं है। ऐसी समाधि का ढोंग जहां कि स्वात्मतत्त्वोपलब्धि नहीं है, जैनदर्शन मे प्रशस्त नहीं माना गया है।

यों प्राणयाम इडा, पिंगला, सुषुम्ना नाडियां, क्षुद्रविद्या और महाविद्याओं की सिध्दि सिंह, गज, मेष, आदि रूपों की परावृत्ति करना, इन्द्रजाल विद्या, वशीकरण, स्तम्भन, मंत्रविधान, आदिका विस्तृत वर्णन अंगप्रविष्ट, और अंगबाहृय श्रुतग्रंथोंमें किया गया है, किन्तु मोक्षोपयोगी क्रियाके लौकिक कर्तव्योंसे भिन्न है।

कर्मों को संवर या निर्जराके सम्पादक शुभ ध्यानों के लिये प्रशस्त परिकर सामग्री आवश्यक है, हां आर्तरौद्रध्यान तो तीव्ररागी, द्वेषी जीवोंमें सुलभतासे बन बैठते हैं। सातमें नरकको ले जानेके लिये भी विशेष निकृष्ट परिकर अपेक्षणीय है बस सम्पूर्ण सिध्दान्त इस सूत्र द्वारा ही परिशुध्द प्रतिभावाले विद्वानों की दृष्टिमें आ जाता है, अतः इसको सामर्थ्यगम्य कह दिया है।

तत्र कश्चिदाह – योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति, स एवं पर्यनुयोज्यः किमशेषचित्तवृत्तिरोधस्तुच्छः किं वा स्थिरज्ञानात्मक इति ? नाद्यपक्षः श्रेयानुत्तरस्तु स्यादित्याह–

ध्यान का स्वरूप और सामग्री का निरूपण करने के उस अवसरपर कोई एक योगमतानुयायी पतजंलि विद्वान यों कह रहे हैं कि योग तो चित्तकी वृत्तियोंका निरोध हो जाना है अर्थात् योग मतानुसार सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुणोंकी साम्य अवस्था रूप प्रकृतिके परिणाम स्वरूप मन यानी अन्तःकरण अथवा बुध्दीस्वरूप चित्तकी बहिर्मुखताका विच्छेद हो जानेसे अन्तर्मुख होकर अपने कारण में लय हो जाना योग है। अभ्यास, वैराग्य, आदि साधनोंसे उस चित्तकी शांत, घोर, मुढवृत्तियोंका या प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, इन पांच वृत्तियोंका निरोध हो जाना योग हैं। अब आचार्य कहते हैं कि वह योगमतानुयायी इस प्रकार प्रश्न उठाकर पर्यालोचना करने के योग्य है, कि बताओ भाई सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोंका निरोध हो जाना क्या तुच्छ निरुपाधि अभाव पदार्थ है? अथवा क्या चंचल चित्तवृत्तियोंका रुककर स्थिर ज्ञानरूप हो जाना यह निरोध है? भावार्थ– अभावको कहनेवाले नञ्के जैसे प्रसज्य और पर्युदास ये दो भेद हैं, पहिला तुच्छ अभावको कह रहा है, दूसरा पर्युदास तो तद्भिन्न तत्सदृश्य भाव पदार्थका प्रतिपादक है, उसी प्रकार निरोध पदका अर्थ भी सर्वाङ्गरूपेण अभाव और तत्सदृश्य भाव पदार्थ होता है। ऐसी दशामें उठाये जा रहे उक्त दोनों प्रश्नोंका उत्तर देना पतजंलि अनुयायियोंको आवश्यक पड जाता है। तुच्छ अभावको निरोध मानना यह आदिका पक्ष तो श्रेष्ठ नहीं है– क्योंकि वैशेषिक मतानुयायी ही तुच्छ अभावको स्वीकार करते हैं। मीमांसक, जैन, और योगदार्शनिक तुच्छ अर्थको नहीं मानते

है, जो कार्यता, कारणता, अर्थक्रियाकारिता आदि धर्मोसे रीता है ऐसा तुच्छ पदार्थ आकाशकुसुम के समान असत् है, हां उत्तरवर्ती दूसरा स्थिरज्ञानस्वरूपचित्त वृत्तिरोध हो सकता है। इसी तत्वको ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिक द्वारा विशदरूपेण कह रहे हैं।

नाभावो शेषचित्तानां तुच्छः प्रमितिसंगतः।
स्थिरज्ञानात्मकश्चिन्तानिरोधो नोत्र संगतः ॥२॥

आत्मा की योग (ध्यान) अवस्था मे सम्पूर्ण चित्तोंका सर्वथा तुच्छ अभाव (प्रसज्य) हो जाना तो प्रमाणों से भले प्रकार जानने योग्य नहीं है। जब कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, यदि उसके सम्पूर्ण ज्ञानोंका तुच्छ अभाव हो जायगा, तो आत्म तत्त्व ही खरविषाण के समान उड जायगा। जड होकर आत्मा कभी ठहर नहीं पाता है। जो विषय समीचीन बुद्धि से ज्ञात नहीं हो रहा है, वह प्रामाणिक पुरुषो मे मान्य नहीं है। हां, वह चित्तवृत्तियों यानी चिन्ताओं का निरोध (पर्युदास) यदि स्थिर ज्ञान स्वरूप है, अर्थात् यहां वहां के अनेक संकल्प विकल्पों मे से चित्तवृत्तियोको हटाकर एक अर्थ मे केन्द्रित कर स्थिर ज्ञानस्वरूप हो जाना है, ऐसा चिन्तानिरोध तो हम जैनों के यहां इस ध्यान के प्रकरण मे प्रमाणसंगत प्रतीत हो रहा है, उसी को सूत्रकार ने इस सूत्र मे कहा है।

ननु चाशेषचित्तवृत्तिनिरोधान्न तुच्छोभ्युपगम्यते तस्य ग्राहकप्रमाणाभावादनिश्चितत्वात्। किं तर्हि ? पुंसः स्वरूपेवस्थानमेव तन्निरोधः स एव हि समाधिरसंप्रज्ञातो योगो ध्यानमिति च गीयते ज्ञानस्यापि तदा समाधिमृतामुच्छेदात्। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेवस्थानं,' इति वचनात्।

पुनः योगमतानुयायियोंका अनुनय है कि जैनों के समान हम भी सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोंका निरोध हो जानेसे कोई तुच्छ अभाव हो जाय, यानी कुछ भी ज्ञान, विचार, तर्कणा, भावना, नहीं रहे ऐसा नहीं स्वीकार करते हैं, क्योंकि ऐसे उस तुच्छ ध्वंसपदार्थ को ग्रहण करनेवाले प्रमाण का अभाव है। प्रामाणिक दार्शनिकों के यहां तुच्छ पदार्थ का अद्यापि निश्चय नहीं हो चुका है, अतः वन्ध्यापुत्र के समान तुच्छ निरोध को प्रमाणगोचर नहीं मानते हैं। तब तो यहां चित्तवृत्तियों का निरोध भला कौनसा भाव पदार्थस्वरूप है ? इस प्रश्नका उत्तर हम यौगिक यह देते हैं कि आत्माका अपने शुद्ध स्वरूप मे अवस्थान हो जाना ही उन चित्तवृत्तियों का निरोध है, और वही नियम से समाधि या असंप्रज्ञात योग अथवा ध्यान इस प्रकार सुंदर शब्दों द्वारा गाया जाता है।

भावार्थ - वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता इन चारों के सम्बन्ध से जो होती है वह संप्रज्ञात समाधि है, वह इसमें प्राकृत पदार्थोंका ज्ञान, परमात्माका ज्ञान, आनंदका अनुभव, अपने स्वरूपका ज्ञान ऐसे अनेक ज्ञान होते हों इस कारण यह सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, चारों स्वरूप सबीज समाधि है, इसमें निर्विचार समाधि उत्तम मानी गई है। परमवैराग्य द्वारा प्रज्ञा और प्रज्ञासंस्कारों का भी विरोध हो जानेपर निरालंबन चित्त असंप्रज्ञात समाधिको प्राप्त होता है यह निर्बीजसमाधि सर्वोत्तम है। शुद्ध स्वकीय रूपसे ही परमात्माका साक्षात्कार करता हुआ योगी मुक्त हो जाता है, उस समय समाधिको धारनेवाले आत्माओंके ज्ञानका भी सर्वथा उच्छेद हो जाता है। पतंजलि ऋषि के बनाये हुये योगसूत्रके समाधिपादमे ऐसे कथन किया गया है कि उस निरोधके समय या योग आवस्थामे दृष्टा आत्माका अपने शुद्ध परमात्मस्वरूप चैतन्यमात्रमे अवस्थान हो जाता है।

द्रष्टा ह्यात्मा ज्ञानवांस्तु न कुम्भाद्यस्ति कस्यचित् ।
धर्ममेघसमाधिश्चेन्न दृष्टा ज्ञानवान् यतः ॥ ३ ॥

योगमत अनुसार आत्मा मात्र देखनेवाला दृष्टा है, ज्ञानवान् तो नहीं है ज्ञान या बुद्धी तो प्रकृतिका विवर्त है, जोकि चैतन्यसे न्यारा है, आत्मा चेतन है, प्रकृति ज्ञानवती है। जिस प्रकार घट, पट, आदि के ज्ञान नहीं उपजता है उसी प्रकार आत्मामे भी ज्ञान नहीं है। असंख्य जीवोमेंसे किसी किसी के धर्ममेघ नामकी समाधि उपजती है ("प्रसंख्यानेप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः" (योगसूत्र कैवल्यपाद २९ वाँ सूत्र) इस सूत्रमे समाधिके प्रकर्षकी प्राप्तिका उपाय बताया गया है। यथाक्रमसे व्यवस्थित हो रहे तत्त्वोंकी परस्पर विलक्षण स्वरूपसे भावना करना होनेपर भी फलकी लिप्सा नही रखनेवाले योगीके निरंतर विवेकज्ञानका उदय होनेसे धर्ममेघ नामक समाधि उपज जाती हैं। अर्थात् संप्रज्ञात समाधिके फलस्वरूप विवेकज्ञानकी परमसीमाके नाम धर्ममेघ समाधि है। उस धर्ममेघ समाधिसे वासनासहित अविद्यादि क्लेश और पुण्यपाप रूप कर्म निवृत्त हो जाते हैं ("ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः") उस क्लेश निवृत्तीकालमे अविद्यादि सम्पूर्ण आवरण और मलोंसे रहित हुये चित्तके अनन्तप्रकाशमे ये ज्ञेय पदार्थ स्वल्प प्रतीत हो जाता है। अर्थात् ज्ञेय जगतसे असंख्यातगुणा भी पदार्थ अधिक होता तो योगी उसको भी ज्ञानप्रसाद द्वारा जान सकता था। ज्ञानप्रसादरूप परमवैराग्य तो व्युत्थान सम्प्रज्ञात समाधिमे लगा देता है। यहां तक योगविद्वान् आत्माके चैतन्य और द्रष्टापनको पुष्ट करता हुआ धर्ममेघ समाधिको कह चुका है।

अब ग्रन्थकार कहते हैं कि यह सिद्धांत तो ठीक नहीं है जिसकारण से जो दृष्टा होगा वह ज्ञानवान् अवश्य होगा ज्ञान और दर्शन का सहयोग होकर अविनाभाव है। महासत्ताका आलोचनस्वरूप दर्शनका होना साकारोपयोग ज्ञानसे संबद्ध है, छद्मस्थोंके दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है और सर्वज्ञ महाराजके दर्शन, ज्ञान, युगपत् हो जाते हैं दिनके अवसरपर दिनकरके प्रखर प्रताप में जैसे तारानिकरका मन्दतर उद्योत भी सम्मिलित है, उसी प्रकार केवल ज्ञानके साकार चैतन्यमे लोकालोकवितिमिरकेवलदर्शननामक उद्योत भास रहा है।

तथाहि--ज्ञानवानात्मा द्रष्टत्वात् यस्तु न ज्ञानवान् स न दृष्टा, यथा कुंभादि दृष्टा चात्मा ततो ज्ञानवान्। प्रधानं ज्ञानवदिति चेन्न, तस्यैव द्रष्टत्वप्रसंगात द्रष्टुर्ज्ञानवत्ताभावात् कुम्भादिवत्। ज्ञानवत्वे पुरुषस्यानित्यत्वापत्तिरिति चेन्न, प्रधानस्याप्यनित्यत्वानुषक्तेः। तत्परिणामस्य व्यक्तस्यानित्यत्वोपगमाददोष इति चेत्, पुरुषपर्यायस्यापि बोधविशेषादेरनित्यत्वे को दोषः ? तस्य पुरुषात् कथंचिदव्यतिरेके भंगुरत्वप्रसंग इति चेत्, प्रधानाद्व्यक्तं किमत्यन्तव्यतिरिक्तमिष्टं येन ततः कथंचिद-व्यतिरेकादनित्यता न भवेत्।

इस ही आत्माके ज्ञान और दर्शन दोनों स्वभावोंको युक्तियों द्वारा ग्रन्थकार पुष्ट कर रहे हैं। आत्मा (पक्ष) ज्ञानवाला है (साध्यदल) दृष्टा होनेसे (हेतु) जो जो दृष्टा नहीं है वह तो ज्ञानवान् भी नहीं है जैसे कि घट, पट आदिक जड पदार्थ हैं (व्यतिरेकदृष्टान्त) दृष्टा आत्मा है (उपनय) तिस कारण ज्ञानवान् है (निगमन) यो पांच अवयववाले परार्थानुमान करके आत्मामें ही ज्ञानको सिद्ध किया गया है।

यहाँ कपिल मतानुयायी आक्षेप उठाता है कि आत्मामे ज्ञान नहीं है ज्ञानवान् तो प्रधान (प्रकृति) है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यदि प्रधान में ज्ञान माना जायगा तो उस प्रधानको ही दृष्टा हो जानेका प्रसंग आ जावेगा, दृष्टापन और ज्ञान का सामानाधिकरण्य है। जो दृष्टा नहीं है उसके ज्ञानाधिकरणपने का अभाव है, जैसे कि घट, पट आदिक जड पदार्थ दृष्टा नहीं होनेके कारण ही ज्ञानवान् भी नहीं हैं।

पुनः कपिलमतानुयायी कह रहे हैं कि जीवों के हो रहे घटज्ञान, पटज्ञान आदिक अनित्य है,यदि आत्मा को ज्ञानवान् स्वीकार किया जायगा तब तो विनाशी ज्ञानके साथ तादात्म्य हो जाने से आत्माको भी अनित्यपनकी अनिष्ट आपत्ति बन बैठेगी, आत्माका ज्ञान के साथ क्षणक्षणमे उपजना, मरमिटना, ऐसा अनित्यपन किसीने नहीं माना है।

आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, क्योंकि इसी प्रकार तुम्हारे यहाँ सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण की साम्यावस्थारूप प्रकृती को भी अनित्य हो जानेका प्रसंग बन बैठेगा, सांख्योंने भी प्रकृति को अनित्य नहीं माना है। यदि सांख्य यों कहें कि उस प्रकृति की पर्यायें हो रहे महत्तत्त्व (बुद्धि) अहंकार, ग्यारह इंद्रियां, पांच तन्मात्रायें और पांच भूत, इन व्यक्त पदार्थों का अनित्यपना हम स्वीकार करते हैं अतः कोई दोष नहीं आता है, यों समाधान करने पर तो ग्रन्थकार कह रहे हैं कि जैसे नित्यप्रधान के परिणाम हो रहे बोध आदिक अनित्य भी हो सकते हैं उसी प्रकार नित्य आत्माके ज्ञान विशेष, सुख, दर्शन आदिक परिणाम भी अनित्य हो जाय तो क्या दोष आता है? आत्माके परिणाम हो रहे ज्ञान आदिक अनित्य हो सकते हैं। कोई क्षति नहीं है।

इसपर कापिल पुनः आक्षेप उठाता है कि आप जैनों के कथन में यह बड़ा भारी दोष आता है कि उन ज्ञानादि पर्यायों को आत्मा से कथंचित् अभिन्न मानने पर आत्मा के भी क्षणध्वंसी हो जाने का प्रसंग आ जायगा। ज्ञान का झट झट नाश होते ही आत्मा भी विनशता रहेगा। किन्तु आपने आत्मद्रव्य को अनादि, अनन्त अविनाशी, अभीष्ट किया है।

अब आचार्य महाराज सांख्य विद्वानों के प्रति कहते हैं कि आप कापिलों के यहां महदादिक व्यक्त पदार्थ क्या प्रधान से अत्यन्त भिन्न हो रहे इष्ट किये गये हैं? बताओ, जिस कारण कि उन बुद्धि आदिक परिणामों से प्रधान का कथंचित् अभेद हो जाने के कारण प्रकृति को अनित्यपना न होता। भावार्थ— जैसे आपने हमारे ऊपर ज्ञान का अभेद हो जानेसे आत्मा के क्षणध्वंसीपन का दोष उठाया है, उसी प्रकार तुम्हारे यहां अव्यक्त प्रकृति का बुद्धि आदि व्यक्तों के साथ अभेद हो जानेसे प्रकृति का भी क्षणिकपना अनिवार्य हो जाता है। आपने भी प्रकृतिको अनादि, अनन्त, नित्य माना है।

व्यक्ताव्यक्तयोरव्यतिरेकैकान्तेपि व्यक्तमेवानित्यं परिणामत्वान्न पुनरव्यक्तं परिणामित्वादिति चेत्, तत एव ज्ञानात्मनोरव्यतिरेकेपि ज्ञानमेवानित्यमस्तु पुरुषस्तु नित्योस्तु विशेषाभावात्।

पुनः वावदूक सांख्य पण्डित कह रहे हैं कि व्यक्त पदार्थ और अव्यक्त प्रकृति का एकान्तरूप से अभेद होनेपर भी महत्तत्त्व आदि व्यक्त पदार्थ ही अनित्य हैं क्योंकि ये परिणाम हैं, पर्यायें तो सबके यहां अनित्य मानी गई हैं, हां फिर अव्यक्त

प्रधान तो अनित्य नहीं है। क्योंकि वह परिणामोंको करनेवाला या धार रहा परिणामो है परिणामी द्रव्य आप जैनोंके यहां भी नित्य ही माना गया है। यों कापिलोंके कहनेपर तो आचार्य सहर्ष वह रहे है कि तिस ही कारणसे ज्ञान पर्याय और आत्मद्रव्य का अभेद होते हुए भी ज्ञान ही अनित्य रहो। पुरुष (आत्मा) तो नित्य बना रहो हमारे तुम्हारे यहां कोई विशेषता नहीं है। जो आपका कटाक्ष है वही हमारा आक्षेप हो सकता है और जो आपकी ओरसे समाधान किया जायगा वही हमारा समाधान भी समझ लेना चाहिये। अपने घिसे रुपये को उत्तमोत्तम रुपया कहना और दूसरे के बढिया रुपये को रूपिल्ली कहने की टेव विद्वानों को नहीं शोभती है। जैसे सांख्यों के यहां (प्रकृति) परिणामी नित्य है उसी प्रकार हम स्याद्वादियों के यहाँ आत्मा परिणामी नित्य है। जगत् में कूटस्थनित्य पदार्थ खरविषाणवत् अलीक है, असद्भूत हैं।

पुरुषोऽपरिणाम्येवेति चेत्, प्रधानमपि परिणामि माभूत्। व्यक्तेः परिणामी प्रधानं न शक्तेः सर्वदा स्थास्नुत्वादिति चेत्, तथा पुरुषोपि सर्वथा विशेषाभावात् सर्वस्य सतः परिणामित्वसाधनाच्च, अपरिणामिनि क्रमयौगपद्यविरोधादर्थ क्रियानुपपत्तेः सत्त्वस्यैवासंभवात्। ततो द्रष्टात्मा ज्ञानवानेव बाधकाभावादिति न तस्य स्वरूपेऽवस्थितिरज्ञानात्मिका काचिदसंप्रज्ञातयोगदशायामुपपद्यते जडात्मभावात्।

कपिलमतानुयायी कहते हैं कि हमारे यहाँ पुरुष आत्मा कूटस्थ नित्य ही है, परिणमन नही करता है। ऐसा उनके कहनेपर तो हम आक्षेप करेंगे कि तब तो प्रकृति भी परिणामों को करनेवाली मत होओ। इसपर पुनः सांख्य कहते हैं कि महत्तत्व आदि व्यक्तियों की अपेक्षा से प्रधान परिणामों को करता है शक्ति की अपेक्षा से नहीं, शक्ति की अपेक्षा से तो वह प्रधान सर्वदा स्थितिशील है। उत्पाद, विनाश, या आविर्भाव, तिरोभाववाला नहीं है। यों सांख्यों के कहनेपर तो हम जैन भी कह देंगे कि तिस ही प्रकार पुरुष भी व्यक्त पर्यायों की अपेक्षा परिणमनशील है, द्रव्यशक्ति की अपेक्षा तो सर्वदा नित्यस्वभाव है। आपकी परिणामधारिणी प्रकृति से हमारे यहां के परिणामी आत्मा का सभी प्रकारों से परिणाम धारनेमें कोई अन्तर नहीं है।

एक बात यह भी है कि सम्पूर्ण सत् पदार्थोंका परिणामी होना पहिले प्रकरणों मे सिद्ध कर दिया गया है। जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, परिणामों को नही धारता है वह खरविषाणवत् असत् है। परिणामों से रीते पदार्थ मे क्रम और युगपत् पनेका विरोध हो जाने से अर्थ क्रिया करने की सिद्धि नहीं होने के कारण उसकी

सत्ताका ही असम्भव है। "सत्त्वं अर्थक्रियया व्याप्तं, अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता" तिस कारण सिद्ध हुआ कि दृष्टा आत्मा ही नियम से ज्ञानवान् भी है। जबकि इस आत्माके ज्ञानसहितपन का कोई प्रत्यक्ष आदि प्रमाण बाधक नहीं है। इस कारण उस आत्माका सांख्यमतानुसार असंप्रज्ञात समाधिदशा में अज्ञान स्वरूप हो रहे स्वकीय रूपमे अवस्थान हो जाना किसी प्रकार सुघटित नहीं हो पाता है। क्योंकि ज्ञानरहित आत्मा जड स्वरूप हो जायगा और असंप्रज्ञात दशामें जडस्वरूप हो जानेसे भला आत्माकी स्वकीय रूपमें अवस्थिति क्या रही ? अग्नि का अतिशीत स्पर्श अवस्थामें अवस्थित रहना जैसे बाधित है उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानरहित हो जाना अनेक बाधाओं से भरपूर है।

सम्प्रज्ञातस्तु यो योगो वृत्तिसारूप्यमात्रकं।
संज्ञानात्मक एवेति न विवादोस्ति तावता ॥ ४ ॥

हाँ, आप सांख्यों ने जो प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन पांच वृत्तियोंके साथ तद्रूप हो जाना मात्र जो संप्रज्ञात योग माना है वह तो समीचीन ज्ञानरूप ही है। उसमें आत्माका ज्ञानलक्षण रक्षित रहता है। इस कारण तितने मात्रसे हम जैनोंका आप लोगोंके साथ कोई विवाद नहीं है। अर्थात् जिस समयमे चित्त एकाग्र नहीं है अथवा संप्रज्ञात समाधिरूप है वितर्क, विचार, आनंद, अस्मिता, इन चारों के अनुगम से संप्रज्ञात समाधिको प्राप्त हो रहा है, उस अवसरपर ज्ञान अक्षुण्ण बना रहता है। योगसे अन्यकाल व्युत्थान दशामे भी वृत्तियोंका सारूप्य होकर ज्ञान प्रकाशता रहता है, यों आत्माके ज्ञानसहितपनमे हमारा तुम्हारा मत एक है कोई झगडा नहीं है।

संप्रज्ञातो योगो ज्ञानात्मक एव "वृत्तिसारूप्यमितरत्रे"ति वचनात्। वृत्तयः पंचतय्यः तासां विषयसारूप्यमात्रं जिहासोपादित्सारहितमुपेक्षाफलं तद्ध्यानं चित्तवृत्तिनिरोधस्येत्थंभूतस्य भावादिति यद्भाष्यते तत्र ज्ञानात्मत्वमात्रेण नास्ति विवादः सर्वस्य ध्यानस्य ज्ञानात्मकत्वप्रसिद्धेः। ज्ञानमेव स्थिरीभूतं समाधिरिति परैरभ्यभिधानात्।

आप सांख्योंके यहां माना गया सम्प्रज्ञात समाधियोग तो ज्ञान आत्मक ही है। पतञ्जलि प्रणीत योगसूत्रके पहिले समाधिपादका चौथा सूत्र "वृत्तिसारूप्यमितरत्र" ऐसा ऋषियों का वचन होनेसे आपको सम्प्रज्ञात अवस्थामें आत्माका ज्ञानरूप अभीष्ट करना पडता है। इसके अगले सूत्रमे चित्तकी क्लिष्ट, अक्लिष्ट, वृत्तियां पांच प्रकारकी

मानी गई हैं। धर्माधर्मकी वासना को उत्पन्न करनेवाली रजोगुणसम्बन्धी और तमोगुण सम्बन्धी वृत्तियां क्लिष्ट हैं। इन वृत्तियों से राग, द्वेष आदिमें प्रवृत्त हुआ आत्मा शुभाशुभ कर्मों के करनेसे जन्म, मरण, रूप कष्टों को प्राप्त होता रहता है तथा जो वृत्तियें प्रकृति और पुरुष के भेद की विषय कर रहीं धर्माधर्मद्वारा भाविजन्म के आरंभ को निवृत्त कर देती हैं वे सात्त्विकवृत्तियें अक्लिष्ट हैं। उन पांचों वृत्तियों का शांत, घोर, मूढ, दशा अनुसार चक्षुरादि द्वारा बाह्य, आभ्यन्तर विषयों में बुद्धि के साथ मात्र सारूप्य हो जाता है। सात्त्विक वृत्ति की शांत अवस्था अनुसार छोडने की इच्छा और ग्रहण करने की इच्छा से रहित हो रहा उपेक्षा फलवाला वह संप्रज्ञातयोग स्वरूप ध्यान है। इस प्रकार हो चुके चित्तवृत्ति के निरोध का सद्भाव उस समाधि में रहता है इस प्रकार जो व्यासजी द्वारा योगसूत्र के भाष्य में भाषित किया गया है। इसके उस अंशमें मात्र ज्ञान आत्मकपने करके, हमें कोई विवाद नहीं है, क्योंकि जैन सिद्धान्त में सभी ध्यानों का ज्ञानात्मकपना प्रसिद्ध हो रहा है। दूसरे दार्शनिकों ने भी व्युत्थान दशाके अस्थिर ज्ञानों की दशा को टालकर स्थिर हो चुका ज्ञान ही समाधि है ऐसा निरूपण किया है। योगसूत्र के तीसरे विभूतिपादका दूसरा सूत्र भी इसी अभिप्राय को कह रहा है " तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् " योगचन्द्रिका वृत्ति को रचनेवाले अनन्तदेव पण्डित इस सूत्र का अर्थ यों कर रहे हैं कि जिस जिस देशमें चित्त धर दिया है उसमें प्रत्यय यानी ज्ञान का एकतान हो जाना, एकरस प्रवाह रूपसे प्रवर्त जाना अर्थात् विसदृश परिणामों का परिहार करते हुये धारणा के आलम्बन विषय में ही निरन्तर उपज रहा ज्ञान ही ध्यान है " तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः " (सूत्र तीसरा) वही ध्यान केवल एक अर्थका निर्भास करता हुआ ज्ञाता, ज्ञेय, स्वरूप से शून्य हो रहा मानूं समाधि हो जाता है मानसिक उपयोग जहां एकाग्र कर दिया जाय वह समाधि है।

विषयसारूप्यं तु वृत्तीनां प्रतिबिंबाधानं तदनुपपन्नमेव क्वचिदमूर्तेर्थे कस्यचित् प्रतिबिम्बासम्भवात्। तथाहि – न प्रतिबिंबभूतो वृत्तयोऽमूर्तत्वाद्यथा खं, यत् प्रतिबिंबभूतं न तदमूर्तं दृष्टं यथा दर्पणादि। अमूर्ता वृत्तयस्तस्मान्न प्रतिबिंबभूत इत्यत्र न तावदसिद्धो हेतुर्ज्ञानवृत्तीनां मूर्तत्वानभ्युपगमात्। तदभ्युपगमे बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्व प्रसंगात्। मनोवदतिसूक्ष्मत्वादप्रत्यक्षत्वे स्वसंवेदनप्रत्यक्षतापि न स्यात्तद्वदेव। न चास्व-संविदिता एव ज्ञानवृत्तयोऽर्थग्राहित्वविरोधात्।

आप पतञ्जली ने " वृत्तिसारूप्यमितरत्र " इस सूत्र द्वारा क्लिष्ट अक्लिष्ट हो रहीं प्रमाण आदि वृत्तियों में विषयों के साथ सरूपपना यानी बौद्धोक्त

ज्ञान के समान प्रतिबिम्बों का धारण करना जो माना है वह तो युक्तियों से ही सिद्ध नहीं हो पाता है। भावार्थ— योग से अन्य काल मे आत्मा का वृत्तियों के साथ तदाकार हो जाना यानी व्युत्थान काल में बुद्धि आदि के सहारे आत्मा भी वैसा ही भासता है बुद्धिवृत्ति के समान वृत्तिवाला हो जाता है। जैसी जैसी सुख आदि आकारों को धारण करनेवाली वृत्तियां है तदनुरूप ही पुरुष का वेदन होता रहता है। चलायमान जल तरंगों में प्रतिबिम्बित चन्द्रबिम्ब भी चलायमान दिखता है, उसी प्रकार पुरुष भी वृत्तियों के आकारवाला तत्स्वरूप विदित हो रहा है। यह योगसिद्धान्त युक्ति सिद्ध नहीं है, क्योंकि किसी भी अमूर्त अर्थमे किसी भी मूर्त या अमूर्त पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड जाना असम्भव है। आपके यहां आत्मा सर्वथा अमूर्त माना गया है। वृत्तियां भी अमूर्त हैं। उनमें विषयों का प्रतिबिम्ब नहीं पड सकता है। इसी बातको विशदरूपेण अनुमान बनाकर कहते हैं कि वृत्तियां (पक्ष) प्रतिबिम्बों को धारनेवाली नहीं है (साध्यदल) अमूर्त होने से (हेतु) जैसे कि आकाश अमूर्त हो रहा प्रतिबिम्ब आकारों को नहीं धारता है (अन्वयदृष्टान्त) जो जो प्रतिबिम्ब को धारनेवाले पदार्थ वे वे अमूर्त नहीं देखे गये हैं जैसे कि दर्पण, जल, तैल, खड्ग आदि हैं (व्यतिरेकदृष्टान्त) वृत्तियें अमूर्त हैं (उपनय) तिस कारण प्रतिबिम्बों को धारनेवाली नहीं हैं (निगमन)। यों इस पञ्चावयववाले परार्थानुमान में पडा हुआ अमूर्तपना हेतु असिद्ध नहीं है। पक्ष में हेतु नहीं रहता तो असिद्ध हेत्वाभास हो जाता, किन्तु यह हेतु पक्ष में वर्त रहा है। ज्ञानस्वरूप वृत्तियों का मूर्त होना स्वीकार नहीं किया गया है। यदि उन ज्ञानवृत्तियों को रूपादिमान्, मूर्त, स्वीकार किया जायगा तो चक्षु आदि बहिरंग इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष हो जाने का प्रसंग आ जावेगा, ज्ञानों का बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हो जाना किसी को अभीष्ट नहीं है। यदि नैयायिक को मन के मूर्तपन में सहकारी समझकर योग यहां यों कहैं कि ज्ञानवृत्तियां मन के समान अत्यन्त सूक्ष्म हैं। अतः मूर्त भी मन का सूक्ष्म हो जाने के कारण जैसे चक्षुरादिक करके प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है उसी के समान अत्यन्त सूक्ष्म होने से ज्ञान वृत्तियों का बाह्य प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो उस मूर्त मन के समान ही ज्ञानवृत्तियों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो जाना भी नहीं बन सकेगा। किन्तु ज्ञान का स्वसंवेदन हो रहा है, स्वसंवेदन द्वारा नहीं जानी जा रही तो ज्ञानवृत्तियां नहीं हैं, यदि ऐसी अस्वसंविदित होती तो उनके द्वारा अर्थ के ग्रहण हो जाने का विरोध हो जाता, जो स्वसंविदित नहीं है

घटादिक के समान वह अर्थ का ग्राहक (ज्ञापक) नहीं हो सकता है। ज्ञान जब कभी होगा तब स्वसंविदित प्रत्यक्षाक्रान्त ही होगा।

प्रदीपादिवदस्वसंविदितेपि विषयग्राहित्वं ज्ञानवृत्तीनामविरुद्धमिति चेन्न, वैधर्म्यात्। प्रदीपादिद्रव्यं हि नार्थग्राहि स्वयमचेतनत्वात्। किं तर्हि ? चक्षुरादीरूपादिग्राहि ज्ञानकारणस्य सहकारितयार्थग्राहीत्युपचर्यते न पुनः परमार्थतस्तत्र तथा। ज्ञानवृत्तयस्तु तत्वतोर्थग्राहिण्य इष्यन्ते ततो न साम्यमुदाहरणमस्येति नास्वसंविदितत्वसिद्धिस्तासां दर्शनवत्।

यदि मीमांसक को ढाढस बंधानेवाला समझकर यौग पुनः यों कहे कि अपना स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नहीं होते हुये भी मूर्त ज्ञानवृत्तियों प्रदीप, सूर्य, चक्षुरिन्द्रिय आदिके समान होकर विषयों की ग्राहिका हो जावेगी, कोई विरोध नहीं पडता है।

आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि आपके दिये हुये प्रदीप आदि दृष्टान्त विषम हैं। देखिये वस्तुतः विचारा जाय तो यही निर्णीत होगा कि स्वयं अचेतन यानी जड होने के कारण प्रदीप आदिक द्रव्य तो अर्थों को ग्रहण करनेवाले नहीं हैं, तब तो " प्रदीपेन, चक्षुषा, सूर्येण, वा ज्ञायते " यों प्रदीप आदि को ज्ञान (प्रमिति) की करणता कैसे हैं ? इसका समाधान यही है कि रूप, रस आदि को ग्रहण करनेवाले करणभूत ज्ञानके सहकारी कारण हो जाने से चक्षु:, प्रदीप आदिक पदार्थ विचारे अर्थ के ग्राहकपने करके उपचरित किये जा रहे हैं, करण के कारण को करण कह दिया गया है, जैसे कि पिता के पिता को कोई पौत्र विचारा पिता कह देता है। परमार्थरूप से फिर वे प्रदीपादिक तो अर्थके ग्राहक नहीं हैं। हां, ज्ञानवृत्तियां तो सात्विक वास्तविक रूप से अर्थोंके ग्रहण करलेने की टेव को धरनेवाली इष्ट की गई हैं, इसी प्रकार चक्षु, सूर्य, अञ्जन, ममीरा मे भी समझ लेना। तिसकारण आप का प्रदीप उदाहरण उन ज्ञानवृत्तियों के मूर्त होनेपर भी अर्थ को ग्रहण करने में सम नहीं है विषम है।

इस प्रकार उन ज्ञानवृत्तियों का अस्वसंविदितपन सिद्ध नहीं होता है जैसे कि सत्ता का आलोचन करनेवाला दर्शन स्वसंविदित नहीं है, वैसा ज्ञान को नहीं समझ बैठना, ज्ञान तो वस्तुतः स्वसंविदित ही है " स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः " विषय को ग्रहण करते समय ज्ञान अपना स्वसंवेदन तत्काल ही कर लेता है (ज्ञान का उपजना ही स्वसंवेदन स्वरूप है, चाहे मिथ्याज्ञान हो चाहे सम्यग्ज्ञान हो तत्क्षण हो स्वको जानने में सभी प्रमाण हैं)।

" भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिन्हवः ।
बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते " (श्री समन्तभद्राचार्यः) ।

न च स्वसंविदितत्वं कस्यचिन्मूर्तस्य दृष्टमिष्टं चातिप्रसंगादित्यमूर्तत्वमेव चित्तवृत्तीनामवस्थितं ततो नासिद्धो हेतुः । नाप्यनैकान्तिको विरुद्धो वा विपक्षवृत्त्यभावात्ततश्चित्तवृत्तीनां प्रतिबिंबभृत्त्वाभावो न सिद्धयेत् ।

किसी भी घट, पट आदि रूपी मूर्त पदार्थ का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा स्वयं को ज्ञात कर लेना देखा नहीं गया है और अनुमान या आगम द्वारा भी " मूर्तों का स्वसंविदिति हो जाना " यह सिद्ध अभीष्ट नहीं किया है । क्योंकि ऐसा मानने से अतिप्रसंग हो जावेगा । आत्मा या ज्ञान के समान अन्यगृह वस्त्रादि पदार्थ भी अपना स्वसंवेदन स्वयं करने लगेंगे, तब तो जड और चेतन पदार्थों का कोई पृथग्भाव नहीं हो सकेगा ।

या चित्तवृत्तियों का अमूर्तपना ही व्यवस्थित हो जाता है तिसकारण चित्त या ज्ञान की वृत्तियों में प्रतिबिम्ब धारने के अभाव को साधनेपर दिया गया अमूर्तपना हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं है । क्योंकि पक्ष में भले प्रकार वर्त रहा है । तथा यह अमूर्तत्व हेतु अनेकान्तिक यानी व्यभिचारी अथवा विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है । क्योंकि निश्चित साध्याभाववाले दर्पण, रङ्ग (रांग) लिप्त पीतल के वासन आदि विपक्ष पदार्थों में नहीं वर्तता है जिस से कि चित्तवृत्तियों के प्रतिबिम्ब को धारने का अभाव सिद्ध न हो सके, अर्थात् असिद्ध, विरुद्ध या व्यभिचारी हेत्वाभास अमूर्तत्व हेतु होता तो दूषित हेतु अपने प्रकरण प्राप्त साध्य को सिद्ध नहीं कर पाता । किन्तु यह अमूर्तत्व हेतु निर्दोष है अतः प्रतिवादियोंके सन्मुख नियत साध्यको सिद्ध कर ही देता है ।

विषयप्रतिनियतमान्यथानुपपत्त्या प्रतिबिम्बभृतो ज्ञानवृत्तय इति चेन्न, निराकारत्वेपि विषयप्रतिनियमसिद्धेः पुंसो दर्शनस्य भोगनियमवत् ।

अब बौद्धों का सहारा लेते हुये सांख्य मतानुयायी कह रहे हैं कि घटज्ञान का विषय घट ही है, पटज्ञान पट को ही जानता है, ऐसा विषयों का प्रतिनियम बन जाना अन्यथा यानी ज्ञानवृत्तियों के प्रतिबिम्ब (आकार) धारे विना युक्तिपूर्ण नहीं सिद्ध हो पाता है, इससे अनुमित हो जाता है कि ज्ञानवृत्तियाँ चाहे मूर्त हों प्रतिबिम्बों को अवश्य धारती हैं । घट को ही घटज्ञान विषय करता है इसका नियामक यही है कि घटज्ञानमे घट का आकार पडा हुआ है, यदि अन्तरंग तत्त्वज्ञान का और बहिरंग

पदार्थ ज्ञेय का कोई सम्बन्ध न होता तो उस घटज्ञान द्वारा कोई भी समुद्र, परमाणु आदि पदार्थ ज्ञात कर लिया जाता। चांदी के रुपये (सिक्के) से कुछ भी गेहूं, वस्त्र, घृत, लवण आदि पदार्थ मोल लिया जा सकता है। रुपया का किसी विवक्षित पदार्थ के साथ ही गठबंधन नहीं हो रहा है, जिससे कि वह एक नियत पदार्थ का ही क्रय करे।

इसी प्रकार आकाररहित ज्ञान उपज चुका वह चाहे जिस को प्रकाश देगा। सूर्य का उदय हो गया। वह राजा, चाण्डाल सबके घरमे समान रूप से मणि मुक्ता फल, मल, मूत्र आदि को विशदरूप से प्रकाशता है और जब ज्ञानमे आकार पडेगा उसी को प्रकाशित करेगा। जो पुरुष विक्रेता को मूल्य देगा वही वस्तु का क्रय करेगा, जो मूल्य नहीं देकर क्रय करना अमूल्यदानक्रयित्व दोष है। बौद्धों ने भी–

" अर्थेन घटयत्येनां नहि मुक्त्वार्थरूपतां, तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता "

ऐसा कहा है सविकल्पकबुद्धि निर्विकल्पकबुद्धि का अर्थ के साथ इतना ही संबंध करा देती है जिससे कि निर्विकल्पबुद्धि में पडे हुये आकार अनुसार वह अर्थ को यथार्थ जान बैठती है, अर्थाकार के अतिरिक्त निर्विकल्पकबुद्धि और अर्थ का कोई बादरायण संबन्ध नहीं है। दूती या कुट्टनी जो है सो पुंश्चली अभिसारिका को जार के साथ मात्र इतना ही जोड देती है, जिससे कि उनका आद्य मिलन हो जाय पश्चात् वह दूर हो जाती है।

" भिन्नकालं कथं ग्राह्यं इति चेद्ग्राह्यतां विदुः,
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम्।"

बौद्धों के यहां ज्ञान को अर्थ से जन्य माना गया है (तदुत्पत्तिः) कार्यसे समर्थ कारण एक क्षणपूर्व रहता है। जब संपूर्ण पदार्थ क्षणिक इष्ट हैं तो ज्ञानकाल मे अर्थ हो चुका और अर्थकाल में ज्ञान का आत्मलाभ ही नहीं हुआ था, तब तो भिन्न कालीन ज्ञेय मरा हुआ विचारा उत्तर कालवर्ती ज्ञान के द्वारा ग्राह्य कैसे होय। इसका उत्तर युक्तियों को जाननेवाले बौद्ध यही देते हैं कि ज्ञानमे अर्थ का आकार पड जाना ही ज्ञेय की ग्राह्यता है। पिता मर गया लडके को अपनी संपत्ति सौंप गया, कृतज्ञ, विनीत पुत्र अपने जनक को सर्वदा (स्मृति या भावना द्वारा) जानता रहता है। वैष्णव संप्रदाय अनुसार पुत्र अपने पिता का तर्पण करता है, पिण्डदान करता है जो कि उसी अपने नियत पिता को प्राप्त होता माना गया है। उसी प्रकार हम सांख्य भी विषयों के प्रति नियम की व्यवस्था करते हुये ज्ञान वृत्तियों में विषय का प्रतिबिम्ब

पड जाना अभीष्ट करते हैं नहीं तो कहां बिचारा अन्तस्तत्व ज्ञान और कहां बहिरंग विषय। इनका ऊर्ध्व लोक या अधोलोक के समान संबंध क्या है ?। ग्रन्थकार आचार्य कहते हैं कि यह तो नही समझ बैठना, कारण कि ज्ञानमें आकारों के नही पडनेपर भी विषयों का प्रतिनियम हो जाना सिद्ध है जैसे कि आत्मा के दर्शन गुण का भोगों के साथ नियम बन रहा आप सांख्यों ने माना है। अर्थात्- सांख्यों ने चेतन आत्मा को दृष्टा, भोक्ता, स्वीकार किया है, दर्शन में आकार पडता नहीं है फिर भी प्रकृति से प्राप्त हुये भोग्य पदार्थों को दर्शन करता हुआ आत्मा भोग लेता है। एक प्राकृत भोग्य पदार्थ को सभी आत्मायें नहीं भोगते हैं, विशिष्ट भोग्य को एक नियत आत्मा ही भोगता है। यहां आकर नहीं पडते हुये भी प्रत्येक संसारी आत्मा का नियत पदार्थों के दर्शन या भोग के साथ दृश्यपना या भोग्यपना व्यवस्थित हो रहा आपने माना है।

ज्ञान में आकार माननेपर तो आपके यहाँ और बौद्धों के यहाँ कतिपय दोष आवेंगे यदि तदाकार यानी तद्रूपता होने से ज्ञान को अर्थ का नियामक माना जायगा तब तो सम्पूर्ण समान आकारवाले पदार्थों की उसी एक प्रत्यक्ष ज्ञान करके विशद प्रतिपत्ति हो जानी चाहिये। समान आकारवाले पदार्थों का ज्ञानमें प्रतिबिम्ब या चित्र एकसा ही पडेगा एक पुस्तक का प्रत्यक्ष करनेपर उस छापेखाने की एक साथ छापी गई सम्पूर्ण वैसी पुस्तकों का विशद प्रतिभास हो जाना चाहिये। अनुमान या आगमज्ञान हो जाने की बात हम नहीं कहते हैं किंतु सामने रक्खी हुई पुस्तक का जैसा विशद प्रत्यक्ष हो रहा है वैसा ही चक्षुः द्वारा विशद प्रत्यक्ष उन सम्पूर्ण समान पुस्तकों का हो जाना चाहिये।

तदुत्पत्ति माननेपर भी बौद्ध इस दोष को भले ही टाल देवें किन्तु अन्य दोषों से बच नहीं सकते हैं। क्योंकि इन्द्रिय, अदृष्ट, आकाश आदिसे व्यभिचार हो जायगा, इनसे ज्ञान पैदा होता है किन्तु उत्पन्न हुआ ज्ञान इन को जानता नहीं है यदि इसका तदाकारता से वारण किया जायगा फिर भी ताद्रूप्य, तदुत्पत्ति दोनों का समानार्थों के अव्यवहित पूर्ववर्ती ज्ञानों करके व्यभिचार दोष तदवस्थ रहेगा। जैन सिद्धान्त अनुसार किसी भी आत्मीय गुण में किसी भी मूर्त अमूर्त पदार्थ का आकार पडना तभी तो नहीं इष्ट किया गया है। क्वचित् ज्ञान को साकार जो कह दिया है वहां आकार का अर्थ स्व, पर का संचेतन करना, विकल्पनायें करना मात्र हैं प्रतिबिम्ब धारण करना नहीं। भला सर्वज्ञ के ज्ञान में भूत, भविष्य, पदार्थ क्या प्रतिबिम्ब डाल

सकते हैं ? कुछ भी नहीं। हमारे तुम्हारे व्याप्तिज्ञान में त्रिलोक त्रिकालवर्ती नियत साध्य और साधन कुछ भी प्रतिबिंब नहीं डाल पाते हैं जब कि भूत, भविष्य काल के वे वर्तमान में हैं ही नहीं, ऐसी दशा में उनका प्रतिबिंब ज्ञानमें नहीं पड सकता है अतः प्रतिबिम्बस्वरूप आकार की अपेक्षा आत्मा के सभी गुण निराकार हैं हाँ आत्मा की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, स्वरूप आकृति या ज्ञान द्वारा विकल्पना की अपेक्षा भले ही किसी गुणको साकार मान लिया जाय कोई क्षति नही है। अतः प्रतिबिम्ब या आकार धारे विना ही ज्ञानवृत्तियां स्वावरण क्षयोपशम स्वरूप योग्यता करके नियत विषयों को जान लेती हैं। जगत् में किसी विवक्षित पुरुष के स्त्री, बच्चे, वस्त्र, गृह, भूषण, पुस्तकें, पत्र, घोडे, गाडी, रुपये आदि पदार्थ नियत हैं पुरुषार्थ या अन्य कारणों से भी अनेक अनुकूल, प्रतिकूल, पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं। किस किस में आकार पड जाने को मानते फिरोगे। सातावेदनीय के उदय और लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय के क्षयोपशम अनुसार जितने पदार्थ जिस जीव को प्राप्त हो रहे हैं वे सब पदार्थ उसके नियत हैं। असातावेदनीय और अन्तराय कर्म के उदय से अनिष्ट पदार्थ भी नियतरूपेण जीवको प्राप्त हो रहे हैं, इसी प्रकार ज्ञानावरण के क्षयोपशम अनुसार ज्ञान भी नियत पदार्थों को विषय कर लेता है आकार पड जानेकी आवश्यकता नहीं है।

अथ बुद्धिप्रतिबिंबितमेव नियतमर्थं पुरुषश्चेतयते नान्यथा प्रतिनियमाभाव प्रसंगादिति मतं, तर्हि बुद्धिरपि कुतः प्रतियतार्थप्रतिबिम्बं बिभर्ति न पुनः सकलार्थ-प्रतिबिम्बमिति नियमहेतुर्वाच्यः प्रतिनियताहंकाराभिमतमेवार्थं बुद्धिः प्रतिबिम्बयतीति चेत्, किमनया परंपरया प्रतिबिम्बमन्तरेणैवाहंकारप्रतिनियमितमर्थं बुद्धिर्व्यवस्यति मनःसंकल्पितमिवाहंकारः। करणालोचितमिव च मननमिति, स्वसामग्रीप्रतिनियमादेव सर्वत्र प्रतिनियमसिद्धेरलं प्रतिबिम्बकल्पनया। तथा च न चित्तवृत्तीनां सारूप्यं नाम यन्मात्रं संप्रज्ञात योगः स्यादिति परेषां ध्यानासंभवः। नापि ध्येयं तस्य सूत्रेनु-पादानात्। ध्याना सिद्धौ तदसिद्धेश्च स्याद्वादिनां तु ध्यानं ध्येये विशिष्टे सूत्रितमेव, चिन्तानिरोधस्यैकदेशतः कात्स्न्र्यतो वा ध्यानस्यैकाग्रविषयत्वेन विशेषणात्। तथाहि—

अब इसके अनन्तर कपिल मतानुयायियों का यदि यों मन्तव्य होवे कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित हो रहे नियत पदार्थ को आत्मा चेतना करता है अन्यथा यानी बुद्धि में प्रतिबिम्ब पड़े विना आत्मा किसी भी पदार्थ का चैतन्य नही कर सकता है,

यदि प्रतिबिम्ब पडे विना ही चैतन्योपयोग कर बैठे तो प्रत्येक पदार्थ का नियतरूपेण चेतनोपयोग होने के नियम के अभाव का प्रसंग आ जावेगा, जब प्रकृति व्यापक है तो कोई भी आत्मा किसी भी प्राकृत पदार्थकी चेतना कर लेगी। अतः "बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" प्रतिबिम्ब द्वारा बुद्धि में निर्णीत हो चुके अर्थ की ही नियत रूपेण पुरुष चेतना करता है यह मानना पडता है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो हम पूछेंगे कि बुद्धि भी विचारो किस कारण से प्रत्येक के लिये नियत हो रही अर्थ के प्रतिबिम्ब को धारण करती है? किन्तु फिर सम्पूर्ण अर्थों के प्रतिबिम्ब को क्यों नही धार लेती है? इसका नियामक हेतु आपको कहना पडेगा, जब कि जगत् में अनन्तानन्त पदार्थ पडे हुये हैं तो बुद्धि सबका प्रतिबिंब ले लेवे नियामक हेतु के विना किसी विशिष्ट अर्थ का ही प्रतिबिम्ब ले लेने की व्यवस्था नही हो सकती है।

इसपर सांख्य यदि यों कहैं कि प्रत्येक बुद्धि के लिये नियत हो रहे विशिष्ट अहंकार द्वारा अभिमान के विषय हो रहे पदार्थ का ही बुद्धि प्रतिबिम्ब लेती है अर्थात् प्रकृति का पहिला विवर्त बुद्धि है पुनः बुद्धि का कार्य अहंकार है, अहंकार का कार्य ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्रायें हैं यों अहंकार से नियत अर्थ का बुद्धि प्रतिबिम्ब लेती है और बुद्धि प्रतिबिम्बित अर्थ का चेतयिता पुरुष हैं यों कहनेपर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा इस दूरवर्तिनी परम्परा से क्या लाभ निकलेगा?

फिर हम पूछेंगे कि अहंकार भी नियत अर्थ का अभिमान क्यों करता है? इसपर आप कहेंगे कि मन से जिस नियत विषय का संकल्प किया गया था उसी का अहंकारने अभिमान किया पुनः इसपर प्रश्न उठेगा कि मनने नियत अर्थ का ही संकल्प क्यों किया? सभी प्राकृत पदार्थों का उसको "यह होगा" या "वह होगा" ऐसा संकल्प करना चाहिये था, तिसपर आप सांख्य कहोगे कि इन्द्रियों द्वारा जिस पदार्थ का आलोचन हुआ उसी नियत विषय को मन विचारता है।

पुनरपि प्रश्न उठता ही रहेगा कि इन्द्रियों ने ही उन नियत विषयों का आलोचन क्यों किया, सभी का एक ओरसे घरकर आलोचन कर डालना चाहिये था। बहुत साहस करेंगे तो भी आप पाँचवे, छठे चोद्य का कुछ भी उत्तर नहीं दे सकेंगे अतः इस व्यर्थ की परम्परा को छोडिये इससे कुछ लाभ नहीं। अन्तमें पकडे जानेवाले निर्णीत मार्गपर प्रथम से ही आरूढ हो जाइये। देखो बात यह है कि प्रतिबिम्ब के

बिना ही अहंकार द्वारा प्रतिनियत हो रहे अर्थ का ही निर्णय बुद्धि करती है जैसे कि प्रतिबिम्ब के बिना ही मन से संकल्प किये जा चुके अर्थ का अहंकारतत्त्व अभिमान करता है अथवा प्रतिबिम्ब पड़े बिना इन्द्रियां भी नियत अर्थोंकी ही आलोचना करती हैं।

सिद्धान्त यह है कि अपनी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, स्वरूप विशिष्ट सामग्री के प्रतिनियम से ही सभी अर्थों में प्रतिनियम बने रहने की सिद्धि हो रही हैं, अतः ज्ञानवृत्तियों में प्रतिबिम्ब पडने की झूठी कल्पना से कुछ भी प्रयोजन नहीं सधता है और तिसप्रकार ज्ञानों का निराकारपना सिद्ध हो जानेसे चित्तवृत्तियों का सारूप्य यानी विषयाकारधारीपना नाममात्र को भी सिद्ध न हो सका जिससे कि "वृत्तिसारूप्यमितरत्र" इस सूत्र द्वारा उन ज्ञानवृत्तियों का विषय सारूप्य हो जाना सम्प्रज्ञात याग बन पाता। विषय ग्रहण या कषाय करने के समान संप्रज्ञात समाधि के अवसरपर ज्ञानवृत्तियों का ताद्रूप्य नहीं बन पाता है। यों दूसरे विद्वान् सांख्यों के यहां ध्यान का बन जाना असंभव है। तथा ध्यान के समान ध्यान करने योग्य ध्येय पदार्थ भी सिद्ध नहीं हो पाता है क्योंकि उनके सूत्र में उस ध्येय पदार्थ का उपादान ही नहीं किया गया है जब ध्यान की ही सिद्धि नहीं हो सकी तो उस ध्यान से गम्य ध्येय की सिद्धि तो कथमपि नहीं हो सकती है हां स्याद्वाद सिद्धान्त को माननेवाले आर्हत विज्ञों के यहां तो विशिष्ट एक अर्थस्वरूप ध्येयमें ध्यान लग जाना इसी सूत्र द्वारा कहा ही जा चुका है क्यों कि एक देश से या संपूर्ण रूप से चिन्ता के निरोध को ध्यान कहा है "एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्"। एक अग्र (अर्थ) ही विषयपने करके ध्यान का विशेषण हो रहा है (ध्याननिष्ठ विषयिता निरूपित विषयतावान् एकाग्रः) इस ही रहस्य को ग्रन्थकार अग्रिम दो वार्तिकों द्वारा स्पष्ट कर दिखलाते हैं।

अनेकत्राप्रधाने वा विषये कल्पितेपि वा।
माभूच्चिन्तानिरोधोयमित्येकाग्रे स संस्मृतः ॥ ५ ॥
एकाग्रेणेति वा नानामुखत्वेन निवृत्तये।
क्वचिच्चिन्तानिरोधोस्याध्यानत्वेन प्रभादिवत् ॥ ६ ॥

उक्त सूत्र में "एकाग्रचिन्तानिरोधः" को ध्यान कहा गया है। एक वास्तविक प्रधान अर्थ में चिन्ताओं का निरोध करना ध्यान है। इन लक्षण घटित पदों का साफल्य यों है कि अनेक अप्रधान अथवा कल्पित किये गये भी अर्थ में

चिन्ताओं का निरोध करना ध्यान नहीं हो सके इस कारण सूत्र में इतर की व्यावृत्ति करते हुये सूत्रकार ने एक अग्रमें वह चिन्ताओं का अन्यत्र से निरोध होकर केन्द्रीभूत हो जाना ध्यान कहा है यों भले प्रकार सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार स्मरण कर कह दिया है। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त तक घट, पट आदि अनेक पदार्थों में ज्ञान धारा को उपजाते रहना ध्यान नहीं है क्योंकि सूत्र में एक अर्थ में ऐसा पद पडा हुआ है। और अग्निर्माणवकः, अयं मनुष्यः सिंहः, इत्यादि स्थलों के अविवक्षित या आरोपित गौण अर्थमें एक टक होकर चिन्ता को रोके रहना ध्यान नहीं है कारण कि सूत्र में मुख्य अर्थ को कहनेवाला अग्रपद पडा हुआ है तथा मिट्टी की बनी हुई गाय, घोडा, या अवस्तुभूत कल्पित अर्थ में ध्यान लगा बैठना कोई ध्यान नहीं है क्यों कि वास्तविक अर्थ को कहनेवाला अग्रपद सूत्र में उपात्त हैं।

एक बात यह भी है कि अनेक अर्थों को मुख्य करके उनमे चिन्ताओं को रोके रहना ध्यान हो जायगा इसकी निवृत्ति के लिये सूत्रमें "एकाग्रेणचिन्तानिरोधः," ऐसा कह दिया गया है वायुवेगरहित अवस्था में प्रदीपशिखा जिस प्रकार अचल है उसी प्रकार क्वचित् एक ही अचल अर्थ में ध्यान लगा रहना चाहिये। प्रदीप की या सूर्य की प्रभा जिस प्रकार अनेक अर्थों में उन्मुख हो जाती है उस प्रकार अनेक अर्थों मे उन्मुख हो रही ज्ञानधारा की ध्यानपने करके व्यवस्था नहीं नियत है।

एकशब्दः संख्यापदं, अंग्यते तदंगति तस्मिन्निति वाग्रं मुखं, भद्रेंद्राग्र विप्रेत्यादि निपातनात्, अंगेर्गत्यर्थस्य कर्मण्यधिकरणे वा रग्विधानात्। चिन्तान्तःकरण-वृत्तिः अनियतक्रियार्थस्य नियतक्रियाकर्तृत्वेनावस्थानं निरोधः एकमग्रं मुखं यस्य सोय-मेकाग्रः चिन्ताया निरोधः एकाग्रश्चासौ चिन्तानिरोधश्च स इत्येकाग्रचिन्तानिरोधः।

इस सूत्रमें कहा गया एक शब्द तो संख्यावाची पद है अर्थात् असहाय, अनुपम, केवल, असाधारण, अभेद, एकत्वसंख्या, केचित् आदिक अनेक अर्थों के सम्भव होनेपर यहां प्रकरण में एक शब्द एकत्व संख्यों को कहनेवाला लिया गया है। और अंग का अर्थ यह है कि गति अर्थ में वर्त रही "अगि" धातु से कर्म या अधिकरण में रक् प्रत्यय कर अग्र शब्द को सिद्ध किया गया है गति अर्थक धातुओं का ज्ञान भी अर्थ हो जाता है। उसको ज्ञात किया जाय अथवा ज्ञान द्वारा उस में स्वीकृति प्राप्त की जाय इस कारण अग्र का अर्थ मुख हो जाता है "भद्रेन्द्राग्रविप्र" इत्यादि सूत्र करके निपात हो जानेसे गत्यर्थ अगिधातु से कर्म वा अधिकरण में रक् प्रत्यय का विधान किया गया है पदार्थों में अन्तःकरण मन की वृत्ति हो जाना चिन्ता है चलना, सोना,

खाना, पढना, पाठ करना आदि क्रियाओं के विषयों में नहीं नियत होकर प्रवर्त रहे मन का एक ही नियत क्रिया के कर्तापने करके अवस्थित हो जाना निरोध है। जिस चिन्ता निरोध का एक संख्यावाला अग्र (मुख्य) हो रहा है सो यह एकाग्र है चिन्ता का निरोध हो जाना चिन्ता निरोध है एकाग्र हो करके जो वह चिन्ता निरोध भी है इस कारण वह एकाग्र चिन्ता निरोध माना गया है यों बहुब्रीहि समास और षष्ठीतत्पुरुष को गर्भित कर कर्मधारयवृत्ति यहां कर दी गई है।

स कुत इति चेत्, एकाग्रत्वेन चिन्तानिरोधो वीर्यविशेषात् प्रदीपशिखावत्। वीर्यविशेषो हि दीपशिखाया निर्वातप्रकरणत्वे अंतरंबहिरंगहेतुवशात् परिस्पन्दाभावोपपत्तौ विभाव्यते तथा चिन्तायां अपि वीर्यान्तरायविगमविशेषनिराकुलदेशादिहेतुवशादि संप्रत्ययविशेषः समुन्नीयते। तत एकाग्रत्वं तेन चिन्तान्तरनिरोधादेकाग्रचिन्तानिरोध इति नानामुखत्वेन तस्य निवृत्तिः सिद्धा भवति।

यहाँ कोई विनीत सज्जन पूंछता है कि वह चिन्तानिरोध फिर किस कारण से उपजेगा ? बताओ। ऐसी शंका उपस्थित करने पर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं कि वह एक अर्थ की ओर मुख्यता करके चिन्ताओं का निरोध हो जाना तो विशेष जाति के उत्साहपूर्ण आत्मीय पुरुषार्थ करके उत्पन्न हो जाता है। जैसे कि आंधी आदि बाधाओं से रहित निरापद प्रदेश में प्रदीप की प्रज्वलित शिखा एकाग्र होकर निश्चल बनी रहती है दीपक की कलिका के हलन, चलन, रूप परिस्पन्द नही होनेकी सिद्धि में साधक हो रहा वीर्य विशेष तो अन्तरंग कारण और बहिरंग कारणों के वश से निर्णीत कर लिया जाता है। जीव, अजीव, सम्पूर्ण पदार्थों में अनन्तवीर्य विद्यमान है। अन्तरंग में घृत, तैल आदि की पूर्णता और बहिरंग में तीव्रवायु का प्रकरण मिलने से दीपशिखा की शक्ति इतनी प्रबल हो जाती हैं कि वह दीपक को निश्चल प्रदीप्त बनाये रखती है उसी प्रकार अन्तरंग कारण हो रहे वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम विशेष और बहिरंग कारण हो रहे निराकुल प्रदेश, संकल्प, विकल्पों, के अभाव, निरोगता आदि हेतुओं की वशता, शास्त्राभ्यास, संहनन आदिक समीचीन कारण विशेष भी भले प्रकार अनुमान द्वारा निर्णीत कर लिये जाते हैं, दीपशिखा का यहां वहां से तितर, बितर, हो जाने का निरोध कर निःप्रकम्प बने रहने के कारणों को विचक्षण लोग झटिति जान जाते हैं। उसी प्रकार ध्यान करनेवालों की यहां वहां की

अंट-संट की चिन्ताओं को रोककर एक ही मुख्य अर्थ में चिन्ताओं को रोके रहने के वीर्यविशेष के भी अन्तरंग बहिरंग कारणों का विद्वानों करके ज्ञानलक्षणा द्वारा निर्णय कर लिया जाता है। तिन ही कारणों से चिन्ताओं के एक अर्थ के अभिमुख होकर अवस्थान हो जाता है, उस एकाग्रपने करके अन्य चिन्ताओं का निरोध हो जानेसे ध्यान एकाग्र चिन्तानिरोधस्वरूप बन बैठता है यों उस चिन्तानिरोध की अनेक विषयों की मुख्यतापने करके उपजने की निवृत्ति हो जाना स्वतःसिद्ध हो जाता है।

अर्थपर्यायवाची वा अग्रशब्दः, अंग्यते इत्यग्रमिति कर्मसाधनस्याग्रशब्दस्यार्थ पर्यायवाचित्वोपपत्तेः। एकत्वं च तदग्रं च तदेकाग्रं एकत्वसंख्याविशिष्टोर्थः। प्रधानभूते वा प्रधानवाचिन एकशब्दस्याश्रयणात्। एकाग्रे चिन्तानिरोध एकाग्रचिन्तानिरोध इति योगविभागात् मयूरव्यंसकादित्वाद्वा वृत्तिः। ततोऽनेकार्थे गुणभूते वा कल्पनारोपो ध्यानं मा भूत्।

अग्र का अर्थ मुख्य किया जा चुका है अब दूसरा विचार है कि अथवा अर्थ का पर्यायवाची अग्र शब्द समझा जाय, "अगि गतौ धातु से कर्म में रक् प्रत्यय हो जाता है जो पदार्थ अंग्यते यानी जान लिया जाय वह अग्र है इस प्रकार कर्म मे प्रत्यय कर साधे गये अग्र शब्द को अर्थ पर्याय का वाचकपना व्याकरण द्वारा बन जाता है एकत्व संख्यास्वरूप हो रहा जो वह अग्र यानी अर्थ है वह एकाग्र है यों इसका तात्पर्य अर्थ यह निकला कि वह अर्था एकत्व संख्या से विशिष्ट हो रहा है। अथवा एक को अर्थ एकत्व संख्या नहीं कर प्रधान हो चुके अर्थ में एक शब्द की प्रवृत्ति रक्खी जाय प्रधान को कह रहे एक शब्द का आश्रय करने से एकाग्र का अर्थ प्रधानभूत अर्थ हो जाता है उस एकाग्र में चिन्ताओं का निरोध हो जाना "एकाग्रचिन्ता-निरोध" है।

इस प्रकार एकाग्रपद और चिन्तानिरोधपद का सप्तमी तत्पुरुष समास हो रहा है "सप्तमीशौण्डैः" इस समास विधायक सूत्र का योग विभाग कर देनेसे अथवा "मयूर व्यंसकादयश्च" इससे यहाँ सप्तमी समास नाम की वृत्ति कर लीं जाय, "सप्तमीशौण्डैः" इस योग में से सप्तमी को अलग कर दिया जाय तो शौण्डादिगण से अतिरिक्त पदों के साथ भी सप्तम्यन्त पदकी तत्पुरुषवृत्ति हो जाती है। दूसरा उपाय यह भी है कि आकृतिगण हो रहे मयूर व्यंसकादिक में एकाग्र चिन्तानिरोध का पाठ कर लिया जाय। यों पुरुषार्थ द्वारा एक प्रधान अर्थ में चिन्ताओं का निरोध किये रहना ध्यान बन जाता है। तिसकारण एक का एकत्व संख्या होनेसे अनेक अर्थों में ध्यान होना नहीं बन सका और एक का प्रधान करनेपर गौणभूत अर्था मे चिन्ताओं को

रोक लेना ध्यान नहीं हो सकता है तथा एकाग्र का वाच्य प्रधान वास्तविक अर्थ करने से कल्पित अर्थ में चिन्ताओं को रोके रहना ध्यान नहीं कहावेगा चिन्ताओं को रोककर एक ही ध्येय अर्थ में वास्तविक ज्ञान धारा को बहाते हुये निश्चल चिन्ता करना ध्यान है अतः कोरी अवास्तविक कल्पनाओं का आरोप करते रहना ध्यान नहीं समझा जा सकता है यों सूत्रोक्त पदों की सफलता को दिखाते हुये अतिव्याप्ति दोषों का निराकरण कर लिया जाय ।

नन्वनेकान्तवादिनां सर्वस्यार्थस्यैकानेकरूपत्वात् कथमनेकरूपव्यवच्छेदेनैकाग्रध्यानं विधीयत इति कश्चित् सोप्यनालोचितवचनः, एकस्यार्थस्य पर्यायस्य वा प्रधानभावे ध्यानविषयवचनात् । तत्र द्रव्यस्य पर्यायान्तराणां च सत्त्वेपि गुणीभूतत्वाद्ध्यानविषयत्वव्यवच्छेदात् । तत एव चैक शब्दस्य संख्याप्राधान्यवाचिनो व्याख्यानात् ।

यहां किसी शंकाकार का पूर्वपक्ष है कि सम्पूर्ण पदार्थों को अनेक धर्म स्वरूप कहने की टेव को रखनेवाले जैनों के यहां सभी पदार्थ जब एक स्वरूप और अनेक स्वरूप हैं तो ऐसा हो जाने से अनेक रूपों का व्यवच्छेद करके एक ही अर्थ में ध्यान किस प्रकार कर लिया जाय ? अनेकान्त को एकान्त जानना मिथ्या पड़ेगा । अतः कोरे एक अर्थ में ध्यान लग जाना स्याद्वादियों के यहां नहीं बन सकता है । यहां तक कोई एक पण्डित कह रहा है । अब आचार्य कहते हैं कि वह एकान्तवादी पण्डित भी विचारणा किये विना ही वचनों को कहनेवाला है, कारण कि एक पदार्थ अथवा उसकी एक पर्याय के प्रधान हो जानेपर ज्ञान समुदाय रूप ध्यान का विषय हो जाना कहा गया है उस ध्येय वस्तु में द्रव्य और ध्यानाक्रान्त पर्याय से अतिरिक्त अन्य पर्यायों का सद्भाव होनेपर भी वे सब गौणरूप हो रही हैं अतः ध्येय द्रव्य या पर्याय से अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण तदभिन्न द्रव्य और पर्यायों को ध्यान के विषय हो जाने का व्यवच्छेद (निराकरण) हो जाता है । तिसही कारण से तो हमने एकत्व संख्या या प्रधानपन को कथन करनेवाले एक शब्द का व्याख्यान किया है । अर्थात् अनेकान्तात्मक अर्थमे से ही एक प्रधानभूत द्रव्य या पर्यायस्वरूप धर्मविशेष में ही ज्ञान धारा उपजाकर अखंड ध्यान लगाया जाता है अर्थ तो द्रव्य, पर्याय, गुण, स्वभाव, अविभागप्रतिच्छेद इन सबका तादात्म्यस्वरूप हो रहा वस्तु है उसके एक ही किसी वास्तविक अंशमें ध्यान हो जाना बन बैठता है ।

नन्वेवं कल्पनारोपित एव विषये ध्यानमुक्तं स्यात्तस्यतः पर्यायमात्रस्य वस्तुनोनुपपत्तेर्द्रव्यमात्रवत्, द्रव्यपर्यायात्मनो जात्यन्तरस्य च वस्तुत्वात् नयविषयस्य च वस्त्वेकदेशत्वादन्यथा नयस्य विकलादेशत्वविरोधादिति परः। सोपि न नीतिवित्, पर्यायस्य निराकृतद्रव्यपर्यायान्तरस्यैव वाऽवस्तुसाधनान्निरस्तसमस्तपर्यायद्रव्यवत्। न पुनरपेक्षितद्रव्यपर्यायन्तरस्य पर्यायस्यावस्तुत्वं तस्य नयविषयतया वस्त्वेक देशत्वेप्य-वस्तुत्वनिराकरणात्। " नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः। न समुद्रोऽसमुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि।" इति नियमात्। न च वस्त्वंशः कल्पनारोपित एव वस्तुनोपि तथा प्रसंगात्।

शंकाकार पण्डित कह रहा है कि इस प्रकार ध्यान की व्यवस्था करनेपर तो कल्पना बुद्धि से आरोपे गये कल्पित विषयमे ही ध्यान होना कहा गया समझो क्योंकि केवल पर्याय को ही तात्त्विकरूप से वस्तुपना बना नहीं सकता है जैसे कि केवल द्रव्यको ही अक्षुण्ण वस्तु का स्वरूप नहीं माना जाता है प्रमाणपद्धति से विचारा जाय तो जैनों के यहां द्रव्य और पर्याय स्वरूप हो रहे तथा इन द्रव्य जाति और पर्याय जाति दोनों से न्यारे तीसरी ही जातिवाले अर्थ को वस्तु माना गया है। नयके विषयभूत अर्थांश को वस्तु का एक देश व्यवस्थित किया है अन्यथा यानी नयज्ञान के विषय को वस्तु का एक देश नहीं मानकर वस्तु का पूर्ण स्वरूप माना जाय तो नय को वस्तु के विकल अंशका कथन करनेवाले विकलादेशीपन का विरोध हो जावेगा। यहां तक कोई दूसरा विद्वान् कह रहा है।

आचार्य कहते हैं कि वह पण्डित भी न्याय, नीति को जाननेवाला नहीं है कारण कि द्रव्य और स्वभिन्न तन्निष्ठ न्यारी न्यारी अनेक पर्यायों को निराकारण कर चुके हो एक अकेली पर्याय को ही अवस्तुपना पूर्व प्रकरणों में साधा गया है जैसे कि जिस द्रव्य ने सम्पूर्ण पर्यायों का निराकारण कर दिया है वह कूटस्थ अकेला द्रव्य कथमपि वस्तु का पूर्ण शरीर नहीं कहा जाता है। शीर्ष (शिर) तभी शरीरांग हो सकता है जब कि छाती, पेट, नितम्ब आदि अंगों की अपेक्षा रखता है, इसी प्रकार छाती भी तभी जीवित हैं जब कि शिर आदि सात अंगों की अपेक्षा रख रही है, परस्पर अपेक्षा रक्खे विना सभी अंग मर जाते हैं उसी प्रकार वस्तु के अंश हो रहे द्रव्य और व्यञ्जन पर्याय तथा अर्थ पर्याय हैं। पर्यायों से निरपेक्ष हो रहा केवल द्रव्य कोई वस्तु नहीं है तथैव द्रव्यों की अपेक्षा नहीं रखवेवाली अकेली पर्याय कोई चीज

नहीं है खरविषाणवत् अवस्तु है। किन्तु फिर द्रव्य और पर्यायान्तरों की अपेक्षा रख चुकी पर्याय को अवस्तुपना नहीं है क्योंकि अपने सम्पूर्ण तादात्म्यापन्नो की अपेक्षा रख रही इस पर्याय को नय का विषयपना होने के कारण वस्तु का एकदेशपना होते हुये भी अवस्तुपन का निराकरण कर दिया गया है "प्रमाणनयैरधिगमः" इस सूत्र के व्याख्यान में पांचवी वार्तिक द्वारा यों नियम किया गया है कि यह नय का विषय हो रहा अर्थांश न तो पूरा वस्तु है और न खरविषाणवत् अवस्तुभूत है जिस कारण से कि वह अर्थांश विचारा अखंड वस्तु का एक अंश कहा जाता है। जिस ही प्रकार कि समुद्र का अंश (लाल सागर या अरब का समुद्र आदि टुकड़े) न तो पूरा समुद्र ही है और न घट, पट के समान समुद्र ही है किन्तु समुद्र का एक अंश है इसी प्रकार ध्यान का विषयभूत पदार्थ भी वस्तु का एक देश है कल्पित नहीं। वस्तु का अंश हो रहा ध्येय पदार्थ कोई कोरी कल्पनाओं से आरोपा जा चुका ही नहीं है यदि अंगो को कल्पित माना जायगा तो अंगी भी सर्वथा कल्पित हो जायगा अतः वस्तु को भी तिस प्रकार कल्पित हो जाने का प्रसंग आ जावेगा। वस्तु अंशों का समुदाय हो तो वस्तु है।

स्वरूपालम्बनमेव ध्यानमित्यन्ये; तेपि न युक्तवचसः, सर्वथा तत्स्वरूपस्य ध्यानध्येयरूपद्वय विरोधात्। कथंचिदनेकस्वरूपस्य तदविरोधिध्यानरूपादर्थान्तरभूते ध्येयरूपे ध्यानं प्रवर्तते इति स्वतो व्यतिरिक्तमेव द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा समालम्बते। न च द्रव्यपरमाणुर्भावपरमाणुर्वार्थपर्ययो न भवति पुद्गलादिद्रव्यपर्याय-त्वात् तस्येति चिन्तितप्रायं।

अपने आप अपने स्वरूप को ज्ञान में आलंबन विषय बनाये रखना ही ध्यान है, इस प्रकार कोई अन्य विद्वान् कह रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि वे विद्वान् भी युक्तिपूर्ण वचनों को कहनेवाले नहीं है। क्योंकि सर्वथा उसी स्वरूप मे निमग्न बने रहने को ध्यान और ध्येय दो रूप हो जाने का विरोध है जिस का ध्यान किया जाता है वह ध्येय पदार्थ है अतः ध्यान, ध्याता, ध्येय, यों कथंचित् अनेक स्वरूप हो रहे पदार्थ के उन ध्यान, ध्येय, स्वरूपों का कोई विरोध नहीं है अनेक धर्मों को धार रहे ध्याता आत्मा के ध्यान स्वरूप से भिन्न अर्थ हो रहे ध्येय रूप में ध्यान प्रवर्त जाता है इस कारण वह ध्यान अपने से भिन्न हो रहे ही द्रव्यपरमाणु अथवा भावपरमाणु का भले प्रकार अवलंब करता है यों ध्यान भिन्न है और ध्यान का कर्म न्यारा है रूपादि मान पुद्गलपर्याय द्रव्यपरमाणु है जो कि "अत्तादि अत्तमज्झं अत्तत्तं णेव

इन्द्रिये गेज्जं, जहव्वं अविभागी तं परमाणुं वियाणेहि ।" इस स्वरूप को धारण करती है और परमाणु का ज्ञान या परमाणु अतीन्द्रिय शक्तियां भावपरमाणु है ज्ञान तो आत्मा के चेतना गुण की पर्याय है और परमाणु की शक्तियां पुद्गलद्रव्य स्वरूप हैं अतः द्रव्य परमाणु या भावपरमाणु कोई अर्थ की पर्याय नहीं है ऐसा नहीं समझ बैठना । क्योंकि वे द्रव्यपरमाणु या भावपरमाणु दोनों ही पुद्गल आदि (आत्मा) द्रव्यों की पर्याय हैं इस सिद्धान्त को पूर्व प्रकरणों में कई बार चिन्तना कर चुके हैं यहां कहना निरर्थक है ।

ततोयं ध्यानशब्दो भावकर्तृकरणसाधनो विवक्षावशात् ध्येयं प्रति व्यावृतस्य भावमात्रत्वात् ध्यातिर्ध्यानमिति भवति । करणप्रशंसापरायां वृत्तौ कर्तृसाधनत्वं ध्यायतीति ध्यानं । साधकतमत्वविवक्षायां करणसाधनं ध्यायत्यनेन ज्ञानावरणवीर्यान्तराय विगमविशेषोद्भूतशक्तिविशेषेणेति ध्यानमिति । एकान्तकल्पनायां दोषविधानमुक्तं ।

तिसकारण यह ध्यान शब्द विवक्षा के वश से भाव में या कर्ता में अथवा करण में युट् प्रत्यय कर साध दिया गया है । (ध्यानमात्रं ध्यानं) सामान्य रूप से ज्ञप्तियों रूप ध्यान करना स्वरूप क्रियाओं की अपेक्षा करनेपर ध्यान शब्द भावसाधन है क्योंकि ध्यान करने योग्य पदार्थ के प्रति व्यापार कर रही क्रियाभाव मात्र है ऐसा होनेसे " ध्यातिर्ध्यानम् " इस प्रकार भावमे क्ति प्रत्यय कर निर्वचन कर दिया है । करण की प्रशंसा करने में तत्पर हो रही वृत्ति होते सन्ते तो ध्यान शब्द को कर्ता मे युट् प्रत्यय कर साध लिया जाय, ध्यान करनेवाला है इस कारण वह करण स्वयं ध्यान कर्ता है जैसे कि " देवदत्तः असिना छिनत्ति देवदत्तः किं छिनत्ति असिः स्वयमेव छिनत्ति " देवदत्त तलवार से लेज (रस्सी) को काट रहा है देवदत्त क्या कर रहा है तलवार ऐसी उत्तम है जो कि स्वयं ही रस्सी को काटती चली जा रही है । यहां काटने मे करणभूत तलवार है, कर्ता देवदत्त है, किन्तु तलवार की बडाई करना जब अभीष्ट हो जाता है तो करण हो रही तलवार को ही कर्ता कोटि में ले आते हैं इसी प्रकार ध्यान वस्तुतः ध्यान क्रिया का करण है, जैसे कि ज्ञप्तिक्रिया का करण ज्ञान है । फिर भी करण हो रहे ध्यान की प्रशंसा करना अपेक्षित होनेपर स्वतंत्र कर्ता रूपसे ध्यान का उल्लेख किया जाता है । आत्मा क्या ध्यान करता है ? वह ध्यान ही स्वयं ध्यान कर रहा है । तीसरी ध्यान क्रिया में प्रकृष्ट उपकारकपने की विवक्षा करनेपर जिस करके ध्यान किया जाय वह ध्यान है, यों करण में युट् प्रत्यय कर ध्यान

शब्द व्याकरण की प्रक्रिया से निर्दोष सिद्ध कर लिया जाता है । ज्ञानावरण कर्म और वीर्यान्तराय कर्म इन दोनों का निःशेषरूप से विगम (क्षयोपशम) हो जानेपर प्रकट हुई जानने और उत्साह करने की विशेष आत्मीय सामर्थ्य करके ध्यान करना होता है इस कारण यह ज्ञानोत्साहशक्ति ध्यान है यदि एकान्तरूप से ध्यान को क्रियास्वरूप या कर्ता अथवा करण स्वरूप ही माना जायगा तो उसमे अनेक दोषों का विधान आता है इसको हम पहिले कह चुके हैं ।

प्रथमसूत्रे ज्ञानशब्दस्य करणादिसाधनत्वसमर्थनात् निर्विषयस्य ध्यानस्य भावसाधनत्वाद्यनुपपत्तेश्च । भाववंतमन्तरेण भावस्यासंभवात् कर्तुरभावे करणत्वानुपपत्तेः। सर्वथैकान्ते कारकव्यवस्थासंभवस्य चोक्तत्वात् ।

सब से पहिले के " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " इस सूत्र मे ज्ञान शब्द को करण, भाव आदि (कर्ता) में साध लेने का समर्थन किया जा चुका है । ध्यान ज्ञानस्वरूप ही है, ज्ञान के समान ध्यान में भी विषयभूत ध्येय पदार्थ हैं, इन का अवलम्ब क्वचित् भले ही कोई पदार्थ पड जाय किन्तु चारित्र, सुख, वीर्य आदिक तो विषयों से रीते होते हैं आत्मीय सुख या आत्मीय स्वरूप निष्ठा किसी विषय के नहीं हैं । स्वयं तद्रूप हैं, किन्तु ज्ञान या ध्यान तो किसी न किसी विषय का ही होगा । केवलज्ञान भी त्रिलोक त्रिकालवर्त्ती बहिरंगपदार्थ और आत्मीय अन्तरंग पदार्थों को विषय कर रहा है, यों ध्यान में भी कोई द्रव्य या पर्याय अथवा स्वकीय शुद्धात्मा विषय अवश्य पड जाते हैं विषयों से रहित हो रहे ध्यान को भावसाधनपना अथवा कर्तासाधनपना आदिक नहीं बन सकते हैं क्योंकि भाववान् पदार्थ के विना भाव का होना असम्भव है घट के विना घटत्व नहीं ठहर पाता है और कर्ता का अभाव माननेपर करणपना नहीं बन सकता है सर्वथा नित्यपन, अनित्यपन आदि एकान्तों के माननेपर कारक होनेकी व्यवस्था का असम्भव है इस बात को हम पूर्वप्रकरणों मे कह चुके हैं " क्रियाप्रकारीभूतोऽर्थः कारकम् " " क्रियान्वयित्वं वा कारकत्वम् " आदि कारकपना अनेकान्त सिद्धान्त में बनता है केवल स्वरूपालम्बन को ही ध्यान माननेपर ध्यान सुव्यवस्थित नही हो पाता है ।

न च विकल्पारोपिते विषये ध्यानमित्येकान्तवादोपि श्रेयान्, निर्विषयध्यानस्यापि काल्पनिकत्वप्रसंगात् कुमारीपरिकल्पितभोज्ये काल्पनिकभोजनवत् । न च परिकल्पितात् ध्याताध्यातुः फलमकल्पितरूपमुपपद्यते कल्पित भोजनादकल्पिततृप्तिवत् ।

ततो नैकान्तवादिनां ध्यानध्येयव्यवस्था, प्रमाणविरोधात् स्वयमिष्टतत्त्वनिर्णयायोगात् ध्यातुरभावाच्च । न हि कूटस्थपुरुषो ध्याता पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानहीनत्वात् क्षणिकचित्तवत् ।

यहां कोई एकान्तवादी पण्डित कह रहा है कि विकल्पनाओं से आरोपे गये विषय में ध्यान प्रवर्तता है जैसे श्मश्रुनवनीत नाम का परिग्रही मोंछ में लगे हुये मक्खन की भित्तिपर क्रयविक्रय अनुसार कोरी मनगढन्त रौद्रध्यान की कल्पनायें करता रहा था छोटे छोटे बच्चे अपने खेल खिलौनेपर अनेक निःसार कल्पनायें उठाया करते हैं। दुःस्वप्नों में भी रीती कल्पनायें उत्पन्न होती रहती हैं, इसी प्रकार ध्यान भी असद्भूत कल्पित पदार्थों में वर्तता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार एकान्तरूप से कथन करना श्रेष्ठमार्ग नहीं है। अनेक आर्त, रौद्र ध्यानों में व्यर्थ कोरी कल्पनायें उठाकर यह जीव पापबंध करता रहता है। किन्तु बहुत से आर्त्त रौद्र ध्यानों में विषयों का अवलम्ब पाकर ज्ञानधारा बहती है। धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान तो परमार्थरूप से वस्तु स्पर्शी ही हैं। आप शंकाकारों ने भी "ध्यानं निर्विषयं मनः" (सांख्यदर्शन छठा अध्याय पच्चीसवां सूत्र) ऐसा अभीष्ट किया है। यदि सभी ध्यान कल्पित अर्थ में प्रवर्त रहे माने जायेंगे, तब तो तुम्हारे यहां वास्तविक रूपसे माने गये विषयों का अवलम्ब नहीं लेकर लग रहे मनःस्वरूप ध्यान को भी काल्पनिक हो जाने का प्रसंग आ जायगा। जैसे कि गुडियां गुड्डों से खेलनेवाली लडकियों के द्वारा बहुत से झूठ मूट कल्पना कर लिये गये लड्डू, पूडी आदि भोज्य पदार्थों में भोजन भी काल्पनिक ही समझा जायगा। बच्चे, बच्चियां, रेत मट्टी के कल्पित लड्डू, पूडियों को मुख की आकृति बनाकर कल्पित भोजन कर लेती हैं, ऐसी कोरी कल्पना से क्रीडा मात्र के अतिरिक्त कोई तृप्ति नहीं हो जाती है। इसी प्रकार यहां वहां की मनोनीत कल्पना किये गये ध्यान से ध्याता आत्मा को वस्तुभूत अकल्पित फल हो जाना नहीं बन सकता है। मिट्टी के खिलौना हो रहे गाय, घोडे, बैल से वास्तविक दूध या बोझा ढोना, खींचना, कार्य नहीं हो सकते हैं जैसे कि कल्पित भोजन से भूंख दूर होकर अकल्पित तृप्ति नहीं हो जाती है। तिसकारण एकान्तवादियों के यहां ध्यान और ध्यान करने योग्य ध्येय पदार्थ की व्यवस्था नहीं हो सकती है। क्योंकि प्रमाण से विरोध आ जायगा। उनके यहां माने गये "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानं" "रागोपहति ध्यानं" "ब्रह्मात्मचिन्ता ध्यानं", "ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया आनन्ददायिनी स्थितिर्ध्यानम्" ये कोई भी ध्यान के लक्षण प्रमाणों से सिद्ध नहीं होते हैं। इसी प्रकार ध्यान करने योग्य कूटस्थ

आत्मा या सूर्यमण्डल मध्यवर्ती परमात्मा अथवा ब्रह्म आदिक ध्येय पदार्थ भी प्रमाणोंसे निर्णीत नहीं है यों स्वयं इष्ट किये गये पुरुष, प्रकृति आदि पच्चीस तत्त्व या प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थ अथवा द्रव्य, गुण, कर्म आदि सात पदार्थ एवं, सद्‌ब्रह्म आदिक ध्यान करने योग्य तत्त्वों का निर्णय नहीं हो पाया है। अतः ध्येय तत्त्व की व्यवस्था नहीं हुई। तथा ध्याता आत्मा का भी अभाव हो जानेसे ध्यान करना नहीं बनता है नित्यपक्ष या क्षणिक एकान्त आदि दर्शनों में आत्मा की सिद्धि नहीं हो पाई है। नैयायिक पण्डित सभी आत्माओं को नित्य, व्यापक मानते हैं, वेदान्ती अद्वैत ब्रह्म को मान बैठे हैं, बौद्ध बुध तो ज्ञान के अतिरिक्त आत्मा को स्वीकार ही नहीं करते हैं, सांख्यों के यहाँ आत्मा कमलपत्र के समान निर्लेप माना गया है। ये आत्मतत्त्व के स्वरूप कथन की परिभाषायें सब प्रमाणों से विरुद्ध पडती हैं। जब कि आत्मा निजोपात्त शरीरानुविधायी, ज्ञानात्मक, परिणामी, स्वसंवेद्य हो रहा है। वस्तुतः ऐसा ही आत्मा ध्यान का कर्ता, ध्याता बन सकता है। कापिलों का माना गया कूटस्थ, अपरिणामी पुरुष तो ध्याता नहीं, क्योंकि जो पहिली ध्यानान्तर की अवस्था या अध्यान की दशाको छोड़कर विवक्षित पदार्थ के ध्यान की पर्याय को धारण करेगा, वही ध्याता होगा, कूटस्थ पदार्थ में पूर्व स्वभावों का परित्याग उत्तर स्वभावों का ग्रहण करना और ध्रुवता इस परिणाम की हीनता है, जैसे कि सत् का सर्वथा विनाश और असत् का सर्वाङ्ग उत्पाद होना मान रहे बौद्धों के यहाँ मात्र क्षणस्थायी चित्त के पूर्व स्वभावोंका त्याग और उत्तर स्वभावों का ग्रहण तथा ध्रुवता इस सिद्धान्त लक्षणलक्षित परिणाम को नहीं धारने के कारण ध्यातापन नहीं सुघटित हो पाता है।

नापि प्रधानं तस्याचेतनत्वात् कायवत्। महदादिव्यक्तात्मा ध्यातेति चेन्न, तस्य प्रधानव्यतिरेकेणाभावात्। कल्पितस्य चावस्तुत्वात्संतानवत्। स्याद्वादिनां तु ध्यातास्ति, तस्योत्तमसंहननत्वविशिष्टस्य मूर्तिमत्त्वात्। तथा चाह–

सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणों की साम्य अवस्थास्वरूप प्रकृति भी ध्यान करनेवाली ध्याता (ध्यात्री) नहीं हो सकती ही है। क्योंकि सांख्यों ने उस प्रधान को अचेतन होना माना है। जैसे कि अचेतन शरीर विचारा ध्यान नहीं कर सकता है, उसी प्रकार चैतन्यरहित प्रधान भी ध्यान करनेवाला नहीं सुघटित होता है " सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्महतोऽहंकारोऽहंकारात्पञ्च तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गुणाः " (सांख्यसूत्र पहिला अध्याय ६१ वां सूत्र) अव्यक्त प्रधान के व्यक्त हो रहे महान् आदि परिणाम भी ध्याता हो जाते हैं, यह कहना भी तो ठीक नहीं पड़ेगा। क्योंकि उन महदादिकों का प्रधान से भिन्नपने

रूपसे अभाव है जैसा ही प्रधान अचेतन है वैसे ही उससे अभिन्न हो रहे महान्, अहंकार आदि भी अचेतन हैं, अचेतन पदार्थ ध्यान करनेवाला नहीं है, जैसे कि घट, पट, आदि पदार्थ किसी का ध्यान नहीं लगा पाते हैं। कल्पना से गढ लिये गये बुद्धिशाली महान् आदि तत्त्वों का वस्तुपन निमित नहीं हो पाता है। जैसे कि पूर्ववर्त्ती और उत्तरवर्त्ती कालोंमें कुछ भी नहीं अन्वय रखनेवाले क्षणिक चित्तों की सन्तान(लडी)वास्तविक नहीं बन सकती है एक सौ ग्यारह(१११)या एकसौ आठ(१०८)दोनों की मालामेसे अंगुलीसे छुपे जारहे एक वर्तमानकालीन मालिकाका ही अस्तित्व मानकर एक सौ दस या एक सौ सात पहिले पिछले मणियोंका सर्वथा असद्भाव माननेवाले बौद्धों के यहां जैसे जाप देनेयोग्य माला नहीं बनसकती है उसी प्रकार बौद्धोंके यहा संतान समुदाय प्रेत्यभाव आदि भाव नहीं बन सकते हैं। इस रहस्य का विशेष विवेचन ग्रन्थकारने अपने अष्ट सहस्री ग्रन्थमें किया है। यों तिरोभाव, आविर्भाव को माननेवाले कापिलों और द्विती यक्षणमें सबका ध्वंस माननेवाले अक्रियावादी बौद्धों के यहां संतान यानी पूर्व, अपर अनेक पर्यायों की वास्तविक लडी नहीं बन पाती है। बौद्ध पण्डित पदार्थों में क्रिया होना नहीं मानते हैं उनका विचार है कि मनुष्य, घोडा, बन्दुककी गोली, तोपसे गोला छूटना ये जो पदार्थ चलते दिखते उनमें क्रिया नहीं होती है किन्तु पहिले आकाश प्रदेशपर जो घोडा या गोला था उसका समूलचूल नाश होकर दूसरे प्रदेश पर नया ही घोडा या गोला उपज गया है, इसी प्रकार मीलों तक यही विनाश,उत्पाद,की प्रक्रिया होती रहती है। सिनेमा (दृष्य नाटक) में कोई चित्र चलते नही हैं, किन्तु भिन्न भिन्न प्रकार के सादृश नवीन चित्रों का सन्मुख उत्पाद और पूर्व चित्रों का विमुख विगम होते रहनेसे स्थूल बुद्धिवाले प्रेक्षक उन उन पदार्थोंको क्रियावान् समझ बैठते हैं। जैन सिद्धान्त अनुसार बौद्धोंकी उक्त पंक्तियां अलीक हैं। सिनेमा के चित्रोंमें भले ही क्रिया नही होय मात्र विद्युत्शक्तिसे रीलें सरकती हुई चलीं जाय किन्तु दृष्यमान मनुष्य, घोडे, रेलगाडी विमान, आदिमें क्रिया हो रही प्रत्यक्ष सिद्ध है। क्रियावान् पदार्थ भी एकत्व प्रत्यभिज्ञान द्वारा कालान्तर स्थायी सिद्ध हो रहे है। यों उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, स्वरूप परिणामको धारनेवाले पदार्थको ही अर्थक्रिया को कररहे सत् है। कापिल आदि दार्शनिकोंके यहां ध्यातातत्त्व नहीं बनपाती है हां स्याद्वादी विद्वद्वरेण्योंके यहां तो परिणामी आत्मा ध्यान करनेवाला ध्याता हो जाता है। क्योंकि उत्तम संहननोंसे विशिष्ट होरहे उस संसारी अनादि कर्मबन्धनबद्ध आत्माके मूर्तिसहितपना प्रमाणोंसे सिद्ध है। उस ही प्रकार आत्माके ध्यातापनको अग्रिम वार्तिक में ग्रन्थकार स्वयं प्रतिपादन कर रहे हैं।

प्रोक्तं संहननं यस्य भवेदुत्तममिष्यते ।
तस्य ध्यानं परं मुक्तिकारणं नेतरस्य तत् ॥ ७ ॥

जिस संसारी आत्माके बढिया कहे गये पहिले तीन संहनन होंगे वह आत्मा उत्तम संहननवाला अभीष्ट किया गया है। और उसी आत्मा के मुक्ति का कारण हो रहा उत्कृष्ट ध्यान हो सकेगा । अन्य आत्माके या प्रकृति, महान्, क्षणिकचित्त, अद्वैत ब्रह्म, चित्र अद्वैत, आदिको ध्यातापन और वह ध्यान करना नहीं बनपाता है । ध्यान करते समय पहिली अध्यान अवस्था को या अन्य ध्यान दशाको छोडना पडता है और नवीन ध्यान पर्याय को पुरुषार्थद्वारा उपजाना पडता है । तथा ध्याता आत्मा परिणामी होकर स्थिर रहता है । मूर्त आत्मा मूर्तमनके द्वारा मूर्त, अमूर्त, पदार्थों का चिंतन करता रहता है । ध्यान अवस्थामे निमग्न होकर कतिपय मुनिजन शृगाली, व्याघ्री आदि द्वारा भक्षण किये जानेको कष्टवेदनाओं का अनुभव भी नहीं करपाते हैं । " नमोस्तु तेभ्यो मुनिवर्य्येभ्य : " ।

आद्यं संहननं त्रयमुत्तमसंहननं सोयमुत्तमसंहननस्तस्य ध्यानं न पुनरनुत्तमसंहननस्य तस्य ध्यानशक्त्यभावात् । विहितपवनविजयस्यानुत्तमसंहननस्यापि ध्यान सामर्थ्यं मनोविजयप्राप्तेरिति चेत्, स परपवनविजयः कुतः ? गुरूपदिष्टाभ्यासातिशयादिति चेन्न,तदभ्यासस्यैवानुत्तमसंहननेन विधातुमशक्यत्वात् । तदभ्यासे पीडोत्पत्तेरार्त ध्यानप्रसंगाच्च । पवनधारणायामेवावहितमनसोऽन्यद्ध्येये प्रवृत्त्यनुपपत्तेः सकृन्मनसो व्यापारद्वितयायोगात् ज्ञानयौगपद्यप्रयत्नयौगपद्याभ्यां मनसोऽव्यवस्थितेः ।

नामकर्मकी उत्तर प्रकृति होरहे छह भेदवाले संहनन कर्म के आदि में होनेवाले वज्रऋषभनाराच संहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराच संहनन, ये तीन भे उत्तम संहनन कहे गये हैं । यह तीनों प्रसिद्ध उत्तम संहनन जिस आत्माके उदय प्राप्त कार्यान्वित है वह आत्मा उत्तम संहनन है । यह बहुव्रीहिसमास कर उत्तम संहनन शब्द का अर्थ करदिया गया है । उस उत्तम संहननवाले आत्माके ही बढिया ध्यान होसकता है । किन्तु फिर जिस हीनशक्तिक जीवका उत्तम संहनन है, उस निर्बल जीवके ध्यान होना नहीं बनता है जबकि उसके बढ़िया ध्यान करनेकी शक्ति का अभाव है ।

यहां कोई हठयोगी या प्राणायाम को पुष्ट करनेवाला पण्डित आक्षेप कर रहा है कि जो श्वासोच्छ्वास आदि वायुओंपर विजय प्राप्त कर चुका है, वह भले ही उत्तमसंहननोंका धारी नहीं भी होय फिर भी उसके ध्यान करनेकी सामर्थ्य है क्योंकि

पवन का विजय करते हुये उसने मनपर विजय प्राप्त करली है, मनोविजयी योगी मनको यहां वहां न हीं भटकाकर एक पदार्थमे लगा कर ध्यान जमा सकता हैं। ऐसा कहनेपर तो ग्रन्थकार पूछते हैं कि कि वह उत्कृष्ट पवनका विजय करना भला किस कारणसे उत्पन्न होगा ? बताओ। इस पर यदि तुम यों कहो कि योगाभ्यासी गुरुके उपदिष्ट किये गये अभ्यास मार्गकी अतिशय वृद्धि होजानेसे पवनोंके ऊपर विजय प्राप्त कर लिया जाता हैं। कई दिनों और महीनों तक हठयोग समाधि लगाकर मृतकके समान बैठे या पड़े रह सकते हैं।

आचार्य कहते हैं कि यों तो नही कहना, क्योंकि उत्तम संहननोंसे रहित हो रहे पुरुष करके उस परम पवन का अभ्यास या विजय नहीं किया जासकता हैं जो हीन संहनन पुरुष यदि पवनका विजय करेगा या दीर्घ कालतक प्राणायाम करेगा तो शरीर मे पीडा उत्पन्न होजानेके कारण मानसिक व्यथा अनुसार घोर आर्तध्यान होजानेका प्रसंग आजावेगा। हठरूपेण मनोविजय होकर आत्माका शुभ ध्यान नहीं बन पायगा।

एक बात यह भी हैं कि मस्तक कपोलमे चढाकर पवनको धारनेमे ही उसका चित्त एकाग्र लगा रहेगा, ऐसी दशा होजानेपर दूसरे ध्येय पदार्थमे मनकी प्रवृत्ति लगना नहीं बन सकता है, एक ही वारमैं मनके दोनों व्यापार हो जानेका योग नहीं हैं " युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगं " एक ही बारमैं दो आदि ज्ञानों का नहीं उपजना ही मनका ज्ञापक हेतु है। पापड, कचोडी, पुरानापान, खाते समय जो पांचों इन्द्रियों द्वारा एक साथ पांचों ज्ञान हो रहे प्रतीत होते है वहां भी शीघ्र क्रमसे उत्पन्न होजानेके कारण युगपत्पनेका भ्रम हैं, वस्तुतः वे क्रमसे हुये हैं। नैयायिक, जैन, बौद्ध, वैशेषिक सभी दार्शनिक एक समयमैं एक ही ज्ञानका उपजना स्वीकार करते हैं। " तद्यौगपद्यलिङ्गत्वाच्च न मनसः " न्यायसूत्र दुसरा अध्याय प्रथम आन्हिक चौवीसवा सूत्र हैं। तथा " प्रयत्नायौगपद्याज् ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् " वैशेषिक सूत्र तीसरा अध्याय दूसरा आन्हिक तीसरा सूत्र। इन प्रमाणो से सिद्ध है कि एक ही समयमें जब दो उपयोग नहीं कर सकता है, कतिपय ज्ञानों के एक साथ उपज जावे या दो चार प्रयत्नों के एक समयमैं ही उपज जाने करके मनकी व्यवस्था नहीं हो पाती है। किन्तु वैशेषिक सूत्र अनुसार प्रयत्नोंका युगपत्पना ही होनेसे और ज्ञानों का एक साथ उपजना नहीं होनेसे ही प्रत्येक जीवित शरीरमैं एक एक मनकी व्यवस्था हो रही हैं। मुख्य

करनेवाला या चञ्चल व्याख्याता जो एक समय मे मुखसंचालन, भृकुटी मटकाना, हाथ-पांव चलाना यों अनेक प्रयत्न कर रहा है। वह सब मनके शीघ्र संचार अनुसार क्रमसे ही होते हैं। ऐसा कणाद अनुयायी मान रहे हैं। किन्तु जैनसिद्धान्त अनुसार ज्ञानमे मनकी आवश्यकता नहीं है। एकेन्द्रिय जीवसे लेकर असंज्ञी पचेन्द्रियतक जीवोंके ज्ञानमें मन का योग नही है। क्योंकि उनके मन ही नही हैं। तब तो "आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिंगम्" यह वैशेषिकोंका मन्तव्य युक्तिपूर्ण नहीं है। तथैव एक मनोयोग द्वारा या वचनयोग द्वारा एक ही समयमे कतिपय प्रयत्न हो रहे देखे जाते है। गोह, साँप, छपकली आदि के अवयव कट जाने पर या अन्य जीवोंके बोलते हुये, विचार कर चलनेपर, कई प्रयत्न हो रहे हैं। हा ज्ञान एक साथ कई कतिपय नहीं हो सकते है। "एकस्मिन् न द्वौ उपयोगौ" (अष्टसहस्री) एक समय मे दो उपयोग नही हो सकते हैं,लब्धियाँ चार तक भले ही हो जांय"एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः" यह सूत्र लब्धियों के संभव जाने की अपेक्षासे है।

एतेन प्राणायामधारणयोरध्यानकारणत्वमुक्तं प्रत्याहारवत्। यमनियमयोस्तु तदंगत्वमिष्टमेव। असंयतस्य योगाप्रसिद्धेः।

इस पूर्वोक्त कथन करके प्राणायाम और धारणाको भी ध्यान का कारणपना नहीं है। यह कहा गया समझो, जैसे कि प्रत्याहार को ध्यान का कारणपना नही हैं भावार्थ-योगदर्शनमे "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि" साधनपाद का उनतीसवां सूत्र हैं। यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योगके आठ अंग माने हैं। अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः (३० वाँ सूत्र) अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग ये पांच यम हैं "शौच संतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः" (समाधिपाद बत्तीस वा सूत्र) वाह्य, अभ्यन्तर शौच रखना, संतोषवृत्तिः, तपश्चरण, स्वाध्यायकरना, फल की इच्छा छोड़ कर ईश्वर मे चित्त लगाना ये पांच नियम है "स्थिरसुखमासनम्" (४६ वाँ सूत्र) स्थिर और सुखदायी सिद्धासन, भद्रासन, वीरासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि योगके आसन हैं। "तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः" (साधनपाद उनञ्चासवाँ सूत्र) बाहर की वायु का भीतर जाना श्वास है और भीतर की वायु का बाहर निकालना प्रश्वास है। उस

आसनके सिद्ध हो जाने पर श्वसन और प्रश्वास की गति का अभाव होजाना प्राणायाम है।

" स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुसार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः " (साधनपाद ५४ वां सूत्र) अपने अपने विषयों के साथ अच्छा संबन्ध नहीं होते हुये इन्द्रियोंका मन के स्वरूप अनुकरण होजाना ही मानो प्रत्याहार है अर्थात् यम, नियम के अनुष्ठान द्वारा संस्कृत होकर चित्त अपने विषयों से विरक्त होजाता है तब मनके अधीन होकर अपने अपने विषयों मे सञ्चार करनेवाली इन्द्रियां भी विषयोंसे विमुख होकर चित्त-स्थिति के समान स्थित हो जाती हैं।

विषयों मे नहीं जाने देकर इन्द्रियोंको अन्तर्मुख रोके रहना प्रत्याहार है। "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा " (योगसूत्र विभूतिपाद पहिला सूत्र) चित्त का किसी नाभिचक्र, हृदयकमल मूर्धभाग, नासिकाअग्र, जिव्हाअग्र, आदि प्रदेशो मे बन्धन करना यानी स्थिर करना धारणा है। " तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् " (विभूति पाद दूसरा सूत्र) धारणा के अनन्तर उस ध्येय पदार्थ मैं चित्तवृत्ति की एकतानता को ध्यान कहते हैं " तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः " (विभूतिपाद तीसरा सूत्र) जैसे जपाकुसुम के सन्निधान से स्फटिकमणि अपने श्वेत रूप को त्यागकर पुष्प के रक्त रंग से रक्त प्रतीत होतीं है उसी प्रकार अभ्यासद्वारा अपने ध्यान स्वरूप से शून्य होरहा मानू वह ध्यान ही ध्यानात्मक रूप को त्यागकर केवल ध्येयरूप प्रतीत होने लगजाता है वह समाधि है, जहां ध्याता, ध्यान, ध्येय तीनो प्रतिभासते है वह ध्यान है और केवल स्वरूपशून्य ध्येय का ध्यान लगा रहना समाधि हैं। जिस समाधि के अभ्यास से सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार हो जाता है, वह सम्प्रज्ञात समाधि है यों पतञ्जलि ने योगसूत्र मे निरूपण किया है।

यहां आचार्य कह रहे हैं कि पवन पर विजय प्राप्त कनने से ध्यान की सामर्थ्य नही आती है इस कथनसे प्राणायाम और धारणा को भी ध्यान का कारणपना नहीं है यह कह दिया गया समझो, जैसे प्रत्याहार ध्यान का कारण नही होता है। ये तीनों आत्मा की ध्यान धारने की शक्ति को पुष्ट नहीं करते हैं। हां, यम और नियम को तो ध्यान या योग का अंगपना इष्ट ही है, यम तो आपने जैन सिद्धान्त अनुसार ही मान लिये है " अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः '' इत्यादिक सिद्धियों का होजाना

भी समुचित है जो योगी (ढोंगी) यम, नियमों से रीता होकर संयमी नहीं हैं उसके योग होजाने की प्रसिद्धि नहीं हैं।

आ अन्तर्मुहूर्तादिति कालविशेषवचनाच्च नानुत्तमसंहननस्य ध्यानसिद्धिः, तेनोत्तमसंहननविधानमन्यस्येयत्कालाध्यवसायधारणासामर्थ्यादुपपन्नं भवति। तत ऊर्ध्वं तन्नास्तीत्याह—

ध्यान के लक्षणसूत्र मे अन्तर्मूहूर्त कालसे पहिले कालतक ही ध्यान लगता है, इस प्रकार कालविशेष की मर्यादाका निरूपण करदेनेसे भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि जो प्राणी उत्तम संहननोंका धारी नहो है, उसके ध्यानको सिद्धि नहो बनती है तिस कारण सूत्रकारने ध्यान के लिये तीन हो आदि के उत्तम संहननों का विधान किया है अन्य निकृष्ट संहननवाले जोव के इतने कतिपय आवलीसे प्रारम्भकर ४८ मिनट मुहूर्त के भीतर अन्तर्मुहूर्त काल तक चित्त एकाग्रकर अध्यवसाय यानी ध्यान को धारने की सामर्थ्य नहीं हैं, इससे युक्तिपूर्ण यही सिद्ध होता हैं कि उत्तम संहननवाला पुरुष ही अन्तर्मुहूर्त कालतक चित्तको एकाग्रकर ध्यान लगा सकता है, उस अन्तर्मुहूर्त-कालसे ऊपर पूरा मुहूर्त, दिन, रात, महोना, दो महोना तक ध्यान लगाये रहने को यह सामर्थ्य किसी भी जोव के नही हैं। इसी बात को ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिक द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं।

अन्तर्मुहूर्ततो नोर्ध्वं सम्भवस्तस्य देहिनाम् ।
आ अन्तर्मुहूर्तादित्युक्तं कालान्तरविच्छिदे ॥८॥

अन्तर्मुहूर्त कालोंसे ऊपर कालोंतक प्राणियों के उस ध्यानका लग जाना सम्भव नही हैं, इस कारण मुहूर्त, दिन, मास, आदिक कालान्तरों का व्यवच्छेद करने के लिये मूलसूत्रमे " आ अन्तर्मुहूर्तात् " यानी अन्तर्मुहूर्ततक ही ध्यान हो सकता हैं, यह कहा गया है।

नह्युत्तमसंहननोपि ध्यानमन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमविच्छिन्नं ध्यातुमीष्टे पुनरावृत्त्या परान्तर्मुहूर्तकाले ध्यानसंततिश्चिरकालमपि न विरुध्यते।

उत्तम संहननवाला जीव भी अन्तर्मूहूर्त से उपर कालतक विच्छेदरहित ध्यान को ध्याने के लिये समर्थ नही है। अन्तर्मूहूर्त से ऊपर जाने पर व्यवितरूपसे ध्यान

की लड़ी टूट जायगी, हाँ पुनःपुनः कतिपय ध्यानोंकी आवृत्ति करके उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त काल में या दो चार मुहूर्तकाल मे कतिपय सन्तानी ध्यानों की सन्तति चिरकाल तक भी होती रहे कोई विरोध नहीं पडता है, जैसे कि उत्तरवर्ती वैक्रियिक शरीर अन्तर्मुहूर्त काल से अधिक नही ठहरता है, किन्तु जिन जन्माभिषेक कल्याणक में या अन्य क्रीडा स्थलो मे देव, इन्द्र, घन्टों, दिनों, तक उत्तर शरीर द्वारा अनेक क्रियायें करते रहते है यहां भी वैक्रियिक शरीर की उत्तर, उत्तर अनेक विक्रियाओं का उत्पाद होकर शरीर-संतति बहुत काल तक ठहर जाती है।

ननु यद्येकान्तर्मुहूर्तस्थास्नु ध्यानं प्रतिसमयं तादृशमेव तदित्यंतसमयेपि तेन तादृशेनैव भवितव्यं तथा च द्वितीयान्तर्मुहूर्तेष्वपि तस्य स्थितिसिद्धेर्न जातु विच्छेदः स्यात्। प्रथमान्तर्मुहूर्तपरिसमाप्तौ तद्विच्छेदे वा द्वितीयादिसमये विच्छेदानुषक्तेः क्षणमात्रस्थितिः ध्यानमायातं सर्वपदार्थानां क्षणमात्रस्थास्नुतया प्रतीतेरक्षणिकत्वे बाधकसद्भावात् इति केचित्,

अव बौद्ध का पूर्वपक्ष प्रारम्भ होता है कि जैन विद्वान यदि ध्यान को दो चार सैकिण्ड या चार छः मिनट आदि एक अन्तर्मुहूर्त काल तक ही ठहरने की टेव को धारने वाला मानते है, ऐसी दशामे एक अन्तर्मुहूर्त काल तक ठहर रहा, वह ध्यान, पिण्ड विचारा समय समय प्रति वैसा ही एकसा रहेगा, ज्ञानपर्यायों का दूसरे क्षण में बदल जाना जैन भी इष्ट करते है। अन्तर्मुहूर्त तक के ध्यान में असंख्याते या स्वसंवेद्य संख्याते ज्ञान हो चुके है, एक ध्यान मे पहिले ज्ञान ने दूसरा ज्ञान पैदा किया, दूसरा ज्ञान नष्ट हो रहा तिसरे ज्ञानको उपजा गया, मध्यवर्ती ज्ञानने अपने अगिले समय के ज्ञान को बनाया, इसो प्रकार विनाश, उत्पाद होते होते ध्यान के अन्तरसमय मे भी वह ज्ञान उस हीं प्रकार का यानी उत्तर समयवर्त्ती ज्ञान को पैदा करते रहने वाला होना चाहिये और तैसा होने पर दूसरे, तीसरे, चौथे आदि अन्तर्मुहूर्तों मे भी उसी सदृश ज्ञान का बना रहना सिद्ध है, वही चक्र चार छः घण्टे तक भी चल सकता है और ऐसा होते रहने से कदाचित् महीनों, वर्षों तक भी ध्यान का विच्छेद (अन्तराल) नहीं पड सकेगा, कोई भी ज्ञान थक कर यों नही कहेगा कि में आगे ज्ञानको उत्पन्न नहीं करूंगा जैसे कि ध्यान का मध्यवर्ती ज्ञान अग्रिम क्षण मे ज्ञान को उपजाने के लिये निषेध नहीं करता है।

यदि आप जैन यो कहें कि पहिले अन्तर्मुहूर्त के ठीक समाप्त हो जाने पर उस ज्ञान सन्ततिरूप ध्यान का विच्छेद मान लिया जायेगा, पश्चात् दूसरे ध्यानका प्रारम्भ

हो जायगा, इस पर हम बौद्ध कहेंगे कि तब तो दूसरे, तीसरे आदि समयों मे ही झट ज्ञानके विच्छेदन होजाने का प्रसंग आजावेगा, बालू की बनी लेजनी यदि बीच मे से खिर जाती है तो प्रारम्भ होते ही दूसरे, तीसरे कणोंसे भी बिखर सकती हैं, ऐसी दशा हो जानेपर अन्तर्मुहूर्त के अन्तिम समय के ज्ञान समान आद्यज्ञान उपजते ही दूसरे समयमे ज्ञान के टूट जाने से ध्यान का केवल एक क्षणतक ठहरना हीं प्राप्त हुआ, यथार्थ (सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय अनुसार) विचारने पर दीप कलिका, बिजली, जलबबूला आदिके समान सभी घट, पट, ज्ञान, ध्यान, चेतन, अचेतन, पदार्थोंका मात्र एक क्षण तक ही स्थित बने रहना स्वभाव होने करके प्रतीति हो रही है। पदार्थोंका क्षणिकपने से रहित कालान्तर स्थायीपना या नित्यपना स्वरूप माननेपर अनेक बाधक प्रमाणों का सद्भाव है, अतः ध्यान एकक्षणस्थायी ही मानना चाहिये। यहां तक कोई बुद्धमत अनुयायी कह रहे हैं।

तेषामपि प्रथमक्षणे ध्यानस्यैकक्षणस्थायित्वे तदवसानेप्येकक्षणस्थायित्वप्रसंगात् न जातुचिद्विनाशः सकलक्षणव्यापिस्थितिप्रसिद्धेः, अन्यथैकक्षणेपि न तिष्ठेत्।

अब आचार्य महाराज लगे हाथ टकासा उत्तर देते है कि उन बौद्धों के यहां भी पहिले क्षणमे उपज गये ज्ञानस्वरूप ध्यान का यदि एक क्षणतक स्थायीपना माना जायगा तब तो क्षण के आदि, मध्य समान अन्त मे भी एक क्षणस्थायित्व यानी एक क्षण तक टिके रहना स्वभाव बने रहनेका प्रसंग आवेगा, तदनुसार वह ध्यान दूसरे समयमे भी मर नही सकता हैं, पुनः दूसरे समयके अन्तमे भी एकक्षणस्थायित्वशील बना ही रहेगा, यों तीसरे क्षणमे भी ज्ञान का बाल बाँका नही हो सकता है, इसी धारा अनुसार ज्ञान अनेक वर्षों या अनन्तकाल तक टिकाऊ हो जायगा, यों तुम्हारे समान सूक्ष्मदृष्टी से बाल की खाल निकालने पर किसी भी पदार्थ का कभी विनाश नहीं हो पायगा। फेंके गये डेल या गोला चलते ही चले जायंगे, कहीं रुकेंगे नहीं आदि, मध्य के वेग जैसे क्रिया को उपजाते हैं तद्वत् २ प्राचीय वेग भी धाराप्रवाह क्रियाको उत्पत्ति करते रहेंगे। अथवा क्रियोत्पत्ति नही मानने वालोंके यहां स्वलक्षण ही उत्तरोत्तर अनंत प्रदेशोंपर उत्पन्न होता चला जायगा। सम्पूर्ण अनादि अनन्त क्षणों मे व्याप रहे पदार्थों को स्थिति बने रहना प्रसिद्ध हो जायगा, अन्यथा यानी समयके अन्तमे ज्ञानका नाश मानोगे, तब तो समयके आदि मे ही ज्ञान क्यों नहीं नष्ट हो जाय? ऐसी दशामें वह ज्ञान एक पूरे क्षण भी नही ठहर पायेगा, तुम्हारा क्षणिकपना (द्वितियक्षणवृत्ति ध्वंसप्रतियोगित्वं) भी हाथसे निकल जाता है।

अथैकक्षणस्थितिकत्वे नोत्पत्तिरेव क्षणास्थायिनः प्रच्युतिरतो न सदावास्थितिः। तह्यंतर्मुहूर्तस्थितिक-ध्यानवादिनामन्तर्मुहूर्तादुत्तरकालं समयादिस्थितिकत्वेनोत्पत्तिरेवा नंतर्मुहूर्तस्थायिनः प्रच्युतिरन्तर्मुहूर्तस्यास्नुतयात्मलाभ एवोत्पत्तिरिति नाविच्छेदशक्तेः सततावस्थितिप्रसंगो यतः कौटस्थ्यसिद्धिः।

इसके अनन्तर बौद्ध यदि यों कहना प्रारम्भ करें कि एक क्षण मात्र ठहरने की टेव रखनेवाले क्षणस्थायी पदार्थ की एक क्षण मात्र में हो जिसको स्थिती होय, इस स्वरूपसे उपजना ही तो द्वितीय क्षण मे नहीं ठहरनेवाले का विनश जाना है, यानी प्रथम क्षण की उत्पत्ति हो द्वितीय क्षण मैं ध्वंस हो जाना स्वरूप है, जो भी कोई पदार्थ उपजेगा द्वितोय क्षण मे अपनी होनहार मृत्यु को साथ लेकर ही उपजेगा, स्वचतुष्टय की अपेक्षा उपज रहे अस्तित्व के साथ परचतुष्टय अपेक्षा नास्तित्व का साथ लगा रहना जैनोंने भी अभीष्ट किया है, पूर्व पर्याय का ध्वंस और उत्तरक्षणवर्ती पर्याय के उत्पाद हो जाने का एक ही समय है, इस कारण हम बौद्धों के यहाँ पदार्थों की सदा अवस्थिति बने रहने का दोष नहीं लग पायेगा, जोकि जैनोंने हमारे ऊपर तान के तोर समान मारा था, एक क्षण के पीछे विच्छेद पड़ता चला जायगा।

आचार्य कहते हैं कि तब तो जिस ध्यान की अन्तर्मुहूर्त स्थिति है ऐसे ध्यान के काल की पक्ष को ग्रहण कर रहे जैन विद्वान वादियों के यहाँ भी यही समाधान लागू हो जायगा। पहिला ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक ठहरेगा, दूसरा ध्यान आवली कालसे ऊपर एक समय, दो समय, आदि असंख्याते समयों तक स्थितिको लेकर के अन्तर्मुहूर्त तक उपज जावेगा। जघन्ययुक्तासंख्यात प्रमाण समयों की एक आवली है, संख्याती आवलियोंका एक अन्तर्मुहूर्त होता है, एक समय अधिक आवली भी अन्तर्मुहूर्त मे गिनी गयी है। यों एक समय, दो समय आदि की स्थिति सहितपने करके अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान का उपज जाना ही अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं ठहरने वाले ध्यान का ध्वंस हो जाना है तथा अन्तर्मुहूर्त तक स्थितिशील होकर के ध्यान का आत्मलाभ हो जाना हो ध्यान की उत्पत्ति है, जो ध्यान अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर ही उपजा है,अन्तर्मुहूर्त के पीछे समय में उसकी मृत्यु हो जाना अनिवार्य है।

इस प्रकार नहीं विच्छेद होने की शक्ति के सर्वदा अवस्थित बने रहने का प्रसंग नहीं आता है। जिससे कि ध्यान के या अन्य घट, पट आदि पर्यायों के नित्य

कूटस्थपन की सिद्धि हो जाय अर्थात् अन्तर्मुहूर्त तक ठहरकर वह ध्यान अवश्य नष्ट हो जायगा, यों प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में नाना ज्ञानों के अन्तराल पड़ते रहेंगे, वर्षों या अनंत काल तक एक ही ध्यान बने रहने का दोष हम जैनों के ऊपर नहीं लागू होगा, ध्यान ही क्या, किसी भी पदार्थ का कूटस्थ नित्य हो जाना हम स्वीकार नहीं करते हैं ।

कथमन्यदान्यस्योत्पत्तिरंतर्मुहूर्तस्थास्नोः प्रच्युतिरतिप्रसंगात् इति चेत्, कथमेकक्षणप्रच्युतिः क्षणान्तरस्थितिकत्वेनोत्पत्तिरन्यस्य स्यादिति समः पर्यनुयोगः सर्वथातिप्रसंगस्य समानत्वात्। तथा च न क्वचिदुत्पत्तिः क्षणार्थानां सिद्ध्येत् विनाशोपि नानुत्पन्नस्य भावस्येति नित्यवादिनां कूटस्थार्थसिद्धिरबाधिता स्यात् क्षणिकत्व एव बाधकसद्भावात्।

बौद्ध पुनः आक्षेप करते हैं कि अन्य समय मे यानी दूसरे अन्तर्मुहूर्त में अन्य ध्यान यानीं दूसरे ध्यान का उपज जाना भला अन्तर्मुहूर्ततक स्थितिस्वभाववाले पहिले ध्यान का नाश हो जाना कैसे माना जा सकता हैं ? अपने घर का स्थित रहना क्या दूसरे घर का विनाश कहलावेगा ? कभी नहीं ।

यों कुचोद्य करने पर तो ग्रन्थकार कहते है कि तुम बौद्धों के यहां भी यही प्रश्न लागू हो सकता है । सुनिये कि दूसरे अन्य ज्ञान का अन्य दूसरे क्षण मे ही स्थितिसहितपने करके उपज जाना ही भला पहिले ज्ञान का एक क्षण पीछे ही झट ध्वंस हो जाना किस प्रकार हो सकेगा ? बताओ । इस प्रकार सकटाक्ष व्यर्थ के प्रश्न उठाना स्वरूपपर्यनुयोग तुम्हारे ऊपर भी समान रूपसे लागू हैं, दूसरों को दूषण देना या निग्रहप्राप्त कर देने की इच्छा रखने वाले एकाक्ष को अपने ही ऊपर स्वयं दोषों के पड जाने का लक्ष्य रखना चाहिये, विप्रतिषेध या सहानवस्थान विरोध के प्रकरण में दूसरे का उपजना पहिले के विनश जाने से अविनाभावी कहा गया है, अतः जैनों के ऊपर बौद्ध अतिप्रसंग दोष उठावेंगे, उसी ढंगसे अतिप्रसंग दोष सभी प्रकारों से बौद्धों के ऊपर भी समानरूपेण लग बैठता है । बौद्ध जैसा उसका निराकरण करेंगे वैसा ही निवारण हमारी ओर से भी समझा जाय, क्षणस्थिति और अन्तर्मुहूर्त स्थिति के प्रश्नोत्तर दोनों ओर से समान है, प्रत्युत तिस प्रकार अन्वयरहित कोरी क्षणिकता मानने पर बौद्धों के यहां क्षणिक पदार्थों का किसी भी समय में उपजना सिद्ध नहीं हो सकेगा, जो पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुआ है, उसका विनाश हो जाना भी नहीं सिद्ध हो सकेगा, यों उत्पाद और विनाश से रहित पदार्थों के नित्यपन को बक रहे, वादियों के यहां कूटस्थ अर्थ की सिद्धी निर्बाध हो जावेगी, बौद्धों के क्षणिकत्व पक्ष में ही अनेक बाधक प्रमाणों

का सद्भाव है, बौद्धों का घातक शस्त्र कुपिशाच या कृत्यादेवी के उपस्थित कर देने के समान उन्हीं के ऊपर गिरता है नित्यपन या कालान्तरस्थायीपन को पुष्टि मिलती है, जिसका कि बौद्ध नखशिखतक पसीना बहाकर खन्डन करना चाहते हैं।

स्यादाकूतं क्षणिकवादिनां क्षणादूर्ध्वं प्रच्युतिर्द्वितीयक्षणस्थितिकत्वेनोत्पत्तिः, ततो नोत्पत्तिविपत्तिरहितं तत्संततमनुषज्यते यतः क्षणिकत्वसिद्धिर्वाप्रतिहता न स्यादिति। तदसत्, तथान्तर्मुहूर्तस्थितिकत्वस्यापि सद्धेः सर्वथा विशेषाभावात्।

संभवतः क्षणिकवादी बौद्धों का यह साभिप्राय चेष्टित होवे कि क्षणिक की ही पक्ष को कहने वाले हम बौद्धों के यहां पहिला पर्याय का क्षण से ऊपर विनाश हो जाना ही दूसरी पर्याय का द्वितीय क्षण मे स्थिति हो जाने रूप करके उपज जाना हैं, यों उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य घटित हो जाते हैं, आप जैनों के यहाँ भी ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यों की रक्षा इस ही प्रकार की गयी हैं, तिस कारण उत्पत्ति और विनाश से रहित हो रहा सन्ता वह क्षणिक स्वलक्षण पदार्थ सतत(सर्वदा) अवस्थित रहना यह प्रसंग उठाया जाता और जिससे क्षणिकपने की सिद्धि निर्बाध नहीं होती। अर्थात् क्षणस्थितिशील पदार्थ सभी उत्पत्ति और विपत्ति से सहित हैं, वे एक क्षण ही ठहरते हैं, कोई पदार्थ नित्य नहीं है, फिर पदार्थों की सकल क्षणों मे व्याप रहो स्थिति का प्रसंग हमारे ऊपर क्यों उठाया जा रहा है ?

आचार्य कहते हैं कि वह बौद्धोंका कहना प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि तिस ही प्रकार ध्यानके अन्तर्मुहूर्त तक स्थित बने रहने की भी सिद्धि हो जाती है, सभी प्रकारों से कोई विशेषता नहीं है, जैसे आप क्षणिक पदार्थ की क्षणकाल से ऊपर मृत्यु होजाना ही अन्य स्वलक्षण की दूसरे क्षण मे ही स्थिति होनेपनेसे उत्पत्ति मानते हैं, उसी प्रकार प्रकरणप्राप्त अन्तर्मुहूर्त से ऊपर विवक्षित ध्यान का नाश हो जाना ही अन्य ध्यान का दूसरे अन्तर्मुहुर्त तक ही स्थित रहनेपने करके उत्पाद हैं, यों जैनसिद्धान्त के अनुकूल उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों की व्यवस्था को यदि आप मान रहे हैं, तब तो हमारा अभीष्ट मनोरथ सिद्ध हो जाता है।

न चैवं क्षणिकत्ववस्तुनो नाशोत्पादौ समं स्यातां प्रथमक्षणभावित्वादुत्पादस्य, द्वितीयक्षणभावित्वाद्विनाशस्य। कार्योत्पादस्य कारणविनाशात्मकत्वात् सममेव नाशोत्पादौ तुलान्तयोर्नामोन्नामवदिति चेत्, कथं प्रकृतचोद्यपरिहारः ?। एकक्षणस्थास्नुतयोत्पाद एव द्वितीयक्षणे विनाश इति नान्यदान्यस्योत्पत्तिरन्यस्य विनाशः। सममेव

नाशोत्पादयोस्तथा प्रसिद्धिरिति चेत्, तर्ह्यंतर्मुहूर्तमात्रस्थायितयोत्पत्तिरेव तदुत्तरकाल-तया विनाश इति समः समाधिः ।

बौद्ध कह रहे हैं कि इस प्रकार उत्पाद और विनाश के मान लेने पर क्षणिक हो रहे स्वलक्षण या विज्ञानस्वरूप वस्तु के नाश और उत्पाद एक ही सम काल मे नहीं हो जायेंगे, जिससे कि विरोध दोष खड़ा कर दिया जाय. कारण कि पहिले क्षण में होने वाला उत्पाद है और उस प्रथमक्षण स्थायी वस्तु का विनाश तो दूसरे क्षण मे होने वाला है, पहले क्षण मे वर्तरहा वस्तु उपादान कारण है और द्वितीय क्षणवर्ती स्वलक्षण कार्य है । जब कि कारण (समवायिकारण) का विनाश स्वरूप ही कार्य का उत्पाद है, जैनों के यहा भी "कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमात् लक्षणात् पृथक् "(देवागमस्तोत्र) पूर्वपर्याय के नाश और उत्तरपर्याय के उत्पाद का समय एक ही माना गया है । " नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः " जैसे समान डोरी के पलड़ों को धार रहो तराजू के अन्तवर्त्ती एक भाग में निचाई होने पर उसी समय झट दूसरे भाग ऊंचाई हो जाती हैं । एक ओर नीचा और दूसरी ओर ऊचा हो जाने का समय एक ही है । इसी प्रकार नाश और उत्पाद का एक ही समय है ।

आचार्य कहते हैं कि जैन सिद्धान्तमे दीक्षित हो चुके मानू बौद्ध यदि यों कहेंगे तब तो हम कहते हैं कि आप ही के आक्षेप अनुसार प्राप्त हो गये इस प्रकरण प्राप्त चोद्य का परिहार किस प्रकार कर सकोगे ? बताओ । यों तो जैनसिद्धान्त अनुसार उत्पाद, व्यय को मान लेने पर कथंचित् ध्रौव्यपना भी ध्वनित हो जाता है, बौद्धों के ऊपर उठाये गये कूटस्थ अर्थ के सिद्ध हो जाने का आपादान तदवस्थ हो रहा ।

यदि बौद्ध पुनः यों कहे कि एक क्षणमात्र स्थिति रहने स्वभाव रूपसे उपज जाना ही दूसरे क्षण मे विनाश हो जाना है, यों अन्य समय (द्वितीय समयमें) अन्य (द्वितीय क्षणवर्ती स्वलक्षण) का उत्पाद हो जाना अन्य (प्रथमक्षणवर्ती स्वलक्षण) का विनाश नहीं है, क्योंकि तिसप्रकार तराजू के समान नाश और उत्पादकी एक समय में ही हो जाने की प्रसिद्धि है, "सव्येतरगोविषाणवत्" बैल के दायां और बायां सींग दोनों एक ही समय में उपजते हैं । सुगतमत अनुयायियों के यों कहनेपर हम जिनपतिशासन के अनुयायी कहते हैं कि तब तो केवल अन्तर्मुहूर्त कालतक स्थायी-पने करके ध्यान का उपज जाना ही उस अन्तर्मुहूर्त काल से अव्यवहित उत्तरवर्ती काल में

विनाश होजाना स्वरूप है इसप्रकार तुम्हारा, हमारा समान समाधान है, बोध्य और समाधान जब दोनों एक जाति के हैं तो जैनों के ऊपर " न जातु विच्छेदः स्यात् " एक ध्यान का कभी विच्छेद ही नहीं होगा, ऐसा कटाक्ष करना पक्षपातपूर्ण ही समझा जायगा।

नन्वेवं संवत्सरादिस्थितिकमपि ध्यानं कुतो न भवेदिति चेन्न, तथा संभावनाभावात्। यद्धि यथास्थितिकं संभाव्यते तत्तथास्थितिकं शक्यं वक्तुं नान्यथा।

" प्रश्नावधारणेऽनुज्ञानुनयामंत्रणे ननु " बौद्ध पण्डित प्रश्न उठा रहे हैं कि यदि असंख्यात समयोंवाले अन्तर्मुहूर्त कालतक एक ध्यान की स्थिति मानी जायगी तो इसी प्रकार वर्ष, दश वर्ष या हजार वर्षतक स्थिति को रखने वाला ध्यान भी भला क्यों नहीं हो जावेगा ? जब समय से ध्यान अधिक बढ़कर असंख्याते समयों तक अन्वित रहता है तो वर्षोंतक भी एक ध्यान ठहर जायगा।

आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, क्योंकि तिस प्रकार महिनों, वर्षों तक एक ही ध्यान बने रहने की संभावना नहीं है, सभी प्राणियों की मानसिक वृत्तियाँ चञ्चल हैं, मनसे ध्यान होता है, एक अर्थ में अन्तर्मुहूर्त से अधिक कालतक उपयोग लगा रहना असंभव है। यह व्याप्ति है कि जो पदार्थ नियम से जिस प्रकार स्थिति को लिये हुये सम्भव रहा है, उस पदार्थ के उतनी ही स्थिति का धारण करना कहा जा सकता है, अन्य प्रकारों से निरूपण करना नहीं उचित है, भावार्थ— " अन्तोमुहुत्तमेत्ता चउ मणजोगा कमेण संखगुणा " (गोम्मटसार जीवकांड) एक मनोयोग या वचनयोग अन्तर्मुहूर्त कालतक ठहरता है, भले ही वह अन्तर्मुहूर्त छोटा, बडा हो। भावलेश्या भी छोटे या बडे अन्तर्मुहूर्त कालतक ठहरकर बदल जाती है, भले ही वह समान लेश्या में ही परिवर्तन क्यों न हो। उपशमसम्यग्दर्शन अन्तर्मुहूर्त तक ही ठहरता है, भारतवर्ष में सूर्य का उदय एक अयन के दिनों में साढे पच्चीस घटिका से लेकर साढे तीतीस घडी के अन्तर्गतकाल तक ही रहता है, सैकडो वर्षोंतक एक ही सूर्य का उदय बना रह कर उतना बडा अखण्ड दिन नहीं प्रकाशता है, छह मास सूर्य दक्षिणायन रहता है, और छहमास तक उत्तरायण रहता है। मानव स्त्रियों के दो सौ अस्सी दिनो तक गर्भ में रहकर संतान जन्म ले लेती हैं। महीने, दो महीने की न्यूनता या अधिकता भले ही हो जाय, किन्तु दशों वर्षोंतक गर्भ में निवास बने रहना अलीक है। पशु, पक्षियों के भिन्न जाति अनुसार गर्भधारण का काल न्यारा न्यारा है। एक शरीर की स्थिति संख्याते

असंख्याते वर्षों तक मानी जाती है, अनन्ते वर्षोंतक व्यक्तिरूप से किसी शरीर का ठहरना असंभव है। इसी प्रकार ऋतुयें, फल, पुष्प आदि के काल नियत हैं, एक ही समयका या अनन्तेवर्षों का झूंठा आग्रह करना प्रमाणबाधित है। कोई कपडा यदि तीन वर्ष में पुराना (जीर्ण) हो जाता है तो वहां यह विचार उठाया जा सकता है कि वह पहिले दिन या दूसरे दिन सर्वथा नवीन है, तो महीने भर भी नवीन ही रहेगा, यों वर्ष दो वर्ष क्या पांचसौ वर्ष तक भी नवीन ही बना रहेगा। यदि वह तीन वर्ष में जीर्ण हो जायेगा तो ढाई वर्ष में भी पुराना पड़ ही चुका होगा, यों न्यूनता करते हुए एकदिन में भी उसके जीर्ण होजाने का प्रसंग बन बैठेगा।

सुबुद्धे भ्रात ! जबकि क्रमक्रम से तीन वर्ष में जीर्ण होजाना प्रत्यक्ष सिद्ध है तो उक्त कुचोद्यों से वस्त्र की नियत मर्यादा का बालाग्र भी खण्डन नहीं हो सकता है। एक मनुष्य चालीस तोले पानी पीकर एक बार अपनी प्यास बुझा लेता है, यहाँ कोई कुतर्क उठावे कि एक तोला पानी पीलेने पर यदि उसकी प्यास नहीं बुझती है तो दो, तीन, आदि उनतालीस तोला पानी पीचुकने पर भी प्यास नहीं बुझेगी। और यदि उन चालीस तोला पानी पीचुकने पर प्यास नहीं बुझी तो इसके उपर एक तोला अन्य भी पानी पीलिया तथापि उसकी प्यास क्या बुझेगी ? हाँ, यदि उनतालीस तोला पानी पी लेने पर प्यास बुझ जावेगी कहोगे तो एक तोला पीलेने पर भी प्यास बुझ गयी कह दो।

इसी प्रकार खिचड़ी एक मुहूर्त में चूल्हे पर पकती है। नीहार कर तीन बार मट्टी से हाथ धोलेने पर हस्तशुद्धि होजाती है। तीन बार लोटा माज लेनेपर पात्र शुद्ध कहा जाता है। यों ही कोई मनुष्य साठ वर्षतक जीवित रहकर इकसठ वर्ष के आदि समय में मर जाता है, यहाँ भी उक्त निस्सार चोद्य उठाये जा सकते है। किन्तु अनेकांत पक्ष में उठाये गये विरोध आदि दोषों के समान उक्त कुतर्कों का निराकरण हो जाता है। क्योंकि अनेक धर्मों से तदात्मक होरहे अर्थ के समान अनेक क्षणों तक एक स्थूल क्रिया या क्रियावान् का बना रहना प्रत्यक्ष प्रमाणों से प्रसिद्ध है। यों ध्यान का स्थितिकाल भी अन्तर्मुहूर्त नियत है, इस से न्यून या अधिक कर दूसरे प्रकारों से ध्यान का काल नियत नहीं किया जा सकता है। कोरी धींगा धींगी चलाने से अप्रामाणिकता का दोष माथे मढ़ दिया जायगा।

न चान्तःकरणवृत्तिलक्षणायाश्चिन्तायाः निरोधो नियतविषयतयावस्थानलक्षणान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं सम्भाव्यते मनसोऽस्मदादिष्वन्यविषयान्तरे सजातीये विजातीये वा संक्रमणनिश्चयात्तत्कार्यानुभवस्मरणादेः संचारान्यथानुपपत्तेः। केवलमनुत्तमसंहननस्य चित्तनिरोधमनल्पकालमुपलभ्य स्थिरत्वेन प्रक्षीयमाणं वाववुध्योत्तमसंहननस्यांतर्मुहूर्तकालस्तथासाविति संभाव्यते। तथा परमागमप्रामाण्यं चेत्यलं प्रसंगेन।

बात यह है कि अभ्यन्तर इन्द्रिय होरहे मनः नामक अन्तःकरण की वृत्तियां स्वरूप चिन्ता का नियत एक विषय में लगाकर अवस्थित करना स्वरूप निरोध करना तो अन्तर्मुहूर्त से ऊपर कालतक कथमपि नहीं संभवता है। क्योंकि हम तुम आदि संसारी प्राणियों में मन के संक्रमण (एक को छोड़कर दूसरे विषयों मे लग जाना) का निश्चय हो रहा है। ध्येय विषय के समान जातिवाले सजातीय अर्थ में अथवा विभिन्न जातिवाले विजातीय न्यारे न्यारे दूसरे विषयों मे मन का झट संक्रमण होजाता है। इस साध्य का ज्ञापक अविनाभावि हेतु यह है कि उस न्यारे न्यारे विषयों में संक्रमण के कार्य हो रहे, विभिन्न अनुभव करना, स्मरण करना, प्रत्यभिज्ञान करना, आदि का संचार हो जाना मन का संक्रमण माने विना अन्य प्रकारों से बन नहीं पाता है। केवल उत्तम संहननों से रहित होरहे, आधुनिक हीनसंहननी प्राणी के अल्पकाल तक भी नहीं ठहरने वाले चिन्तानिरोध को देखकर (समझकर) अथवा चिन्तानिरोध का स्थिरपने करके अतिशीघ्र क्षय होरहा अनुभव कर यह अनुमान प्रमाण द्वारा सम्भावना करली जाती है कि उत्तम संहनन वाले प्राणी का वह ध्यान तिसप्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक ही टिक पाता है। भावार्थ– आज कल अनेक प्राणी जाप करते, सामायिक करते हुये ध्यान लगाते हैं, किंतु चित्तवृत्ति एक विषय मे देरतक नहीं ठहरती है, प्राणियों का चित्त यहां वहां विचलित होजाता है। अधिक पुरुषार्थ करने पर भी एक, दो विपल, पल, सैकिण्ड तक ही कदाचित् ध्यान लग पाता है। चित्त को वहां स्थिर करना चाहते हैं किंतु चिन्ता का निरोध स्थिर नहीं रहकर क्षय को प्राप्त होजाता है। कषाय पूर्वक किये गये दुर्ध्यान भी बहुत देर तक नहीं हो पाते है, हां, ध्यानों को बदल बदल कर कोई भले ही देरतक आर्तध्यानी या रौद्रध्यानी बना रहो, चिन्ताओं का निरोध करना बडा कठिन कार्य है, प्रकृतिजन्य कार्यों में अधिक अन्तर नहीं पडता है, स्वर्ग य भोगभूमि में भी चना या गेहूं होगा, वह बीजजन्य वृक्षपर ही लगा होगा, मिट्टीके कल्पित चने की यहां चर्चा नहीं है, मांस या रक्त त्रसजिवों के शरीर से ही उपजते हैं, भात या

तरकारी के समान वनस्पतियों से या अन्य जडी बुटियाँ आदि उपकरणों अथवा लोह यंत्रों से प्रासुक मांस नहीं बनाया जा सकता है। देखना, सूंघना, आंख नाक से ही हो सकता है। पर्याप्त मनुष्यों की उत्पत्ति माता के उदर से है। वृक्ष से नहीं। इसी प्रकार अनेक कार्य अपने कारणोंद्वारा नियतदेश, नियतकाल और नियत स्वरूप से होरहे हैं, ध्यान के लिये भी अन्तर्मुहूर्त काल नियत हैं, चाहे उत्तम संहननवाला संज्ञी जीव हो अथवा भले ही हीन संहननी समनस्क प्राणी हो, अन्तर्मुहूर्त कालतक एक अर्थ में एक एक ध्यान को नहीं ठहरा सकता है। हाँ, छोटे बडे अन्तर्मुहूर्त की बात न्यारी है, अन्तर्मुहूर्त के लाखों, करोडो, असंख्याते अवान्तर भेद हैं। अपने अपने अनुभवप्रमाण (प्रत्यक्ष) और अनुमान प्रमाण से इस रहस्य को साध दिया है। तथा अन्तर्मुहूर्त तक ही एक ध्यान बने रहने का निर्णय करने मे सर्वोपरि सर्वज्ञ आम्नाय प्राप्त परमागम को प्रमाणता है, जो परमागम में लिखा हुआ है वह अक्षरशः सत्यार्थ है, न्यून अधिक करने की सामर्थ्य किसी को नहीं है।

सूत्रकार महाराज के इस सूत्र में कहे गये सिद्धान्त को निःसंशय होकर प्रमाण मान लेना चाहिये। यहाँतक इस प्रकरण को समाप्त करते हैं, अधिक प्रसंग बढाने से पूरा पडो,बुद्धिमानों को थोडा संकेत ही पर्याप्त है। भाष्यार्थ- राजवार्तिक में परिणमन के छः प्रकार रक्खे हैं, " स तु षोढा भिद्यते, जायतेऽस्ति, विपरिणमते, वर्धते,अपक्षयते,विनश्यतीति " प्रथम ही अन्तरंग, बहिरंग कारणों में भाव उपजता है, पुनः उपजकर वह आत्मलाभ करता है. जैसे कि मनुष्यगति कर्म की अपेक्षा आत्मा मनुष्यपर्याय रूपसे जन्म लेता है और आयु कर्म आदि निमित्तों से अन्तर्मुहूर्त या ५०, १०० आदि वर्षों तक मनुष्य पर्याय का अवस्थान रहता है, उसमें, बालक, शिशु, कुमार आदि अवस्थाओं अनुसार विभिन्न परिणतियाँ होतीं रहती है। पहिले कतिपय परिणामों को नहीं छोडते हुए अन्य शरीर अवयव, ज्ञान, इन्द्रिय, विचारशक्ति, अनुभव आदिका अधिक हो जाना वृद्धि है। वृद्ध अवस्था में क्रमसे पूर्वभावों की एकदेश निवृत्ति होजाना अपक्षय है। और गृहीत मनुष्य पर्याय की सामान्य रूपसे सर्वांग निवृत्ति होजाना विनाश है। यों दृश्यमान पदार्थों के अनेक विभिन्न कालों की मर्यादा को लिये हुये परिणमन होते हैं।

धोती को पानी में डुबोकर उठा लिया जाय, उसका पानी झट एक ही समय या निमिष में क्यों नहीं निचुड जाता है ? अथवा घण्टों, वर्षों, पल्यों, तक पानी क्यों

नहीं टपकता रहता है ? ऐसे कुबोध उठाकर किसी सिद्धान्त का अणुमात्र भी खण्डन नहीं हो सकता हैं। जब कि अन्तर्मुहूर्त कालतक ही धोती के जल का टपकते रहना प्रत्यक्षसिद्ध होरहा हैं। साबूदाना, मूंगकी दाल, भात, खिचडी, तोरई, लौका, आदिक अन्तर्मुहूर्त में ही अग्निपक्व होजाते हैं कितनो ही तीव्र या महान् अग्निसे पकाया जाय, दग्ध भले ही होजांय किन्तु खाने योग्य परिपाक होने के लिये अन्तर्मुहूर्त काल आवश्यक हैं ऐसी काल की मर्यादा को लेकर होने वाले नियत कार्यों के अनेक दृष्टान्त हैं। आहार, नीहार, मूंतना, आदि कार्य अन्तर्मुहूर्त में सम्पन्न होते हैं देर लगे तो दूसरे प्रारम्भ होगये समझो। बिजली या दीपप्रकाश अथवा शब्द ये क्रम से ही चलते हैं भले वे एक सैकिण्ड में हजारो सैकडों या दशों मील चले, हाथ की अंगुली मे सुई या कांटा चुभ जाने पर अथवा पांव के अंगुठे में ठोकर या चोट लग जाने पर क्रम से ही सर्वाङ्ग में वेदना व्यापी है, हाँ, वह क्रम मशीन के घूमते हुये चाक के समान अत्यन्त शीघ्र चल जाता है यों अनेक कार्यों की क्रमसे ही उत्पत्ति है। भैंस के दश और घोडी के ग्यारह बारह महिने में बच्चा जन्म लेता है मुर्गी इकईस दिन में, बिल्ली डेढ महिने मे, कुतिया तीन महीने में गर्भधारण के पश्चात् ब्याय जाती है। इसी प्रकार मुर्गी आठ महिने मे, छिरिया डेढ वर्ष मे, कुतिया दो वर्ष मे और गाय, भैंस, घोडी, पांच वर्ष मे वयस्क (यौवन वयःप्राप्त) हो जाती हैं, साठी चाँवल साठ दिन मे पकती हैं, गेहूं, चने, आदि के काल नियत है। हां, शीत उष्ण देशों मे या बहिरंग प्रयोगों से काल मर्यादा की थोडी न्यूनता अधिकता होसकती है।

बिजली की शक्ति से मुर्गी के आंडे शीघ्र बढाये जासकते हैं किन्तु कम से कम एक समय या बढकर सैकडों वर्षों या पल्य, सागरों का अन्तर नहीं पड सकता है। कर्मभूमियां मनुष्य आठ वर्ष से ऊपर सम्यग्दर्शन को उपजा सकता है, भोगभूमि का मनुष्य उनंचास दिन मे सम्यक्त्व के योग्य होता हैं, तिर्यञ्च जन्मसे सात आठ दिन (दिवस पृथक्त्व) पीछे सम्यक्त्वधारी हो सकते है। देव, नारकी, अन्तर्मुहूर्त मे ही पर्याप्ति होकर नवीन सम्यग्दृष्टि बन सकते हैं। "तत्परमभिधीयमानं साध्यर्वामणि साध्यसाधने सन्देहयति" इस का लक्ष कर अब अधिक दृष्टान्त देना व्यर्थ है। हजारों, लाखों भेद वाले छोटे, बडे, अन्तर्मुहूर्त काल तक ही एक ध्यान टिक सकता है, इस को सर्वज्ञ की आज्ञा अनुसार स्वीकार करो, अतिप्रसंग बढाने से हानिके अतिरिक्त कोई लाभ नहीं निकलेगा।

कः पुनरयमंतर्मुहूर्तं इत्युच्यते—उक्तपरिमाणोंतर्मुहूर्तः परमागमे ततोऽत्र न निरूप्यते।

यहां कोई जिज्ञासु बिनीत शिष्य पुंछता है कि ध्यान के अन्तर्मुहूर्त काल की बहुत अच्छी पुष्टि की गई. हम सभी दार्शनिक बहुत प्रसन्न हुये हैं, अब महाराज यह बतलाइये कि यह अन्तर्मूहूर्तकाल का परिमाण फिर क्या है ? दयासागर ग्रन्थकार इस पर कहते हैं कि अन्तर्मुहूर्त का परिमाण तो उत्कृष्ट महान् आगम ग्रन्थों मे कहा जा चुका है, तिस कारण यहां पुनरुक्ति के भय से नहीं कहा जारहा है, इस श्लोकवार्तिक का अधिकारी पण्डित् स्वयं "नृस्थिती परावरे" सूत्र अनुसार अन्तर्मुहूर्त का अर्थ ज्ञात कर चुका है। अर्थात अन्यसिद्धान्त ग्रन्थो मे अन्तर्मुहूर्त काल को नाप बतादीं गई है, गोम्मटसार में तो —

आवलि असंखसमया संखेज्जावलिसमूहमुस्सासो।
सत्तुस्सासा थोवो सत्तथोवा लवो भणियो "　॥५७३॥
अट्ठत्तीसद्धलवा नाली वे नालिया मुहुत्तं तु।
एग समयेण हीणं भिण्णमुहुत्तं तदो सेसं "　॥५७४॥

आवली कालसे ऊपर और दो घडी यानी अडतालीस मिनट से भीतर (न्यून) का काल अन्तर्मुहूर्त है, अन्तर अव्यय का अर्थ भीतर होता है। अतः दोघडी के भीतर का काल अन्तर्मुहूर्त है, गोम्मटसार मे क्षेपक गाथा यों है —

ससमयमावलि अवरं समऊण मुहुतयं तु उक्कस्सं।
मज्झा संखवियप्पं वियाण अन्तोमुहुत्तमिणं "　॥१॥

एकसमय अधिक आवली काल का जघन्य अन्तर्मुहूर्त होता है। एक समय कम मुहूर्त यानी क्षणन्यून अडतालीस मिनट का उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त होताहै, इन दोनों के मध्यवर्ती असंख्याते विकल्प भी अन्तर्मुहूर्त के भेद हैं।

ज्ञानमेव ध्यानमिति चेन्न,तस्य व्यग्रत्वात्, ध्यानस्य पुनरव्यग्रत्वात्। तत एवैकाग्रवचनं वैयग्र्यनिवृत्त्यर्थं सूत्रे युज्यते।

कोई विद्वान् ज्ञान को ही ध्यान मानते हैं, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह एकान्त तो समुचित नहीं हैं। क्योंकि वह ज्ञान विभिन्न अर्थो मे न्यारीं न्यारीं ज्ञप्तियां कर रहा व्यग्र हैं किन्तु ध्यान फिर व्यग्र नहीं है, एक ही अर्थ मे तत्पर होरहा है, तिस ही कारण से सूत्र मे "एकाग्र" पद कहा गया है, जिसका कि व्यग्रता की निवृत्ति करने के लिये

सूत्र मे निरूपण करना युक्तिपूर्ण है, या व्यंग को ध्यान हो जाने की शंका का समाधान-कारक है, (युजसमाधौ)।

भावार्थ— अनेक पदार्थोंका अवलम्ब लेकर यहां वहां चञ्चल होकर विषय कर रही चिन्ता का अन्य सम्पूर्ण विषयों की उन्मुखता से व्यावृत्त होकर एक ही अर्थ में नियमित लगे रहना ध्यान है। अप्रामाणिक धाराबाहिक ज्ञानों से यह ध्यान न्यारा है, ध्यान में एक अर्थपर साधन, अधिकरण, स्वामित्व आदि की वास्तविक कल्पना अनुसार अंश, उपांशों को ग्रहण कर रहे अनेक ज्ञान गिरते हैं। आत्माके सुख, दुःख, क्रोध, वेद, ध्यान लेश्या, दान, पूजन, सम्यक्त्व, खाना, पोना, व्यभिचार, ब्रह्मचर्य, दौड़ना, पठन, पाठन, आदि परिणाम किसी न किसी गुण की ही पर्याय होसकते हैं, अन्यथा ये स्वभाव या विभाव कभी आत्मा के नहीं कहे जासकते हैं। क्रोध करना चारित्र गुण की विभाव परिणति है। लौकिक सुख, दुःख तो अनुजीवी सुखगुण के विभाव परिणाम है। अध्यापक की पठनपरिणति तो गुरुके ज्ञानावरण क्षयोपशम, वीर्यान्तरायक्षयोपशम, अंगोपांगनामकर्म, स्वरकर्मोदय, वाग्लब्धि, पुरुषार्थ, प्रतिभा, आदि कारणों से उपजा कतिपय गुणों का संकर परिणमन है, लेश्या भी चारित्रगुण और पर्यायशक्ति होरहे योग का सकर परिणाम है। यहांतक कि हेंगना, मूतना, रोना, चिल्लाना आदि परिणाम भी जीवों और पुद्गल के सामुदायिक गुणों के विवर्त हैं। ध्यान भो आत्मा की एक पर्याय है, जोकि चारित्र गुण के साथ सहयोग रखरहे चेतना गुण की विभाव परिणति है। सिद्ध अवस्था मे ध्यान नहीं है, प्रत्युत तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानों मे भी अनुपचरित ध्यान नहीं है, अतः देशघाति प्रकृतियों के उदय अनुसार ज्ञानावरण के क्षयोपशम से उपजे ध्यान को विभाव परिणाम कह देने मे संकोच नहीं किया जाता है।

सर्वार्थसिद्धि में "ज्ञानमेवापरिस्पन्दमानमपरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति," यह लिखा है कि अग्नि की अकम्पशिखा के समान परिस्पन्द नहीं कर प्रकाश रहा ज्ञान ही ध्यान है, आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान तो बहुभाग कुश्रुत ज्ञान या कुनयस्वरूप हैं। रौद्रध्यान प्रथम से लेकर चौथे, पाँचवे गुणस्थानों मे पाया जाता है, तथा छठे गुणस्थानतक आर्त्तध्यान सम्भवता है। अतः ये श्रुतज्ञान या नयरूप भी भले ही हो जांय, हां, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान तो श्रुतज्ञान या श्रुतज्ञान का एक देश हो रहे नयस्वरूप हैं। पृथक्त्ववीचार और एकत्ववितर्क अविचार तो बहुत बढ़िया नय

हैं। नयको श्रुतज्ञान से न्यून शक्तिवाला नहीं समझ बैठना। हाँ, कर्मों के क्षय करने की शक्ति नयज्ञानों मे विशेष है।

सहकारीकारण, उपादानकारण, प्रेरककारण, उदासीनकारण, ज्ञापक-कारण, समर्थकारण, इन मे से किसीको न्यूनशक्तिवाला दूसरे को अधिक शक्तिवाला ठहराने का किसी को अधिकार नहीं हैं। कोई व्यक्ति या समाज स्वार्थवश किसी अपेक्षासे यदि किसी विशेष प्रेरक कारण की अधिक प्रतिष्ठा करता है, तो उस अनन्त कालतक अगणित पदार्थों को उदासीनतया कररहे कारण के सन्मुख उस क्षणिक अपेक्षा का कोई मूल्य नहीं हैं, वस्तु की शक्ति का विचार कीजिये। गुरुप्रासादों मे बैठे हुये राजनीतिज्ञों तथा सिपाही, सैनिक या मजूरों की दशा निहारिये। जीव के समान पुद्गल, धर्म, अधर्म, द्रव्य, कालाणुयें, आकाश, सभी अनन्तानन्त शक्तिवाले है। उदासीन कारण की शक्तिका बोझ प्रेरक कारण की शक्ति के गौरवसे न्यून नहीं है। प्रकरण मे यह कहना है कि श्रुतज्ञान का अंश हो जाने के कारण नय ज्ञानों को छोटा मत समझो " नयचक्र या आलापपद्धति मे किये गये नयों के विवरण का जिन प्रविष्ट विद्वानों ने सूक्ष्म गवेषण किया है, वे नयज्ञान का परिचय पागये है।

द्रव्य, गुण, पर्याय, स्वभाव, अविभाग प्रतिच्छेदों अनुसार वास्तविक नयज्ञान होरहे अत्यधिक उपयोगी हैं। नित्याशुद्धपर्यायार्थिक, उपचरितासद्भूतव्यवहार, कर्मोपाधिसापेक्षअशुद्धद्रव्यार्थिक, स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार परमभाव ग्राहकनयें, परद्रव्यादि ग्राहकनय, निर्विकल्पनय, इत्यादि का परामर्ष करने से नयों के महान् उदर का गम्भीर विद्वानों को आभास होजाता है, दुर्नयों की लीला भी अपरम्पार है। नयज्ञान अतीव विचार करनेवाला विचारक है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष या देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, ऋजुमति, विपुलमति यहाँतक कि केवल ज्ञान भी अविचारक हैं। मतिज्ञानों मे गिनाये गये संज्ञा,(प्रत्यभिज्ञान) चिन्ता, (व्याप्तिज्ञान,) आभिनिबोध (स्वार्थानुमान) परार्थानुमान या प्रतिभा, संभव, अर्थापत्ति आदि ज्ञान तथा श्रुतज्ञान ये ज्ञान विचार करनेवाले हैं। उपशम श्रेणी या क्षपकश्रेणी में अवधिज्ञान या मनःपर्यय भले ही पाये जांय,किंतु उनका उपयोग नहीं है। वस्तुतः वहाँ विचारशाली ध्यान होकर नयज्ञानमंडल चमक रहा है, तभी तो संचित अनन्तानन्तकर्मों का विनाश स्वल्पकाल में करदिया जाता है, इस अपेक्षा प्रमाणों से नयों की शक्ति बहुत बढी-चढी मानी गई है। जो मुनि जितना ही विचारक या

निर्विकल्पक सुनयों को पुरुषार्थद्वारा उपजाता है, उतना ही शीघ्र वह कर्मों का स्थिति अनुभागखंडन कर डालता है।

यों संक्षेप में यह कहना है कि, चाहे कोई भी ज्ञान तो ध्यान नहीं है, किन्तु अव्यग्र ज्ञान धारा या दुर्नय, सुनय, एवं अन्य एकाग्रश्रुतज्ञान ध्यान का स्वरूप धर लेते हैं। योगी या ध्यानी पुरुष इसका और भी सूक्ष्म विचार कर सकते हैं, इस सूत्र के एक एक अक्षर मे अपरिमित प्रमेय भरा पडा है। यहाँ व्यग्रताकी निवृत्ति के लिए मात्र ज्ञान को ही ध्यान होजाने का निषेध कर दिया है।

चिन्तानिरोधग्रहणं तत्स्वाभाव्यप्रदर्शनार्थं तत एव ज्ञानवैलक्षण्यं, अन्यथास्य कथं चिन्ता न स्यात्।

इस सूत्र में "चिन्तानिरोधः" पद का ग्रहण तो ध्यान को उस चिन्तानिरोध-स्वभाव होरहेपन का प्रदर्शन करने के लिये है। अर्थात् जैसे अशुद्ध द्रव्य होरही स्थूल पृथ्वी पर्याय के विशेष विवर्त बनरहे घट मे घटशद्ब प्रवर्तता है, इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप चिन्ता की वृत्तिविशेष मे ध्यान शद्ब की प्रवृत्ति है, विशेष अर्थ मे अव्यग्र होरही ज्ञान प्रवृत्ति को लक्षण नहीं बनाकर अन्य ज्ञानों की चिन्ताओं के निरोध को उद्देश्य दल मे डालकर ध्यान का लक्षण इष्ट किया है, तिस ही कारण यानी चिन्तनिरोध की प्रधानता होने से ध्यान को ज्ञान से विलक्षणपना है। अन्यथा यानी ध्यान को ज्ञानसे विलक्षण नहीं मानकर यदि दूसरे प्रकार से सर्वथा ज्ञान स्वरूप अभीष्ट कर लिया जायगा तो इस ज्ञानस्वरूप ध्यान के चिन्ता किसप्रकार नहीं होगी? ज्ञान तो अनेक चिन्तनायें करता रहेगा, अतः ध्यान मे चिन्ता ओं के निरोध पर विशेष लक्ष्य डाला गया है।

ध्यानमित्यधिकृतस्वरूपनिर्देशार्थं। मुहूर्तवचनादहरादिनिवृत्तिस्तथाविधशक्त्यभावात्।

इस सूत्र मे ध्यान यह पद लक्ष्यकोटि में पडा हुआ है। जो कि अधिकारप्राप्त छटे अभ्यंतरतप होरहे ध्यान के स्वरूप का निरूपण करने के लिये है। इस सूत्र मे अन्तर्मुहूर्त पद कहा गया है। मुहूर्तपद का कथन करदेने से दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष आदि कालों तक ध्यान जमे रहने की निवृत्ति कर दी जाती है, चार छः घन्टो तक या दो, चार दिन तक तिस प्रकार एकाग्र चिन्ता निरोध करते हुये एक ही ध्यान लगा रहने की शक्ति का जीवों के अभाव है। तीनों लोक, तीनों काल मे कोई जीव ऐसा नहीं है जोकि अन्तर्मुहूर्तसे अधिक कालतक एक ही ध्यान लगाये रहने की सामर्थ्य रखता हो।

अभावो निरोध इति चेन्न, केनचित्पर्यायेणेष्टत्वात्। परोपगतस्य नीरूपस्याभावस्य प्रमाणाविषयत्वेन निरस्तत्वात्। किं च अभावस्य न वस्तुत्वापत्तेर्हेत्वंगत्वादिभ्यः। न हि हेत्वंगं तु पक्षधर्मत्वाविवस्तुत्वमतिक्रामति। तद्वद्विपक्षे असत्त्वमपि हेत्वंगं तथा परपक्षप्रतिषेधेऽपक्षांगं चाभावो निदर्शनांगं चेति तस्य वस्तुधर्मयोगाद्वस्तुत्वं। तथा प्रमाणनयविषयत्वात् कारणत्वात् कार्यत्वाद्विशेषणत्वाद्धेतोश्चेति प्रपञ्चतोऽभ्यूह्यं ततो न कश्चिदुपालम्भः।

कोई वैशेषिकमतानुयायी आक्षेप उठाता है कि अन्य चिन्ताओं का निरोध होजाना तो अभाव स्वरूप हैं, और अभाव कुछ नहीं रहना यों तुच्छ हैं। चिन्ता निरोध की दशामे चिन्तायें या ज्ञानों का अभाव होजाने से खरविषाण के समान ध्यान कुछ भी पदार्थ नहीं, ठहरा तुच्छ, शून्य, अभाव हो गया। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो कटाक्ष नहीं करना, क्योंकि तुच्छ अभाव को जैन स्वीकार नहीं करते हैं, अभाव भी भाव आत्मक पदार्थ है, अप्रकृत इतर चिन्ताओं को छोडकर किसी न किसी प्रकृत पर्याय से चिन्ता का बना रहना इष्ट होरहा है। रीते भूतल को "भूतले घटाभाव" माना गया है, अन्यचिन्ताओं के अभाव की विवक्षा करनेपर ध्यान नास्तिस्वरूप है, किन्तु विवक्षित विषय मे एक टक चिन्तन करते हुए लगे रहने की अपेक्षा करनेसे ध्यानभाव आत्मक सद्रूप हैं, यों सभी पदार्थ परचतुष्टय से नास्ति, स्वचतुष्टय से अस्ति स्वरूप व्यवस्थित हो रहे हैं। दूसरे वैशेषिक या नैयायिकों के यहाँ स्वीकार किया स्वरूपशून्य नीरूप तुच्छ अभाव का पूर्व प्रकरण मे निराकरण किया जा चुका है, क्योंकि कार्यता, कारणता, अर्थक्रियाकारित्व आदि स्वरूपों से रीते होरहे तुच्छ अभाव किसी प्रमाण के गोचर नहीं होरहे है। अतः इनका पूर्व प्रकरणो मे निराकरण किया जा चुका है, जो प्रमाण का विषय नहीं है, वह गगनकुसुम के समान असत् पदार्थ है। भावार्थ- जैनों के यहाँ प्रागभाव, प्रध्वंस, अन्योन्याभाव, और अत्यंताभाव को भाववस्तुस्वरूप स्वीकार किया गया है, अष्टसहस्री में इसका विशद वर्णन है।

एक बात यह भी है कि " द्रव्यादिषट्कान्योन्याभाववत्त्वम् " "भावभिन्नत्वम्" ये अभाव के लक्षण प्रशस्त नहीं है। जब कि पूर्व पर्यायस्वरूप प्रागभाव, और उत्तर पर्यायस्वरूपध्वंस तथा एक जातीय द्रव्य की पर्याय का जबतक अन्य पर्याय स्वरूप नहीं होना रूप अन्योन्याभाव, एवं एक द्रव्य का दूसरे द्रव्यस्वरूप नहीं होना आत्मक अत्यन्ताभाव ये चारों परिणाम वास्तविक हैं, अतः इनको वस्तु का अंग माना जाता है।

तुच्छ अभाव कुछ ठोस कार्य नहीं कर सकते हैं।

कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निन्हवे। प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत्"।

"सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे, अन्यत्र समवायेन व्यपदिश्येत सर्वथा"।

यदि प्रागभाव वस्तुस्वरूप होकर कार्यकारी नहीं होता तो घटादि कार्य सभी अनादिकालीन बन बैठते। इसी प्रकार ध्वंस को वस्तुभूत नहीं मानने से सभी पर्यायें अनन्तकाल तक स्थिर रहतीं, सभी मुर्दघाट, कबरिस्तान, श्मशान भूमियें, जग-जातीं तो वर्तमान काल के मनुष्यों को खाने के लिये एकदाना और बैठने के लिये एक अंगुलस्थान भी नहीं मिलता। अन्योन्याभाव नहीं मानने पर मनुष्य ही घोड़ा, हाथी, सांप, तत्काल बनजाता, कोई निरापद होकर एक क्षण नहीं बैठ पाता। इसी प्रकार अत्यन्ताभाव को वस्तुभूत माने बिना जीव का जड़ बन जाना जड़ का चेतन बनजाना रोकने के लिये भला कौन शस्त्र, अस्त्र से सुसज्जित होकर प्रतीहार बन सकता था? निरुपारव्य तुच्छ अभावों की सामर्थ्य उक्त कार्यों को करने की नहीं है, घोडे के कल्पित तुच्छ सींग किसीसे गडकर दुःखवेदना नहीं उपजा सकते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि हेतुका अंग होजाना, व्यतिरेक दृष्टांत होजाना, परचतुष्टय से प्रकृत वस्तु को नास्तिस्वरूप रखना, प्रतिबन्धों का अभाव करते हुये कार्य की निर्बाध उत्पत्ति कर देना आदि प्रक्रियाओंसे अभाव को वस्तुपना या वस्तु का अंश हो जाना आपादन कर दिया गया है। बौद्धों के यहां हेतु के पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, ये तीन अंग माने गये हैं, "पर्वतो वन्हिमान् धूमात् यहां धूम का पर्वत में पाया जाना तो पक्षसत्व है। और अन्वय दृष्टांत होरहे रसोई घर में धूमका सद्भाव मिलना सपक्षसत्त्व है, तथा व्यतिरेकदृष्टांत हो रहे सरोवर में धूम का नहीं रहना विपक्षासत्त्व है। यों जिसप्रकार हेतु के पक्ष मे वृत्तिपन आदिक अंग होरहे सन्ते तो भी वस्तुपन का अतिक्रमण नहीं करते हैं, उसी के समान विपक्ष में वर्तने का असत् पना भी हेतु का अंग है तथा परपक्षका प्रतिषेध करने में अभाव पक्षका अंग भी है, अर्थात् वादी का पक्ष अपने पक्ष की सिद्धि करना और पर पक्ष का प्रतिषेध करना है।

"स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः, नासाधनांगवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।

अतःपरपक्ष का निषेध करने में अभाववादी के पक्ष का अंग है, प्रतिवादी पण्डित साधन के अंगों को नहीं बोल रहा है, वह अभाव भी वादी के पक्ष की पुष्टि में अंग हो गये हैं,

तथा एक बात यह भी है कि, अभाव पदार्थ दृष्टांत का अंग भी है। जहाँ जहाँ आग नहीं है वहाँ वहाँ धुआं नहीं है, ऐसी व्यतिरेकव्याप्ति को धाररहे व्यतिरेक दृष्टांत का अंश अभाव हो तो हुआ। हेतु के प्राण होरहे अन्यथानुपपत्ति या अविनाभाव अथवा विपक्षासत्त्व ये पारमार्थिक अभाव स्वरूप हैं। यों उस अभाव को वस्तु के तदात्मक धर्म होजाने का योग होजाने से यथार्थ वस्तुपना है, तिसीप्रकार प्रमाण और समीचीन नयों का ग्राह्य विषय होजाने से भी अभाव पदार्थ वास्तविक है। विद्यालय में सिंह, सर्प, डांकू आदि का अभाव समीचीन प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय हो रहा है। ऋजुसूत्र नय अनुसार वर्तमान काल में पूर्व जन्मों की पर्यायों का अभाव ज्ञात हो रहा है, द्रव्यार्थिक नय से अनित्यत्व का अभाव और पर्यायार्थिक नय अनुसार नित्यपन का अभाव सर्वत्र परिछिन्न हो रहा है। कहाँ तक कहा जाय अभाव तुच्छ पदार्थ नहीं है, किन्तु कार्यता कारणता, आधारता, आधेयता, विशेषणता, विशेष्यता आदि धर्मों को धार रहा भाव-स्वरूप है। घडे में मोंगरा, मुग्दर के लगजाने से घटाभाव (ध्वंस) उपजा, मद्य पीने से ज्ञानाभाव पैदा हुआ, कर्मों का उदय होजाने से असिद्धपना उपजा, कोमल उपकरणों करके झाड देने पर कंटक, कूडा आदि का अभाव उत्पन्न हुआ, औषधि खाने से रोग का अभाव बना यों अभाव पदार्थ कार्य हैं। तथा अभाव कारण भी है देखिये।

आंधी के अभाव से दीपक की उत्पत्ति हुई, विद्यालय में सिंह, सर्पाभाव से निराकुलता, अध्ययन, अध्यापन हुआ, पूर्वपर्याय का ध्वंस हो जाने से उत्तरपर्याय उपजी सौ, पाँच सौ वर्षों के प्राणियों का जीवित बने रहना नहीं होवे से आधुनिक प्राणियों को उचित आवास,आहार, की प्राप्ति होरही है। ज्ञानावरण का क्षयोपशम या क्षय हो जाने से ज्ञान उपज बैठता है, यों प्रत्येक कार्य में भाव कारणों से अधिक संख्या वाले अभाव पदार्थ कारण बने हुये है। छात्र के मस्तक पर स्वातिरिक्त घोडे, हाथी, शस्त्र, अस्त्र, खाट, सन्दूक सब का अभाव हैं, तभी वह पढ रहा है, भित्ति का अभाव होने पर ही हम परली ओर का दृश्य देख सकते है, यों अभाव में कारणत्व धर्म भी बैठा हुआ है, अभाव में सादित्व, कार्यत्व, आदि धर्म रहते है, अतः वह आधार भी है। घट में पटाभाव है, छात्र में अविनीतता का अभाव है, गुरु मे ईर्षा का अभाव है, यों अभाव आधेय भी है, तिस ही प्रकार "घटाभाववद् भूतलम्" "आकाशरूप अभाववत्" "कृतघ्नताभाववान् छात्रः" आदि स्थलों पर अभाव विशेषण होरहा है। "भूतले घटाभाव" यहां प्रथमान्त मुख्य विशेष्यक शाब्दबोध मानलेनेपर निष्ठत्व संबंध से घटाभावमें भूतल

विशेषण होगया है, और घटाभाव विशेष्य होरहा है, अभावत्व, हेत्वंगत्व, निदर्शनापत्व आदि विशेषणों का विशेष्य भी अभाव है, अतः घट, पट, काले, नीले, ज्ञान, इच्छा, शरीर, मनः आदि के समान अभाव भी वस्तुभूत पदार्थ है, तुच्छ नहीं है, इस प्रकार विस्तार से इस अभाव की वस्तु के अंगपन को अनेक सद्युक्तिपूर्ण वितर्कणायें करली जावे तिसकारण से हम जैनों के ऊपर कोई भी उलाहना या दूषण नहीं लगपाता है। यों चिन्ता के निरोध को भले ही अभाव पदार्थ मानलिया जाय फिर भी वह अन्य पर्यायें स्वरूप होरहा वस्तुभूत है।

ननु चैकस्तत्र नैकाग्रवचनं कर्तव्यं ? किं तर्ह्येकार्थवचनं स्पष्टार्थत्वादिति चेन्नानिष्टप्रसगात्। वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिरिति हीष्टं तत्र द्रव्ये पर्यायात् संक्रमाभावस्यानिष्टस्य प्रसंगः। एकाग्रवचनेपि तुल्यमिति चेन्न,आभिमुख्ये सति पौनःपुन्येनापि प्रवृतिज्ञापनार्थत्वात्। आभिमुख्यवाचिनि ह्यग्रशब्दे सत्येकाग्रेणैवाभिमुख्येन चिन्तानिरोधः पर्याये द्रव्ये च संक्रामन्न विरुध्यते।

यहाँ किसी शंकाकार का प्रश्न है कि "एकाग्रचिन्तानिरोध" यों इस प्रकार उस ध्यान के लक्षण में यह नहीं कथन करना चाहिये कि एक अग्र मे चिन्ता का निरोध करलेना ध्यान है, तब तो क्या निरूपण करना चाहिये ? इसपर यह कहा जासकता है कि "एकार्थचिन्तानिरोधः" एक ही अर्थ में चिन्ताओं को रोकलेना ध्यान है, ऐसा व्यक्त कहदेने से अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। जिस पदसे बाल, वृद्ध, वनिता तक समझ सके ऐसे सुस्पष्ट शब्द का उपादान करना परोपकृतिपरायण सूत्रकार महाराज को शोभा देता है। ग्रन्थकार कहते है कि, यह तो नहीं कहना क्योंकि एकार्थ कहदेने से अनिष्ट कहे जाने का प्रसंग आजवेगा। देखिये भविष्य में "वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः" यह कहनेवाले है, ध्येय अर्थ चाहे द्रव्य होय अथवा पर्याय होय और व्यञ्जन यानी वचन होय तथा काय, वचन, मनका अवलम्ब पाकर हुआ आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द स्वरूप योग होय यों इनका परिवर्तन होना सूत्रकार को अभीष्ट होरहा है, उस अवस्थामे पर्याय से द्रव्य मे संक्रमण होजाना इष्ट है, यदि एकहि अर्थ मे चिन्ताओं के निरोध को ध्यान कहा जायगा तो द्रव्य से पर्याय मे अथवा पर्याय से द्रव्य मे संक्रमण होजाने का आभाव जो कि अनिष्ट है, उसका प्रसंग बन बैठता है।

यदि पुनः शंकाकार यों कहे की एक अग्र कहने पर भी वह अनिष्ट का प्रसंग समान है, एकाग्र होकर जो ध्यान करा जारहा है, तब भी द्रव्य से पर्याय मे या पर्याय

से द्रव्य मे संक्रान्ति नहीं होसकेगी। अग्र का अर्थ मुख्य या अभिमुख अर्थ रक्खा जाय तो भी एक ही द्रव्य या पर्याय मे अभिमुख होकर ध्यान जमा रहेगा, परिवर्तन नहीं होसकेगा। आचार्य कहते हैं कि यह कटाक्ष तो ठीक नहीं, क्योंकि अग्र का अर्थ अभि-मुखपना होजाने पर पुनः पुनः रूपसे भी प्रवृत्ति होजाय इस बात को समझाने के लिये एकाग्र शब्द कह दिया गया है, जब कि अभिमुखपना अर्थ का प्रतिपादन कर रहे अग्र-शब्द के होतेसन्ते एक अग्र करके ही अभिमुखता से चिन्तानिरोध ध्यान है। तो पर्याय और द्रव्य मे संक्रमण करते हुये ध्यान का होना विरुद्ध नहीं पडता है, कतिपय अर्थों मे भी एक ध्यान की अभिमुखता होजाती है, कोई बुद्धिमान् छात्र एक कठिन पंक्ति के कतिपय अर्थों में एकटक लगकर चिन्तना करता रहता है।

प्राधान्यवाचिनो वैकशब्दस्य ग्रहणमिहाश्रीयते। प्रधानपुंसोध्यातुरभिमुखश्चिन्ता निरोध एकाग्रचिन्तानिरोध इति सामर्थ्यात् क्वचिद्ध्येयेर्थे द्रव्यपर्यायात्मनीति प्रतीयते, ततो नानिष्टप्रसंगः।

अथवा प्रधानपना अर्थ के वाचक होरहे एक शब्द का ग्रहण करना यहाँ आश्रित किया गया है, प्रधान होरहे ध्याता आत्मा का अर्थों में अभिमुख होकर चिन्ताओं का निरोध करना एकाग्रचिन्तानिरोध है, इस प्रकार विना कहे ही अन्य उच्चार्यमाण-शब्दों की सामर्थ्य से यह तात्पर्य प्रतीत होजाता है कि, द्रव्य और पर्यायों के साथ तदात्मक होरहे किसी भी ध्येय अर्थ मे एक ध्यान लग जाता है, ध्येय अर्थ के अंश, उपांशों मे संक्रमण होता रहने पर भी एक ध्यान उसी प्रकार अक्षुण्ण बना रहता है, जैसे कि वचन और योगों का अभ्यंतर मे परिवर्तन होते हुये भी एक ध्यान प्रतिष्ठित रहता है। तिस कारण अग्रशब्द का निरूपण करदेने से अनिष्ट का प्रसंग नहीं हो सकता है। सर्वत्र पदार्थ को स्पष्ट खोल कर रखदेना ही राजमार्ग नहीं है। गूढस्थलोंपर या गम्भीर तत्व का निरूपण कर देने पर अगाध द्व्यर्थक त्र्यर्थक शब्द भी कहे जाते हैं। संख्याते कई शब्दों से अनन्तानन्त प्रमेयों के ज्ञानों को तभी उपजाया जाता है, सूत्रकार के एक एक शब्दो मे अपरिमित अर्थ प्रविष्ट होरहा है।

अंगतीत्यग्रं पुमानिति तु शब्दार्थकथने सत्येकास्मिन् वा पुंसि चिन्तानिरोध एकाग्र-चिन्तानिरोध इति द्रव्यार्थादेशाद्बाह्यध्येयप्राधान्यापेक्षा निवर्तिता, स्वस्मिन्नेव ध्यानस्य वृत्तिरिति तात्पर्यार्थस्यावेकाग्रवचनं न्याय्यं मेकार्थवचनं।

अथवा एक बात यह भी है कि स्वादि गण को " अगि गतौ" धातु से कर्ता में औणादिक र प्रत्यय किया जाय अंगति यानी गमन कर रहा है, जान रहा है, यों अग्र का अर्थ आत्मा हुआ, इस प्रकार अग्र शब्द करके आत्मा स्वरूप अर्थ का कथन करते सन्ते एक पुरुष (आत्मा) में चिन्ता ओं का निरोध होजाना एकाग्रचिन्ता निरोध है। यों द्रव्यार्थिक नय अनुसार कथन कर देनेसे बहिरंग ध्येय पदार्थों के प्रधानपन की अपेक्षा निवृत्त होजाती है। स्वयं आत्मा मे ही ध्यान की प्रवृत्ति बनी रहती है, जो आत्मध्यानी है वही उत्कृष्ट पुरुषार्थी है, चाहे कितनी ही द्रव्य या पर्यायों में ध्यान संक्रमण करे, किन्तु अनेक पदार्थों का एक ध्यान और ध्याता आत्मा दोनों द्रव्यार्थिक नय से एक है, अतः एकाग्रशब्द ही बहुत अच्छा है। आत्मा का ध्यान ही तो सर्व मुख्य है। इस प्रकार अभीष्ट होरहे अनेक अर्थोंका वाचक होजाने से सूत्र मे एकाग्र इस गम्भीर शब्द का निरूपण करना न्याय प्राप्त है, स्पष्टरूपेण एकार्थ शब्द का कथन कर देना समुचित नहीं है।

नन्वेवमस्तु चिन्तानिरोधो ध्यानं तस्य तु दिवसमासाद्यवस्थानमुपयुक्तस्येति चेन्न,इन्द्रियोपघातप्रसंगात्। प्राणापाननिग्रहो ध्यानमिति चेन्न,शरीरपातप्रसंगात्। मन्दं मन्दं प्राणापानस्य प्रचारो निग्रहस्ततो नास्त्येव शरीरपातः तत्कृतवेदनाप्रकर्षाभावादिति चेन्न, तस्य तावुद्यमनिग्रहस्य यानपरिकर्मत्वेन सामर्थ्यात्सूचितत्वात् आसनविशेषविजयादिवत्। तेनैकाग्रचिन्तानिरोध एव ध्यानम्।

यहां कोई आक्षेप करनेवाला अनुनय कर रहा है कि इस प्रकार तो चिन्ता ओं का निरोध कर लेना ही ध्यान का लक्षण बना रहो, जबकि द्रव्य से पर्याय में या पर्याय से द्रव्य मे कई बार संक्रमण करते हुये भी एक ध्यान कहा जाता है, अथवा कतिपय वचनों और योगों का पलटना होजाने पर भी एक ध्यान बना रहता है तो उपयोग निमग्न होरहे किसी समाधिस्थ योगी के उसध्यान की दिन, महीना, वर्ष आदि तक भी अवस्थिति बनी रहेगी। च्यवन आदि ऋषियों का अनेक वर्षों तक समाधिस्थ रहना सुना गया है। अत्रि, कण्व, आदि ऋषि भी बहुत दिनों तक समाधि लगाया करते थे, वाल्मीकि ऋषि के समाधि लगानेपर दीमकों ने बामियां बनाली थीं और उन मे सर्प रहने लग गये थे। आप जैनों के यहां भी बाहुबलीस्वामी एक वर्षतक योग लगाये रहे सुने जाते हैं, मात्र अन्तर्मुहूर्त तककी अवधि क्यों डाली जाती है?

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि अन्तर्मुहूर्त से अधिक देर तक ध्यान लगा देने से इन्द्रियों के उपघात होजाने का प्रसंग आजावेगा, यानी मस्तक या हृदय फट जायगा, ध्याता आंखो से अन्धा, कानों से बधिर होजायगा। यहाँ कोई दूसरे बाह्य समाधि का ढोंग रखनेवाले कहते है कि प्राण अपान वायु की क्रिया का ग्रहण करना यानी देर तक रोके रहना ध्यान है। आचार्य कहते हैं कि यह हठयोग का आग्रह भी ठीक नहीं है, यों श्वासोच्छ्वास रोकने से तो शरीर के पतन (मृत्यु) होजने का प्रसग बन बैठेगा।

" श्री गोम्मटसार मे लिखा है "

"विसवेयणरत्तक्खय,भयसत्थग्गहणसंकिलेसेहिं,उस्सासाहाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ"। प्राण, अपान वायु को रोकने करके उपजी हुई दु.खवेदना का प्रकर्ष होजाने से प्राणी शोघ्र ही मर जाता है।

इस डर से यदि आप यों कहें कि, श्वास, उच्छ्वास को सर्वथा नहीं रोका जाता हैं, किन्तु मन्द मन्द रूपसे प्राण, अपान वायु का गमन, आगमनस्वरूप प्रचार होना ही उसका निग्रह है, तिस कारण उस निग्रह करके की गयी वेदना की प्रकर्षता नहीं होने से शरीर का पात नहीं होगा, मन्द मन्द सांस लेते रहने से बहुत दिनों तक योगी जीवित बना रहेगा, आचार्य कहते है कि यह तो ठीक नहीं। क्योंकि तिस प्रकार का मन्द मन्द चलते हुये प्राण अपान का निग्रह करना तो ध्यान की परिकर सामग्री है, स्वयं ध्यान नहीं है। दिगंबर मुनि भी ध्यान करते समय बहिरंग में प्राण, अपान का मन्द मन्द प्रचार करते हैं, और अन्तरंग मे मनःद्वारा अनेक वितर्कणाये करते हुये यहाँ वहाँ की चिन्तनाओं को रोके हुये हैं। ध्यान के लक्षण सूत्र मे यद्यपि ध्यान को पूर्ण सामग्री का कण्ठोक्त प्रतिपादन नहीं किया गया है। तथापि विना कहे ही सामर्थ्य से सूचित होजाता हैं कि प्राण, अपान का मन्दगमन होना ध्यान का सहायक हैं पर्यं (ल्यं) क आसन, उत्कुटिका आसन, मयूर आसन आदि विशेष आसनों पर विजय प्राप्त करना या नेत्रों को न अधिक खोलना, न अधिक मींचना आदिक ये ध्यान का सहायक परिकर है। इसी प्रकार मन्द प्राण, अपान प्रचार भी ध्यान का एक साधन है। साधन मुख्यरूपेण कार्य नहीं होजाता है, तिस कारण एकाग्रचिन्तानिरोध ही ध्यान समझा जाय।

मात्राकालपरिगणनमिति चेन्न, ध्यानातिक्रमात्। तथा चित्तवैयग्र्यात्। एतेन जपस्य ध्यानत्वं प्रतिषिद्धं।

आजकलके अजैन साधुओं का यह भी एक मत है कि मात्राओं करके काल की नियत गणना करते रहना ध्यान है, अर्थात् जितने काल मे हाथ घोंटू को छूलेवे उतना काल मात्रा कहा जाता है। ह्रस्व स्वर के उच्चारण मे जितनी देर लगती है, क्वचित् उतना काल मात्रा माना है। एक चुटकी लगाने के समयको भी कोई मात्रा मानते हैं, पन्द्रह मात्राओं करके जघन्य प्राणायाम होता है। तीस मात्रा काल मे मध्यम प्राणायाम किया जाता है, और पैंतालीस मात्रा काल मे उत्तम प्राणायाम संपन्न होता है। तीन प्राणायामों की एक धारणा होती है इत्यादि।

आचार्य कहते हैं कि यह ठीक नहीं है, क्योंकि यों तो ध्यान का अतिक्रमण होजायगा। मात्राओं से काल को गिनते हुए तिसप्रकार चित्त की व्यग्रता हो जाने के कारण ध्यान ही नहीं लग पाता है। चञ्चल अवस्था में ध्यान कहां रहा? अर्थात् पत्तों को गिनते रहना, जापके मनिकाओं को फेरते रहना, अग्नि के सन्मुख आंखें मींचे रहना, पानी मे एक टांगसे खडे रहना, वृक्षपर उलटा लटक जाना इत्यादिक कोई भी क्रिया ध्यान नही है।

इस पूर्वोक्त कथन करके जाप्य देने को भी ध्यानपना निषिद्ध करदिया गया है। हां, दर्शन, स्तोत्र, पूजन से जाप्य का फल भले ही अधिक होय किन्तु माला के दानो पर बीजाक्षरों का या पञ्चपरमेष्ठी के वाचक पदों का एक सौ आठ बार उच्चारण करना ध्यान नहीं कहा जा सकता है। ध्यान करना विशेष गुरुतर कार्य है, तिस मे भी धर्म्य ध्यान, शुक्लध्यान तो महान् कठिन हैं फिर भी वर्तमान काल और इस देश मे धर्म्य ध्यान को अभ्यास से साध लिया जाता है।

विध्युपायनिर्देशः कर्तव्य इति चेन्न गुप्त्यादिप्रकरणस्य तादर्थ्यात्। संवरार्थं तदिति चेन्न, प्रागुपदेशस्योभयार्थत्वात् ततः संवरार्थं गुप्त्यादिप्रकरणं ध्यानविधौ तदुपाय निर्देशार्थं च भवति। तथापीह सकलध्यानधर्माणामिह सामर्थ्यसिद्धत्वात्।

कोई जिज्ञासु कहरहा है कि, एकाग्रचिन्तानिरोध को आपने ध्यान कहा सो ठीक समझ लिया, किन्तु उस ध्यान की विधि के उपायों का सूत्रकार को सूत्रों मे कथन करना चाहिये था, सूत्रों में कारणों का निरूपण नहीं होने से ही तो अनेक पुरुष ध्यान के सहकारी कारणों को ही ध्यान मानने लग गये हैं।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो आक्षेप नहीं करना क्योंकि गुप्ति, समितिपालन, परीषहजय, धर्मधारण, अनशन, प्रायश्चित्त, आदि प्रकरण उस ध्यान की विधि के

उपायों के लिये ही सूत्रों मे प्रतिपादित किये गये हैं। इसपर यदि तुम यों कहो कि वह प्रकरण तो संवर के लिए कहा गया है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह एकान्त नहीं कर बैठना, क्योंकि पूर्वप्रकरण मे जो उपदेश दिया गया है वह दोनों के लिये है। तिसकारण गुप्ति, समिति आदि का प्रकरण संवर के लिये होता सन्ता भी ध्यान करने की विधि मे उसके उपायों का निरूपण करने के लिये भी होजाता है। "एका क्रिया द्वयर्थकरी प्रसिद्धा", धान्य के लिये बम्बा, नहरें, गूले, बनायी जाती हैं। उनमें पशु,पक्षी भी पानी पीलेते हैं, हाँ, कानफाड लेना या सीतारामी चादरा ओढलेना, कानों मे डाट पागट्टा लगा लेना, पञ्चाग्नि तपना, ये कोई भी ध्यान की सामग्री नहीं हैं। निद्रा, आलस्य, रागद्वेष, छोडकर एकाग्र चित्त लगाने का अभ्यास करना, शरीर को स्तब्ध रखना, इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना इत्यादिक प्रकरण ध्यान के उपाय हो जाते हैं। यद्यपि ध्यान के संपूर्ण धर्मों का संग्रह इस सूत्र मे नहीं होसका है तथापि यहाँ प्रकरण अनुसार इस सूत्र मे ध्यान के सम्पूर्ण धर्मों की विना कहे ही पूर्व, अपर प्रकरणों की सामर्थ्य से सिद्धि होजाती है। शब्दों द्वारा स्थूलरूप से स्वल्प प्रमेय कहा जाता है, तात्पर्य से बहुत अर्थ खींच लिया जाता है। "तात्पर्यं वचसि"

तदेवं सामान्येनोक्तस्य ध्यानस्य विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह ।

तिसकारण इस प्रकार सामान्य से लक्षण कर कह दिये गये ध्यान के विशेषों की शिष्य को व्युत्पत्ति कराने के लिये करुणासागर सूत्रकार महाराज इस अगिले सूत्र को व्यक्तरूपेण कह रहे हैं, उसको दत्त अवधान होकर सुनो।

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥२८॥

आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये ध्यान के चार भेद हैं। दुःख के कार्य और दुःख के कारण होरहे इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, दुःखवेदना, भोगाकांक्षा, अनुसार बुरे चिन्तन करना आर्त्तध्यान है। हिंसा, परिग्रह आदि के आवेशसे बुरे परिणामों मे घुलते हुये एकटक अनेक स्मृतियां उपजाते रहना रौद्रध्यान है। धार्मिक सिद्धान्तों और धार्मिक क्रियाओं का तन्मय होकर एकाग्र विचार करना धर्म्य ध्यान है। ज्ञानार्णव मे इसकी विधि का विवेचन किया गया है। ये तीन ध्यान तो वर्तमान कालीन इस क्षेत्र के अनेक जीवों को स्वसंवेद्य है। किन्तु शुक्लध्यान केवल आगम द्वारा ही बोद्धव्य है। शुद्धद्रव्यार्थिक,पर्यायार्थिक नयों अनुसार वस्तु का चिन्तन करना

शुद्धात्मा का ध्यान करना, योगों का उपसंहार और अभाव करते हुये सूक्ष्म क्रिया या क्रियानिवृत्ति रूप आत्मपरिणति होजाना शुक्ल ध्यान है। विशिष्ट संयमी के उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी में शुक्ल ध्यान पाया जाता है।

ऋतमर्दनमर्तिर्वा ऋते भवमार्तं अर्तौ भवमार्तमिति वा दुःखभवं वेत्यर्थः। रुद्रः क्रूरस्तत्कर्म रौद्रं तत्र भवं वा। धर्मादनपेतं धर्म्यं। शुचिगुणयोगाच्छुक्लं। लोभादि-मयावेनं तत्स्वविपर्यायोपपत्तेः। शुचिगुणयोगः प्रसिद्धः पारमार्थिकः।

ऋत अथवा अर्दन तथा अर्ति से आर्तशब्द बनाया गया है। ऋत माने दुःख है, 'ऋते भवं आर्तं' ऋत शब्द से तद्धितवृत्ति अनुसार अण्प्रत्ययकर आर्त शब्द बना लिया जाय, ऋत यानी दुःख मे होरहा जो दुर्ध्यान है वह आर्तध्यान है। अथवा भ्वादि गण की "अर्द गतौ याचने च" धातु से कृदन्तवृत्ति अनुसार भाव मे क्ति प्रत्ययकर अर्तिशब्द बना लिया जाय, अर्दनं अर्तिः इस का अर्थ मांगना है, उस अर्ति मे होरहा जो अपध्यान है, वह आर्त है, इसका तात्पर्य अर्थ यह हुआ कि, दुःख अवस्था मे होरहा अथवा प्रार्थना यानी मांगने की दशा मे होरहा ध्यान आर्तध्यान है। याचना (भीख मांगना) मृत्यु के तुल्य हैं। "द्वे याचितायाचितयोर्यथासंख्यं मृतामृते" (अमरकोष) यों आर्त शब्द की निरुक्ति करदी गयी है।

"रुदिर अश्रुविमोचने" धातु से रौद्र शब्द बनाया जाय। रोदयति इति रुद्रः जिसकी कृति सुननेवाले को भी रुलादे वह रुद्र है रुद्र का अर्थ क्रोधी है, उस रुद्र का जो कर्म यानी कृत्य है, अथवा उस रुद्र मे होरहा जो विचार है, वह रौद्र है, यों रुद्र शब्द से तद्धित वृत्ति अनुसार कर्म या भाव अर्थ मे अण प्रत्ययकर रौद्र शब्द बनाया जाता है।

उत्तमक्षमा आदि धर्म से जो अनपेत यानी सहित है, वह धर्म्य है धर्म शब्द से अनपेत अर्थ मे यत् प्रत्यय कर धर्म्य शब्द साधु बनाया गया है।

शुचि यानी पवित्र अथवा स्वच्छता गुण के योग से शुक्ल समझा जाय, लोभ, क्रोध आदि विभावों से तिरस्कृत होजाना, शुभानन्दी होजाना, दान, पूजन निमग्न होजाना आदि परिणतियों से उस शुक्ल ध्यान का पजना नहीं बनता है। शुद्धात्मतत्त्व मे पुरुषार्थ द्वारा मग्न होकर शुक्ल अवस्था मे शुक्ल ध्यान प्रकट होता है। शुचि यानी शुक्लता गुण का योग होजाना कोई कल्पित नहीं है जैसा बौद्ध या सांख्यों ने मान रक्खा है, किन्तु कर्मभार के लघु होजाने पर आत्मा की शुक्लता गुणसे युक्त तदात्मक परिणति होजाती है, यों उत्तमक्षमा, गुप्ति, सामायिक यथाख्यात आदि गुणों के साथ अनिर्वचनीय शुक्लता का योग वास्तविक होकर प्रमाणों से सिद्ध है।

कथमेकं ध्यानं चत्वारि ध्यानानि स्युरित्याह

यहाँ कोई जिज्ञासु बनकर पूंछता है कि एक ध्यान ही फिर आर्त्त आदि चार ध्यान स्वरूप कैसे होजावेंगे ? बताओ, एक एक ही है, चार चार ही हैं, एक तो चार नहीं होसकता है। जब ध्यान के पारमार्थिक पने का विचार करने लगे तो उसको संख्या या विशेषणों का भी यथार्थ निर्णय होजाना चाहिये, विनीत शिष्य की ऐसी निर्णय की इच्छा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधान कारक अग्रिमवार्तिक को स्पष्ट कह रहे हैं।

आर्तादीनि तदेव स्युश्चत्वारि प्रतिभेदतः
ध्यानान्यैकाग्र्यसामान्य-चिन्तान्तरनिरोधतः ॥१॥

एकाग्रचिन्तानिरोध स्वरूप होरहा वही ध्यान अकेला भेद, प्रभेद करदेने से आर्त्त, रौद्र, आदि प्रकार स्वरूप चार ध्यान होजाते हैं, क्योंकि चारो मे अन्य चिन्ताओं का निरोध कर देनेसे सामान्यरूपसे एकाग्रपना पाया जाता है, जैसे कि सींग और सास्ना (गलकम्बल) से सहितपना गौ का सामान्य लक्षण है। वह काली, नीली, लाल, कपिल, धवल सम्पूर्ण गायों मे पाया जाता है, उसी प्रकार अन्य चिन्ताओ का निरोध कर एकटक एकाग्र बने रहना यह ध्यान का सामान्य लक्षण आर्त्त, रौद्र, धर्म्य शुक्ल ध्यानों मे सुघटित होरहा है।

आर्तरौद्रधर्म्याण्यपि हि ध्यानान्यैकाग्र्यसादृश्यात् चिन्तान्तरनिरोधाच्च शुक्लवत्। केवलमप्रशस्ते पूर्वे प्रशस्ते चेतरे। कुत इत्याह।

आर्त्त और रौद्र तथा धर्म्य ये तीनो भी पुरुषार्थ (पक्ष) ध्यान ही है। (साध्यदल) एक अग्र मे नियत अन्तर्मुहूर्त कालतक टिका रहने धर्म का सदृशपना होने से (पहिला हेतु) और अन्य अनेक चिन्ताओं का निरोधकर अनन्यगति चित्त की एकाग्र केन्द्रित अवस्था होजाने से (दूसरा हेतु) शुक्ल ध्यान के समान (अन्वयदृष्टान्त)

भावार्थ – जैन सिद्धांत मे "नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यं" नित्य और एक तथा अनेकों मे अन्वित होकर रहने वाले घटत्व, पटत्व आदि को सामान्य (जाति) नहीं माना गया है, किन्तु ''सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्'' घट, पट, गाय, आदि पदार्थों के सदृश परिणमनों को घटत्व, पटत्व, गोत्व आदि सामान्यरूप माना गया है। जिसका कि तदाश्रयव्यक्तियों के साथ कथंचित् भेद, अभेद है। ध्यानत्व जाति भी एकाग्रचिन्तानिरोधस्वरूप सादृश्य सामान्य अनुसार चारों ध्यानों मे अन्यूनातिरिक्त

होकर वर्त रही है। मूल पदार्थ सभी भेद प्रभेदों मे ओत-पोत, अन्वित होकर प्रविष्ट होरहा है, शुक्ल ध्यान आगमगम्य है। प्रत्यक्ष आदि अन्यप्रमाणों से आलोक्य आगम की प्रमाणता अत्यधिक है, अतः स्वसंवेद्य होरहे भी आर्त्त, रौद्र, धर्म्यध्यानोंका दृष्टान्त, अत्यन्तपरोक्ष, आगमगम्य, शुक्लध्यान देदिया गया है।

इन चारों ध्यानों मे ध्यानत्व सामान्य एक होने पर भी अन्तर केवल इतना ही है कि, पहिले दो आर्तध्यान, और रौद्रध्यान अप्रशस्त है। इनके होनेपर पापप्रकृतियों में स्थिति, अनुभागशक्तियां अधिक पड़ती है। हां, परली ओर के दो न्यारे धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान तो प्रशंसनीय है, क्योंकि इनका सद्भाव होनेपर गौण रूप से पुण्यास्रव होता है और प्रधान रूपसे कर्मों का उपशम या क्षय होता है। कर्मों के दग्ध करने की सामर्थ्य अनुसार धर्म्य और शुक्ल प्रशस्त माने गये हैं। कोई तटस्थ पूंछ रहा है कि किस कारण से परले दो ध्यानों को प्रशस्तपना है? स्पष्ट कहिये। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार कहते है कि उन ध्यानों मे उत्तरवर्ती दो ध्यानों का श्रेष्ठपना निरूपण करने के लिये तो स्वयं सूत्रकार महाराज अगिले पवित्र सूत्र को कह रहे हैं।

परे मोक्षहेतू ॥२९॥

उक्त चारों ध्यानों मे परली ओर के धर्म्य और शुक्ल ये दो ध्यान तो मोक्ष के कारण है। धर्म्यध्यान तो परम्परया मोक्ष का कारण है और शुक्लध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण है। यद्यपि उपशमश्रेणि में शुक्ल ध्यान होता है। उपशमश्रेणि का उत्कृष्ट अन्तर कतिपय अंतर्मुहूर्त न्यून होरहा अर्ध पुद्गलपरिवर्तन काल है एकबार शुक्लध्यानके होजाने पर भी मोक्ष जाने के लिये किसी किसी जीव को अनन्तभव धारण करने पड़ते है। तथापि मोक्ष जब भी होगी शुक्लध्यान ही उसका अव्यवहित कारण पड़ेगा, धर्म्यध्यान से तो शुक्लध्यान को बीच मे देकर ही मोक्ष होसकती है। हां, एक बार भी धर्म्यध्यान होजाने पर अर्धपुद्गल परिवर्तन काल मे मोक्ष होजाना अनिवार्य है। अतः आर्त रौद्र से न्यारे परले दो शुभध्यान मोक्ष के कारण कहे गये है।

सामर्थ्यात् पूर्वे संसारहेतू सूचिते। संसारहेतुत्वादार्त्तरौद्रयोरप्रशस्तत्वं, परयोस्तु धर्म्यशुक्लयोः प्रशस्तत्वं मोक्षहेतुत्वात् इति। पूर्वोक्ताभ्यां धर्म्यशुक्लाभ्यां परत्वमिति चेत्, व्यवहितेऽपि परशब्दप्रयोगात् द्विवचननिर्देशाद्वा पौरस्त्यापि [illegible]। कुतः परयोर्मोक्षहेतुत्वं पूर्वयोः संसारहेतुत्वमित्याह:—

कण्ठोक्त किये बिना ही उच्चार्यमाण इतर पदों की सामर्थ्य से यह बात इसी

सूत्रसे ध्वनित होजाती है कि, पूर्ववर्ती आर्त्त, रौद्र ध्यान दोनों संसार के कारण हैं। संसार के कारण होनेसे ही आर्त्त, रौद्र को प्रशस्तपना नहीं है। हां परले धर्म्य और शुक्लध्यान को प्रशस्तपना है, क्योंकि ये दोनो मोक्ष के कारण है। यहांतक तटस्थ शंकाकार का पूरा समाधान कर दिया गया है।

यहां कोई आशंका करता है कि पूर्ववर्त्ती आर्त्त, रौद्रों से तो अव्यवहित परे होरहे अकेले धर्म्यध्यान को ही परपना प्राप्त है। शुक्लध्यान तो धर्मध्यान के भी परली ओर हैं, अतः परिशेषन्यायसे कह गये पूर्व दो ध्यानों से साक्षात् परे धर्म्यध्यान हीं एक हुआ, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं मान बैठना क्योंकि व्यवधान पड़े हुये पदार्थ में भी पर शब्द का प्रयोग होजाता है, जैसे कि पटना से मथुरा नगरी परे है, आगरा से सम्मेदशिखर पर है, यहां मध्य मे, देशों, नगरों और नदी पर्वतों का व्यवधान पड़ा हुआ है, फिर भी पर शद्व कहा गया है।

एक बात यह भी है कि, परे यह शब्द द्विवचन विभक्ति का रूप कहा गया है, अतः परली ओर के दो यों कथन करने से गौण होरहे दूसरे की भी समीचीन प्रतीति होजाती है। अथवा यहां यों भी शंका उठाई जासकती है कि उक्त चारो ध्यानों मे परपना शुक्ल ध्यान मे ही सुघटित है, चाहे लाखो, करोंडो, असंख्य भी पदार्थ क्यों न हों परली ओर का एक ही होगा दो नहीं, विषमसंख्या वालों का बीच एक हो सकता है, समसंख्यावालों का ठीक मध्य दो होता है, समचतुरस्र, या सम आयतचतुरस्र, संख्या-वाले विन्यस्त पदार्थों का मध्यम चार होगा। हां,समघन रचित हुयी संख्यावाली ढेर वस्तुओं का ठीक बहुमध्यदेश आठ होता हैं। मध्यदेश के विभाग का अब कोई विकल्प शेष नहीं हैं। किन्तु पूर्ववर्त्ती और उत्तरवर्त्ती पदार्थ एक ही होसकता है। सवा डेढ, भी नहीं यों शुक्ल ध्यान को पर कहना ठीक है धर्म्य को परपना कथमपि युक्त नहीं है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि इस आक्षेप का उत्तर भी वही हैं कि पर के निकटवर्ती को भी परपना उपचारसे कह दिया जाता है। मान्य पुरुषों के साथ आये हुये हलके मनुष्यों का भी वैसा ही आदर किया जाता है। उक्त द्विवचनान्तपद का प्रयोग कर देने से परले दो ध्यान ही पकड़े जाते है। एक कितना ही बड़ा राजा,पण्डित, चक्रवर्ती तीर्थंकरमहाराज, भी हो वह एक ही , दो नहीं है। दो कह देने पर प्रधान एक को भी दूसरे गौण का साहित्य प्राप्त करना होगा।

पुनः यहां कोई प्रश्न उठाता है कि क्या कारण है कि परली ओर कहे गये

धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान तो मोक्ष के कारण है, तथा पूर्ववर्त्ती दो आर्त्त, रौद्र ध्यानों को संसार का कारणपना प्राप्त होगया है ? संभव है कि किसी पापीजीव को मन मे यह खटका रहे कि सूत्रकार महाराजने पूर्व मे दो अच्छे ध्यान और पीछे दो बुरे ध्यान कह दिये हों। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं।

मोक्षहेतू परे ध्याने पूर्वे संसारकारणे।
इति सामर्थ्यतः सिद्धं विमोहत्वेतरत्वतः ॥२६॥

परले दो ध्यान मोक्ष के कारण हैं। यों सूत्र मे कण्ठोक्त कह देने पर बिना कहे ही सामर्थ्य से यह सिद्ध होजाता है कि, पूर्ववर्त्ती दो आर्त्त, रौद्रध्यान संसार के कारण है। क्योंकि, मोक्ष के हेतु होरहे दो ध्यानों मे मोहरहितपना है और पूर्ववर्ती दो ध्यानों मे विमोहत्व से इतर यानी मोहसहितपना है। इसकारण विमोहत्व हेतु से परले दो ध्यानों मे मोक्ष का हेतुपना साध दिया जाता है और पूर्ववर्त्ती दो ध्यानों मे समोहत्व हेतुसे अर्थापत्ति प्रमाणद्वारा संसार का कारणपना सिद्ध होजाता है।

कथं धर्म्यस्य विमोहत्वमिति चेत्, मोहप्रकर्षाभावादिति प्रत्येयं। सामर्थ्यात् परयोर्मोक्षहेतुत्ववचनात् पूर्वयोः संसारहेतुत्वसिद्धिस्तयोर्मोहप्रकर्षयोगात्।

यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि शुक्लध्यान भले ही मोक्ष का कारण बन जाओ उसका मोहरहितपना समुचित है, किन्तु धर्म्य ध्यान को मोहरहितपना किस प्रकार साध सकोगे ? दश मैं गुणस्थान तक मोहकर्म का उदय है, और धर्म्य ध्यान तो चौथे से सातमे गुणस्थान तक ही पाया जाता हैं। चौथे, पाँचवे, छठे, गुणस्थानों मे मोहनीय कर्म माने गये संज्वलन कषाय का तीव्र उदय है, तब तो पक्ष के एकदेश मे हेतु के नहीं ठहर ने के कारण आपका विमोहत्व हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास हैं। "पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन हेत्वभावो भागासिद्धिः" यों प्रश्न उठने पर तो ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि, धर्म्य ध्यान वाले चौथे, पाँचवे, छठे, सातवे गुणस्थानों मे मोहनीय कर्म के उदय का प्रकर्ष नहीं है। अप्रत्याख्यानावरण का चौथे मे उदय है, प्रत्याख्यानावरण का पांचवे मे उदय है, छठे मे संज्वलन का तीव्र उदय हैं, फिर भी उक्त कषायों के तीव्रतर और तीव्रतम प्रकृष्ट उदय नहीं है। कषायों का प्रकृष्ट उदय होजाने पर उन गुणस्थानों में धर्म्य ध्यान नही बन सकता है, यों प्रतिति अनुसार विश्वास कर लेना चाहिये। परले ध्यानों को मोक्ष का हेतुपना इस सूत्र मे निरूपण कर देने से परिशेष

न्याय के सामर्थ्य अनुसार पूर्व के दो ध्यानों को संसार के हेतु होने की सिद्धि होजाती है, क्योंकि उन आर्त्त रौद्र, ध्यानों मे मोहनीय कर्म के उदय की प्रकर्षता का योग होरहा है, तीव्रमोही जीव के दो पहिले ध्यान सम्भवते हैं ।

तत्रार्त्तस्य किं लक्षणमित्याह :—

उन चार ध्यानों मे प्रथम कहे गये आर्त्तध्यान का लक्षण क्या है ? ऐसी विनीत छात्र की जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अगिले सूत्र का स्पष्ट उच्चारण कर रहे हैं ।

आर्त्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३०॥

जो बाधा ओं के कारण होरहे विष, कांटे, शत्रु, शस्त्र आघात, रोग आदिक मनोनुकूल नहीं ऐसे अमनोज्ञ पदार्थों का प्रकृष्ट संयोग होजाने पर उनके बढिया वियोग होजाने के लिये स्मृतियों का धारारूपेण ठीक पीछे पीछे आत्मा मे आहरण यानी बार बार उपजाते रहना पहिला आर्त्तध्यान है । अर्थात् एकबार स्मृति होजाना केवल स्मरण ज्ञान है, आर्त्तध्यान नहीं, हाँ, अमनोज्ञ पदार्थ का वियोग करने के लिये यदि पुनः पुनः उस विषय मे एकाग्र होकर अनेक स्मृतियां उठायी जायंगी तो वह स्मृतियों का समभिहार आर्त्तध्यान बन बैठेगा। इस सूत्र में तीव्र राग, द्वेष, पूर्वक स्मृतियों का समन्वाहार तो आर्त्तध्यान का सामान्य लक्षण है, शेष उद्देश्य भाग तो आर्त्तध्यान के चार भेदों में से पहिले प्रकार का प्रबोधक है ।

अप्रियममनोज्ञं बाधाकारणत्वात् । भृशमर्थान्तरचिन्तनादाहरणं समन्वाहारः । आधिक्येनाहरणादेकत्रावरोधः पुनः पुनः प्रबंध इत्यर्थः । स्मृतेः समन्वाहारः स्मृतिसमन्वाहारः । तेनामनोज्ञस्योपनिपाते स कथं नाम मे न स्यादिति संकल्पश्चिन्ताप्रबंध आर्त्तमिति प्रकाशितं भवति । तत्र किं हेतुकमित्याह :—

जो पदार्थ वर्तमान मे जीव को अप्रिय है, बाधाओं का कारण होने से वह अमनोज्ञ माना जाता है । न्यारे न्यारे अर्थों का अत्यर्थ चिन्तन करने से जो पुनः पुनः आहरण (अनुवृत्ति) होजाना है वह समन्वाहार है, इस का तात्पर्य अर्थ यह हुआ कि, स्मृतियों का अधिकपने करके आहरण करने से एक अर्थ मे सब ओर से रुद्ध करते हुये पुनः पुनः स्मृतियों की रचना करते रहना पहिला आर्त्तध्यान है । स्मृति का स

समन्वाहार है वह स्मृतिसमन्वाहार है, यह षष्ठीतत्पुरुष समास किया गया है, तिस-कारण इस सूत्र द्वारा यह अर्थ प्रकाशित होजाता है कि, स्वप्रकृति को अनिष्ट होरहे अमनोज्ञ पदार्थ का प्रसंग आपडनेपर वह पदार्थ मेरे पास किसी भी प्रकार से नाम मात्र भी नहीं होवे इसप्रकार संकल्प विकल्प करते हुये अनेक चिन्ताओं की रचना करते रहना आर्त्तध्यान है। यहां कोई पूंछता है कि, उन ध्यानों मे पहिले आर्त्तध्यान का हेतु क्या है ? यानी किसको हेतु मानकर वह आर्त्तध्यान उपज बैठता है, ऐसी बुभुत्सा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिक का प्रतिपादन करते है।

आर्तं चतुर्विधं तत्र संक्लेशांगतयोदितं ।
आर्तमित्यादिसूत्रेण प्रथमं द्वेषहेतुकम् ॥१॥

उन ध्यानों मे संक्लेश का अंग होने से पहिला आर्त्तध्यान चार प्रकार का है। तिन मे पहिला आर्त्तध्यान तो द्वेष को हेतु मानकर उपजता संता सूत्रकारने "आर्त्तममनोज्ञस्य" इत्यादि सूत्र करके कह दिया है। अर्थात् परले दो ध्यान विशुद्धि के अंग है, यह आर्त्तध्यान संक्लेश का कार्य है और संक्लेश बढाने का ही कारण है। अतः संक्लेशांग होने से ही इस ध्यान को आर्त्त कहा गया है।

मिथ्यादर्शनाविरतिपरिणामसंक्लेशः तत् स्वरूपं तत्कारणकं तत्फलं च संक्लेशांगं, तस्य भावः संक्लेशांगता तयार्त्तध्यानमुदितं। तच्चतुर्विधं स्वरूपभेदात्। तत्र प्रथममार्त्तमित्यादिसूत्रेण द्वेषहेतुकं सूत्रितं।

मिथ्यादर्शन परिणाम और अविरति परिणतियां तथा प्रमाद परिणमन ये सब जीव के संक्लेश है, जो पदार्थ संक्लेश स्वरूप हैं, वह संक्लेश अंग है, और जिस का कारण वह संक्लेश (बहुव्रीहि समास) है, वह भी पदार्थ संक्लेश अंग है, और जिस का फल वह संक्लेश है, वह भी संक्लेश का अंग है। यों संक्लेश और संक्लेश का कार्य तथा संक्लेश का कारण होरहे सब संक्लेश का अंग कहे जाते है।

"विशुद्धिसंक्लेशांगं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखं।
पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद्व्यर्थस्तवार्हतः ॥"

इस देवागम की कारिका का व्याख्यान करते समय ग्रन्थकारने अष्टसहस्री ग्रन्थ मे विशुद्धि अंग और संक्लेश अंग का बढिया विवरण कर दिया है। उस संक्लेश अंग का जो भाव है वह संक्लेश अंगता है, उस संक्लेश अंगपने करके आर्त्तध्यान चार प्रकार का कहा गया है। अपने अपने लक्षण के भेद से वह आर्त्तध्यान चार प्रकार है, उन चारों मे द्वेष को

हेतु मानकर उपजा पहिला आर्त्तध्यान इस "आर्त्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः" इस सूत्र द्वारा कह दिया गया है।

द्वितीयं किं स्वरूपमित्याह

यहां विनीत शिष्य जिज्ञासा करता है कि आर्त्तध्यान का दूसरा भेद फिर किस स्वरूप को धारण करता है, यानी दूसरे आर्त्तध्यान का लक्षण क्या है? बताओ, ऐसा प्रश्न उतरनेपर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र का व्यक्त निरूपण कररहे हैं।

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥

पूर्वोक्त से विपरीत होना अर्थात् मनोज्ञ यानी इष्ट होरहे अपने, पुत्र, स्त्री, धन, बन्धु, सुयश, आदि का वियोग होजाने पर उनका संयोग होजाने के लिये संकल्प कर पुनः पुनः स्मृतियों की अभ्यावृत्ति करते रहना दूसरा आर्त्तध्यान है।

उक्तविपर्ययाद्विपरीतं मनोज्ञस्य विप्रयोगे तत्सम्प्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारो द्वितीयमार्त्तमित्यर्थः। प्रियस्य मनोज्ञस्य विप्रयोगो विश्लेषस्तस्मिन् सति तत्संप्रयोगाय पुनः पुनश्चिन्ताप्रबन्धः। सा मे प्रिया कथं सम्प्रयोगिनी स्यादिति प्रबन्धेन चिन्तनमार्त्तध्यानमप्रशस्तमिति सूत्रकारस्याभिप्रायः। किं जन्म तदित्याह :-

पहिले कहे गये स्वरूप का विपर्यय होजाने से यह मनोज्ञ का दूसरा आर्त्तध्यान उससे विपरीत है, इसका अर्थ यह हुआ कि, अपने मनोनुकूल ज्ञात होकर अभीष्ट होरहे पुत्र, मित्र, गुरु, माता, पिता, स्वामी, आदि का प्रकृष्ट वियोग होजाने पर उनका बढिया संयोग होजाने के लिये स्मृतियों का धक्का पेल बार बार उठाते रहना आर्त्तध्यान का द्वितीय प्रकार है। पूर्व, अपर, सम्बन्ध लगादेने से सूत्रकार महोदय का अभिप्राय यह प्रतीत होरहा है कि, अत्यन्त प्रिय होरहे मनों मे पदार्थ का जो प्रकृष्ट वियोग यानी विश्लेष (सम्बंधविच्छेद) होजाता है, उस के होजाने पर पुनः पुनः उस प्रियपदार्थ का उत्तम संयोग होजाने के लिये मन मे अनेक चिन्ताओं की रचना करता रहता है। आर्त्तध्यानी जीव विचारता है कि, वह मेरी अतीव प्रिय होरही वस्तु (स्त्री, सन्तान आदि) किस प्रकार मुझसे अच्छा सम्बन्ध करनेवाली होजाय यों उत्तर उत्तर विचारों की रचना करके चिन्ताऐं करते रहना दूसरा आर्त्त है, यह ध्यान प्रशंसा प्राप्त नहीं है। सम्प्रयोग शब्द मे सम और प्र ये दो उपसर्ग पड़े हुये हैं। सम का अर्थ अच्छा है। स्वसमान कालीन तत्सदृशसमानाधिकरणत्व है और प्र का अर्थ स्वसमान कालीन तत्प्रागभावानधिकरणत्व है, इसका ध्वनी वृत्ति से यह अर्थ निकला कि, इष्ट का संयो

होरहे अवसरपर न तो उसका भविष्य मे वियोग होजाना संभावित है और वर्तमान में स्वल्प भी उस का या उसके सदृश का अभाव होजाना संभवनीय नहीं है। इसी प्रकार विप्रयोग शब्द में भी प्रशब्द पड़ा हुआ है, जो कि वर्तमान मे प्रतियोगी के स्वल्प भी सद्भाव को और भविष्य मे प्रतियोगी (यस्य वियोगः स प्रतियोगी) के होजाने को सर्वथा रोके हुये हैं। सूत्रकार का एक एक अक्षर अनन्त प्रमेय अर्थ को लाद रहा है। यहां कोई पूंछ रहा है कि उस दूसरे आर्तध्यान का जन्म किस कारण होता है? बताओ। ऐसी जिज्ञासा उठनेपर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं।

विपरीतं मनोज्ञस्येत्यादिसूत्रेण निश्चितं।
द्वितीयमनुरागोत्थमार्तध्यानमसत्फलं ॥१॥

इस सूत्र मे स्मृति समन्वाहार पद की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति की जाती है, विपरीतं पद पडा हुआ है। अतः सूत्र का शरीर ऐसा बनगया कि, "मनोज्ञस्य विप्रयोगे तत्संप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः" तब तो सूत्रकार के "विपरीतं मनोज्ञस्य विप्रयोगे" इत्यादि सूत्र करके यह सिद्धांत निर्णीत हुआ कि दूसरा आर्त्तध्यान प्रकट अनुराग से उत्पन्न होता है और उसका फल दुष्कर्मों का बंधना तिर्यञ्च गति मे लेजाना आदिक अप्रशस्त (बहुतबुरा) है। भावार्थ — पहिला आर्त्तध्यान तो तीव्र दोष से उपजता है, और दूसरे आर्तध्यान की उत्पत्ति गाढ अनुराग से है यों इन दोनों आर्त्तध्यानों की अवस्था में तीव्रराग द्वेषतुहेक अशुभ कर्मों का आस्रव होता रहता है।

तृतीयं किमार्त्तमित्याह :—

तीसरा आर्तध्यान फिर क्या है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को स्पष्ट प्रतिपादनकर कहरहे हैं।

वेदनायाश्च ॥३२॥

तीव्र दुःखवेदनाके अवसरपर उसके वियोग होजाने के लिये जो बार बार स्मृतियें उठाकर चिन्ताये करते रहना है वह तीसरा आर्त्तध्यान है। अर्थात् वात व्याधि, शूल, पित्तज्वर आदि शारीरिकवेदना या अपमान, टोटा, परीक्षा मे अनुत्तीर्ण होजाना, आजीविका नहीं लगना, आदि मानसिक वेदना का प्रसंग मिलजानेपर उसका प्रतीकार करने मे अक्षमी होरहे अव्यवस्थित चित्तवाले अधीर जीव का अनेक चिन्ताओं मे एकटक मग्न बने रहना तीसरा आर्तध्यान है।

स्मृतिसमन्वाहारस्तृतीयमार्तमित्यभिसम्बन्धः। प्रकरणात्दुःखवेदनासम्प्रत्ययः। किंनिबन्धनं तदित्याह :—

स्मृतिसमन्वाहारः, और आर्त पद की अनुवृत्तिकर तथा तृतीय पद का उपकार कर परली ओर सम्बन्ध कर दिया जाय। अर्थात् शारीरिक या मानसिक कष्ट वेदना का स्मृति समन्वाहार करना तीसरा आर्त्तध्यान है। वेदना शब्द यद्यपि सुखानुभव और दुःखानुभव दोनो मे समानरूप से प्रवर्तता है तथापि यहां आर्त्तध्यान का प्रकरण होने से दुःखवेदना को समीचीन प्रतीति होजाती है, दुःखों को संक्लेश पूर्वक सहते समय तीव्र आर्त्तध्यान होजाता है। यहां पूर्ववत् प्रश्न उठाया जारहा है कि, वह तीसरा आर्तध्यान किसको कारण मानकर उपज बैठता है ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा उपस्थित होनेपर ग्रंथकार समाधानार्थ अग्रिमवार्तिक को कह रहे हैं।

असद्वेद्योदयोपात्त-द्वेषकारणमीरितं।
तृतीयं वेदनायाश्चेत्युक्तं सूत्रेण तत्वतः ॥१॥

"वेदनायाश्च" इस ऐसे सूत्र करके वास्तविकरूपसे जो तीसरा आर्त्तध्यान कहा गया है वह असाता वेदनीय कर्म के उदय अनुसार ग्रहण होचुके द्वेष को कारण मानकर उपजा कह दिया गया समझो। भावार्थ — जैसे अनिष्टसंयोग और इष्टवियोग की अशुभ वेदनाओं अनुसार द्वेष, राग हेतुक उक्त दो आर्त्तध्यान उपज जाते हैं उसी प्रकार अनुराग मिश्रित कामुकता, पुनःपुनः विषयसुखगृद्धि आदि के लिये शारीरिक दुःखो मे द्वेष रखते हुये जीव के तीसरा आर्त्तध्यान उपजता है।

चतुर्थं किमित्याह —

तीन आर्त्तध्यानों का निरूपण किया सो समझ लिया अब यह बताओ कि चौथा आर्त्तध्यान फिर क्या है ? ऐसी जिज्ञासा उठनेपर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र की रचना कर प्रतिपादन करते हैं।

निदानं च ॥३३॥

भोगों की आकाक्षा मैं आतुर होरहे जीव का भविष्य विषयों की प्राप्ति के लिये एकाग्र मनयोग लगाते हुये संकल्प, विकल्पपूर्वक अनेक स्मृतियों का समन्वाहार करना यह निदान नामक चौथा आर्त्तध्यान है। "भोगाकांक्षया नियतं चित्तं दीयते यस्मिन् येन वा तन्निदानं" यह निदानशब्द की निरुक्ति है।

निदानविषयः स्मृतिसमन्वाहारः निदानं। विपरीतं मनोज्ञस्येत्येव सिद्धमिति चेन्नाप्राप्तपूर्वविषयत्वान्निदानस्य। किं हेतुकं तदित्याह —

निदान के विषयों मे होरहा जो स्मृतियों का पुनःपुनः अभ्यावृत्त होकर उपजना है वह निदान है अथवा "विषयत्वं सप्तम्यर्थः" निदान मे स्मृतियों का एकाग्र उठते रहना निदान नामका आर्त्तध्यान है। यहाँ कोई आक्षेप उठाते है कि यह चौथा आर्त्तध्यान तो दूसरे आर्त्तध्यान मे ही गर्भित होजायगा जब कि मनोज्ञ पदार्थ का विपरीत अर्थात् मनोज्ञ विषय का संयोग करने के लिये पुनः चिन्तायें रचना दूसरा आर्त्त है, निदान मे भी इष्ट विषयों के संयोग होजाने की चिन्तनायें की जाती हैं। अतः दूसरे आर्त्तध्यान से ही चौथे आर्त्तध्यान का ग्रहण होजाना सिद्ध है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नही कहना, कारण कि जो विषय अबतक अनेक पर्यायों मे प्राप्त नहीं हुये हैं, उन सुखावह भोग विषयों की प्राप्ति के लिये निदान किया जाता है। भविष्य सुख की प्राप्ति मे एकाग्र लटक रहे मन का अपूर्व पदार्थ की प्रार्थना मे अभिमुख बने रहने से निदान होता है और दूसरा आर्त्तध्यान तो कुछ काल तक भोग लिये गये प्राप्त होचुके विषयों का दैवदुर्विपाक अनुसार वियोग होजानेपर पुनः उनका संयोग होजाने की इच्छा अनुसार प्रवर्तता है। यों दूसरे और चौथे आर्त्तध्यान मे अन्तर है। अब कोई जिज्ञासु पूंछ रहा है कि वह निदान नामक चौथा आर्त्तध्यान किस पदार्थ को हेतु मानकर उपजता है ? बताओ। ऐसे निर्णयकी इच्छा प्रवर्तने पर आचार्य महाराज अग्रिम वार्तिकों को कहकर रचते हैं।

निदानं चेति वाक्येन तीव्रमोहनिबन्धनं।
चतुर्थं ध्यानमित्यार्त्तं चतुर्विधमुदाहृतं ॥१॥
नीलां लेश्यां समासृत्य कापोतीं वा समुद्भवेत्
तदज्ञानात् कुतोप्यात्मपरिणामात्तथाविधात् ॥२॥

सूत्रकार महाराज ने "निदानं च, इस सूत्र वाक्य करके चौथा आर्त्तध्यान लक्षणित किया है जो कि वर्तमान भोग्यों मे अरति और भविष्य उत्कट भोगों मे गाढ अनुराग यों मोह के तीव्र उदय को कारण मानकर उपज बैठता है। इसप्रकार उक्त चार सूत्रों में चार प्रकार आर्त्तध्यान का उदाहरण की मुद्रा करके निरूपण करदियरा गया है। नीललेश्या अथवा कपोतलेश्या के परिणामों का भला आसरा पाकर

चारो आर्तध्यान उपज आते हैं अर्थात् जीव की नीललेश्या अथवा कापोतलेश्या परिणति होजाने पर चारो ध्यानों की उत्पत्ति सम्भवती है। गोम्मटसार में लिखा है कि

मन्दो बुद्धिविहीणो, णिव्विणाणी य विसयलोलो य ।
माणी मायी य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य ॥५०९॥
णिद्दावंचणबहुलो धणधण्णो होदि तिव्वसण्णा य,
लक्खणमेयं भणियं समासदो णीललेस्सस्स ॥५१०॥
रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोयभयबहुलो ।
असुयइ परिभवइ परं पसंसये अप्पयं बहुसो ॥५११॥
ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं यिव परंपि मण्णंतो,
थूसइ अभित्थुवंतो ण य जाणइ हाणिवड्ढि वा ॥५१२॥
मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुगं वि थुव्वमाणो दु,
ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स ॥५१३॥

गोम्मटसार जीवकांड

बुद्धिहीनता, आलस्य, आहारादिसंज्ञाओं की तीव्रलालसा, विषय लोलुपता इत्यादिक चिन्ह नीललेश्यावाले के हैं। अपनो, प्रशंसा चाहना, स्तुति करनेवालोंपर तुष्ट होना, कार्य अकार्य, नहीं गिनना इत्यादिक लक्षण कपोतलेश्यावाले जीव के हैं। अतः उक्त दो लेश्याओं के असंख्यात भेदों मे से कतिपय भेदों अनुसार चार आर्त्तध्यान उपज बैठते हैं। तथा अज्ञानभावसे भी आर्त्तध्यानों की उत्पत्ति है एवं तिसप्रकार के अन्य भी किसी किसी आत्मीयविभाव परिणाम से आर्त्तध्यान कर लिया जाता है।

पापप्रयोगं निःशेषदोषाधिष्ठानमाकुलं ।
भोगप्रसंगनानात्मसंकल्पासंगकारणं ॥३॥
धर्माशयपरित्यागि कषायाशयवर्धनं ।
विपाककटु तिर्यक्षु समुद्भवनिबन्धनं ॥४॥

ये चारों आर्त्तध्यान पाप में प्रयोग करने से उपजते हैं और पाप कर्मोका खूब योग कराते तब आत्मीय पुरुषार्थ से उपजते हैं, सम्पूर्ण दोषों के अधिकरण आर्त्तध्यान हैं। आर्त्तध्यान करते समय आत्मा मे बड़ी आकुलता उपजती रहती है। भोगों का प्रसंग बनाये रखना, अनेक अनात्मीय पदार्थों से आत्मपने का संकल्प करना ऐसे

परिणामों के साथ आर्त्तध्यान चारों ओर से परिग्रह इकट्ठे करने के कारण होजाते हैं। धर्म्यकार्यों मे मनोवृत्ति लगाने का परित्याग करानेवाले हैं और कषायों के अभिप्रायों को बढानेवाले हैं, इन आर्त्तध्यानों का विपाक भविष्य मे कडुआ है यानी अनेक महान् दुःखों के असाता अनुसार प्रापक हैं तथा तिर्यञ्च गति के जीवो मे नियत उत्पत्ति कराने के कारण आर्त्तध्यान हैं।

केषां पुनस्तत्स्यादित्याह :—

वह आर्त्तध्यान फिर किन जीवों के सम्भवेगा ? ऐसी नम्र शिष्य की जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥

वह पूर्वोक्त आर्त्तध्यान तो इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम को नहीं धार रहे मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, तथा अविरत सम्यग्दृष्टि इन चार अविरतों के एवं त्रसवधविरक्त,स्थावरवधाविरक्त ऐसे देशविरत नामक पांचवे गुणस्थानवाले जीव के किञ्च छठे गुणस्थानवाले, विरत,प्रमत्तसंयत मुनि के होजाता है,पहले गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थानतक संक्लिष्ट जीवों मे आर्त्तध्यान उत्पन्न अर्थात् होजाता है। सर्वदा कोई न कोई ध्यान रहे हो ऐसा कोई नियम नहीं है, जब कभी चित्तवृत्तियों को यहां वहां से हटाकर कुछ देर तक एकाग्र केन्द्रित कर दिया जाता है, तभी ध्यान हुआ समझा जायगा, अन्यसमयों मे मात्र ज्ञान की प्रवृत्तियां है।

अविरतादयो व्याख्याताः। कषायितप्राद्यमार्त्तध्यानत्रयं प्रमत्तानां, तेषां निदानस्यासंभवात्। तत्संभवे प्रमत्तसंयतत्वविघातात्। कुतस्तेषां तद्भवेदित्याह —

पहले गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थानतक के अविरतों का व्याख्यान किया जाचुका है। नौमैं अध्याय के प्रथमसूत्र का विवरण करते हुये ग्रन्थकारने गुणस्थानों की व्याख्या कर दी है, पूर्ववर्ती तीन आर्त्तध्यान कभी कभी प्रमाद की विशेष तीव्रता होजाने से उपजजाते हैं, हां, चौथे आर्त्तध्यान निदान की उन प्रमत्तसंयमियों के सम्भावना नहीं है। संसारी भोगों की प्रबल आकांक्षाये अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायों के उदय होनेपर होती हैं, यदि छठे गुणस्थान में उस निदान का उपजना माना जायगा तो प्रमादोपेत संयमीपन का विघात होजायगा, भोगों की आकांक्षा करनेपर जीव संयम से च्युत होजाता है। यहां कोई तर्कशील विद्यार्थी तर्क उठाता है कि, उन छठे गुणस्थानतक के जीवों के वह आर्त्तध्यान किस कारण से

होसकेगा ? ऊपर के सातवे आदि गुणस्थानों मे आर्त्तध्यान क्यों नहीं उपजता है ? यदि नहीं उपजता है तो पहले आदि छह गुणस्थानों मे भी नहीं उपजना चाहिये, ऐसा तर्क उपस्थित होने पर ग्रन्थकार इस अगिली वार्तिक को समाधानार्थ कर रहे हैं ।

तत्स्यादविरतादीनां त्रयाणां तन्निमित्ततः ।
नाप्रमत्तादिषु क्षीणतन्निमित्तेषु जातुचित् ॥१॥

वह आर्त्तध्यान (पक्ष) अविरत आदिक तीन प्रकार जीवों के ही सम्भवता हैं । (साध्यदल) उनके उस आर्त्तध्यान के उपजानेवाले निमित्तों का सद्भाव होवे से (हेतु) सातमे अप्रमत्त, आठमें अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवालों मे कदाचित् भी वह आर्त्तध्यान नहीं उपजता है, (प्रतिज्ञा) क्योंकि वहाँ उस आर्त्तध्यान के निमित्त कारण होरहे कषायों के तीव्र उदय का नाश होचुका है, (हेतु) इस युक्ति से आर्त्तध्यान की अन्यून अनतिरिक्तरूपसे छठे गुणस्थानतक ही सम्भावना है, यही प्रमेय इस सूत्र मे कहा गया है ।

अथ रौद्रं ध्यानं कुतः कस्य किंस्वरूपमुच्यते ? इत्याह :—

आर्त्तध्यान का प्रकरण समाप्त हुआ । संज्ञा, लक्षण, हेतु और स्वामी की व्याख्या अनुसार आर्त्तध्यान को समझ लिया, अब यह बताओ कि रौद्रध्यान क्या है ? दूसरा अप्रशस्त रौद्रध्यान किन कारणों से उपजता हैं ? रौद्रध्यान किन जीवों के होता है ? उसका स्वरूप क्या कहा जाता है ? ऐसी जिज्ञासायें उठने पर कृपाशील उमास्वामी महाराज इस वक्ष्यमाण सूत्र को कह रहे हैं ।

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥३५॥

हिंसाकरना, झूठबोलना, चोरीकरना, भोग्य विषयों के संरक्षण करना, इन चार बुरे विचारों से जीव के रौद्रध्यान उपजता है, जोकि चौथे गुणस्थानतक के अविरत जीवों मे और देशविरत गृहस्थों के पाया जाता है । अर्थात् हिंसा करने अनुसार चित्त में स्मृतियों का समन्वाहार करना, झूंठ बोलने के अनुकूल अनेक स्मृतियों को एकाग्र उठाना, चोरी के प्रसंग मे अनेक चिन्ताओं की रचना करना, वित्तसंरक्षण के उपयोगी अनेक दुर्ध्यान उठाना ये चार रौद्र ध्यान हैं । वे पांचवे गुणस्थानतक के जीवों मे कदाचित् होरहे सम्भवते हैं ।

ध्यानोत्पत्तौ हिंसादीनां निमित्तभावाद्धेतुनिर्देशः । तेन स्मृतिसमन्वाहाराभिसंबन्धः । तत इदमुच्यते ।

रौद्रध्यान की उत्पत्ति मे निमित्तकारण होजाने से हिंसा; अनृत आदि का हेतु अर्थ मे पंचमी विभक्ति कर सूत्र मे कथन कर दिया गया है। हेतु के उस पञ्चम्यन्त निर्देश के साथ स्मृतिसमन्वाहार शद्व का पिछिली ओर सम्बन्ध कर दिया जाय तब तो हिंसा से उपजा स्मृतिसमन्वाहार पहिला रौद्र ध्यान है, इसी प्रकार झूठ आदि से लगा लेना। तिस कारण उच्यमान और अनुवृत्त पदों को जोड देने पर यों वाक्यार्थ बना कर कह दिया जाता है कि –

हिंसादिभ्योतितीव्रमोहोदयेभ्यः प्रजायते ।
रौद्रं ध्यानं स्मृतेः पौनःपुन्यं दुर्गतिकारणम् ॥१॥
तत्स्यादविरतस्योच्चै र्देशसंयमिनोपि च ।
यथायोगं निमित्तानां तेषां सद्भावसिद्धितः ॥२॥

मोह का अत्यंत तीव्र उदय होजानेपर उपजे हिंसा, झूठ,आदि चारपरिणतियोंसे जो स्मृतियों का पुनः पुनः एकाग्र उठाया जाना है, वह रौद्रध्यान है। जोकि नरक आदि दुर्गतियों मे लेजाने वाला कारण है। वह उच्च कोटि का रौद्रध्यान तो पहिले चार गुणस्थानवाले अविरत जीवों के सम्भवता है और छोटा रौद्रध्यान पञ्चम गुणस्थानवर्ती एक देश संयमी के कदाचित् उपज जाता है। (प्रतिज्ञा) क्योंकि उन पांचमे गुणस्थान तक के जीवों के रौद्रध्यान के निमित्त होरहे परिणामों की यथायोग्य सत्ता का पाया जाना सिद्ध होरहा है। अपने अपने कारणों अनुसार कार्यों का उपजना बन बैठता है।

देशविरतस्यापि हिंसाद्यावेशाद्वित्तादिसंरक्षणतंत्रत्वाच्च रौद्रं ध्यानं संभवति तदनुरूपकथायोदयात्। केवलमविरतवत्तस्य नारकादिनामनिमित्तं सम्यक्त्वसामर्थ्यात्

पांच पापों से एक देश विरक्त होरहे देशविरत पांचवे गुणस्थानवाले श्रावक के भी हिंसा, झूठ आदि का आवेश होजाने से तथा धन, घर, कुटुम्ब, आदि के संरक्षण की अधीनता होजाने से कभी कभी रौद्रध्यान होजाना संभवता है, क्योंकि उस रौद्रध्यान के अनुकूल होरहे कथाप्रसंगों का अवसर आजाता है और आत्मा मे राग, द्वेष, हेतुक अनेक दोषों का उदय बन बैठता है। अथवा "कषायोदयात्" पाठ अच्छा

रौद्रध्यान के अनुकूल कषायों का उदय होजाने से गृहस्थ के यह ध्यान कदाचित् पाया जाता है। केवल विशेष वक्तव्य यह है कि मिथ्यादृष्टि या सासादन सम्यग्दृष्टि अविरतों के समान वह रौद्रध्यान उस श्रावक के नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, नरकआयु, तिर्यग्गति आदि नाम कर्मों के आस्रव का निमित्तकारण नहीं होपाता है, क्योंकि पांचवे गुणस्थानवाले के सम्यग्दर्शन गुण विद्यमान है, अतः प्रथम गुणस्थानवाले का रौद्रध्यान तो नरकायु, नरकगति आदिका बन्ध करायगा। दूसरे गुणस्थानवाले के तिर्यगायु, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, आदि का बन्ध होता है. किन्तु "सम्यक्त्वं च" इस सूत्र अनुसार सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च या मनुष्य के वैमानिक देवायु कर्म का ही आस्रव होता है। हाँ, सम्यग्दृष्टि होरहे देव या नारकियों के मनुष्यायु का आस्रव होता है।

हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसिवणभवण सव्वइत्थीणं,
पुण्णिदरे णहि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे (गोम्मटसार जी. कांड)
सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि,
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः।
(श्रीसमन्तभद्राचार्यः)

यों सम्यग्दर्शन की सामर्थ्य से श्रावक कदाचित् मात्र रौद्रध्यान कर लेने पर भी नरक नहीं जासकता है।

संयतेपि कदाचिदस्तु रौद्रध्यानं हिंसाद्यावेशादिति चेत् तदयुक्तं, संयते तदावेशे संयमप्रच्युतेः।

यहाँ कोई आक्षेप उठाता है कि, सकल संयमी में भी कदाचित् रौद्रध्यान होजाओ, रौद्रध्यान के समय जैसे अणुव्रत रक्षित रहे आते हैं, उसी प्रकार संयम भी रौद्रध्यान के साथ अक्षुण्ण बना रहसकता है। जैसे कि संज्वलन कषायों के उदय होने पर भी संयम प्रतिष्ठित रहता है, तब तो हिंसादिक का आवेश होजाने से मुनि के भी रौद्रध्यान होजाओ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह आक्षेप तो सर्वथा युक्तियों से रीता है, क्योंकि जैनसिद्धांत की वसंत वायु किधर को बह रही है, इसका आक्षेपकर्ता को स्वल्प भी ज्ञान नहीं है। जोकि ज्ञान उक्त रौद्रध्यान के लक्षण सूत्र अनुसार बालक को भी होजाता है। हिंसा आदि खोटे विचारों से रौद्रध्यान की उत्पत्ति कही गयी है। संयमी मे उन हिंसा आदिक का आवेश होजाने पर संयम की सर्वांगच्युति होजाती है, स्वल्प भी रौद्रध्यान का प्रसंग आजानेपर आत्मा मे संयम नहीं ठहर पाता है, जैसे कि प्रचण्ड अग्नि के आजानेपर पारा या शीत दूर होजाता है।

ततश्चतुर्विधं रौद्रध्यानं समुपजायते ।
पुंसोतिकृष्णलेश्यस्याविरतस्यैव तत्परं ॥ ३ ॥
तथा कापोतलेश्यस्य विरताविरतस्य च ।
प्रमादानामधिष्ठानं विरतस्य न जातुचित् ।। ४ ॥

तिस कारणसे सिद्ध हुआ कि वह चारों प्रकारका उत्कृष्ट रौद्रध्यान तो परमकृष्णलेश्यावाले अविरत जीवोंके ही सामग्री मिलनेपर खूब उपज जाता है। और कापोतलेश्यावाले जीवके भी उत्पन्न होता है। तथा विकथा ४, कषाय ४ इन्द्रिय ५ निद्रा १ स्नेह १ यों १५ या अस्सी (८०) प्रमादोंका अधिष्ठान हो रहा वह रौद्र-ध्यान कदाचित् विरताविरत नामक पांचवे गुणस्थानवाले पुरुषके भी संभव जाता है। हां, इन्द्रिय संयम और प्राण संयमको पाल रहे विरक्त संयमीके तो कदाचित् भी रौद्र-ध्यानकी संभावना नहीं है।

अथ प्रशस्तस्य ध्यानस्य धर्मस्य तावत्प्रतिपादनार्थमाह,—

अप्रशस्त दो ध्यानोंका निरूपण हो चुका है। अब इसके पश्चात् दो प्रशस्त ध्यानोंका प्रतिपादन करना न्यायप्राप्त है। शब्द शक्ति अनुसार दो का युगपत् प्ररूपण करना अशक्य है। अतः प्रशस्तध्यानोंमें पहिले कहे गये धर्म्यध्यानकी प्रतिपत्ति करा-नेके लिये प्रथम ही सूत्रकार इस अग्रिम सूत्रका उच्चारण कर रहे हैं।

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥ ३६ ॥

आज्ञाविचयके लिये स्मृतियोंका समन्वाहार करना, अपायविचयके लिये स्मृति-योंको पौनःपुन्य रूपमें उठाना, विपाकविचयके अर्थ एकाग्र होकर अनेक चिन्तायें रचना और लोककी रचनाके विषयमें अर्थ अनेक आगमोक्त रचनाओंका स्मरणपूर्वक ध्यान करना ये चार धर्म्यध्यान हैं। अर्थात् योग्य उपदेशकोंका अभाव हो जानेपर इधर कर्मोदय अनुसार श्रोताओंकी मन्दबुद्धि हो जानेसे गम्भीर सिद्धान्ततत्त्वोंको साधनेके लिये हेतु, व्याप्ति, दृष्टान्त, युक्तियोंके नहीं मिलते सन्ते सर्वज्ञप्रोक्त आगमको ही सर्वोच्च प्रमाण मानकर " इस ही प्रकार वह तत्त्व है केवलज्ञानी जिनेन्द्र महाराज अन्यथावादी नहीं हैं। " यों सूक्ष्मतत्त्वोंके गहन अर्थका एकटक अवधारण करना आज्ञाविचय है।

अथवा सूक्ष्मतत्त्वोंको स्वयं समझकर अन्य प्रतिपाद्योंके प्रति अपने जैनसिद्धांत अनुसार तर्क, नय, प्रमाण, हेतु, क्रियातिपत्ति, उदाहरणद्वारा सर्वज्ञकी आज्ञाका प्रकाश

करनेके लिये स्मृतियोंका समन्वाहार करना प्रथम धर्म्यध्यान है। जन्मान्धके समान मिथ्यादृष्टि जीवोंको श्रेष्ठ मार्गका परिज्ञान नहीं है, ये मिथ्यादृष्टि सुमार्गसे बहुत दूर हट रहा है,

अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रोंसे ये प्राणी किस प्रकार छूट जावें इस प्रकार अनेक स्मृतियोंको केन्द्रित करना अपायविचय नामक दूसरा धर्म्यध्यान हैं।

ज्ञानावरण आदि कर्मोंका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव अनुसार फलके अनुसार फलके अनुभव करनेमे एकाग्र मन लगाना विपाकविचय है।

लोककी रचना, यहां वहां जीवोंका निवास इत्यादि चिन्तनाओंके लिये स्मृतियोंपर स्मृतियां उठाते रहना लोकविचय है। यों ये उत्तम क्षमा आदि दशधर्मसे अनपेत हो रहे धर्म्यध्यान हैं।

विचितिर्विवेको विचारणा विचयः। तदपेक्षया आज्ञादीनां कर्मनिर्देशः। अधिकारात् स्मृतिसमन्वाहारसम्बन्धः, आज्ञाविचयायस्मृतिसमन्वाहार इत्यादि। तदेवं—

वि उपसर्ग पूर्वक 'चिञ्' 'चयने' धातुसे भावमें अच् प्रत्यय कर विचय शब्द बना लिया जाता है। विचय करना यानी विवेक या अनेक विचारणायें विचय है। "कर्तृकर्मणोः कृति षष्ठी" उस कृदन्त क्रिया शब्द बन गये विचयकी अपेक्षासे आज्ञा, विपाक आदिकोंको षष्ठी विभक्तिका प्रयोग कर कर्ममें कथन कर दिया जाय। ध्यानके लक्षणम विशेष्य हो रहे स्मृति समन्वाहार पदका अधिकार चला आ रहा होनेसे उक्त चारों आज्ञाविचय आदिमें परलो ओर सम्बन्ध कर दिया जाय, तब तो आज्ञाको जो विचारणा उसके लिये स्मृति समन्वाहार करना पहिला धर्म्यध्यान है। इसी प्रकार चारों धर्म्यध्यानोंमें सूत्र अर्थ लगा लिया जाय, वह वाक्यार्थ इस प्रकार हो जायगा, उसको अग्रिमवार्तिकमें सुनिये।

आज्ञादिविचयायोक्तं धर्म्यं ध्यानं चतुर्विधं।
आर्तरौद्रपरित्यक्तैः कार्यं चिन्तास्वभावकं ॥ १ ॥
तत्राज्ञा द्विविधा हेतुवादेतरविकल्पतः।
सर्वज्ञस्य विनेयान्तः करणाप्तत्वसूचितः ॥ २ ॥

आज्ञा, अपाय, आदिकी विचारणाके लिये इस सूत्रमें धर्म्यध्यान चार प्रकार कहा गया है। आर्तध्यान और रौद्रध्यानसे सर्वथा रीते हो रहे ज्ञानी जीवों करके वह धर्म्यध्यान करना चाहिये, जिस धर्म्यध्यानका स्वभाव अनेक शुभ चिन्तनायें करना है।

उन धर्म्यध्यानोंमें पहिले आज्ञाविचयमें कही गयी आज्ञा तो हेतुवाद और उससे इतर अहेतुवाद यानी आगमवाद इन भेदोंसे दो प्रकार है। भव्य विनीत शिष्योंके मानसिक विचारोंके अधीन प्रवृत्ति हो जानेके कारण सर्वज्ञकी आज्ञाका विचय किया जाता है। अर्थात् " भविभागनवश जोगे वसाय " सर्वज्ञकी वचन प्रवृत्तिमें भव्योंका भाग्य भी कारण पड जाता है। वीतराग, सर्वज्ञ हितोपदेशक, अर्हन्त परमेष्ठी अन्यथा भाषण नहीं करते हैं। किसी तत्वकी सिद्धिके लिये हेतु या दृष्टान्त मिल जाय तो अच्छा है। नहीं तो अप्रमित प्रमेय मात्र आगमगम्य है। लोकमें भी प्रत्यक्ष प्रमेयसे अनन्तगुणा प्रमेय आप्त पुरुषोंसे गम्य हो रहा है। एक अल्पज्ञ प्राणी अपने स्तोक जीवनमें कितने पदार्थोंका प्रत्यक्ष कर सकता है। अपने जीवनभरमें थोडेसे पदार्थोंको छूता है। अल्पीयान् पदार्थोंका स्वाद रसनासे लेता है, बहुत थोडे वर्तमान पदार्थोंको सूंघ पाता है, मोटे मोटे स्वल्प पदार्थोंको देख लेता है। अपने पूरे ग्राम या प्रत्येक घर अथवा स्वशरीर अवयवोंको ही नहीं देख पाता है। कतिपय स्थूल शब्दोंको सुन लेता है, परिमित सुखदुःख, इच्छा आदि आत्मीय पदार्थोंका मानसिक प्रत्यक्ष कर लेता है। अविनाभावी हेतुओंसे अत्यल्प साध्योंका अनुमान कर लेता है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान. तर्कद्वारा कितने ही पदार्थोंको अविशद जान लेता है। शेष बहु भाग प्रमेय आगमगम्य है। इससे अनन्तगुणा अनभिलाप्य अर्थ मात्र केवलज्ञान गोचर हैं। सर्वत्र प्रत्यक्ष या हेतुवाद लगानेका आग्रह करना विवेकशील पुरुषोंको उचित नहीं है, आप्तवाक्यको प्रमाण माने विना गमार, गूंगे और व्याख्याता विद्वान्में कोई अन्तर नहीं माना जा सकता है। यही नियत पुरुष तेरा पिता है। इसमें यथार्थ वक्त्री माताका वाक्य ही प्रमाण है। अल्पज्ञोंके प्रत्यक्ष और अनुमान वहां फेल हो जाते हैं। हां, कतिपय प्रमेयोंमें प्रत्यक्ष अनुमान, युक्तियां, उदाहरण, विज्ञान, (साइन्स) तर्क भी प्रवर्त जाते हैं। अतः आप्तकी उक्त आज्ञाका विचार करना पडता है। आप्त पुरुष विनम्र शिष्योंके हित अनुरूप यथार्थ सत्यतत्त्वका उपदेश करते हैं। " विनेयविसंवादने तेषां प्रयोजनाभावात् "॥

तद्विचयाय स्मृतिसमन्वाहारो द्विविध इत्याज्ञाविचयध्यानं द्वेधा। तत्रागमप्रामाण्यादर्थावधारणमाज्ञाविचयः, सोयमहेतुवादविषयोननुमेयार्थगोचरार्थत्वात्। आज्ञाप्रकाशनार्थो वा हेतुवादः। तत्समर्थ्यविचयमप्याज्ञाविचयः। कः पुनरपाय इत्याह।

उस आज्ञाविचयके लिये स्मृतियोंका समन्वाहार करना दो प्रकारसे होता है। इस कारण आज्ञाविचय नामक धर्म्यध्यान दो प्रकार है। उनमे पहिला तो सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार प्राप्त आगमकी अक्षरशः प्रमाणता होनेसे सूक्ष्म पदार्थोका निर्णय करना आज्ञाविचय है। सो यह प्रसिद्ध पहिला धर्म्यध्यान हेतुवादकी प्रधानतासे रहित हो रहे प्रमेयोंको विषय करता है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंद्वारा नहीं जान लेने योग्य अर्थोंको अपने ज्ञानगोचर कर लेना इस ध्यानका प्रयोजन है। अतः इसको तृतीय स्थान संक्रान्त अतीव परोक्ष पदार्थोंको जाननेकी अपेक्षा अहेतुवाद स्वरूप माना है। अथवा दूसरा आज्ञाविचय यह भी है कि सम्यग्दृष्टि जीवका निःशंकित होकर सर्वज्ञ आज्ञा अनुसार सूक्ष्म तत्त्वार्थोका स्वयं निर्णय करते हुये दूसरे प्रतिवादियोंके सन्मुख शास्त्रार्थ या वीतराग कथामे हेतु, नय, प्रमाण, दृष्टान्त, पूर्वक प्रकृष्ट भाषण या आज्ञा प्रकाशन करनेके लिये स्मृतिसमन्वाहार करना पहिला धर्म्यध्यान है। जो कि हेतुवादस्वरूप है। आज्ञाविचय शब्दको निरुक्ति करनेपर शब्दसामर्थ्यसे यह दूसरा भी अर्थ निकल पडता है। जो कि समुचित होकर विद्वन्मान्य हैं।

यहां प्रश्न उठाया जाता है कि फिर दूसरा अपायविचय नामक धर्म्यध्यान क्या है? ऐसी जिज्ञासा उत्थित होनेपर ग्रन्थकार इस अग्रिमवार्त्तिकको स्पष्ट कह रहे हैं।

असन्मार्गादपायः स्यादनपायः स्वमार्गतः।
स एवोपाय इत्येष ततो भेदेन नोदितः ॥ ३ ॥

तीव्रमिथ्यात्व कर्मके उदय अनुसार जिनकी अन्तरंग चक्षुयें नष्ट हो गयी हैं, उन प्राणियोंका अप्रशस्त खोटे मार्गसे अपाय (विश्लेष) हो जाय, और आर्हत स्वकीय श्रेष्ठ मार्गसे अनपाय यानो प्रसंग हो जाय ऐसी शुभ चिन्तनायें करना दूसरा धर्म्यध्यान है। मिथ्यामार्गसे हटना वह अपने समीचीन मार्गका उपाय ही है। तिस कारण यह सन्मार्ग उपाय सूत्रकारने भेद करके नहीं कण्ठोक्त किया है। जो असन्मार्गसे हटानेकी भावनायें रखता है कि अनायतनोंकी सेवा इनसे कैसे छुडाई जाय? परिशेष न्यायसे यह निकल पडता है कि वह जीवोंके स्वमार्गका उपाय अवश्य चिन्त रहा है।

नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि,
विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेदविवक्षया ''।

(श्रीसमन्तभद्राचार्यः)

यों निरुक्ति कर दूसरे धर्म्यध्यानके भी दो अर्थ हो जाते हैं।

तस्य विचयो धर्म्यध्यानं द्वितीयं। अथवा सन्मार्गापायविचयः सर्वज्ञोपदेशपराङ्मुखजनापेक्षया सम्प्रत्येयः असन्मार्गापायसमाधानं वा तदपेक्षयैव। कः पुनर्विपाक इत्याह—

उस असन्मार्गसे अपायका विचय यानी विचारणार्थ करना दूसरा धर्म्यध्यान है। अथवा सर्वज्ञद्वारा उपदेशे गये श्रेष्ठ मार्गसे पराङ्मुख हो रहे प्राणियोंकी अपेक्षा करके उस सन्मार्गसे अपाय हो रहे पनका विचार भी दूसरा धर्मध्यान है। यह समीचीन प्रतीति कर लेना चाहिये। असन्मार्गसे अपाय (वियोग) कर उनको श्रेष्ठ मार्गमें समाधान करना भी उन मिथ्यादृष्टि जीवोंकी अपेक्षा करके ही समझा जाय, इस प्रकार दूसरे धर्म्यध्यानकी भी दो प्रक्रियां हो सकती हैं।

फिर तीसरा विपाक नामक धर्म्यध्यान क्या है? उसका लक्षण कहो ऐसी आकांक्षा प्रवर्तनेपर विनीत शिष्यके सन्मुख ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकको व्यक्त समाधानार्थ कह रहे हैं।

विपाकोऽनुभवः पूर्वं कृतानां कर्मणां स्वयं।
जीवाद्याश्रयभेदेन चतुर्थो धीमतां मतः॥ ४॥

पूर्व कालोंमें स्वयं उपार्जन किये जा चुके ज्ञानावरण आदि कर्मोंका फलानुभवन विचारते रहना तीसरा विपाक धर्म्यध्यान है। तथा जीव, पुद्गल आदि द्रव्योंके अधिकरण हो रहे आकाशके भेद, प्रभेद करके अनादि सिद्धलोक रचनाका चिन्तन करना चौथा संस्थानविचय धर्म्यध्यान है। विचारशील बुद्धिमानोंके यहां 'त्रिलोकसार' अनुसार लोकरचना मानी गयी है, उसका एकाग्र होकर ध्यान लगाया जाता है।

ततः कर्मफलानुभवनविवेकं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः। स च प्रपञ्चतो गुणस्थानभेदेन कर्मप्रकृतीनामुदयोदीरणचिन्तनेन परमागमात्प्रत्येतव्यः। लोकसंस्थानस्वभावावधानं संस्थानविचयः। कोऽसौ लोक इत्याह—

उस विपाकविचय ध्यान अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावोंको निमित्त पाकर हुये कर्म फलके अनुभव विचारोंके प्रति एकाग्रचित्त लगाये रहना विपाकविचय है। और वह विपाकविचय तो गुणस्थान, मार्गणाके भेद करके कर्मकी मूल, उत्तर प्रकृतियोंके उदय, उदीरणा अनुसार चिन्तन करके हो रहा सन्ता विस्तारके साथ परमो-

त्कृष्ट आगम ग्रन्थोंसे समझ लेना चाहिये। अर्थात् कौनसे कर्मका किन किन गुणस्थानोंमें उदय है। कहां उदयव्युच्छित्ति है? मनुष्य आयुका उदय चौदहमे गुणस्थान तक है। किन्तु मनुष्य आयुकी उदीरणा छठे गुणस्थानतक ही हो जाती है, कालप्राप्त हुये विना ही कर्मोंका वर्तमानमें अपक्वपाचन कर लेना उदीरणा है। यों बन्ध, बन्धव्युच्छित्ति; अबन्ध और उदय, उदयव्युच्छित्ति, अनुदय, सत्त्व, सत्त्वव्युच्छित्ति, असत्त्व, उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, निधत्ति, निकाचना, संक्रमण आदि व्यवस्थाओंको राजवार्तिक, गोम्मटसार आदि सिद्धान्त ग्रन्थोंसे समझकर कर्मफलोंका विचार करते रहना चाहिये। यह तीसरा धर्म्यध्यान है। तथा लोककी रचना उस लोकके अवयव हो रहे द्वीप, समुद्र, पर्वत, स्वर्ग, नरक आदि स्थानोंके स्वभाव चिंतनेमे एकाग्रचित्त लगाना चौथा संस्थान-विचय नामका धर्म्यध्यान है। यहां कोई जिज्ञासु श्रोता प्रश्न उठाता है कि वह लोक फिर क्या है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर वक्ताकर ग्रन्थ लिखनेको उत्सुक हो रहे श्रीविद्यानन्द आचार्य महाराज अग्रिमवार्तिकको कह रहे हैं।

लोकः संस्थानभेदाद्वा स्वभावाद्वा निवेदितः।
तदाधारो जनो वापि मानभेदोपि वा क्वचित् ॥ ५ ॥

संस्थान यानी रचनाके भेदसे अथवा लोकमे देखे जा रहे स्वकीयभाव व्यवस्थासे लोकका विशेषरूपेण तीसरे, चौथे अध्यायोंमें निवेदन किया जा चुका है। "लोक्यन्ते यस्मिन्" वह लोकाकाश जिन जीवोंका आधार हो रहा है, वे जन भी लोक कहे जाते हैं। अथवा कहीं, कहीं एकमान यानीं मापका प्रकार भी लोक कहा गया है। अर्थात् आठ प्रकारके उपमा प्रमाणमे लोक (श्रेणीघन) भी गिनाया गया है।

पल्लो सायर सूई पदरो य घणंगुलो य जगसेढी,
लोयपदरो य लोगो उवमपमा एवमट्ठविहा"

(त्रिलोकसार)

ऐसे लोकका विचय पुनः पुनः चींता जाता है।

लोकस्याधोमध्योर्ध्वभेदस्य संस्थानं सन्निवेशः, लोक्यमानस्वभावस्य च लोकस्य संस्थानं प्रतिद्रव्यं स्वाकृतिः तदाधारस्य च जनस्य लोकस्य संस्थानं स्वोपात्तशरीरपरिमाणाकारः, मानभेदस्य च लोकस्य संख्याविशेषाकारः संस्थानं तस्य विचयः संस्थान-विचयः। कः पुनर्विचय इत्याह—

चौदह राजू ऊंचे लोकके अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक, इन तीन भेदोंकी रचना यानी सन्निवेश लोक है। तथा लोके जा रहे स्वरूपको धार रहे लोकका संस्थान लोक है। जो कि प्रत्येक द्रव्यकी स्वकीय आकृति है। अर्थात् सांचेमे जो पोल हैं। वह आकाश द्रव्य है। प्रत्येक पदार्थ आकाशमें ही स्थित है। यों अखण्ड आकाश द्रव्यकी आकृति अनुसार खण्डोंकी कल्पना कर ली जाती है। मुखविवर या नासिकारन्ध्र इत्यादि सब आकाश ही हैं। सहारनपुर, आगरा, यूरोप, अमेरिका ये सब आकाशके वस्तुभूत कल्पित खण्ड हैं। यों प्रत्येक मनुष्यमे तदाकारको धारण कर व्याप रहा लोक है। एवं उस लोकको आधार पाकर बस रहे जन (लोकसमुदाय) स्वरूप लोककी रचना तो अपने अपने ग्रहण किये गये शारीरिक परिमाणके आकार हैं। उपमा मानके भेद हो रहे लोकका संस्थान तो श्रेणीका घनस्वरूप एक विशेषसंख्याका आकार है। उस लोकके संस्थानका विचय यानी विचार करना संस्थानविचय है। कोश और आगम अनुसार लोक शब्दके कतिपय अर्थ हैं। उनमेंसे योग्य चार अर्थोंका ग्रहण किया गया है। यहां कोई जिज्ञासु पूंछता है कि विचयशब्दका अर्थ फिर क्या है ? बताओ, ऐसी बुभुत्सा उपजनेपर ग्रन्थकार इस अग्रिमवार्तिकको बोल रहे हैं।

विचयस्तत्र मीमांसा प्रमाणनयतः स्थितः।
तस्मिंश्चिन्ताप्रबन्धो नुश्चिन्तान्तरनिरोधतः ॥ ६ ॥
युक्तं ध्यानं तदाध्यात्यमेकाग्र्येण प्रवृत्तितः, ।
ध्यातुश्चिन्ताप्रबन्धस्य धर्म्यं पापव्यपायतः ॥ ७ ॥

उस ध्यानके प्रकरणमें विचयका अर्थ तो प्रमाण और नयोंसे मीमांसा यानी विचार करना व्यवस्थित हो रहा है। उस विचयमें आत्माको अन्य चिन्ताओंका निरोध कर देनेसे एक अर्थमे ही कतिपय चिन्ताओंकी रचना करनी पडती है। तिस कारण उसी ध्यान गोचर हो रहे ध्येयका चारों ओरसे अवलम्बकर एकाग्रपनेसे प्रवृत्ति होनेके कारण वह ध्यान समुचित बन जाता है। ध्याता आत्माके पाप परिणतियोंका विनाश हो जानेसे उक्त आज्ञाविचय आदि अनुसार की गयी चिन्ताओंकी शुभ रचनाओंको धर्म्यध्यान मानना युक्तिपूर्ण है, यों युक्तियोंसे आगमगम्य धर्म्यध्यानको सिद्ध कर दिखाया है।

धर्मादनपेतं धर्म्यं तस्योत्तमक्षमादिमत एव प्रवृत्तेः । अनुप्रेक्षाणां धर्म्यध्यानसजातीयत्वात् पृथगनुपदेश इति चेन्न, ज्ञानप्रवृत्तिविकल्पात् । सर्वानुप्रेक्षाणामनित्यत्वाद्यनुचिन्तनस्य ज्ञानविशेषत्वात् ध्यानस्यानुचिन्तनं निरोधरूपत्वात् ।

कस्य तद्धर्म्यध्यानं स्यादित्याह–

उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, आदि दश प्रकारके धर्मोंसे अनपेत यानी सहित हो रहा धर्म्यध्यान है । धर्म शब्दसे अनपेत अर्थमे यत् प्रत्यय किया जाता है । उत्तमक्षमा आदि धर्मोंको धार रहे ही जीवके उस धर्म्यध्यानके करनेकी प्रवृत्ति होती है । अतः दशधर्मोंसे अन्वित बने रहनेके कारण तीसरे ध्यानको धर्म्य कहा गया है ।

यहां कोई तर्कशील विद्यार्थी आक्षेप उठाता है कि अनित्यत्व आदि अनुप्रेक्षाओंको धर्म्यध्यानकी समान जातिवाला होनेसे उनका पृथक् उपदेश करना अनुचित है । बारह भावनाओंमे भी अनित्यपन,लोक,एकत्व आदिकी विचारधाराये या चिन्तनाये की जाती हैं । अतः "अनित्याशरण" इत्यादि सूत्र करके अनुप्रेक्षाओंका व्यर्थ पृथक निरूपण क्यों किया जा रहा है ? । ग्रन्थकार कहते है कि यह आक्षेप तो नहीं कर सकते हो । क्योंकि अनित्यपन आदिका चिन्तन कर रही अनुप्रेक्षाये तो मात्र ज्ञानोंकी प्रवृत्तिके विकल्प हैं, सभी अनुप्रेक्षाओंके अनुसार अनित्यपन आदि पुनः पुनः चिन्तनोंको विशेषरूपका ज्ञानपना है । हां, पीछे एकाग्र होकर चिन्तन करना स्वरूप ध्यान तो निरोधरूप है । अतः भावनायें प्रवृत्तिरूप हैं । और ध्यान निवृत्तिस्वरूप हैं । जब भावना करते करते एकाग्रचिन्ता निरोध हो जायगा, तब वह धर्म्यध्यान बन जायगा । अतः सूत्रकार करके अनुप्रेक्षाओंका पृथक् उपदेश करना न्यायसंगत स्तुत्य प्रयत्न है ।

अब यहां नवीन प्रश्न उठता है कि वह धर्म्यध्यान किस जीवके उपजेगा ? बताओ । ऐसी जिज्ञासा होनेपर ग्रन्थकार अग्रिम दो वार्तिकोंको कह रहे हैं ।

साकल्येन विनिर्दिष्टं तत्प्रमत्ताप्रमत्तयोः ।
अन्तरंगतपोभेदरूपं संयतयोः स्फुटं ॥ ८ ॥
संयतासंयतस्यैकदेशेनासंयतस्य तु ।
योग्यतामात्रतः कैश्चिद्यद्धर्म्यध्यानं प्रचक्ष्यते ॥ ९ ॥

वह धर्म्यध्यान अन्तरंग तपका भेद स्वरूप ही रहा सन्ता परिपूर्ण रूपसे तो संयमी हो रहे प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त दो संयत मुनियोंमे स्फुट होकर पाया जा रहा

विशेष रूपेण शास्त्रोंमे कहा गया है। छठे और सातमें गुणस्थानवर्त्ती मुनिके धर्म्यध्यान स्पष्ट रूपेण विद्यमान हैं। हाँ, पाँचमे गुणस्थानवर्त्ती संयतासंयत श्रावकके एक देश करके धर्म्यध्यान हो जाता है। किन्तु चौथे गुणस्थानवर्त्ती असंयतसम्यग्दृष्टिके तो धर्म्यध्यानकी योग्यता मात्र है। जिन किन्हीं पण्डितों करके चौथे गुणस्थानमें खोटा ध्यान कहा जा रहा है, वह भी योग्यता मात्रसे हैं। चौथे, पाँचवे, गुणस्थानोंमें रौद्र-ध्यान और छठे गुणस्थान तक आर्त्तध्यान सम्भावित हैं। यों चौथेमें दुर्ध्यानकी मात्र योग्यता है। कदाचित् प्रमादकी तीव्रता हो जानेसे दुर्ध्यान बन बैठते हैं। अतः चौथे, पांचवे, छटे, सातमे गुणस्थानोंमें धर्म्यध्यान होना सम्भवता है।

धर्म्यमप्रमत्तस्येति चेन्न, पूर्वेषां निवृत्तिप्रसंगात् इष्यते च तेषां सम्यक्त्वप्रभावाद्धर्म्यध्यानं। उपशांतक्षीणकषाययोश्चेति चेन्न, शुक्लाभावप्रसंगात् तदुभयं तत्रेति चेन्न, पूर्वस्यानिष्टत्वात्। धर्म्यश्रेण्योर्नेष्यते ततस्तयोः शुक्लमेव।

यहाँ कोई अविचारपूर्ण वादी बक रहा रहा है कि धर्म्यध्यान तो सातमे गुणस्थानवर्त्ती प्रमादरहित मुनिके ही होता है। चौथे, पाँचवे, छठेमें धर्म्यध्यान नहीं, भले ही आर्त्त, रौद्र हो जाय। आचार्य कहते हैं कि यह तो मन्तव्य उचित नहीं है। क्यों कि सातमेंसे पूर्वके चौथे, पांचवे, छटे, गुणस्थानवालोंके धर्म्यध्यान होनेकी निवृत्तिका प्रसंग आजायगा। जब कि उन असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, और प्रमत्तसंयत आत्माओंके भी सम्यग्दर्शनके प्रभावसे धर्म्यध्यान हो जाना अभीष्ट किया गया है। अतः सातमे गुणस्थानवर्त्तीके ही धर्म्यध्यान होनेका एकान्त हठ करना समुचित नहीं है। पुनः यहाँ कोई कह रहा है कि अप्रमत्तसे पूर्वोके समान परली ओरके ग्यारहमे गुणस्थानी उपशांतकषाय और बारहमे गुणस्थानी क्षीणकषाय आत्माओंमे भी धर्म्यध्यान ही मानो सम्यक्त्वका प्रभाव हेतु तो वहाँ विद्यमान है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, क्योंकि ग्यारहमे, बारहमे गुणस्थानोंमे धर्म्यध्यान मान लेनेपर वहाँ शुक्लध्यानके अभावका प्रसंग आजावेगा। सर्वज्ञ आम्नाय प्राप्त ग्रन्थोंमें छद्मस्थ वीतरागके शुक्ल-ध्यानका होना अभीष्ट किया है।

यदि इसपर कोई वैकल्पिक सम्प्रदायके समान यों कहे कि वे धर्म्य, शुक्ल दोनों ही वहाँ ग्यारहमे, बारहमे गुणस्थानोंमे मान लिये जाय, आचार्य कहते हैं कि यह तो ठीक नहीं है। क्योंकि गुण दो स्थानोंमे पूर्ववर्त्ती धर्म्यध्यानको वहाँ इष्ट नहीं किया गया है।

महर्षिप्रोक्त आगमग्रन्थों अनुसार उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी दोनोंमे धर्म्यध्यानका सद्भाव अभीष्ट नहीं किया है, आगमविरुद्ध मन्तव्य अपसिद्धान्त है। तिस कारण दोनों श्रेणियोंमे और उन उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, गुणस्थानोंमे अकेला शुक्लध्यान ही पाया जाता है। यह सम्मान्य करना चाहिये।

अथ श्रुतकेवलिनः किं ध्यानमित्याह,—

धर्म्यध्यानका निरूपण हो चुका, अब चौथे ध्यानका प्ररूपण प्राप्त अवसर होनेपर अग्रिम सूत्रको उत्थानिका की जा रही है कि श्रुतकेवली महाराजके कौनसा ध्यान है। छठे, सातमे गुणस्थानवर्ती श्रुतकेवलीके तो धर्म्यध्यान ही संभवेगा, किन्तु वक्ष्यमाण चार प्रकार शुक्लध्यानोंमें श्रुतकेवलीके कौन कौन शुक्लध्यान पाये जा सकते हैं? ऐसी विनीत शिष्यकी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर दयापयोनिधि सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्रका स्पष्ट प्रतिपादन कर रहे हैं।

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥

भविष्यमे कहे जानेवाले शुक्लध्यानके चार भेदोंसे आदिके दो शुक्लध्यान तो चतुर्दशपूर्ववेत्ता यानी सकलश्रुतज्ञानी संयमीके हो रहे हैं। समुच्चय अर्थको कह रहे च अव्यय करके यह अर्थ भी द्योतित हो जाता है कि श्रुतकेवली महाराजके धर्म्यध्यान भी पाया जाता है।

पूर्वविद्विशेषणं श्रुतकेवलिनस्तदुभयप्रणिधानसामर्थ्यात्। च शब्द पूर्वध्यान-समुच्चयार्थः। किं कुर्वन्नेवमुच्यते सूत्रमाचार्यैरित्याह—

सम्पूर्ण श्रुतज्ञानके धारी श्रुतकेवलीके उन दोनों आद्यशुक्लध्यानों अनुसार एकाग्रचित्त लगाये रहनेकी सामर्थ्य है। अतः पूर्ववित् यह विधेयदलमे विशेषण कहा गया है, जो ग्यारह अंगोंमे निष्णात विद्वान् हैं, वही उत्पाद आदि चौदह पूर्वोंका वेत्ता हो सकता है। यों अनायाससे सिद्ध हो गया कि पूर्वधारी ज्ञानी अवश्य द्वादशांग वेत्ता हैं।

भावार्थ—श्रुतज्ञानीके पहिले दो शुक्लध्यान सम्भवते हैं। पाँच समिति, तीन गुप्ति, इन आठ प्रवचन माताओंका श्रुतज्ञान भी जघन्यरूपेण निग्रन्थोंके अभीष्ट किया गया है। राजवार्तिकमे "संयमश्रुत" आदि सूत्रकी व्याख्या करते हुये अंतमें श्री अकलंकदेवने "जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु, बकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रव-

घनघातरः " ऐसा लिखा है । हां, आत्मविशुद्धिके प्रकृष्ट अध्यवसायसे उत्पन्न हुये उच्च कोटीय अविभाग प्रतिच्छेदोंको धार रहे पृथक्त्ववितर्कवीचार, और एकत्ववितर्क वीचारध्यान तो पूर्ववेत्ता श्रुतकेवलीके ही होंगे, ध्यानमें ज्ञानकी बडी आवश्यकता है जितना ज्ञान अच्छा होगा, उतना ही बढिया ध्यान लग सकेगा । ज्ञान या भावनायें ही चिन्तानिरोधको करती हुई एकाग्र केन्द्रित होकर ध्यानका रूप धार लेती हैं । तभी तो श्रुतकेवली संयमीके उत्कृष्ट श्रेणीके आद्य दो शुक्लध्यानोंका होना इस सूत्रमें कहा गया है । सूत्रमें पड़ा हुआ च शब्द तो पूर्ववर्ती धर्म्यध्यानका समुच्चय करनेके लिये है ।

यहां कोई प्रश्न उठाता है कि क्या विचार कर श्री उमास्वामी आचार्य महाराजने यह सूत्र इस प्रकार कहा है ? उनको प्रथम शुक्लध्यानके भेद या लक्षण करने चाहिये थे । जैसा कि पहिले ध्यानोंमें क्रम रक्खा गया है । प्रथमसे ही शुक्लध्यानके अधिकारी स्वामीका निरूपण करना हमें अच्छा नहीं जंचा । ऐसी सकटाक्ष पृच्छना उपस्थित हो जानेपर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्त्तिकको समाधानार्थ कह रहे हैं ।

मत्वा चत्वारि शुक्लानि प्रोच्यमानानि सूरिणा ।
आद्ये पूर्वविदः शुक्ले धर्म्यं चेत्यभिधीयते ॥ १ ॥

निकट भविष्यमें बढिया कहे जा रहे चार शुक्लध्यानोंको मनसे बुद्धिमें चिन्तन कर सूत्रकार आचार्य महोदयने आद्य दो शुक्लध्यान पूर्ववेत्ता श्रुतज्ञानीके हो जानेवाले कह दिये हैं । और चकार पदसे चतुर्दशपूर्वधारीके धर्म्यध्यानका हो जाना भी इसी सूत्रमें द्योतित कर कहा जा रहा है ।

विषयविवेकापरिज्ञानमिति चेन्न, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः । श्रेण्यारोहणात्प्राक् धर्म्यध्यानं, श्रेण्योः शुक्लध्यानमिति व्याख्यानं विषयविवेकपरिज्ञाननिमित्तमाश्रीयते । तथाहि—

यहां कोई चोद्य उठा रहा है कि च शब्द करके पूर्वके धर्म्यध्यानका समुच्चय किया जानेपर भी विषय यानी अधिकरणका विवेचन या पृथग्भाव नहीं परिज्ञात हो पाता है कि श्रुतज्ञानीके कहांपर दो शुक्लध्यान हैं । और किन गुणस्थानोंमें उसके धर्म्यध्यान प्राप्त करता है ? । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, क्योंकि शास्त्र, न्योक गम्भीर शब्दोंका व्याख्यान कर देनेसे सामान्यपठित अनेक विशेषोंकी प्रतिपत्ति

हो जाते हैं। श्रेणीपर चढनेसे पहिले श्रुतज्ञानीके धर्म्यध्यान हैं। तथा उपशमक-क्षपक, दोनों श्रेणियोंमें श्रुतकेवलीके शुक्लध्यान है, इस प्रकार सूत्रके व्याख्यानका आश्रय लिया जाता है, जो कि विशेष विषयोंके पृथग्भावका परिज्ञान करानेमें निमित्त हो जाता है। इसी बातको युक्तिपूर्वक समझाते हुये ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकमें स्पष्ट कहे देते हैं। उसको दत्तावधान होकर सुनलो।

श्रेण्यधिरोहिणः शुक्ले धर्म्यं पूर्वस्य तस्य हि।
अपूर्वकरणादीनां शुक्लारम्भकतास्थितेः॥ २॥

मोहनीय कर्मकी इकईस प्रकृतियोंका उपशम या क्षय करनेके लिये श्रेणीपर चढ रहे श्रुतज्ञानीके दो शुक्लध्यान होते हैं। श्रेणी आरोहणके पूर्ववर्ती उस द्वादशांग-वेत्ताके नियमसे धर्म्यध्यान ही होता है। क्योंकि श्रेणीके आठमे, नौमे, दशमे अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण, आदि गुणस्थानियोंके उस शुक्लध्यानका प्रारम्भ करना आर्ष ग्रन्थों-द्वारा व्यवस्थित हो रहा है।

अथावशिष्टे शुक्ले कस्य भवतः इत्याह—

दोनों श्रेणियोंमें और उपशम श्रेणी चढ चुके ग्यारहमें गुणस्थानमें पृथक्त्व-वितर्क वीचार तथा क्षपकश्रेणी चढ चुके बारहमें क्षीणमोह गुणस्थानमें दूसरे एकत्व वितर्क अवीचार शुक्लध्यान हो जावेका नियम किया, अब इसके अनन्तर यह बताओ कि बचे हुये अवशिष्ट दो परले शुक्लध्यान भला किस महात्माके हो जाते हैं? ऐसी जिज्ञासा उठनेपर करुणाब्धि सूत्रकार महर्षि इस अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं।

परे केवलिनः॥ ३८॥

सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म जिनका नष्ट हो चुका है, उन तेरहमे, चौदहमे, गुणस्थानवर्ती केवलज्ञानी महाराजके परले दो सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रिया-निवर्ति नामक शुक्लध्यान यथाक्रमसे होते हैं।

केवलिशब्दसामान्यनिर्देशात्तद्वतोरुभयोर्ग्रहणं। कथमित्याह,—

केवलज्ञानी आत्माको कहनेवाले केवली शब्दका इस सूत्रमें सामान्यरूपसे कथन किया गया है। इस कारण उस केवलज्ञानको धारनेवाले सयोग केवली भगवान् और अयोगकेवली शुद्धात्मा दोनोंका ग्रहण हो जाता है। किस प्रकार उन दोनोंका ग्रहण

हो जाता है ? ऐसी जिज्ञासा उठनेपर ग्रन्थकार युक्तिको दिखलाते हुये अग्रिम श्लोकमे वार्तिकको कह रहे हैं।

परे केवलिनः शुक्ले सयोगस्येतरस्य च।
यथायोगं स्मृते तज्ज्ञैः प्रकृष्टे शुद्धिभेदतः॥ १॥

तेरहमें, चौदहमें, गुणस्थानोंमे भिन्न भिन्न प्रकारकी विशुद्धि हो जानेसे सयोगकेवली और उनसे न्यारे अयोग केवली भगवान्‌के योग और अयोग अवस्थाका अतिक्रम नहीं कर यथाक्रमसे अत्युत्तम परले दो शुक्लध्यान हो जाते हैं। इस रहस्यको ध्यानसिद्धान्तके परिपूर्ण ज्ञायक ऋषियोंने सर्वज्ञ आम्नायपूर्वक स्मरण रखते हुये कहा है। भावार्थः-सयोगकेवलीके प्रकृष्ट विशुद्धि है, और अयोगकेवलीके ततोऽपि अधिक प्रकृष्टतर विशुद्धि है। अतः उस सामग्री अनुसार सम्भवनेवाले दो शुक्लध्यान उनके उपज बैठते हैं।

कानि पुनस्तानि चत्वारि शुक्लध्यानानि यानि स्वामिविशेषाश्रयतया विभज्यन्ते इत्याह—

यहाँ कोई विनीत जिज्ञासु शिष्य शुश्रूषासहित प्रश्न कर रहा है कि वे चार शुक्लध्यांन फिर कौनसे हैं ? बताओ, जिनका कि उक्त दो सूत्रोंमे पूर्वधारी और केवलज्ञानी, इन विशेष स्वामियोंके आश्रितपने करके दो, दो रूपसे विभाग कर दिया गया है। ऐसी जाननेकी तीव्र आकांक्षा प्रवर्तनेपर परमोपकारक सूत्रकार महाराज अगिले सूत्रका विशद निरूपण करते हैं।

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि॥ ३९॥

पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्क अवीचार सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ती ये शुक्लध्यानके चार प्रकार है। अर्थात् ध्यानका तत्त्व अत्यन्त गम्भीर और सूक्ष्म है। उत्तम कोटिके धर्म्यध्यान और चारों शुक्ल ध्यानोंका तो आजकल यहां परिचय मात्र भी नहीं है। ध्यानोंका बहुभाग स्वयं अनुभव करने योग्य है। शब्दोंद्वारा निरूपणीय नहीं है। अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, परिणामोंका प्रतिपादन करना भी दुःशक्य है, हां योग्य गुरुद्वारा प्रतिपादन कर देनेपर शिष्यको अपने श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम अनुसार अतीन्द्रिय प्रमेय कुछ अंशोंमें झलक होता है। तभी तो-

पण्णवणिज्जा भावा, अणन्तभागोदु अणभिलप्पाणं ।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो " ॥

(गोम्मटसार जीवकांड) कहा गया है ।

अनेक वाच्य प्रमेयोंमें भी शब्द आश्वासक मात्र हैं । विशेष व्युत्पत्ति तो स्वकीय योग्यतासे ही होती है । ध्यानकी परिपूर्ण सामग्रीसे विराजमान हो रहा संयमी आत्मा बहिरंग, अभ्यन्तर सम्बन्धी द्रव्य और पर्यायोंका ध्यास करता सन्ता वितर्क यानी शास्त्रज्ञानकी सामर्थ्यसे युक्त होकर जब अर्थ व्यञ्जनों और कायवचनोंका पृथकपने रूपसे संक्रमण कर रहे मनःकरके देरमें वृक्ष काटनेके समान मोहकर्मप्रकृतियोंका उपशम या क्षय कर रहा हैं । उस समय वह पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यानमें निमग्न है । तथा मोहनीय कर्म वृक्षको सर्वांग नष्ट करता हुआ अनन्तगुण विशुद्ध हो रहा वीचार-रहित क्षीणकषाय जीव अर्थ व्यञ्जन, योगोंकी संक्रान्तिको हटाकर जिस एकाग्रतासे ज्ञानावरणादि प्रकृतियोंका क्षय कर देता है, वह एकत्व वितर्क अवीचार है । एवं तेरहवे गुणस्थानवर्त्ती केवली भगवान्‌की आयु जब तीन अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है, तब बादर योगोंका त्यागकर केवली समुद्घात नामक पुरुषद्वारा आयुके बराबर तीन अघातिया कर्मोंकी स्थितिको समान करता हुआ, सूक्ष्मयोगी तीसरे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यानको धारता है । इस ध्यानमें मनकी एकाग्रता नहीं है । क्योंकि तेरहवें गुणस्थानमें अविचारक केवलज्ञान सूर्यके चमकते हुये मानसिक विचार या इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं हो पाते हैं, अतः आत्मीय प्रयत्न परणतिको उपचारसे ध्यान कह दिया गया है । उसके पश्चात् योगक्रियाका नाशकर चौदहवें गुणस्थानमें अयोग केवलीके सम्पूर्ण कर्मोंका नाश कर देनेकी सामर्थ्य रखता हुआ, जो आत्मीय पुरुषार्थ होता है । वह व्यवहारसे ध्यान नामको धार रहा व्युपरत क्रियानिवर्त्ती चौथा शुक्लध्यान है । यों चारों शुक्ल-ध्यानोंका संक्षेपसे स्वरूप कथन है ।

वक्ष्यमाणलक्षणापेक्षया सर्वेषामन्वर्थत्वं । तत एवाह,—

भविष्यमें कहे जानेवाले लक्षणोंकी अपेक्षा करके सभी ध्यानोंका प्रकृति, प्रत्यय, अनुसार अन्वर्थपना जान लेना चाहिये । भावार्थ-सूत्रकार महाराजने ज्ञान, चारित्र, प्रमाण, नय, ज्ञानावरण अनुप्रेक्षा, आदिकपद ऐसे प्रयुक्त किये हैं जिनकी कि निरुक्ति कर देने मात्रसे अभीष्ट अर्थ निकल पडता है । पृथक्त्ववितर्क आदि ध्यान भी यथार्थ नामको धार रहे हैं । हां, जिस किसी सम्यग्दर्शन, वितर्क, वीचार, आदि पदोंसे

यौगिक अर्थ निकल रहा अभीष्ट नहीं है, उनका पारिभाषिक अर्थ करनेके लिये लक्षण सूत्र बना दिये हैं। अतः इन ध्यानोंका स्वरूप प्रकृति, प्रत्ययसे ही समझ लिया जाय तिस ही कारणसे ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकको स्पष्ट कह रहे हैं।

पृथक्त्वेत्यादिसूत्रेणान्वर्थनामानि तान्यपि।
शुक्लानि कथितान्युक्तस्वामिभेदानि लक्षणैः॥ १॥

चारों शुद्ध ध्यानोंके भिन्नभिन्न स्वामी तो पहिले दो सूत्रोंमें कहे जा चुके थे। अब इस " पृथक्त्वैकत्व " इत्यादि सूत्र करके अन्वर्थ संज्ञाओंको धर रहे उन चारों भी शुक्लध्यानोंका लक्षणोंसे भी कथन कर दिया गया है। अन्वर्थ संज्ञावाले लक्ष्यका लक्षण वह प्रकृति, प्रत्यय, अर्थ ही बन बैठता है।

अथैतेषु चतुर्षु शुक्लध्यानेषु किं कियद्योगस्य भवतीत्याह,—

यहां कोई प्रश्न उठाता है कि अब यह बताओ कि इन चारों शुक्लध्यानोंमें कौन कौनसा कितने कितने योगवाले जीवके हो जाता है? ऐसी आकांक्षा उठनेपर परमकारुणिक सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम्॥ ४०॥

तीनों योगोंवाले जीवके, एकयोगवाले जीवके, काययोगी केवलीके, और अयोग केवलीके यथाक्रमसे उक्त चारों ध्यान हो रहे पाये जाते हैं। अर्थात् पहिला शुक्लध्यान ध्यावते हुये जीवके अन्तर्मुहूर्त स्थायी तीनों योग पलट जा सकते हैं, तो भी वह ध्यान एक ही अखण्ड लडीबद्ध बना रहता है। हां, दूसरे शुक्लध्यानके लिये एक ही योगमे स्थिर रहना आवश्यक है। तीसरा शुक्लध्यान तो मनोयोग, वचनयोग और बादर काययोगकी अवस्थामें न होकर मात्र सूक्ष्म काययोग हो जानेपर स्वपुरुषार्थसे सम्पादित होता है। और चौथा शुक्लध्यान, योगरहित दशामें धारण किया जाता है।

योगशब्दो व्याख्यातार्थः। यथासंख्यं चतुर्णां सम्बन्धः। त्रियोगस्य पृथक्त्ववितर्कं, त्रिषु योगेष्वेकयोगस्यैकत्ववितर्कं, काययोगस्य सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, अयोगस्य व्युपरत-क्रियानिवर्तीति। तदाह—

" कायवाङ्मनः कर्मयोगः " इस सूत्रमें योग शब्दका व्याख्यान किया जा चुका है। सूत्रमें कहे गये चारों स्वामियोंका चारों ध्यानोंके साथ संख्या अनुसार संबन्ध

कर लिया जाय तब तो सूत्रकी व्याख्या यों कर दी जाती है कि मन, वचन काय सम्बन्धी तीनों योगवाले संयमीके पहिला पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान हो जाता है। तीनों योगोंमेंसे किसी भी एक योगको धार रहे यथाख्यात चारित्रीके दूसरा एकत्व वितर्क अवीचार शुक्लध्यान बन जाता है। केवल काययोगको धार रहे परम गुरुके तीसरा सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती शुक्लध्यान उपजता है। तथा योगोंसे रहित हो गये अयोगकेवली भगवान्के चौथा व्युपरत क्रियानिवर्ती शुक्लध्यान पाया जाता है। उस ही आगम प्रसिद्ध सिद्धान्तको आचार्य महाराज अगिली दो वार्तिकोंमें कह रहे हैं।

तत्र प्राच्यं त्रियोगस्यैकैकयोगस्य तत्परं।
तृतीयं काययोगस्यायोगस्य च तुरीयकं ॥ १ ॥
योगमार्गणया तेषां सद्भावनियमः स्मृतः।
एवं त्रीत्यादिसूत्रेण विवादविनिवृत्तये ॥ २ ॥

उन चार शुक्लध्यानोंमें पहिला तो तीनों योगवाले एक जीवके सम्भव जाता है। उससे पहला, दूसरा शुक्लध्यान एकयोगी जीवके प्रवर्तता है। सूक्ष्मकाय योगवाला जिन तीसरेको धारता है। और योगरहित चौदहवें गुणस्थानवाले आत्माके चौथा शुक्लध्यान वर्तता है, जो योगोंद्वारा जीवोंको ढूंढनेवाली योगमार्गणा करके " त्र्येकयोग " इत्यादि सूत्रद्वारा विवादोंकी विशेषरूपेण निवृत्ति करनेके लिये इस उक्त प्रकार उन ध्यानोंके सद्भावका नियम सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार स्मरण कर कह दिया गया है।

तत्राद्ययोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह,——

उन चारों शुक्लध्यानोंमें आदिके दो शुक्लध्यानोंकी विशेषतया प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकार स्वयं अग्रिमसूत्रको स्पष्टतया कह रहे हैं।

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥

श्रुतज्ञानी आत्मा करके पहिले दो शुक्लध्यान आरम्भे जाते हैं, अतः एक श्रुतज्ञानी उन दोनोंका आश्रय है। तथा पूर्ववर्त्ती दोनों शुक्लध्यान वक्ष्यमाण लक्षणवाले वितर्क और वीचारसे सहित है। अर्थात् अनुपम श्रुतज्ञानी किसीकी सहायता नहीं चाहता हुआ दो शुक्लध्यानोंको धार लेता है। जिन दोनोंमें अनेक शास्त्रीय तर्कणायें विचारी जाती है। पहिले ध्यानमें वीचार भी है। दूसरेमे वीचारका रहितपना अग्रिम सूत्रद्वारा कहा जानेवाला है।

कुत इत्याह,--

कोई ऊहापोह करनेवाला छात्र पूंछता है कि यह इस सूत्रमें कहा गया सिद्धांत किस युक्तिसे निर्णीत कर लिया जाय ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा उठनेपर ग्रन्थकार अग्रिम दो वार्तिकोंको कह रहे हैं ।

एकाश्रये परिप्राप्तश्रुतज्ञानाश्रयत्वतः ।
सवितर्के श्रुते तत्वात्सवीचारे च संक्रमात् ॥ १ ॥
अर्थव्यञ्जनयोगेषु सामान्येनोपवर्तिते ।
पूर्वे शुक्ले त्रियोगैक योगसंयतसंश्रयात् ॥ २ ॥

आत्म विशुद्धिके लिये अतीव उपयोगी हो रहे श्रुतज्ञानको चारों अनुयोगोंद्वारा प्राप्त कर चुके एक व्यक्ति श्रुतज्ञानीको आश्रय पाकर प्रारम्भ किये जानेवाले होनेसे पहिले दो शुक्लध्यान एक आश्रयवाले हैं, ऐसा सूत्रकारने इस सूत्रके आदिमे युक्त कहा है । और वितर्कणा यानो अर्थसे अर्थान्तरोंका उपलम्भ करना स्वरूप श्रुतज्ञानकी प्राप्त हो रहे होनेसे इस सूत्रमे आद्य दो शुक्लध्यानोंको वितर्कसहित कहना युक्तिपूर्ण है, तथा अर्थ, व्यञ्जन और योगोंमे सामान्य रूपसे परिवर्तन होते सन्ते ये उपजते रहते हैं । अतः संक्रमण होनेसे इनको वीचारसहित कहना सूत्रकार महोदयका परार्थानुमानपूर्ण है । पूर्ववर्त्ती दोनों शुक्लध्यान यथाक्रमसे तीन योगवाले और एक योगवाले संयमी मुनिका अच्छा आश्रय पालेवेसे उपजते हैं । यों आप्त प्रोक्त आगमगर्भित युक्तियोंसे परिवेष्टित हो रहा इस सूत्रका रहस्य है । आगमानुसारिणी युक्ति सद्युक्ति है, आगम-विरुद्ध युक्तिको कुयुक्ति मानना चाहिये ।

पूर्वविदारभ्यत्वादेकाश्रयत्वसिद्धिः । सवितर्कवीचारे इति द्वन्द्वपूर्वोन्यपदार्थ-निर्देशः । पूर्वत्वमेकस्यैवेति चेन्न, उक्तत्वात् ।

पूर्ववेत्ता विद्वान् करके प्रारम्भ करने योग्य होनेसे आद्य दो शुक्लोंका एका-श्रयपना सिद्ध हो जाता है । " सवितर्कवीचारे " इस पदमें पहिले वितर्कश्च वीचारश्च वितर्कवीचारौ यों द्वन्द्वसमास किया जाय, पुनः वितर्कवीचाराभ्यां सहवर्तते इति सवित-र्कवीचारः, यों विग्रहमें कहे गये पदोंके अर्थसे न्यारे अन्य पदार्थका प्रधानरूपेण कथन करते हुये, बहुव्रीहिसमास कर लिया जाय ।

यहां कोई आक्षेप उठा रहा है कि चाहे हजारों, असंख्यों पदार्थ क्यों न होवे उनमे पूर्ववर्त्ती एक ही होगा। दो, तीन, चार कथमपि आद्य या पूर्ववर्त्ती नहीं हो सकते हैं। आप पूर्वपदसे दो ध्यान कैसे पकड रहे हैं ?

आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, क्योंकि इस आक्षेपका उत्तर हम पहिले कह चुके हैं कि उसके समीपवर्त्तीको भी उपचारसे वही कह दिया जाता है। दुष्ट और शिष्टकी संगति करनेवाला पुरुष भी उसी दुष्ट या शिष्ट रूपसे व्यवहार करने योग्य हो जाता है। अतः प्रथमका निकटवर्त्ती दूसरा भी पूर्व कहलाने योग्य है। एक बात यह भी है कि प्रथमाद्विवचन औ विभक्तिका नपुंसक लिंगमे पूर्वे यह रूप बना है। अतः द्विवचनकी सामर्थ्यसे दो पहिलोंका ग्रहण हो जाना न्यायप्राप्त है।

तत्र यथाप्रसंगे च अनिष्टनिवृत्त्यर्थमिदमारभ्यते, —

यथासंख्य उक्त प्रकार उन दोनों धर्म्यध्यानोंमे वीचारसहितपना प्रसंग प्राप्त हुआ। और ऐसा हो जानेसे दूसरे शुक्लध्यानको वीचारसहितपना आया, जो कि इष्ट नहीं है। अतः उस अनिष्टकी निवृत्ति करनेके लिये सूत्रकार महाराज लगे हाथ इस अग्रिम सूत्रका प्रारम्भ करते हैं। अर्थात् सूत्रोंमें शब्दविन्यास अल्पीयान् होना चाहिये। इसी बातका लक्ष्य कर यह प्रशंसनीय प्रयत्न सूत्रकारको करना पडा हैं। ऐसा " आरभ्यते " पदमें कर्मणि प्रत्यय करनेसे ध्वनित हो जाता हैं। तन्त्री बजनेसे संगीतकी राग, रागिणी पहिचान ली जाती है।

अवीचारं द्वितीयम् ॥ ४२ ॥

पूर्वके दो शुक्लध्यानोंमें दूसरा ध्यान तो वीचारसे रहित है। अर्थात् पहिला तो वितर्क और वीचारसे सहित है। हां, दूसरा शुक्लध्यान वितर्क यानी श्रुतज्ञानीय चर्चाओंसे सहित है, किन्तु अर्थ, व्यञ्जन योगोंके परिवर्तन स्वरूप वीचारसे रहित है। यह अपवाद सूत्र है। इसी सूत्रोक्त मन्तव्यको ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकोंमें स्पष्ट कह रहे हैं।

अवीचारं द्वितीयं तत्संक्रान्तेरसमुद्भवात् ।
एकयोगस्य तद्धातुरिति प्राहापवादतः ॥ १ ॥
सवितर्कं सवीचारं पृथक्त्वेन ततः स्थितं ।
प्राच्यं शुक्लं तु सवितर्कवीचारबलादिह ॥ २ ॥

तथाऽवितर्कवीचारे परे शुक्ले निवेदिते ।
काययोगाधिनाथत्वादयोगाधिपतित्वतः ॥ ३ ॥

अर्थ और व्यञ्जनका संक्रमण नहीं कर केवल एक योगको धार रहे उस दूसरे ध्यानके ध्याता जीवके उन अर्थ, व्यञ्जन योगोंके परिवर्तनका उपजना कथमपि नहीं होनेके कारण दूसरा शुक्लध्यान वीचाररहित है, इस सिद्धान्तको अपवाद रूपसे सूत्रकारने इस सूत्रमें बहुत अच्छा कहा है । तिस कारण यह राद्धान्त यहां व्यवस्थित हो जाता है कि पूर्ववर्त्ती पहिला शुक्लध्यान तो वितर्क और वीचारसहितपनेकी सामर्थ्यसे ध्याया जा रहा पृथकपने करके वितर्कसहित और वीचारसहित है ।

दूसरे शुक्लध्यानका एकपने करके वितर्कसहित होकर वीचाररहितपना इस सूत्रमें कहा गया है । तथा परिशेषन्याय अनुसार यह बात भी इन्हीं सूत्रोंसे व्यक्त होकर निवेदन कर दी जाती है कि परले दो शुक्लध्यान तो वितर्क और विचार दोनोंसे रहित हैं । क्योंकि तीसरे शुक्लध्यानका पूर्ण अधिकार ले रहा स्वामी सूक्ष्म काययोगी केवलज्ञानी है ।

चौथा शुक्लध्यान तो योगरहित चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती केवलज्ञानीको अधिपति मान कर ही उपजता है । अतः अन्वय व्यतिरेकको ले रही अन्यथानुपपत्ति अनुसार इस सूत्रका प्रमेय सिद्ध हो जाता है ।

कोऽयं वितर्क इत्याह,—

यहां कोई प्रश्न उठाता है कि आदिके दो शुक्लध्यान आपने वितर्कसहित बतलाये । वितर्कके कितने ही अर्थ होते हैं । विशेषेण तर्कण करना वितर्क है । वि + तर्क वैशेषिकोंने तर्कको अयथार्थज्ञानोंमें गिना है । कहीं व्याप्तिज्ञानको तर्क माना गया है ।

गौतम सूत्रमें " अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः " अन्यत्र " व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः " कहीं " व्यापकाभाववत्त्वेन व्याप्याभाववत्त्वसमर्थनं " को तर्क कहा गया है । यदि वन्हि नहीं होती तो धूम भी नहीं होता " धूमो यदि वन्हिव्यभिचारी स्यात् तदा वन्हिजन्यो न स्यात् " तथा पर्वतो यदि निर्वन्हिः स्यात् निर्धूमः स्यात् " यों व्याघात, आत्माश्रय, इतरेतराश्रय, चक्रक, अनवस्था, प्रतिबन्धिकल्पना, लाघवकल्पना, गौरव, उत्सर्ग, अपवाद, वैयात्य, ये ग्यारह प्राचीन नैयायिकोंने तर्कके भेद माने हैं । कोई " प्रमाणनयैरर्थपरीक्षणं तर्कः " कह रहे हैं । ऐसी अवस्थामें

निर्णय करनेकी इच्छा प्रवर्त्तती है कि यह प्रकरणमें प्राप्त हो रहा वितर्क भला क्या पदार्थ है ? बताओ। ऐसी उत्कट इच्छा जागनेपर कृपानिधान सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

विशेषेण तर्कणा करना अर्थात् एक अर्थसे अनेक अर्थान्तरोंका मानसिक विचार करना स्वरूप श्रुतज्ञानका यहाँ वितर्कपदसे ग्रहण किया गया है। अतीन्द्रिय शुक्लध्यानका उपयोगी हो रहा विशिष्ट जातिका श्रुतज्ञान वितर्क है।

किमेतत्सूत्रवचनादभिप्रेतमित्याह,—

यहाँ कोई व्यर्थका लाघव दिखा रहा आक्षेप कर रहा है कि इस सूत्रका निरूपण करनेसे सूत्रकार महाराजके अभिप्रायका क्या वाच्यार्थ विषय हो रहा है ? बताओ, यों आक्षेप प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिकको स्पष्ट कह रहे हैं।

वितर्कः श्रुतमस्पष्टतर्कणं न पुनर्मतेः।
भेदश्चिन्ताख्य इत्येतत्सूत्रारम्भादभीप्सितं ॥ १ ॥

वितर्कका अर्थ यहाँ श्रुत है। जो कि परोक्षज्ञानरूपेण अस्पष्ट तर्कणा करना है। किन्तु " मतिः स्मृतिः संज्ञा " इत्यादि सूत्रमें मतिज्ञानका भेद जो चिन्ता नामका कहा गया है, वह चिन्ताका अर्थ तर्क फिर यहाँ नहीं लिया गया है। यों इस सूत्रका प्रारम्भ कर देनेसे सूत्रकारको अभीष्ट अर्थ हो रहा है। अर्थात् अन्य अनिष्टोंकी व्यावृत्ति करना लक्षण करनेका प्रयोजन है।

वितर्कके इस पारिभाषिक अर्थ करके चिन्ता मतिज्ञानके समान अन्यदार्शनिकोंके तर्ककी भी व्यावृत्ति हो जाती है। इतरोंका अभाव कर देनेसे ही स्वकी अक्षुण्ण रक्षा हो पाती है। परापेक्षया नास्तित्व ही स्व अस्तित्वको दृढ बनाये रखता है।

पूज्य महामना ग्रन्थकारके अष्टसहस्री ग्रन्थमें इस परव्यावृत्तिका बहुत अच्छा विवेचन किया है। जो कि अन्य ग्रन्थोंमें सर्वथा दुर्लभ है। जिस स्थानपर हम निराकुल होकर बैठे हुये हैं, वहाँ सर्प, व्याघ्र, नक्र, चक्र, सिंह, मत्तगज, वात्या, अग्निदाह, भूकम्प, जलबाढ, विद्युत्पात, राजक्रान्ति आदि उत्पातोंका अभाव परिपूर्ण बना रहना चाहिये। एक सर्पके अभावकी भी उपेक्षा कर देनेपर झट क्रोधी, काला भुजंग,

फणा उठाकर उस स्थानपर 'अधिमकेगा, ऐसी दशामें अध्ययन, अध्यापन, व्यापार, क्रीडन, आदि सब मिट जायेंगे, यहांतक कि जीवन की आशा भी छोड देनी पडेगी।

अतः जितने भी पररूप या अन्यसम्बन्धी पदार्थ है। उन सबके प्रत्येक प्रत्येक होकर अनन्तानन्त अभाव प्रकृत वस्तुके शिरपर लदे हुये हैं। जिन प्राणियोंकी मृत्यु हो गई है उनके ध्वन्स बने रहने दो। मात्र पांच हजार वर्ष पहिलेके शवोंको जीवित कर देनेसे वर्तमान प्राणियोंके खानेको एक दाना और ठहरनेको एक अंगुल स्थान भी नहीं मिल सकेगा। भिच्चीमें आकर भूंखके मारे वर्तमान प्राणी सब मर जांयगे।

कः पुनर्वीचार इत्याह,—

यहां अग्रिम सूत्रकी उत्थानिका उठायी जाती है कि वीचारका अर्थ फिर क्या है? बताओ। ऐसे पारिभाषिक अर्थ की जिज्ञासा उपस्थित होनेपर सूत्रकार अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

वीचारोर्थव्यंञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥ ४४ ॥

ध्यान करने योग्य द्रव्य अथवा पर्याय यहां अर्थ लिया गया है। व्यञ्जनका अर्थ वचन होता है। मन, वचन, कायद्वारा आत्मीय प्रदेशोंका परिस्पन्द होना योग है, यों अर्थ, व्यञ्जन और योगोंका संक्रमण यानी परिवर्तन होना यहां शुक्ल ध्यानके प्रकरणमें वीचार है। अर्थात् लौकिक विचार करना या अन्य क्रियायें करना कोई यहां वीचार नहीं लिया गया है। यों अनिष्ट अर्थकी व्यावृत्ति करनेके लिये विचारका भी पारिभाषिक अर्थ सूत्रकारको कण्ठोक्त करना पडा।

कुतोन्यो न वीचार इत्याह,—

किस कारणसे यह जान लिया जाय? कि वीचारका सूत्रोक्त अर्थ ही पकडा जा सके अन्य दूसरे प्रसिद्ध अर्थका नहीं ग्रहण होवे? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर आचार्य महाराज इन अग्रिम वार्तिकोंको बखान रहे हैं।

अर्थव्यञ्जनयोगेषु संक्रान्तिश्चेतसस्तु या।
स वीचारो न मीमांसा चरेर्गत्यर्थनिष्ठतः ॥ १ ॥
एवं निरुक्तितोर्थस्याव्यभिचारित्वदर्शनात्।
प्रोक्तं वितर्कवीचारलक्षणं सूत्रतः स्वयं ॥ २ ॥

वह प्रथम शुक्लध्यानमें उपयोगी हो रहा वीचार तो अर्थ, व्यञ्जन, और योगोंमें जो परिवर्तन होना है, यही समझा जायगा। यहां वीचारका अर्थ मीमांसा यानी तर्कणा करना, संकल्पविकल्प पूर्वक विचार करना (मान-विचारे) या विचार-पूर्वक तत्वनिर्णय करना नहीं है। क्योंकि (चर-गतौ) धातु इस गति यानी गमन, परिवर्तन अर्थमें प्रतिष्ठित हो रही है। " इक्स्तिपौ धातुनिर्देशे " सप्तमी विभक्तिका अर्थ निष्ठत्व (में)होता है। यों वि उपसर्गपूर्वक चर धातुसे घञ्प्रत्यय करनेपर वीचार शब्दकी निरुक्तिद्वारा ही प्राप्त हुये अर्थका व्यभिचारीपना नहीं देखनेसे सूत्रकारने स्वयं इस प्रकार उक्त दो सूत्रों करके वितर्क और वीचारका लक्षण बहुत बढिया कह दिया है। यदि " अर्थस्य व्यभिचारित्वदर्शनात् " ऐसा पाठ माना जाय तो यों अर्थ कर लिया जाय कि प्रकृति प्रत्यय अनुसार निरुक्तिसे प्राप्त हुये, यौगिक अर्थका व्यभिचार देखा जाता है। अतः सूत्रकारको वितर्क और वीचारका योगरूढि अर्थ करना पडा है।

द्रव्यं हित्वा पर्याये तं त्यक्त्वा द्रव्ये संक्रमणमर्थसंक्रान्तिः, अर्थस्य द्रव्यपर्यायात्मकत्वात्। एवं श्रुतवचनमवलंब्य श्रुतवचनान्तरालम्बनं व्यंजनसंक्रान्तिः। काययोगाद्योगान्तरे ततोपि काययोगे संक्रमणं योगसंक्रान्तिः। एवं परिवर्तनं वीचारस्तेन युतं वितर्केण च श्रुताख्येन विशिष्टं पृथक्त्ववितर्कवीचारं प्रथमशुक्लध्यानं। कीदृग्ध्याता तद्ध्यातुमर्हतीत्याह: —

जैनसिद्धान्त अनुसार अर्थ यानी वस्तु तो इन द्रव्य और पर्यायोंका तदात्मक हो रहा अविष्वग्भाव पिण्ड है। अर्थात् वस्तुके द्रव्य और पर्याय दोनों अंश हैं। अतः एक ही ध्यान बना रहकर द्रव्यको छोडकर पर्यायमें और उस पर्यायको छोडकर द्रव्यमें संक्रमण होते रहना अर्थसंक्रान्ति है।

इसी प्रकार एक शास्त्रीय वचनका अवलंब पाकर दूसरे भिन्न शास्त्रीय वचनोंका सहारा ले लेना व्यञ्जन संक्राति है। अर्थात् "अट्ठवियकम्मवियला" का विचार करते हुये, " णट्ठचदुघाइकम्मो " या " एगो मे सासदो आदा " इत्यादि वचनोंका आलम्बन बदल कर ले लिया जाता है। तथा काययोगसे अन्य दूसरे मनोयोग या वचनयोगमें और उस योगसे भी काययोगमें परिवर्तन हो जाना योगसंक्रान्ति है। इस प्रकार परिवर्तन होना यहां वीचार है। उस वीचारसे मिश्रित हो रहा और श्रुतज्ञान नामक वितर्क करके विशिष्ट हो रहा पृथक्त्व वितर्क वीचार संज्ञक पहिला शुक्लध्यान है।

यहां कोई प्रश्न उठाता है कि उस पहिले शुक्लध्यानको ध्यायनेके लिये किन लक्षणोंसे युक्त हो रहा ध्यान करनेवाला आत्मा समर्थ होता है? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार महाराज इन अग्रिम वार्तिकोंको विशदतया कह रहे हैं।

कृतगुप्त्याद्यनुष्ठानो यतिर्वीर्यातिशायनः।
अर्थव्यञ्जनयोगेषु संक्रान्तौ पृथगुद्यतः ॥ ३ ॥
तदोपशमनान्मोहप्रकृतीः क्षपयन्नपि।
यथापरिचयं ध्यायेत्क्वचिद्वस्तुनि सक्रियः ॥४॥
सवितर्कं सवीचारं पृथक्त्वेनादिमं मुनिः।
ध्यानं प्रक्रमते ध्यातुं पूर्ववेदी निराकुलः ॥५॥

जो संयमधारो प्रयत्नशील मुनि पूर्वोक्त गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा आदि आत्मीय शुभ परिणतियोंपर स्वतन्त्र अधिकार रखता हुआ, उनका पालन कर रहा है, तथा आत्मीय पुरुषार्थ हो रहे वीर्य विशेषके अतिशयको धार रहा है, विशेष सामर्थ्यकी कुछ हानि हो जानेसे अर्थ, व्यञ्जन और योगोंमें पृथक्पने करके संक्रमणके निमित्त उद्यत हो रहा है, उपशम श्रेणीमें मोहनीय कर्मको प्रकृतियोंमे उपशम कर रहा और क्षपक श्रेणीमें उन प्रकृतियोंका क्षय भी कर रहा सन्ता अपने पुरुषार्थ पूर्वक ज्ञानद्वारा पूर्वपरिचय अनुसार किसी एक वस्तुमें ध्यान लगाता है। वह प्रयत्न क्रियासहित हो हो रहा सन्ता पूर्ववेत्ता मुनि निराकुल होकर आदिके पृथक्पने करके वितर्कसहित और वीचारसहित ध्यानको ध्यावनेके लिये प्रथम आरम्भ करता है। अतिरिक्त यह कहना है कि "वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः" इस सूत्रका विवरण करते हुये श्री अकलंकदेव महाराजने इसका तत्त्वार्थ राजवार्तिकमें विशद विवेचन किया है। विशेषज्ञानी उसका अध्ययन, मनन, कर सन्तोष प्राप्त करें।

अथ द्वितीयं को ध्यातुमर्हतीत्याह,—

पुनः प्रश्न उठाया जा रहा है कि इसके पश्चात् अब यह बताओ कि दूसरे शुक्लध्यानको कौन आत्मा ध्यायनेके लिये समर्थ होता है? ऐसो जिज्ञासा उत्थित हो जानेपर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकोंका स्पष्ट प्रतिपादन कर रहे हैं।

स एवामूलतो मोहक्षपणागूर्णमानसः ।
प्राप्यानंतगुणांशुद्धिं निरुन्धन् बंधमात्मनः ॥ ६ ॥
ज्ञानावृतिसहायानां प्रकृतीनामशेषतः ।
ह्रासयन्क्षपयंश्चासां स्थितिबंधं समंततः ॥ ७ ॥
श्रुतज्ञानोपयुक्तात्मा वीतवीचारमानसः ।
क्षीणमोहो प्रकम्पात्मा प्राप्तक्षायिकसंयमः ॥ ८ ॥
ध्यात्वैकत्ववितर्काख्यं ध्यानं घातघस्मरं ।
दधानः परमां शुद्धिं दुःप्राप्यां न निवर्तते ॥ ९ ॥

और वही आत्मा जब मूलसहितरूपसे मोहनीय कर्मकी इकईस प्रकृतियोंका क्षय करनेमें मनोवृत्ति द्वारा पूर्ण उद्यत हो जाता है। तब आत्माकी प्रतिक्षण अनन्तगुणी विशुद्धिको प्राप्त कर ज्ञानावरण और उसके सहायक हो रही अन्तराय, दर्शनावरण, आदि कर्मप्रकृतियोंके बन्धको पूर्णरूपसे रोकता हुआ तथा उनके स्थितिबंधोंका सब ओरसे न्हास कर रहा एवं घाति कर्मोंका क्षय करता हुआ प्रयत्नशील आत्मा आध्यात्मिक श्रुतज्ञानसे उपयुक्त हो जाता है।

जिसके मनसे अर्थ, व्यञ्जन, योगोंकी पलटन स्वरूप संक्रांति उस श्रुतज्ञान उपयोगसे दूर हो गयी है, क्षायिक चारित्रको प्राप्त हो रहा प्रकम्परहित क्षीणमोह आत्मा घातिकर्म पापोंको खा जानेवाले या जीतनेवाले एकत्व वितर्क नामके ध्यानको ध्यायकर बडी कठिनतासे प्राप्त होने योग्य परम विशुद्धिको धारण कर रहा सन्त फिर निवृत्त नही होता है। अर्थात् संसारमें लौटता नहीं है, मोक्षको चला ही जाता है। या इस ध्यानके अतिरिक्त अन्य किसी भी कारणसे नहीं प्राप्त करने योग्य परमविशुद्धिको धार लेता है। यों एकपनेसे वितर्कणा कर रहा क्षीणमोही बारहवें गुणस्थानवाला आत्मा दूसरे शुक्लध्यानको ध्यावनेंके लिये प्रयत्नवान् हो जाता है।

अनंतगुणी विशुद्धि, प्रकृतिक्षय, अनुभाग खंडन, स्थितिकाण्डकघात, निर्जरा आदि विलक्षण प्रकारके अतिशय इस शुक्लध्यानीके प्रवर्त रहे हैं। इस निर्ग्रन्थ मुनिके अन्तर्मुहूर्त कालपश्चात् केवलज्ञानसूर्यका उदय हो जानेवाला है।

अथ तृतीयं ध्यानं को ध्यायत इत्याह,-

इसके अनन्तर ग्रन्थकार तीसरे शुक्लध्यानको कौन जीव ध्यावता है ? ऐसा प्रश्न उपस्थित हो जानेपर अग्रिम वार्तिकोंको स्पष्ट कह रहे हैं ।

ततो निर्दग्धनिःशेषघातिकर्मेंधनः प्रभुः ।
केवली सदृशाघातिकर्मस्थितिरशेषतः ॥ १० ॥
संत्यज्य वाङ्मनोयोगं काययोगं च बादरं ।
सूक्ष्मं तु तं समाश्रित्य मन्दस्पंन्दोदयस्त्वरं ॥ ११ ॥
ध्यानंसूक्ष्मक्रियं नष्टप्रतिपातं तृतीयकं ।
ध्यायेद्योगी यथायोगं कृत्वा करणसंततिं ॥ १२ ॥

उस दूसरे शुक्लध्यान स्वरूप अग्निसे जिस समर्थ पुरुषार्थी योगीने संपूर्ण घातिकर्म स्वरूप ईन्धनको सम्पूर्णरूपेण जला दिया है । वह केवलज्ञानी या तीर्थंकर भगवान् उत्कृष्टतया पौने नौ वर्ष कम कोटि पूर्व वर्ष कालतक या जघन्यरूपेण अन्तमुहूर्त कालतक तेरहवें गुणस्थान की अवस्थामें विराजते हैं ।

यदि आयु, कर्मकी स्थितिसे तीन इतर अघाति कर्मोंकी स्थिति अधिक होती है । तो वे योगी आत्मीय पुरुषार्थद्वारा दण्ड, कपट, प्रतर और लोकपूरण नामक केवलि समुद्घात करते हैं । आठवें समयमें गृहीत शरीर प्रमाण आत्मप्रदेशोंको करते हुये निःशेषरूपसे चारों अघाति कर्मोंकी स्थितिको समान कर लेते हैं ।

हाँ, जिनकी पहिलेसे ही चारो अघाति कर्मोंकी स्थिति समान है । उनके केवलि समुद्घात करनेके पुरुषार्थ नहीं होते हैं ।

यों जिनके लगे हुये चार अघाति कर्मोंकी अवस्थिति समान है । वे केवलज्ञानी जिनेंद्र भगवान संपूर्ण रूपसे सत्य, अनुभय, मनोयोग और सत्य अनुभयवचनयोग तथा स्थूलकाययोगका तो भलें प्रकार त्याग कर पश्चात् उस सूक्ष्मकाय योगका बढ़िया आश्रय लेकर शीघ्रही मन्दरूपेण परिस्पन्द (कंप) के उदयको धार रहे तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती महात्मा जिनेंद्र भगवान् प्रतिपातको नाश कर चुके तीसरे सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपातिनामक ध्यानको ध्यावते हैं । इनका नीचेकी ओर या संसारमें पुनः पतन नहीं

होता है। ये योगी अपने गृहीत योगका अतिक्रमण नहीं कर असंख्याते संयमोतक परिणामोंकी सन्तानको स्वकीय यत्नद्वारा करके तीसरें शुक्लध्यानको ध्यायेंगे ऐसी अनिच्छापूर्वक विधि है।

अथ चतुर्थं शुक्लं को ध्यायतीत्याह,—

तृतीय शुक्लध्यानके अधिकारीका निरूपण कर चुकनेपर अब चौथे शुक्लध्यानको कौन आत्मा ध्यावता है ? ऐसी जिज्ञासा उत्थित होनेपर ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द आचार्य अगली दो वार्त्तिकोंका स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं।

ततः स्वयं समुच्छिन्नप्रदेशस्पंदनं स्थिरः।
ध्वस्तानिःशेषयोगेभ्यो ध्यानं ध्याताप्तसंवरः ॥ १३ ॥
सम्पूर्णनिर्जरश्चान्त्ये क्षणे क्षीणभवस्थितिः।
मुख्यं सिद्धत्वमध्यास्ते प्रसिद्धाष्टगुणोदयं ॥ १४ ॥

उस तीसरे शुक्लध्यानको ध्यायनेंके अन्तर्मुहूर्त पश्चात् चौदहवें गुणस्थानवाला परिस्पन्दरहित स्थिर मुनि स्वयं पुरुषार्थी बन रहा आत्मप्रदेशोंकी चंचलताको पूर्णरूपेण नष्ट कर चुका सन्त चौथे समुच्छिन्नक्रियानिर्वृत्तिनामक शुक्लध्यानको ध्यावता है। तेरहवें गुणस्थानतक योगोद्वारा कर्म आते रहते हैं, जब चौदहवें गुणस्थानमें योगोंका निःशेषरूपेण ध्वन्स कर दिया गया है तो अयोग अवस्थामें पूर्ण संवर प्राप्त हो चुका है। अतः परिपूर्ण संवरको धार रहा यह ध्याता चौथे शुक्लध्यानको ध्यावता है, तभी चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें संपूर्ण कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ संसार स्थितिको क्षीण कर सम्यक्त्व, ज्ञान, आदि आठ प्रसिद्ध गुणोंके अभ्युदयको धार रहे मुख्यसिद्धत्व पदपर आरूढ हो जाता है। यो पूर्ण संवर और निर्जराको प्राप्त कर चौदहवें गुणस्थानके अन्तसमयतक संसारमे ठहरता हुआ अगले समयमें अनुश्रेणि इषु गतिद्वारा सात राजु ऊर्ध्व गमनकर सिद्धालयमें विराजमान हो जाता है।

अथामनस्कस्य केवलिनः कथमेकाग्रचिन्तानिरोधलक्षणं ध्यानं संभाव्यते इत्यारेकायामिदमाह, —

अब यहां कोई शंका कर रहा है कि मनको एकाग्र कर चिंताओंका निरोध करना मनवाले जीवोंसे हो सकता है। मनके द्वारा विचार करना बारहवें गुणस्थानतक

है। केवलज्ञानी महाराजके जब भावमन नहीं है तो उनके एकाग्र होकर चिंताओंका निरोध कर लेना स्वरूपध्यान किस प्रकार सम्भावित होता है ? जैनोने केवलज्ञानी आत्माके पिछले दो शुक्लध्यानोंका होना जो अभी कहा है, उसे सुघटित कीजिये। ऐसी आशंका उपस्थित हो जानेपर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकों द्वारा इस समाधानको कह रहे हैं।

संक्लेशांगतयैकत्र चिंता चिंतांतरच्युता ।
पापं ध्यानं यथा प्रोक्तं व्यवहारनयाश्रयात् ॥ १५ ॥
विशुध्यंगतया चैवं धर्म्यं शुक्लं च किंचन ।
समनस्कस्य तादृक्षं नामनस्कस्य मुख्यतः ॥ १६ ॥
उद्भूतकेवलस्यास्य सकृत्सर्वार्थवेदिनः ।
ऐकाग्र्याभावतः केचिदुपचाराद्वदन्ति तत् ॥ १७ ॥

कोई मनुष्य अपने इष्ट पुत्रका वियोग हो जानेपर जैसे महान् संक्लेशको धारता हुआ आर्त्तध्यान करता है, और कोई हिंसानन्दी जीव हिंसाद्वारा रौद्रध्यान कर रहा है। ऐसे दुर्ध्यानोंके स्थलोपर अन्य चिंताओंसे च्युत यानी निरुद्ध हो रही एकही अर्थमें की गयी चिंता जैसे संक्लेशकारण या संक्लेशका कार्य अथवा संक्लेश स्वरूप हो जानेसे पापरूप ध्यान हो जाती है। यों ठीक कहा गया है उसी प्रकार व्यवहार नयका आश्रय कर लेनेसे चारों धर्म्यध्यान और कोई शुक्लध्यान भी विशुद्धिकार्य, विशुद्धि-कारण और विशुद्धिस्वरूप यों विशुद्धिके अंग हो जानेसे तिस प्रकार मनवाले जीवके हीं हो रहे माने गये हैं। मुख्यरूपसे मनरहित जीवका कोई भी ध्यान नहीं होता है। अर्थात् आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान जैसे मनस्वी जीवके होते हैं जो कि संक्लेशके अंग हैं, उसी प्रकार विशुद्धिके अंग हो रहे धर्म्यध्यान और दो पहिलेके शुक्लध्यान भी मनवाले जीवके ही संभवते हैं, असंज्ञी जीवके ध्यान नहीं होते हैं। तथा भाव मनसे रीते हो रहे तेंरहवें, चौदहवें गुणस्थानवाले केवलज्ञानीके भी मुख्य रूपसे ध्यान नहीं है। जब कि उनको संपूर्ण पदार्थोंका युगपत् प्रत्यक्ष करनेवाला केवलज्ञान प्रकट हो गया है। तो वे अन्य विषयोंसे चिन्ताओंको हटाकर एक अर्थमें चिंताको कथमपि नहीं रोके रह सकते हैं।

वस्तुत: उनको चिंता (मानसिक विचार) होना ही नहीं सम्भवता है, अत: अत केवलज्ञानीका मुख्यरूपसे ध्यान नहीं है। जब कि केवलज्ञान जिस जीवको प्रकट हो गया है वह एक ही बारमें संपूर्ण अर्थोंका साक्षात् ज्ञान कर लेता है। इसके अन्य अर्थोंसे हटाकर एक ही अर्थमें मुख्यतया ध्यान लगानेकी एकाग्रताका अभाव है। अत: केवलज्ञानियोंके वह ध्यान उपचारसे माना गया है ऐसा कोई विद्वान् समाधान कह रहे हैं।

चिंतानिरोधसद्भावो ध्यानात्सोपिनिबंधनं ।
तत्र ध्यानोपचारस्य योगे लेश्योपचारवत् ॥ १८ ॥
सर्वचिंतानिरोधस्तु यो मुख्यो निश्चितान्नयात् ।
सोस्ति केवलिनः स्थैर्यमेकाग्रं च परं सदा ॥ १९ ॥
मुख्यं ध्यानमतस्तस्थं साक्षान्निर्वाणकारणं ।
छद्मस्थस्योपचारात्स्यात्तदन्यास्तित्वकारणात् ॥ २० ॥

उक्त अकलंकसमाधान श्रीविद्यानन्द स्वामीको संतोषकर प्रतीत नहीं होता है। " परे केवलिन: " इस सूत्रोक्त रहस्यको ये मुख्य रूपसे साधना चाहते हैं। बात यह है कि ध्यानसे चिंताओंके निरोधका सद्भाव हो जाता है। वह चिन्तानिरोध भी उनके केवलज्ञानियोंमें ध्यानके उपचारका कारण हो रहा है। जैसे कि तेरहवें गुणस्थानमें कषायके नहीं होते हुये केवल योगके ही होनेपर लेश्याका उपचार मान लिया गया है। भावार्थ--एकाग्र होकर अन्य चिन्ताओंका निरोध करना ध्यान है। " कषायोदयानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या " कषायके उदयसे रंगी हुआ योगोकी प्रवृत्ति लेश्या है। तेरहवें गुणस्थानमें केवल विशेष्य दल योग प्रवृत्ति है। कषायोदयसे रंगा हुआ यह विशेषण नहीं है। अत: लेश्या उपचारसे मानी गयी है। तदनुसार एकाग्रता विशेषणके नहीं घटनेपर मात्र चिन्तानिरोधको उपचारसे ध्यान मान लिया गया है किन्तु निश्चयनयसे विचारनेपर जो सर्व चिन्ताओंका निरोध हो जाना ध्यान है वह तो केवलीके मुख्य रूपसे माना ही है। तथा स्थिरतारूप उत्कृष्ट एकाग्रपना भी केवलज्ञानी मुनिके सर्वदा विद्यमान है। इस कारण विशेष्य दल और विशेषणदल दोनों घटित हो जानेसे उस केवलज्ञानीके ध्यान भी मुख्य मानना चाहिये जो कि ध्यान साक्षात् रूपसे मोक्षका

कारण है । अद्यावधि शुक्लध्यान नहीं होनेसे मोक्ष नहीं हो सकी थी । परमपुरुषार्थ हो रहे मोक्षका प्रधानकारण ध्यान ही है । उपचरित कारणोंसे छोटासा कार्य भी नहीं होता है, मट्टीकी गाय दूध नहीं देती है, मट्टीका खिलौना घोडा कभी गाडीको नहीं खींच सकता है, तो मुक्ति प्राप्त होना इतना बडा कार्य उपचरित ध्यानसे कैसे हो सकता है ? कभी नहीं । वस्तुतः एकाग्रता केवलज्ञानमें भले प्रकार घटित हो जाती है, भलेही छद्मस्थ जीवोंके उपचारसे ध्यान कह दिया जाय क्योंकि उन छद्मस्थोंके चित्तको व्याक्षेप करनेवाले अन्य कारणोंका अस्तित्व पाया जाता है । केवलज्ञानीमें तो व्याक्षेप न होकर स्थिरता परिपूर्ण वर्त रही है । अतः केवलज्ञानीका ध्यान भी मुख्य ध्यान ही है ।

यथैकवस्तुनि स्थैर्यं ज्ञानस्यैकाग्र्यमिष्यते ।
तथा विश्वपदार्थेषु सकृत्तत्केन वार्यते । २१ ।
मोहानुद्रेकतो ज्ञातुर्यथा व्याक्षेपसंक्षयः ।
मोहिनोस्ति तथा वीतमोहस्यासौ सदा न किम् ॥ २२ ॥
यथैकत्र प्रधानेर्थे वृत्तिर्वा तस्य मोहिनः ।
तथा केवलिनः किं न द्रव्येऽनन्ताविवर्तके ॥ २३ ॥
इति निश्चयतो ध्यानं प्रतिषेध्यं न धीमता ।
प्रधानं विश्वतत्त्वार्थवेदिनां प्रस्फुटात्मनां ॥ २४ ॥

जिस प्रकार कि एक वस्तुमें स्थिर होकर उपयोग लग जाना ही ज्ञानकी एकाग्रता इष्ट की गयी है । उसी प्रकार केवलज्ञानीकी संपूर्ण पदार्थोंमें एक ही बार स्थिर होकर उपयोग लगा रहना ही ज्ञानकी स्थिरता है, यह किसके द्वारा निवारणकी जा सकती है ? अर्थात् केवलज्ञानीके ज्ञानकी भी संपूर्ण पदार्थोंमें स्थिरता हो जानाही एकाग्रता है । तब तो केवलज्ञानीके भी मुख्य ध्यान मानना अनिवार्य है । दशवें गुणस्थान तक मोहका उदय पाया जाता है । आठवें, नवमे, गुणस्थानोंमे मोही जीवके जिस प्रकार ज्ञानी ध्याताके मोहोदयकी तीव्रता नहीं होनेसे व्याक्षेपो (यहाँ वहाँ उपयोगका बट जाना) का बढिया क्षय हो जाता है । उसी प्रकार सर्वथा मोहरहित केवलज्ञानीके वह व्याक्षेपका नाश भला क्यों नहीं होगा ? भावार्थ--ध्यानको बिगाडनेवाले व्याक्षेपोंका

क्षय केवलज्ञानीका सदा विद्यमान है जो कि छद्मस्थोंसे भी अधिक ध्यान लग जानेकी पुष्टिका कारण है। तीसरी बात यह भी है कि पहिलेसे लेकर दशवें गुणस्थानतकके उन मोहसहित जीवोंके जिस प्रकार एक प्रधान अर्थमें ज्ञानधाराकी वृत्ति हो जाती है। जो कि मुख्य ध्यान कहा जाता है उसी प्रकार अनन्त पर्यायोंको धार रहे प्रत्येक अनन्ते द्रव्योंमें केवलज्ञानीके ज्ञानकी प्रवृत्ति क्यों नहीं एकाग्रवृत्ति कही जायगी ? अर्थात् एक प्रधान अर्थको जाननेवाला यदि ध्यानी कहा जा सकता है। तो अनन्तानन्त पर्यायोंवाले अनन्तानन्त द्रव्योंको युगपत् जाननेवाला केवलज्ञानी तो बढिया सुलभतासे ध्यानवान् है। इस प्रकार विचारशील बुद्धिमानों करके निश्चयनयसे भी केवलज्ञानीके ध्यान मानना चाहिये। केवलज्ञानीको मुख्यरूपसे ध्यान हो जानेका निषेध करना योग्य नहीं है। प्रकर्षरूपेण स्पष्ट स्वरूप संपूर्ण तत्त्वार्थोंके वेत्ता केवलज्ञानियोंके प्रधान यानी मुख्य-ध्यान है, उपचरित नहीं।

सयोगकेवली ध्यानी यदि धर्मोपदेशना।
कथं ततः प्रवर्त्तेतेत्येके तत्राभिधीयते ॥ २५ ॥
अन्तर्मुहूर्तकालं वा ध्यानस्यानेकवत्सरं।
नैकाग्र्यं केवलिध्यानं प्रसिद्धं तत्त्वदेशिनाम् ॥ २६ ॥
तत एव च ते सिद्धाः कृतकृत्या जिनाधिपाः।
स्तूयन्ते सिद्धसाधर्म्यात्सदेहत्वेपि धीधनैः ॥ २७ ॥
अयोगित्वसमुद्भूतेः पूर्वमन्तर्मुहूर्तमा ।
तृतीयं ध्यानमाख्यातं वाक्प्रवृत्या विवर्जितं ॥ २८ ॥
वाक्कायवृत्तिसद्भावे यथा ध्यानी न मादृशः ।
तथार्हन्निति तस्यास्तूपचाराद्ध्यानदेशना ॥ २९ ॥

यहाँ कोई शंका उठा रहे हैं कि तेरहवें गुणस्थानमें सयोग केवलज्ञानी महाराज यदि ध्यान लगा रहे कहे जाते हैं तो उनके द्वारा भला धर्मका उपदेश किस प्रकार प्रवर्तेगा ? । ध्यान अवस्थामें सामान्य मुनि भी उपदेश नहीं दे सकते हैं। तो केवल-ज्ञानी मुख्यध्यानी होकर धर्मोपदेश कैसे देंगे ? । इस प्रकार कोई एक पंडित आक्षेप

कर रहे हैं। उस आक्षेपके प्रवर्तनेपर ग्रन्थकारसे यह उत्तर कहा जा रहा है कि ध्यानकी एकाग्रता अन्तर्मुहूर्त कालतक मानी गयी है। अनेक वर्षोंतक ध्यानकी एकाग्रता बने रहना प्रसिद्ध नहीं है। तत्वोंका उपदेश कर रहे केवलज्ञानियोंका ध्यान भी अनेक वर्षोंतक ठहर रहा नही माना गया हैं। तेरहमें गुणस्थानके अन्तमें केवलज्ञानीको तीसरा शुक्लध्यान इष्ट किया गया है। अतः उपदेश देते समय लाखो, करोडों, वर्षोंतक वे मात्र केवलज्ञानी है। ध्यानी नहीं हैं जैसे कि सिद्धभगवान् केवलज्ञानी होकर भी ध्यानी नहीं हैं। तिसही कारणसे बुद्धिरूप धनको धारनेवाले विद्वानों करके वे सिद्धस्वरूप हो रहे स्तुति (त) किये जाते हैं। देहसहित होते सन्ते भी सिद्धोंके समान धर्मोंके धारनेकी अपेक्षासे तेरहवें गुणस्थानवाले केवलज्ञानियोंको सिद्ध कहा जाता हं। सिद्ध भी करने योग्य संपूर्ण कार्योंको साध चुके हैं अतः कृतकृत्य है तथैव कर्मोंको जीतनेवालोंके अधिपति हो रहे सयोगकेवली भी कृयकृत्य हैं। स्तोत्रोंमे ऐसा वर्णन है। हाँ, चौदहवें गुणस्थानमें आयोगीपन अवस्थाके उत्पन्न होनेके पहिले अन्तर्मूहूर्त कालतक तेरहवें गुणस्थानमें तीसरा शुक्लध्यान केवल ज्ञानीको हो रहा बखाना गया है जो कि धर्मोपदेश देने या कोई भी वचनकी प्रवृत्तिसे विशेषरूपेण वर्जित है। योगोंका निरोध करते हुये तेरहवेंके अन्तमें ध्यानी केवलज्ञानीका धर्मोपदेश नहीं प्रवर्तता है। वचन या कायकी यहां वहाँ अंटसंट प्रवृत्तिका सद्भाव होनेपर जिस प्रकार हमसरीखे अल्पज्ञानी पुरुष ध्यानी नहीं हैं। उसी प्रकार तेरहवें गुणस्थानमें वर्षोंतक वचन या शरीरकी प्रवृत्ति होनेपर अर्हन्त भगवान् भी ध्यानी नहीं हैं। ऐसे उन अर्हन्त भगवान्के भलेही उपचारसे ध्यानका निरूपण कर दिया जाय किन्तु तेरहमें, चौदहवें गुणस्थानोंके अन्तिम अन्तर्मुहूर्तोंमें केवलज्ञानियोंके पाये जा रहे दो शुक्लध्यान मुख्यही मान लेने चाहिये।

तदेतद्व्यवहारनिश्चयनयनिरूपणनिपुणैः प्रमाणांतःकरणप्रवणैः सर्वमालोच्यं परमगहनत्वाच्छद्मस्थास्मादृशजनानामिति निवेदयन्नुपसंहरति,—

तिसकारण व्यवहारनय और निश्चयनयसे प्रतिपादन करनेमें निपुण हो रहे और प्रमाणज्ञानोंमें अन्तःकरण (मन) की वृत्तिको लगानेमें प्रवीण हो रहे विद्वानों करके यह सभी ध्यानका प्रकरण विचार कर लेने योग्य है। क्योंकि अल्पज्ञानी हमसरीखे अल्पज्ञ मनुष्योंके विचारानुसार ध्यानतत्व परमगहन है। इस रहस्यका निवेदन करते हुये ग्रन्थकार प्रकरणका उपसंहार (संकोच) करते हैं, उसकी शिखरिणी छन्दद्वारा प्रतिपत्ति कीजिये।

क्वचिच्चिन्ता ध्यानं नियतविषयं पुंसि कथितं,
क्वचित्तस्याः कात्स्न्याद्विलयनमिदं सर्वविषयं,
क्वचित्किंचिन्मुख्यं गुणमपि वदंति प्रतिनयं,
ततश्चिन्त्यं सद्भिः परमगहनं जिनपतिमतम् ॥ ३० ॥

किसी किसी यानी छद्मस्थ अल्पज्ञानी आत्मामें एकही विषयको मुख्य नियतकर चिन्तन करना ध्यान कहा गया है । और किसी किसी अर्थात् केवलज्ञानी आत्मामें उस चिन्ताका पूर्णरूपसे नाश होकर संपूर्ण विषयोंको जान रहा यह ध्यान व्यवस्थित किया गया है । कहीं कहीं कोई ध्यान अन्यविषयोंसे चिन्ताओको हटाकर एकही विषयमें रोके रहना मुख्य कहा गया है । और किसी नयके अनुसार उसी ध्यानको गौण भी कह देते हैं । तिस कारण प्रमाण प्रक्रियाके कुशलवेत्ता और नययोजनिकाके प्रकांड विद्वान् सज्जन पुरुषों करके प्रत्येक नयकी अपेक्षा लगाकर यह ध्यान तत्त्व चिंतन कर लेने योग्य है । चौथे गुणस्थानी जीवोंसे लेकर बारहमें गुणस्थानतकके कर्मजेता जिनोंके अधिपति हो रहे श्री जिनेंद्रभगवान्का शासन अतीव गम्भीर है । प्रमाण और नय विवक्षाके अन्तःप्रविष्ट कुशाग्रबुद्धि ध्यानी पुरुषों करके जिनेंद्रोक्त ध्यान तत्त्वका चिरकालीन अनुभव करके सुनिर्णय कर लेना चाहिये । अतीव गूढ विषयोंकी विशेष व्याख्या कर देनेसे अल्पज्ञों करके कदाचित् भूल हो जाना संभव है । अतः अनुभवगम्य शुभध्यानके गंभीर तत्त्वका विवेचन प्रमाण, नय, निष्ठ पुरुष स्वयं कर लेवें ।

इति नवमाध्यायस्य प्रथममान्हिकम् ॥

यहां तक उमास्वामि महाराज विरचित मोक्षशास्त्र महान् ग्रंथके नववें अध्यायकी श्रीविद्यानन्द स्वामिविरचित श्लोकवार्त्तिक वृत्तिका पहिला आन्हिक समाप्त हुआ ।

सद्गुप्त्यादिसमर्थकारणभवं दुष्कर्मणां संवरः
शुद्धात्मात्मकधर्मगर्भिततपोजन्यां दधन्निर्जरां,
श्रेणीं धर्म्यपरोधिरुह्य च वहन् शुक्लद्वयं क्षायिकीं,
ध्यानं स्नातकसीमसंयमिगणः श्रेयो भृशं नः क्रियात् ॥ १ ॥

* * *

अगले सूत्रका अवतरण यह है कि परीषहोंके जीतने और तपश्चरणसे कर्मोंकी निर्जरा होना जो कहा गया है। वहाँ यह स्पष्ट नहीं समझा जाता है कि सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंके कर्मोंकी निर्जरा होना क्या समान है? अथवा क्या किसी किसी सम्यग्दृष्टिकी कर्मनिर्जरा न्यून या अधिक भी है? ऐसी निर्णय करनेकी इच्छा प्रवर्तनेपर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोहक्षपक-क्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, चारित्रमोह, उपशमक, उपशांतमोह, चारित्रमोहक्षपक, क्षीणमोह और केवलज्ञानी जिनेंद्र इन दशों आत्मज्ञानियोंकी क्रमसे उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती रहती है। भावार्थ--भव्य, पचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्तक, सातिशयमिथ्यादृष्टी जीव, काललब्धि, प्रायोग्यलब्धि, विशुद्धिलब्धि आदिसे सहकृत हो रहा सन्ता परिणामोंकी विशुद्धिसे बढ रहा जब पहिले गुणस्थानके अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमें अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन करण करता है। उस अवसरपर अपूर्वकरण अवस्थामें अनन्तानन्त कर्मोंकी निर्जरा करता है। यहां मूलमें अनन्तानन्त कर्मोंसे असंख्यातगुणा गुणाकार लगाया जाय यदि मूलमें असंख्यात कर्मोंकी निर्जरा मानकर पुनः दशस्थानोंपर क्या असंख्यात स्थानोंतक भी असंख्यात गुणी निर्जरा की जायगी तो भी जीवमें लग रहे अनन्तानन्त कर्मोंकी निर्जरा हो जाना पूरा नहीं पडेगा। हां, मूलमें सातिशय मिथ्यादृष्टिके अपूर्वकरण दशामें हो रही अनन्तानन्त कर्मोंकी निर्जरा माननेसे पुनः असंख्यात गुणी जो निर्जरा होगी वह अनन्तानन्त कर्मोंकी ही निर्जरा होगी। ऐसी दशामें किञ्चित् न्यून डेड गुणहानि प्रमाण संचित द्रव्यकी असंख्यात बारोंमें ही झटिति निर्जरा होकर मोक्ष हो जाना संभव जाता है। अपूर्वकरण परिणामोंके धारी सातिशय मिथ्यादृष्टिकी कार्मिक निर्जरासे चौथे गुणस्थानवर्ती प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीवके कर्मोंकी निर्जरा असंख्यात गुणी हो रही है, और काल तो पूर्वसे संख्यात गुणा न्यून है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि, श्रावक आदि पूर्व पूर्व जीवोंके जितने कालमें जितनी कर्मनिर्जरा हो जाती है। उत्तरोत्तर जीवोंकी उससे संख्यात गुणे कमती ही कालमें उन कर्मोंसे असंख्यात गुणे कर्मोंकी

निर्जरा हो जाती है । सम्यग्दृष्टीकी अपेक्षा पांचवें गुणस्थानवर्ती श्रावककी कर्मनिर्जरा असंख्यातगुणी है । श्रावकसे छठे, सातवें गुणस्थानवर्ती विरत मुनिकी कर्मनिर्जरा असंख्यातगुणी अधिक होती रहती है । सातवें गुणस्थानवाला मुनि द्वितीयोपशम सम्यक्त्वको धारनेके लिये जब अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभोंका विसंयोजन करनेमें तत्पर होता है । तब पहिले विरत मुनिसे असंख्यातगुणी निर्जरावाला है । चौथेसे लेकर किसी भी सातवें तक चार गुणस्थानोंमें क्षयोपशम सम्यग्दृष्टी मनुष्य जब केवली या श्रुतकेवलीके निकट दर्शन मोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका क्षय करनेके लिये उद्यत हो जाता है । तब पूर्वोक्त अनन्तवियोजकसे असंख्यातगुणी कर्म निर्जराका धारी है । एवं द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी या क्षायिक सम्यग्दृष्टी होकर वह जब चारित्र मोहनीयकी इकईस प्रकृतियोंका उपशम करनेके लिये व्यापार करता है । उपशमक नामको धार रहा पूर्वोक्तसे असंख्यातगुणी निर्जराका अधिकारी है । और वही फिर ग्यारहवें गुणस्थानमें मोहनीयको इकईसों प्रतियोंका उपशम कर चुका उपशान्तमोह जीव पूर्वोक्त उपशमकसे असंख्यातगुणी कर्मनिर्जराको करता रहता है । क्षायिक सम्यग्दृष्टी जीव क्षपक श्रेणीपर चढ रहा जब चारित्र मोहनीयकी इकईस प्रकृतियोंका क्षय करनेके लिये समुद्यत होता है । तब मोहक्षपक नामको धार रहा क्षपकश्रेणीसे आठवे, नवमें, दशवें, गुणस्थानोंमें ग्यारहवें गुणस्थानवालेसे असंख्यात गुणित कर्मोंकी निर्जरा कर लेता है । और वही जीव जो कि चारित्र मोहनीयका पूर्णरूपेण क्षय कर चुका क्षीणकषाय नामकधारी होकर पूर्वोक्त क्षपकसे असंख्यातगुणी कर्मनिर्जराको करता चला जाता है । वही क्षीणमोह आत्मा जब दूसरे शुक्लध्यान द्वारा घातिकर्मोंका समूल नाश कर चुका जिनेंद्र नामका धारी होकर तेरहवें, चौदहवें, गुणस्थानोंमें पूर्वोक्त क्षीणमोहसे असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा कर लेनेका प्रभु है । यों इन दश स्थानोंमें क्रमक्रमसे आत्मा कर्मोंकी असंख्यात गुणी निर्जरा करता हुआ अन्तमें सर्वकर्मोंकी मोक्षदशाको प्राप्त कर लेता है । उत्तरोत्तर काल संख्यातगुणा हीन है यह कहा जा चुका है । " तव्विवरीया काला "

किमर्थमिदमप्रस्तुतमुच्यते ? तपसानिर्जरा चेति प्रकृते तपसि बाह्येऽभ्यन्तरे च ध्यानपर्यन्ते व्याख्याते सर्वसम्यग्दृष्टीनां यथासम्भवं बाह्यरूपेणाभ्यन्तररूपेण च तपसा समाननिर्जरात्वप्रसक्तौ तद्विशेषप्रतिपादनार्थं प्रस्तुतमेवेदं युक्तमभिधातुं । कुतः पुनः सम्यग्दृष्टयादयोऽसंख्येयगुणनिर्जराः क्रमाद्भवन्तीत्याह; —

यहां कोई आक्षेप करता है कि यहां ध्यानका प्रस्ताव चला आ रहा है। अगले सूत्रमें ध्यान या तपको करनेवाले निर्ग्रन्थोंका निरूपण किया जायगा। किन्तु यह प्रस्ताव प्राप्त नहीं हो रहा असंख्यातगुणी निर्जराका प्रतिपादक सूत्र किसलिये कहा जा रहा है ? बताओ। ऐसा तर्क उपस्थित हो जानेपर ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि " तपसा निर्जरा च " इस सूत्रसे तपका निरूपण करना प्रकरण प्राप्त चला आ रहा है। बाह्यतप और ध्यानपर्यंत अभ्यन्तर तपोंका व्याख्यान कर चुकनेपर यह बात विना कहे ही प्रसंगसंगतिसे प्राप्त हो जाती है कि चौथे गुणस्थानसे प्रारंभ कर चौदहवें गुणस्थानतकके सभी जीव सम्यग्दृष्टी हैं। तथा यथासंभव बाह्यरूप और अभ्यन्तररूप तपश्चरणसे भी उनमें यथायोग्य समानता पायी जाती है। ऐसी दशा होनेपर उन दशों- पदोंमें कर्मोंकी निर्जरा भी समान कोटिकी होती होगी किन्तु प्रसंग प्राप्त होनेपर अर्थापन्न हुआ ऐसा सम्भाव्यसिद्धांत सूत्रकारको अभीष्ट नहीं है। अतः उस रहस्यकी विशेष प्रतिपत्ति करानेका प्रयोजन रख सूत्रकारका यह " सम्यग्दृष्टिश्रावकः " इत्यादि सूत्र कथन करनेके लिये समुचितही प्रस्ताव प्राप्त समाधान वचन है। अर्थात् सम्यग्दर्शन या तपस्या होते हुये भी आत्मविशुद्धिकी वृद्धि होते रहनेसे कर्मनिर्जरा असंख्यातगुणी बढती चली जाती है। यहां कोई पूछता है कि सम्यग्दृष्टी, श्रावक, आदिक उक्त जीव फिर किस कारणसे असंख्यात गुणी निर्जरावाले उत्तरोत्तर क्रमसे हो जाते हैं ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा उत्थित हो जानेपर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिकको परिभाषित करते हैं।

सम्यग्दृष्ट्यादयः सन्त्यसंख्येयगुणनिर्जराः।
क्रमादत्र तथा शुद्धेरसंख्येयगुणत्वतः ॥ १ ॥

यहाँ प्रकरणमें सम्यग्दृष्टि, श्रावक, आदि (पक्ष) क्रमक्रमसे असंख्यात गुणित निर्जरावाले हैं (साध्य) तिस प्रकार आत्मशुद्धिको असंख्यातगुणी वृद्धि होते रहनेसे (हेतु)। यों अनुमान बनाकर सूत्रोक्त सिद्धान्तको युक्तिपूर्वक साध दिया गया है। अर्थात् जैसे अपने आत्मीय प्रसन्नताकी उत्तरोत्तर वृद्धि होते रहनेसे रोगोत्पादक या चिन्ताकारक पौद्गलिक पर्यायोंकी असंख्यात गुणी निर्जरा हो जाती है। (अन्वयदृष्टांत) उसी प्रकार आत्मीय विशुद्धिके बढते रहनेसे कर्मोंकी निर्जरा होना बढता चला जाता है।

प्रथमसम्यक्त्वादिप्रतिलम्भे अध्यवसायविशुद्धिप्रकर्षादसंख्येयगुणनिर्जरत्वं दशानां। प्रथमं हि भव्यस्योपशमसम्यक्त्वं तदादयो वेदकसम्यक्त्वक्षायिकसम्यग्दर्शनश्रावकत्वादयः सूत्रोक्तास्तत्र प्रतिलब्धाध्यवसायविशुद्धिप्रकर्षाद्दशानामपि क्रमादसंख्येयगुणनिर्जरत्वमुप-पद्यते। क्षपक इत्यसाधुरन्वाख्यानाभावादिति चेन्न, च शब्देनमित्संज्ञोपलब्धेः क्षै जै षै क्षये इत्यस्य कृतात्वस्य णौ पुकि कृते जनी–जृषक्नसु–रञ्जोऽमन्ताश्चेति च शब्देन मित्सं-ज्ञोपलब्धे ह्रस्वत्वात् साधुरेव क्षपकशब्द इत्यर्थः।

प्रथमोपशमसम्यक्त्व, श्रावकपन, आदि प्रशस्त परिणामोंकी प्राप्ति हो जानेपर आत्मीय पुरुषार्थ स्वरूप अध्यवसायकी विशुद्धिका प्रकर्ष हो जानेसे उक्त दशों स्थानोंके (में) असंख्यात गुणी निर्जराका हो जाना प्रमाणसिद्ध हो जाना है। प्रथमही अनादि मिथ्यादृष्टी भव्यजीवके उपशम सम्यक्त्व होता है। उसको आदि लेकर पुनः सम्यक्त्व प्रकृतिका वेदन होते रहने देनेवाला क्षयोपशम सम्यक्त्व उपजता है। क्षयोपशम सम्य-ग्दर्शनसेही क्षायिक सम्यग्दर्शन होनेका मार्ग है। पांचवें गुणस्थानमें श्रावकपना तीनों सम्यग्दृष्टियोंके संभवता है, किन्तु यहां प्रकरणमें उपशम सम्यक्त्व और क्षयोपशम सम्य-क्त्वको धारनेवाला संयमासंयमी श्रावक लिया जाय। क्योंकि दर्शनमोहनीयका क्षय करनेवाला पांचवे स्थानपर कंठोक्त हो रहा है। श्रापकपनसे आगे विरतपन और अनंत-वियोजकपन आदि गुणधारी पुरुषार्थी जीव सूत्रमें कहे जा चुके हैं। उन उन पुरुषार्थपूर्वक हुये परिणामोंमें प्रत्येकमें प्राप्त की गयी प्रयत्नाध्यवसायोंकी विशुद्धिका बढनेसे क्रमक्रमसे दशों भी स्थानोंका असंख्येयगुणी निर्जराका धारीपना युक्तिपूर्वक सिद्ध हो जाता है। यहां कोई अपरिपक्व वैयाकरण आक्षेप कर रहा है कि सूत्रमें कहा गया क्षपक शब्द तो व्याकरण नियमसे साधु सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि अन्वाख्यानमें मित् संज्ञा होती है। यहां अन्वाख्यान नहीं है। " किंचित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः "। किसी कार्यका विधान करनेके लिये ग्रहण किये जा चुके का पुनः अन्य कार्यका विधान करनेके लिये उपादान करना अन्वादेश है। जैसे कि इसने व्याकरण पढा है, अब इसको न्यायशास्त्र पढाओ। अन्वादेश होता तब तो मित्संज्ञा होकर ह्रस्व हो सकता था, यों क्षपक शब्द साधु बन जाता। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि च शब्द करके मित्संज्ञा होना देखा जाता है। भ्वादिगणकी " क्षै, जै, षै, क्षये " क्षै इस धातुको आत्व कर लेनेपर णि प्रत्यय परे रहते सन्ते पुक् करनेपर

" जनी जृष क्नसुरञ्जोमन्ताश्च " इस वार्त्तिकमें पडे हुये च शद्ब करके मित्संज्ञा हो जानेकी उपलब्धि हो रही है। अतः " मितां न्हस्वः " अनुसार न्हस्व हो जानेसे क्षपक शद्ब समीचीन ही है, यह सूत्रोक्त अर्थ ठीक समझ लिया जाय।

अथ तपोभाजां संयतानां परस्परं गुणविशेषाद्भेदेपि नैगमनयान्नैर्ग्रंथ्यसाम्य-मावर्शयन्नाह; —

असंख्यातगुणी निर्जराका प्ररूपण समझ चुकनेपर अब यहाँ कोई तर्क उठा रहा है कि सम्यग्दर्शनके होते हुये भी क्रमसे न्यारी न्यारी असंख्यातगुणी निर्जरा होनेके कारण जब तपोधारी इन संयमी मुनियोंकी परस्परमें समानता नहीं है। तब तो ग्यारह प्रतिमाओंमें विभक्त हो रहे श्रावक जैसे निर्ग्रन्थ नहीं हैं। उसी प्रकार ये विरत, अनंत-वियोजक आदि तपस्वी भी निर्ग्रंथ नहीं हो सकेंगे। हां, बारहवें या तेरहवें गुणस्थान-वालोंको भलेही निर्ग्रन्थ कह दिया जाय। क्योंकि इनके किसी भी सत्तामें अन्तरंग, बहिरंग परिग्रह नहीं है। इसपर आचार्य कह रहे हैं कि वक्ष्यमाण संयमी तपस्वियोंके परस्परमें गुणोंकी विशेषता हो जानेसे भेद होते हुये भी नैगमनयकी अपेक्षा निर्ग्रंथपनेकी समानता है। इसी रहस्यको स्पष्ट कर दिखला रहे सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं। भावार्थ--भात बनानेकी तैयारीमे लग रहा या चावल धो रहा, आंचपर चावल चढा रहा ये सब नैगमनयकी अपेक्षा भात बनानेमें समान हैं। अथवा प्रवेशिका, विशारद, शास्त्रीय, कक्षाके सभी छात्र विद्यार्थीपनेसे समान हैं। सबको उच्चकोटिके विद्वान् बन जानेका संकल्प लग रहा है। उसी प्रकार ये विरत आदिक और पुलाक आदिक सभी निर्ग्रन्थ हैं। अंतरंग, बहिरंग परिग्रहोंके परित्यागका सबके संकल्प लग रहा है। नैगमनयके अनेक भेद हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान, कालीन विषयोंको ग्रहण करती हुई नैगमनय संकल्पित, असंकल्पित, अनेक ज्ञेयोंपर व्यापक अधिकार जमाये रखती है।

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४६ ॥

पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पांच निर्ग्रन्थ मुनि कहे जाते हैं। सम्यग्दर्शन इन सबके विद्यमान है। तथा भूषण, वस्त्र, आयुध, आदिसे रहित हो रहा परिग्रहवर्जितपना इन सबमें पाया जाता है।

अपरिपूर्णव्रता उत्तरगुणहीनाः पुलाकाः. ईषद्विशुद्धपुलाकसादृश्यात् अखंडितव्रताः शरीरसंस्कारर्द्धिसुखयशोविभूतिप्रवणा वकुशाः, छेदशवलयुक्तत्वात् । बकुशशद्वो हि शबलपर्यायवाचीह ।

मुनियोंके चौरासी लाख उत्तर गुणोंसे बहुभाग हीन हो रहे, किन्तु उत्तर गुणोंकी प्राप्तिमें सद्भावनाओंको रखनेवाले, तथा कभी कभी किसी किसी अहिंसादि महाव्रतोंमें भी परिपूर्णताको नहीं प्राप्त हो रहे मुनि महाराज पुलाक कहे जाते हैं। पुलाकका अर्थ छोटा धान्य है। जो कि गेंहूं, चना, चावल आदिसे बहुत छोटा होता है। कभी कभी अपने योग्य शरीर अनुसार भी वह नहीं पूर्ण हो पाता है। पूर्ण विशुद्धि भी नहीं आ पाती है, यों स्वल्पविशुद्ध पुलाक नामक धान्यकी सदृशता हो जानेसे इन मुनियोंको पुलाक नामसे कहा जाता है। जिन मुनियोंके अहिंसादिक मूलव्रत तो अखंडित हैं। किंतु जो शरीरसंस्कार और पिच्छिका आदि उपकरण तथा शिला, शास्त्रवेष्टन आदिको विभूषित करनेमें अनुकूल वृत्ति रखते हैं, ऋद्धिजन्य सुखकी और यशः प्राप्त करनेकी विभूतिमें प्रवीण रहते हैं। वे वकुशमुनि हैं। छेदना, छेदोपस्थापना या मोहकी शवलता (विचित्र वर्णोंकाधारीपना) से युक्त हो रहनेसे इन विचित्र चारित्रवाले मुनियोंको वकुश कहा गया है । क्योंकि यहां प्रकरणमें चित्रवर्णोंवाले पदार्थको कह रहे शवल शद्बके पर्यायवाची वकुश शद्बका निरूपण किया गया है।

कुशीला द्विविधाः प्रतिसेवनाकषायोदयभेदात् । कथंचिदुत्तरगुणविराधनं प्रतिसेवना ग्रीष्मे जंघाप्रक्षालनवत्, संज्वलनमात्रोदयः कषायोदयस्तेन योगात् मूलोत्तरगुणभृतोपि प्रतिसेवना कुशीलाः कषायकुशीलाश्चोच्यंते । उदके दण्डराजिवत्संनिरस्तकर्माणोऽतर्मुहूर्त केवलज्ञानदर्शनप्रापिणो निर्ग्रन्थाः । प्रक्षीणघातिकर्माणः केवलिनः स्नातकाः, स्नात वेदसमाप्ताविति स्वार्थिके के निष्पन्नः शद्बः । कुत एते निर्ग्रन्थाः पंचापि मता इत्याह; —

प्रतिसेवनाकुशील और कषायोदय कुशील इन दो भेदोंसे कुशील जातिके मुनि दो प्रकार हैं। ग्रीष्मऋतुमें जंघा (तिली) का प्रक्षालन कर लेना या शीतवायुके उन्मुख बैठ जाना आदि शिथिलाचार कर्तव्योंके समान जो प्रमादाचरण कर बैठते हैं। यों मूल गुणों और उत्तर गुणोंको पालते हुये भी क्वचित्--कथंचित् उत्तरगुणकी विराधनाको प्रतिसेवन करनेवाले प्रतिसेवना कुशील हैं। और जिन मुनियोंके अन्य प्रत्याख्यानावरण

आदि कषायोंका तो उदय नहीं है किन्तु मात्र संज्वलन कषायका उदय है। उस कषायोदयके योगसे ये मुनि कषाय कुशील माने जाते हैं। ये दोदो ही मुनि मूलगुणों और उत्तरगुणोंको धारते हुये भी प्रतिसेवना और कषायकी प्रधानतासे प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील कहे जाते हैं। पानीमें डण्डेकी लकीर खींच देनेसे जैसे व्यक्त नहीं होती है उसी प्रकार कर्मोंका उदय जिनका व्यक्त नहीं है। मोहनीय कर्मोंका जो भले प्रकार नाश कर चुके हैं। ज्ञानावरण आदि कर्मोंका उदय भी जिनके अतीव मन्द है। अन्तर्मुहूर्त कालके पश्चात्‌ही जो केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त करनेवाले हैं। वे निर्ग्रन्थ नामके साधु हैं। जिन मुनीन्द्रोंने चार घाति कर्मोंकी सैंतालीस और अघाति कर्मोंकी नरकगति आदि सोलह यों त्रेसठि प्रकृतियोंका प्रक्षय कर दिया है। ऐसे सयोगकेवली और अयोग केवली भगवान् स्नातक जातिके मुनीश्वर हैं। "स्नात वेदसमाप्तौ" वेद यानी ज्ञान की पूर्णतया समाप्ति हो जाने अर्थमें स्नातधातु प्रवर्तती है। यों स्नातधातुसे स्व के ही अर्थको कह रहे स्वार्थमें क प्रत्यय कर देनेपर स्नातक शब्द व्याकरण प्रक्रियासे साधु निष्पन्न हो जाता है। यों, जैन सिद्धांत अनुसार ये पाँचों मुनिराज निर्ग्रंथ हैं। यहां कोई तार्किक प्रश्न उठाता है कि किस कारणसे या युक्तिसे भिन्न भिन्न हो रहे पांचों भी निर्ग्रन्थ मान लिये गये सिद्ध हो जाते हैं? बताओ। ऐसा तर्क उपस्थित हो जानेपर ग्रन्थकार समाधानार्थ इन अग्रिम वार्त्तिकोंको कह रहे हैं।

पुलाकाद्या मताः पंच निर्ग्रन्था व्यवहारतः।
निश्चयाच्चापि नैर्ग्रन्थ्य सामान्यस्याविरोधतः॥ १॥
वस्त्रादिग्रंथसम्पन्नास्ततोन्ये नेति गम्यते।
बाह्यग्रंथस्य सद्भावे ह्यंतर्ग्रंथो न नश्यति॥ २॥

सामान्यरूपसे निर्ग्रन्थपनेका कोई विरोध नहीं होनेसे पुलाक आदि पांचों मुनीन्द्र व्यवहारनयसे और निश्चयनयसे भी निर्ग्रन्थ माने गये हैं। तिस कारण उन पुलाक आदि पांचोंसे भिन्न हो रहे जो वस्त्र, भूषण, घोडे, हाथी, जागीर, स्त्री, पुत्र, धन आदि परिग्रहोंसे सम्पत्तिशाली बन रहे साधु हैं, वे निर्ग्रन्थ कथमपि नहीं हैं। यह बात समझ ली जाती है। कारण कि वस्त्र, वाहन आदि बाह्य परिग्रहका सद्भाव होनेपर अन्तरंग कषाय परिग्रह नहीं नष्ट हो पाता है। यों जो साधु वस्त्र रखते हैं या

रुपया, सोना, रखते हैं। उनके बाह्य परिग्रहके साथ साथ कषाय, मिथ्यात्व, हास्य आदि अन्तरंग परिग्रह भी डट रहा है। वस्तुतः दिगंबर मुनिही निर्ग्रन्थ हैं।

ये वस्त्रादिग्रहेप्याहुर्निर्ग्रन्थत्वं यथोदितं।
मूर्च्छानुद्भूतितस्तेषां स्त्र्याद्यादानेपि किं न तत् ॥ ३ ॥

जो श्वेतांबर या वैष्णव सम्प्रदायवाले यों कह देते हैं कि वस्त्र, लठिया, पात्र, मठ आदि परिग्रहके होनेपर भी अपने शास्त्र कथित मन्तव्य अनुसार निर्ग्रन्थपना बखाना जा सकता है, क्योंकि आदिकोंमें उन साधुओंकी मूर्च्छाकी प्रकटता नहीं है। मूर्च्छा होती तो परिग्रह होता। अब आचार्य कहते हैं कि तब तो उन श्वेतांबर या वैष्णवोंके यहां स्त्री, रियासत, रत्नभूषण, नृत्य युद्धसामग्री आदिका ग्रहण कर लेनेपर भी वह निर्ग्रन्थ-पना क्यों नहीं मान लिया जाय। वे कह सकते हैं कि मूर्च्छाकी उद्भूति नहीं है। किसी कारणवश हम स्त्रीको या सेनाको रखते हैं इत्यादि। तत्त्व यह है कि यदि दांत नुका-नेके लिये तृण या स्वल्प तन्तु भी रक्खा जायगा तभी बहिरंग परिग्रहके साथही अन्त-रंग परिग्रहकी तीव्रता हो जायगी। ग्रन्थ माने किसी भी परिग्रहका है। गांठ लगाना या सिला हुआ कपडा पहिनना ये ग्रन्थके झूंठे कपोलकल्पित लक्षण हैं।

विषयग्रहणं कार्यं मूर्च्छा स्यात्तस्य कारणं।
न च कारणविध्वंसे जातु कार्यस्य संभवः ॥ ४ ॥
विषयः कारणं मूर्च्छा तत्कार्यमिति यो वदेत्।
तस्य मूर्च्छोदयोऽसत्त्वे विषयस्य न सिद्ध्यति ॥ ५ ॥
तस्मान्मोहोदयान्मूर्च्छा स्वार्थे तस्य ग्रहस्ततः।
स यस्यास्ति स्वयं तस्य न नैर्ग्रन्थ्यं कदाचन ॥ ६ ॥

अंतरंगमें मोह या मूर्च्छाके होनेपर ही बाह्यमें विषयोंका ग्रहण किया जाता है। वस्त्र, रुपया, गाय, भोजन, पात्र आदि विषयोंका ग्रहण करना कार्य है। और मूर्च्छा उसका अन्तरंग कारण है। कारणका विध्वन्स हो जानेपर कदाचित् भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः जिस साध्वाभासने विषयोंका ग्रहण कर लिया है। वह उभय ग्रन्थसे सहित हो रहा पूरा सग्रंथ है। जो मोही जीव यों कहेगा कि विषय तो

कारण है। और मूर्च्छा हो जाना उसका कार्य है, कारणसे कार्य हो यही जाय ऐसा कोई नियम नहीं है। "नहि कारणानि अवश्यं कार्यवन्ति"। अनेक कारण अन्य सामग्रीके नहीं मिलनेपर कार्य करनेसे वञ्चित पडे रहते हैं। अतः साधुओंके विषय ग्रहण होनेपर भी मूर्च्छा नहीं मानी जा सकती है। आचार्य कहते हैं कि उस वादीके यहाँ विषयका सद्भाव नहीं होनेपर मूर्च्छाका उदय हो जाना सिद्ध नहीं हो पावेगा। जब कि हम देखते हैं कि "उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः" रुपया, पैसा, कोठी, दुकानें नहीं होतें हुये भी दरिद्र जीवोंके अनेक झूठे मनोरथ उपजते रहते हैं, नष्ट होते रहते हैं। करोडों भूखे पेट रहते हैं। एतावता क्या उनके ऊनोदर तप कह दिया जायगा? असंख्य पशु, पक्षी, नग्न रहते हैं। क्या इनको आचेलक्य संयमी कह देवें? घरमें बैठा हुआ धीवर (मच्छलीमार) क्या अहिंसक है?। श्मश्रुनवनीतको क्या परिग्रहत्यागी कह सकते हैं? बात यह है कि इन सबके अन्तरंगमें महामूर्च्छा अग्नि संधुक्षित हो रही है, अतः ये संतोषी-परिग्रही चक्रवर्तीसे भी अधिक महापरिग्रही हैं। विषयोंके नहीं होनेपर भी जीवोंसे तीव्र मूर्च्छा लग रही है। अतः मूर्च्छाही अन्तरंग कारण है। तभी बहिरंग विषयोंके ग्रहणमें प्रवृत्ति हो जाती है। तिसकारण आत्मामें मोहकर्मका उदय हो जानेसे मूर्च्छा परिणाम होता है, और उस मूर्च्छाके हो जानेसे उस मोही जीवकी स्वकीय विषयोंमें ग्रहण करनेकी प्रवृत्ति हो जाती है। जिस जीवके स्वयं यह विषयोंका ग्रहण विद्यमान है। उस मोही जीवके निर्ग्रन्थपना कदाचित् भी नहीं समझा जायगा। अर्थात् केवल सिर मुडा लेनेसे या तीर्थजल स्नान कर लेने मात्रसे धार्मिकपनका अन्वय व्यतिरेक होवे तो मुडी हुयी भेड या मच्छली, मैडके बगे धर्मात्मा समझे जावेंगे। बात यह हैं कि अंतरंग परिग्रहकी पोट उतारे विना और आत्मीय शुद्धिके विना कोई भी मोक्षमार्गमें संलग्न नहीं हो पाता है। जो परिग्रहोंको रखते हुये भी अपनेको उनसे अलिप्त बता रहे हैं, वे दयनीय हैं, इससे अधिक उनकी कोई आत्मवंचना नहीं हो सकती है। जैनेंद्र सिद्धान्त अनुसार उनको समीचीन बोधि प्राप्त होवे ऐसी सद्भावना है। यों युक्तियोंसे परपक्षका निराकरण करते हुये पांचो मुनिवरोंका निर्ग्रन्थपना साधकर स्वपक्ष पुष्ट किया गया है।

कश्चिदाह-प्रकृष्टाप्रकृष्टगुणानां निर्ग्रन्थत्वाभावश्चारित्रभेदात् गृहस्थवदिति तं प्रत्याह-न च, दृष्टत्वाद्ब्राह्मणशद्बवत्। न हि जात्याचाराध्ययनादिभेदाद्भिन्नेषु ब्राह्मणत्वं विरुध्यते, संग्रहव्यवहारापेक्षत्वात् निश्चयनयादेव समग्रगुणेषु तद्व्यपदेशसिद्धेः। किं च, दृष्टिरूपसामान्यात् सर्वेषां निर्ग्रन्थता न विरुध्यते।

यहां कोई पंडित आक्षेप कर रहा है कि जिस प्रकार पाक्षिक, नैष्ठिक, साधक, नामक श्रावकके या दार्शनिक, व्रतिक आदि ग्यारह प्रतिमावाले श्रावकोंका निर्ग्रन्थपना नहीं है। क्योंकि इनका चारित्र भिन्न भिन्न है। कोई सचित्त त्यागी है। कोई संपूर्ण स्त्रियोंका त्यागी है। तीसरा आरम्भ त्यागी है, यों देश चारित्रका भेद हो जानेसे कोई भी गृहस्थ निर्ग्रन्थ नहीं है। उसी प्रकार पुलाक आदिमें भी भिन्न भिन्न प्रकारके चारित्र हैं। निर्ग्रन्थका चारित्र बहुत बढिया प्रकृष्ट है। कुशील मुनिके मध्यम कोटिका चारित्र है। पुलाकका चारित्र प्रकृष्ट नहीं है। कदाचित् मूलगुणोंमें भी पूर्णता नहीं हो पाती है। अतः प्रकृष्ट गुणवाले और अप्रकृष्ट गुणवाले पांचोंको एक स्वरूपसे निर्ग्रंथपनका अभाव है। यहांतक कोई अपना आक्षेप पूरा कर चुका है। अब उसके प्रति आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं कि यह दोष तो नहीं उठाना चाहिये क्योंकि ऐसा देखा गया है। जैसे कि ब्राम्हण शद्बकी प्रवृत्ति है। कान्यकुब्ज, सनाढय, गौड, शुक्ल आदि अनेक जातियोंके ब्राम्हण हैं। न्यारे न्यारे ब्राम्हणोंका आचार भी न्यारा न्यारा है। कोई विष्णुकी उपासना करता है। अन्य शाक्त है। तथा लौकिक आचारोंमें भी भेद पाया जाता है। इसी प्रकार अध्ययन, पूजन, दानग्रहण आदि क्रियाओंमें भी परस्पर विशेषतायें पाई जाती हैं। कोई वेदपाठी है, दूसरा वैयाकरण है, तीसरा अनपढ है, चौथा बालक ब्राम्हण है, कोई दक्षिणाको लेता है, कोई दक्षिणासे घृणा करता है, यों जाति आचार, अध्ययन, पद्धति आदिके भेदसे भिन्न हो रहे भी ब्राम्हणोंमें जैसे ब्राम्हणपना विरुद्ध नहीं हो पाता है। उसी प्रकार चारित्रकी अधिकता, न्यूनता होते हुये भी पुलाक आदिमें सर्वत्र निर्ग्रंथ शद्ब प्रवर्तता है। एक बात यह भी है कि संग्रह नयसे जैसे लंगडे, लूले, अन्धे,सूझते मूर्ख, पंडित सभी मनुष्योंका सामान्य रूपसे संग्रह हो जाता है। तथा व्यवहार नयसे अनेक जातिके वैश्योंमें वैश्यपनेका व्यवहार है। उसी प्रकार संग्रह और व्यवहारनयकी अपेक्षासे न्यून गुणवाले या अधिक गुणवाले सभी मुनियोंको निर्ग्रन्थ कह दिया जाता है। हां, निश्चयनयसेही संपूर्ण गुणवाले केवल निर्ग्रथ और स्नातक मुनिवरोंमे उस निर्ग्रंथपनका व्यवहार करना सिद्ध होता है। इसमें एक रहस्य यह भी है कि सम्यग्दर्शनसे सहित और भूषण, वस्त्र,शास्त्र आदिसे रहित निर्ग्रंथ दिगंबररूप ये दोनों स्वरूप सामान्य रूपसे सभी पुलाक आदिमें पाये जाते हैं। अतः संपूर्ण दिगंबर मुनिवरोंका निर्ग्रंथपना विरोधरहित सिद्ध हो जाता है।

नग्नव्रते वृत्तावतिप्रसंग इति चेन्न, रूपाभावात् । निर्ग्रन्थरूपं हि यथाजातरूपमसंस्कृतं भूषावेशायुधविरहितं गृहस्थेषु न सम्भवतीति । अन्यस्मिन् सरूपेतिप्रसंग इति चेन्न दृष्टयभावात् ।

यहां कोई पुनः कटाक्ष करता है कि क्वचित् कदाचित् व्रतोंका भंग कर चुके मुनिमें भी यदि निर्ग्रन्थ शद्बकी वृत्ति मानी जावेगी जैसे कि " अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनू " चाहे किसान या हत्यारा पण्डा क्यों न हो सभी ब्राम्हण मान लिये जाते जाते हैं । तब तो अतिप्रसंग दोष लग बैठेगा अर्थात् श्रावक भी संग्रहनय अनुसार निर्ग्रन्थ बन बैठेगा ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कटाक्ष नहीं करना क्योंकि श्रावकमें ग्रंथरहित दिगंबर स्वरूपका अभाव है । जब कि वेषकी प्रधानता है । जैसे तत्काल जन्म लिये बालकका रूप परिग्रह रहित है । उसी प्रकार शारीरिक संस्कारोंसे रहित और अभिप्रायपूर्वक भूषण, आवेश, आयुध आदिसे विशेषरूपतया रहित हो रहा निर्ग्रन्थ स्वरूपही गृहस्थोंमे नहीं सम्भवता है । तत्काल उपजे मूर्ख बच्चेमें कीट, पशु, पक्षियोंके सदृश मात्र बहिरंग ग्रंथ नहीं है किन्तु अन्तरंगमें तीव्र परिग्रह विद्यमान है । केवल मांग काढना, बाल सम्हालना आदि संस्कारोंसे रहित और वस्त्र आदिसे रहित होनेके कारण मुनिको बालक की उपमा दे दी जाती है। श्री समन्तभद्राचार्यने अरनाथ भगवान्की स्तुति करते हुये बृहत् स्वयंभूस्तोत्रमें लिखा है कि " भूषावेशायुधत्याग विद्यादमदयापरम्, रूपमेव तवाचष्टे धीरदोषविनिग्रहन् " हे धीर, वीर, भगवान् आपका भूषण आवेश (क्रोध, मान का जोश) हथियारका परित्याग कर रहा और तत्त्वविद्या, इन्द्रियदमन, दयामें तत्पर हो रहा आपका बहिरंग रूपही दोषोंके विनिग्रहको कह रहा है । यों दिगंबर रूप नहीं होनेके कारण श्रावकोंमें निर्ग्रन्थपना नहीं है । इसपर पुनः कोई तर्क उठावे कि यदि बहिरंगरूप (वेष) की प्रधानता रक्खी जायगी तब तो अन्य भी नंगे परिव्राजकों या दरिद्र नग्न पुरुष, पशु, पक्षियोंमें भी निर्ग्रन्थपनकी सदृशता हो जानेपर निर्ग्रन्थताके व्यवहार हो जानेका अतिप्रसंग हो जायगा । आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि उन नंगे पुरुष, पशु पक्षियोंमें सम्यग्दर्शनका अभाव है । सम्यग्दर्शनके साथ जहां दिगंबर दीक्षापूर्वक नग्नरूप विद्यमान है । उनमें निर्ग्रन्थपनका व्यवहार है । केवल नग्नवेशीको ही निर्ग्रन्थ नहीं मान बैठना चाहिये । " विशिष्टबुद्धिः विशेष्यविशेषण

संबंधविषया " विशेष्य और विशेषण दोनोंके विवक्षित संबंधद्वारा घटित हो जानेपर ही विशिष्ट बुद्धि हुयी कही जायगी ।

चारित्रपरिणामोत्कर्षापकर्षभेदेपि सतिनैगमसंग्रहव्यवहारनयाधीनतया पंचापि निर्ग्रन्थाः कथ्यन्ते जात्याचाराध्ययनादिभेदेपि द्विजन्मवत् ।

उक्त प्रकार पुलाक आदि संयमियोंमे उत्तरोत्तर विशुद्ध चारित्र परिणतियोंका बढते जाना और पूर्व पूर्वके चारित्र परिणामका न्हास होते जाना यों परस्परमें भेद होते सन्ते भी नैगम, संग्रह और व्यवहारनयकी अधीनता करके पांचों भी पुलाक आदिक मुनि निग्रन्थ कहे जाते हैं । जैसे कि जाति, आचार, अध्ययन तिलकपद्धति आदि भिन्न भिन्न होते हुये भी जन्म और संस्कार दो से उत्पन्न हुये द्विजन्मा सभी ब्राम्हणोंको ब्राम्हण कह दिया जाता हैं । यों परार्थानुमान बनाकर सूत्रोक्त सिद्धांतको पुष्ट कर दिया गया है ।

तेषां पुलाकादीनां भूयोपि विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह;—

उन पुलाक, वकुश आदि तपस्वियोंकी पुनरपि शिष्योंको विशेषप्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकार महाराज इस अगले सूत्रको कह रहे हैं । लिखित पुस्तकमें इस सूत्रके अवतरणमें ऐसा पाठ है । " अथ पुलाकादीनां पंचानां विशेषतयावबोधार्थं कथयति " अब श्री उमास्वामी महाराज पुलाक, वकुश आदि पांचों मुनिवरोंका विशेषरूपेण परिज्ञान करानेके लिये अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं ।

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥

इन पुलाक आदि पांच तपस्वियोंको संयम, श्रुत, प्रतिसेवना तीर्थ, लिंग लेश्या, उपपाद और स्थान, इन आठ अनुयोगोंके भेदोंसे साध लेना यानी बखान लेना चाहिये । जैसे कि पुलाक मुनि सामायिक संयम, और छेदोपस्थापना संयममें वर्तते हैं । इसी प्रकार इनका शास्त्रज्ञान कितना है ? यह भी विचारणीय है । क्यों कि मोक्ष पुरुषार्थके लिये ध्यानकी आवश्यकता है । और ध्यान तो नयज्ञान और श्रुतज्ञानके विशेष अनुभवी विद्वान्को हुये पाये जाते हैं । एवं संयम आदिसे मुनिवरोंका विशेष परिचय स्वयं ग्रंथकार कंठोक्त कर दिखावेंगे ही ।

आभ्यन्तर विराधने सति स च सेवना प्रतिसेवना दोषविधानमित्यर्थः । ततश्च संयमादिभिरनुयोगैः साध्याः व्याख्येयाः । संयमश्च श्रुतश्च प्रतिसेवना च तीर्थं च लिंगं च लेश्याश्चोपपादश्च स्थानानि च संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानानि तेषां विकल्पाः भेदाः संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पाः तेभ्यस्ततः पुलाकादय इति पंचभेदाः महर्षयः । संयमादिभिः अष्टभिः भेदैरन्योन्यभेदेन साध्या व्यवस्थापनीया इत्यर्थः । तथाहि;—

अभ्यन्तरके नियमोंमे विराधना (बिगाड) होते सन्ते जो सेवना है। वह प्रतिसेवना कही जाती है। इसका अर्थ दोषोंका विधान है। तिस कारण संयम आदिक आठ अनुयोगों करके पुलाक आदिक मुनि साध लिये जाय। अर्थात् इनकी विशेष प्रतिपत्ति करनेके लिये व्याख्या कर ली जाय, इस सूत्रमें पहले द्वन्द्व समास किया जाय पुनः षष्ठी तत्पुरुष करते हुये पञ्चम्यन्त तस् प्रत्यय कर लेना चाहिये। संयम और श्रुत तथा प्रतिसेवना एवं तीर्थ तथा लिंग और लेश्या तथा उपपाद एवं स्थान यों द्वन्द्ववृत्ति करनेपर " संयमश्रुतप्रतिसेवना तीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानानि " ऐसा पद बन जाता है। उनके जो विकल्प यानी भेद प्रभेद हैं। सो " संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्प " हैं। उनसे इस अर्थमें ततः यानी " संयमादिविकल्पतः " यह पद बन जावेगा। यों उन संयम आदि आठ भेदों करके परस्पर भेदके साथ पुलाक आदिक पांच भेदवाले महान् ऋषिराज साधने योग्य हैं। यानी इनकी व्यवस्था कर लेनी चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि जैसे किसी पदार्थका सत्, संख्या, क्षेत्र, आदिके अनुसार व्याख्यान किया जाता है, दूसरे किसी तत्त्वकी निर्देश, स्वामित्व आदि करके व्याख्या की जाती है, इसी प्रकार पुलाकादि महर्षियोंकी व्याख्या संयम, श्रुत आदिके द्वारा ठीक होती है। उनके शरीरकी ऊंचाई, शरीरका रंग, गृहस्थ अवस्थाका धन, निवासस्थान, विषयरति, आयु:, आदि करके पतिवरोंका व्याख्यान नहीं हो पाता है। अब स्वयं ग्रंथकार प्रत्येकमें उन आठों अनुयोगोंको स्पष्ट कर कण्ठोक्त दिखलाते हैं।

पुलाको वकुशश्चैव कुशीलाः प्रतिसेवना,
छेदोपस्थापनासामायिकयोरुभयोः स्थिताः ॥ १ ॥

चतुर्षु ते भवंत्येते कषायसकुशीलकाः ।
निर्ग्रन्थस्नातकौ द्वौस्तः तौ यथाख्यातसंयमे ।। २ ।।

पुलाक मुनि और बकुश पति तथा प्रतिसेवनाकुशील ये तीनों तपस्वी छेदोपस्थापना नामक संयम और सामायिक संयम इन दोनोंमें स्थित रहते हैं । वे ये प्रसिद्ध हो रहे कुशीलसहित कषायकुशील संज्ञावाले साधु तो चारों संयमोंमें वर्तते हैं । अर्थात् सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, और सूक्ष्मसांपराय इन चारों चारित्रोंमें यथायोग्य ठहरे हुये हैं । तथा वे निर्ग्रन्थ और स्नातक दो ऋषिवर तो यथाख्यात संयममें संलग्न हैं ।

पुलाक, वकुश, प्रतिसेवना, कुशीलाः सामायिकछेदोपस्थापना नामसंयमद्वये वर्तन्ते । सामायिक छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपरायनाम संयमतुर्यके कषायकुशीला भवन्ति । निर्ग्रन्थस्नातकौ च यथाख्यातसंयमे स्तः । पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीलेषु उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वाणि श्रुतं कोर्थः ।

पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील तो सामायिक और छेदोपस्थापना नामक दोनों संयमोंमें प्रवृत्ति कर रहे हैं । तथा कषायकुशील साधु तो सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसांपराय नामके चारों संयमोंमें प्रवर्त रहे हैं । हां, निर्ग्रन्था स्नातक दोनों यतीश्वर यथाख्यातसंयममें प्रवृत्ति रखते हैं । अब इन मुनियोंको श्रुतज्ञान कितना होता है ? इसका परामर्श किया जाता है। पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील मुनियोंमें उत्कृष्टपने करके अभिन्नाक्षर दशपूर्वोंका परिज्ञान हो जाना इतना श्रुतज्ञान है । इस अभिन्नाक्षरका अर्थ क्या है ? इसको अगली वार्त्तिकमें सुनिये ।

सन्त्येकेनाप्यक्षरेणाभिन्नानि साक्षराणि वै,
दशपूर्वाणि सन्त्येव तैरन्यूनानि तानि चेत् ॥ ३ ॥
ते कषायकुशीलाश्च निर्ग्रन्थाश्चेति साधवः ।
तच्चतुर्दशपूर्वाणि धारयन्ति श्रुतं सदा ॥ ४ ॥

एक भी अक्षर करके नहीं भिन्न हो रहे ऐसे अक्षरोंसे सहित दशपूर्व ही नियमा करके साक्षर दशपूर्व हैं । भावार्थ, गोम्मटसारमें " एयक्खरादु उवरिं एगेगेणक्खरेण

वड्ढंतो। संखेज्जेखलु उड्ढे पदणामं होदि सुदणाणं " "एय पदादो उवरिं एगेगे णक्खरेण वड्ढंतो, संखेज्ज सहस्सपदे उड्ढे संघाद णामसुदं " यों एक एक वर्णकी वृद्धि करते हुये पद नामक श्रुतज्ञान और संघात आदि श्रुतज्ञानोंका उपजना समझाया है। वस्तु श्रुतज्ञानमें भी " एक्केक्क वण्ण उड्ढी कमेण सव्वत्थ णायव्वा " यों कहकर सर्वत्र एक एक अक्षर नामक ज्ञानकी वृद्धिके क्रम अनुसार अगले श्रुतज्ञानोंका होना अभीष्ट किया है। अतः दश, चौदह, आदि वस्तु नामक श्रुतज्ञानोंके पिण्डरूप उत्पाद पूर्व, आग्रायणी पूर्व, आदि पूर्वोमें अक्षरश्रुत अनुसार क्रमसे ज्ञानवृद्धि होती है। पूर्ण श्रुतज्ञानके एक कम एक द्विप्रमाण (अठारह आदि वीस अक्षरकी संख्या (१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५) अपुनरुक्त अक्षर हैं। यों एक भी अक्षर श्रुतसे नहीं टूट रहे दश पूर्वोका ज्ञान होता है। वे दशपूर्व उन अक्षरोंसे न्यून नहीं होने चाहिये इस बातका ख्याल रक्खो। तथा वे कषायकुशील और निर्ग्रन्थ इस नामके धारी साधुवर्य तो तिस ही प्रकार सर्वदा चौदह पूर्व नामक श्रुतज्ञानको उत्कृष्टतया धारते हैं।

जघन्यतया पुलाकः आचारं वस्तुस्वरूपनिरूपकं श्रुतं धरति । बकुशकुशील-निर्ग्रन्थाश्च प्रवचनमातृकास्वरूपनिरूपकं श्रुतं निकृष्टत्वेन धरंति । प्रवचनमातृका इति कोर्थः ।

जघन्य रूपसे पुलाक मुनि आचारवस्तुके स्वरूपका निरूपण करनेवाले श्रुतज्ञानको धरता है। तथा बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थ मुनि तो आठ प्रवचनमातृकाके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रज्ञानको जघन्यपने करके धारते हैं। " प्रवचन मातृका " इसका अर्थ क्या है ? इसके लिये ग्रंथकार अग्रिम वार्त्तिकको कह रहे हैं।

पंचसमितयस्तिस्त्रो गुप्तयश्चेति मातरः ।
प्रवचनमातरोष्टौ कथ्यंते मुनिभिः परैः ॥ ५ ॥

ईर्यासमिति आदि पांच समितियां और मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियां ये मातायें हैं। जैसे माता पुत्रकी जननी है, संतानकी रक्षा करती है। उसी प्रकार ये मोक्षकी जननी और रक्षिणी हैं। उत्कृष्ट मुनिवरों करके ये ही आठ प्रवचन मातायें कही जाती हैं। अर्थात्--न्यारे न्यारे प्रकारका निर्वचन कर देनपर देव, शास्त्र, गुरु, तीनोंको प्रवचन कह सकते हैं। श्रुतज्ञानके भेद प्रभेदोंमें कोई ऐसा प्रकरण है जो कि मुख्यरूपेण

पंच समितियोंका और तीन गुप्तियोंका प्रतिपादक है। गौणरूपसे अन्य आचार या द्रव्यानुयोग आदिकी भी प्रतिपत्ति कराता होगा । जैसे कि चारों गतियोंके स्वरूपका निरूपण करनेवाला प्रतिपत्ति नामका श्रुतज्ञान है ।

समितिगुप्तिप्रतिपादकमागमं जानातीत्यर्थः । स्नातकानां केवलज्ञानमेव । तेन तेषां श्रुतं नास्ति । उक्तं च–पुलाकः सर्वशास्त्रज्ञो वकुशो भव्यबोधकः, कुशीलस्तोकचारित्रो निर्ग्रन्थो ग्रन्थहारकः । स्नातकः केवलज्ञानी शेषाः सर्वे तपोधनाः । पंचमहाव्रतलक्षणमूल–गुणाष्टाविंशति रात्रिभुक्तिविरहितेषु चान्यतमं बलात्परोपरोधात्प्रतिसेवमानः पुलाको विराधको भवति । रात्रिभोजनविराधकः कथमिति चेदुच्यते । श्रावकादीनामुपकारोऽनेन-भविष्यतीति वा अन्नादिकं रात्रौ भोजयतीति विराधकः स्यात् ।

अष्ट प्रवचन माताका अर्थ यह है कि पांच समिति और तीन गुप्तियोंके प्रतिपादक आगमको वकुश आदिक जानते हैं । हां, स्नातक मुनिवरोंका ज्ञान तो केवलज्ञानही है । तिस कारण उन स्नातकोंके श्रुतज्ञानकी प्ररूपणा नहीं है । अन्य ग्रन्थमें भी ऐसा कहा गया है कि पुलाक मुनि प्रायः संपूर्ण शास्त्रोंको जानता है। वकुश मुनि तो भव्योंको प्रबोध करानेवाले शास्त्रोंका ज्ञाता है । कुशील यति स्वल्प चारित्रको धार रहा भव्योंको तत्त्वज्ञान कराता है । और निर्ग्रन्थ मुनि महाराज तो समाधिस्थ हो रहे सन्ते नयात्मक ज्ञानोंद्वारा अन्तरंग परिग्रहोंका नाश कर रहे हैं । स्नातक केवलज्ञानके धारी हैं । शेष संपूर्ण मुनि महाराज तपश्चरणको परमधन मानकर योग्य शास्त्राभ्यासी हैं । अब प्रतिसेवनाको यों समझिये कि पंच महाव्रत स्वरूप मूलको धार रहे ऐसे अट्ठाईस मूलगुण और रात्रिभोजन त्याग यों पंच महाव्रत, अठ्ठाईस मूलगुण और रात्रिभोजन त्याग इन तीन व्रतोंमेंसे किसी एकको दूसरोंके उपरोधवश बलात्कारसे प्रतिसेवन कर रहा पुलाक मुनि विरोधक हो जाता है । अर्थात् उक्त तीन व्रतोंमेंसे क्वचित्, कदाचित्, एक व्रतका विनाश कर बैठता है । यदि यहां कोई यों शंका करे कि रात्रिभोजन त्यागव्रतकी विराधना किस प्रकार कर देगा ? क्या पुलाक रातको कुछ खा लेगा ? इसपर यही समाधान कहा जाता है कि श्रावक, पशु, पक्षी, बालक, आदि जीवोंका इस रात्रिभक्षणसे उपकार हो जावेगा । यों विचार कर रात्रिमें अन्न, दुग्ध, जल, औषधि आदिका भोजन करा देता है । यों किसी श्रावक आदिके जीवन, मरणकी कठिन समस्या उपस्थित हो जानेपर

करुणावश पुलाक मुनि कारित या अनुमोदनासे रात्रिभोजन त्यागव्रतका अक्षुण्ण पालन नहीं कर सका है। अतः व्रतका बिगाड देनेवाला कह दिया है।

वकुशो द्विप्रकारश्चेदुपकरणशरीरतः ।
तत्र नाना विधा ज्ञेया उपकारणविन्मता ॥ ६ ॥
ते संस्कारप्रतीकाराकांक्षणा प्रतिभण्यते ।
वपुरभ्यंग संमर्द्दन क्षालन विलेपना ॥ ७ ॥
इत्यादिसंस्कारभागी शरीरवकुशोस्ति वै ।
एनयोरुभयोर्मध्ये कषायप्रतिसेवना ॥ ८ ॥
द्वयोर्मूलगुणान्नैव विराधयति सर्वदा ।
विराधयत्यन्यतमं उत्तरं गुणसंश्रितं ॥ ९ ॥

उपकरण वकुश और शरीर वकुश इस प्रकार वकुश जातिके निर्ग्रन्थ तो दो प्रकार हो सकते हैं। उनमें उपकरणोंका विचार अनेक प्रकार माना गया समझने योग्य है। पुस्तक, शास्त्र, पिच्छिका आदि अनेक प्रकारे सुन्दर उपकरणोंमें जिसका चित्त संलग्न हो रहा है। सुन्दरशिला, काष्ठासन, शिष्यमंडल आदि विचित्र परिग्रहोंसे युक्त हो रहा सन्ता संयमीके योग्य हो रहे कतिपय उपकरणोंकी आकांक्षा रखता है। वे उपकरण वकुश मुनि उन उपकरणोंके संस्कार करने और लगे हुये मलोंके प्रतीकार करनेमें आकांक्षित रहते कहे गये हैं। दूसरें शरीरवकुश मुनि तो नियमसे शरीरका अभ्यङ्ग (तैलानुलेपन) वैयावृत्य करनेवालोंके द्वारा शरीरका अच्छा मर्दन किया जाना, शरीरका प्रक्षालन करना, विलेपन, किया जाना, धूल झाडना इत्यादिक शारीरिक संस्कारोंकी सेवाको धार रहा है। यो इन दोनो वकुशोंके मध्यमें कषायवश प्रतिसेवना लग रही है। कुशील मुनिके कषाय कुशील और प्रतिसेवना कुशील ये दो भेद हैं। उन दोनोंमें प्रतिसेवना कुशील तो अट्ठाईस मूलगुणोकी सर्वथा विराधना नहीं करता है, हां उत्तर गुणोंमे आश्रित हो रहा कदाचित् उत्तरगुणोंमेंसे किसी एक उत्तर गुणकी विराधना कर डालता है।

अस्यैषा प्रतिसेवना यः कषायकुशीलो निर्ग्रन्थः स्नातकश्च तेषां विराधना काचिन्न वर्तते अप्रतिसेवनाः । सर्वेषां तीर्थंकराणां तीर्थेषु पंच प्रकारा अपि निर्ग्रन्थाः भवन्ति । लिंगं द्विविधं द्रव्यभावभेदात्तत्र पंचप्रकारा अपि निर्ग्रन्था द्रव्यपुंल्लिंगिनो भवन्ति भावलिंगं तु भाज्यं व्याख्येयमित्यपि न किं केचित्समास्तद्वदसमर्थाः महर्षयः ।

इस प्रतिसेवना कुशीलके यही प्रतिसेवना है कि कदाचित् उत्तर गुणोंकी विराधना हो जाती है । दूसरा जो कषायकुशील है, तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक मुनिवर हैं । उनके कोई भी विराधना नहीं वर्त रही है । इस कारण वे प्रतिसेवनारहित हैं । पुलाक आदिके संयम, श्रुत प्रतिसेवनाका विचार कर दिया है । इनके तीर्थ और लिंगकी मीमांसा इस प्रकार है कि--संपूर्णही तीर्थंकरोंके तीर्थोंमें पांचों भी प्रकारके निर्ग्रथ मुनि होते हैं ! अर्थात् वृषभ आदि तीर्थंकरोंके या भूत भविष्य कालीन तीर्थंकरोंके समयमें अथवा उनके मध्यवर्ती वारोंमें पुलाक आदि पांचों निर्ग्रथोंका होना संभवता है । द्रव्य-लिंग और भावलिंगके भेदसे लिंग दो प्रकार है । उन लिंगोंकी अपेक्षा करनेपर पांचों भी प्रकारके निर्ग्रन्थ मुनि द्रव्यरूपसे पुरुषलिंगी होते हैं । द्रव्य स्त्री और द्रव्य नपुंसकोंके पांचवे तक गुणस्थानही होते हैं । छठा, सातवां, गुणस्थान द्रव्य पुरुषोंके ही संभव है । हां, भावलिंगकी अपेक्षा तो भजनीय है । नौवे गुणस्थानतक वेदका उदय है । अत. नौवे गुणस्थानतकके मुनियोंमें भाववेदकी अपेक्षा किसीके पुंवेदका उदय है, अन्यके स्त्रीवेदनो-कषायका उदय है । क्वचित् नपुंसक वेद भी उदयापन्न है । यहां यह भी व्याख्या कर लेने योग्य है कि--पुलाक आदि कोई भी मुनिसमान नहीं है । कुछ न कुछ सभीमें परस्पर अन्तर है । उसीके समान सभी महर्षि समर्थ भी नहीं हैं । कोई कोई परीषह, उपसर्ग, सहनेमें पूर्ण समर्थ हैं । अन्य उपसर्ग झेलनेमें असमर्थ हो रहे हैं ।

शीतकालादिके वाच्यं शब्दं तत्कम्बलाभिधं ।
कौशेयादिकमित्यत्र गृह्णन्ति न च वेश्मनि ॥ १० ॥
क्षालयन्ति न सीव्यन्ति न प्रयत्नादिकं तथा ।
परकालेन कुर्वन्ति हरंति परिहारकाः ॥ ११ ॥

केचिच्छरीरमुत्पन्नदोषा लज्जित कारणात् ।
तथा कुर्वन्ति व्याख्यानं भगवदाराधनोदितं ॥ १२ ॥

प्रोक्तामहर्षिभिस्तेयस्सर्वेषामुपकारिणः ।

स्वाध्याय करनेवाले भद्र प्रकृति श्रोताओंके प्रति मुझ भाषा टीकाकारका यह प्रज्ञापन है कि इस " संयमश्रुतप्रतिसेवना " इत्यादि सूत्रका विवरण कुछ अशुद्ध प्रतीत हो रहा है। जो पुस्तक उपलब्ध हो रहा है उसी परसे कुछ स्वमनीषा अनुसार न्यून, अधिक कर देशभाषा कर दी गई है। विशेषज्ञ विद्वान् आम्नाय अनुसार शुद्ध कर लेवें, दिगंबर संप्रदाय अनुसार किसी भी निर्ग्रन्थ साधुके वस्त्रका रखना नहीं संभवता है। वस्त्र तो बडा परिग्रह है। मुनि एक डोरा या तृण भी अपने पास नहीं रख सकते हैं। हां, श्वेतांबर या वैष्णव सम्प्रदायवालोंने वस्त्र का रखना साधुके अभीष्ट किया है। किसी किसी ग्रन्थमें बलवत्तर राजा या राष्ट्र अथवा एकान्त धर्माग्रही गुरुओंका अनुचित प्रभाव डालनेकी दशा हो जानेपर यहां वहां का अनार्ष क्षेपक विषय लिखा पाया जाता है। श्री विद्यानन्द स्वामी महान् दिगंबर आचार्य थे। ये श्वेतांबर मतानुसार साधुके कम्बल, कोशा आदिका ग्रहण करना पुष्ट नहीं कर सकते हैं। तथा भगवती आराधनाके कर्ता शिवकोटि दिगम्बर मुनीन्द्र भी साधुके वस्त्र रखनेकी पुष्टी नहीं करते हैं। आचेलक्य यानी वस्त्ररहितपनको सर्वत्र दिगंबर आर्षशास्त्रोंमे पोषा गया है। हां, भगवती आराधनासार ग्रंथकी संस्कृत टीकाको बनानेवाले यदि श्वेतांबर हैं तो वे अपने संप्रदायको पोषनेके लिये कुछ भी लिख देवें वह अक्षुण्ण दिगंबर सिद्धांत नहीं माना जा सकता है। असली रत्नोंमें नकली काच छिपाये छिप नहीं सकते हैं आस्तां। यहां श्लोकवार्तिक शास्त्रके उपलब्ध पुस्तकमें जो लिखा हुआ है। उसका अर्थ इस प्रकार है कि--शीतकाल, शीतव्याधि आदिके अवसरपर कम्बल नामके वस्त्रको अथवा कोशा' रेशमके, बने हुये कौशेय या सनिया आदिक पटोंको यहां ग्रहण कर लेते हैं। घरमे ग्रहण नहीं करते हैं। न वस्त्रको परवारते हैं। और सींवते भी नहीं हैं, तथा अन्य कोई सुखाने आदि व्यापारोंका प्रयत्न नहीं करते हैं। गाढ शीतवेदनासे अतिरिक्त अन्य कालोंमें ग्रहण नहीं करते हैं। मुनिके वस्त्रोंको लानेवाले ला देते हैं। और ले जानेवाले ले जाते हैं। कोई कोई यहां यह कह रहे हैं कि शरीरमें पीडा, गुप्त अवयवोंमें दोष आदि उपज

जानेपर मुनि लोग लज्जित हो जानेके कारणसे तिस प्रकार वस्त्र,पात्र आदिको ग्रहण कर लेते हैं, ऐसा भगवती आराधना ग्रंथमें व्याख्यान कहा गया है। ग्रंथकार कहते हैं कि महर्षियोंके कहे गये ऐसे कथन भी बढिया हैं। जिस कारणसे कि वे महर्षि सभी रोगी, दोषी, प्रमादी, जीवोंका उपकार करते हैं। अर्थात् कोई अतीव कष्ट वेदनाको भुगत रहा है। उस मुनिका आत्मध्यानमें मन नहीं लगता है, समाधिमरणके अवसरपर शारिरिक व्याधियां सता रही हैं। उस समय जैके खाद्य पदार्थ दिखला दिया जाता है। इसी प्रकार कम्बल, कौशेय वस्त्र, पात्र आदि भी दिखला दिये जाय, बलात्कारसे समाधिमरण कराकर अधोगति प्राप्त कराना महर्षियोंको इष्ट नहीं है। यदि एक, दो बार संयमसे च्युत भी हो जाय किन्तु सम्यग्दर्शन निर्दोष बना रहे तो समन्तभद्र, माघनन्दी, आदि मुनियोंके समान पीछे संयममें निष्णात संयमी भी हो जायगा। ऐसा विचार कर किसी अवसरपर संयम के शैथिल्यका उपदेश दे दिया गया है। यहां मुझ भाषाकारका यह प्रज्ञापन है कि--दिगंबर संप्रदाय अनुसार मुनि जब एक कपास निर्मित डोरा भी नहीं रख सकता है तो भला ऊर्णामय कम्बल कैसे ग्रहण कर लेगा? आश्चर्य है, और ऐसी दशामें वह उपकरण वकुश या उपकरण कुशील जातिका मुनि कैसे प्रतिष्ठित रह सकता है? कम्बल तो मूलमें ही ऊनका बनाया हुआ अत्यधिक अशुद्ध है। श्वेतांबर या वैष्णव एवं यवन आम्नायवाले भले ही कम्बलको शुद्ध बतावें किन्तु कुंदकुंद मुनींद्रकी पवित्र दिगंबर सम्प्रदायसे ऊनी वस्त्र अत्यन्त अपवित्र है। ऊन, चर्म, हड्डी इनमें सदा त्रस जीवोंकी उत्पत्ति, मरण, होता रहता है। अतः ये ऊन, शंख, सीप, चमरीरुह आदि पदार्थ अपवित्र हैं। लोकशुद्धिसे शास्त्रीयशुद्धि न्यारी है। कोई मुनि कम्बल या पात्रको मोहवश ग्रहण कर लेगा तो वह मुनिपदसे भ्रष्ट हो जायगा। श्री विद्यानंद आचार्य दिगंबर संप्रदायमें महान् उद्भट विद्वान् हुये हैं। ये मुनियोंके वस्त्र पात्र रखनेको भी कभी नहीं पुष्ट कर सकते हैं। इस सूत्रके विवरणकी संस्कृत लेख पद्धति भी अशुद्ध प्रतीत हो रही है, गाम्भीर्य भी नहीं है। पहले लेखोंसे इन पंक्तियोंका साहित्य सादृश्य भी नहीं मिलता है। संभव है। किसी दिगंबर सिद्धांतबाह्य पंडितने कल्पित भाष्यको इस ग्रंथमें प्रक्षिप्त कर दिया है। आम्नायविधिज्ञ दिगंबर विद्वान् इस रहस्यका परामर्श कर लेवें। श्री महावीर स्वामीके त्रिलोक, त्रिकाल अबाधित दिगम्बरत्व सिद्धांतकी सर्वांग प्रतिष्ठाका लक्ष्य रखना चाहिये। इन कारिकाओंमें अशुद्धियां भी

कतिपय हैं। वाचक ओर वाच्य प्रमेय दोनोंही हमको जंचे नहीं हैं। स्याद्वादनीति अनुसार कोई अपेक्षावाद भी साधुके कम्बल रखनेका समर्थक नहीं प्रतीत होता है। हां, यदि मुनित्व हटा दिया जाय तो मिथ्यादृष्टि कम्बलको रखे, कुछ भी खावे, चुरावे, कोई भी क्रिया करे, इस पर हमें कुछ कहना नहीं है। असंयत सम्यग्दृष्टि हो कर भी भले ही कम्बल रक्खे, खाद्य रक्खे, कोई आपत्ति नहीं है, हां साधुके कम्बलका वेष स्वीकार किया जायगा तो साधु या उसका समर्थक अवश्य श्रद्धानसे च्युत हो रहा पक्का मिथ्यादृष्टि है। उक्त शुद्ध, अशुद्ध कारिकाओंका केवल अर्थ लिख दिया है। यह विद्यानंद स्वामीकी कृति है, हमें तो इसमें भी सन्देह है। अलम् कृतधियः सुविचार्य प्रवर्तिष्यन्ते ।

तथैव व्याख्यानमाराधनाभगवतीप्रोक्ताभिप्रायेणापवादरूपं ज्ञातव्यं। उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलीयानित्युपसर्गेण यथोक्तमाचेलक्यं च प्रोक्तमास्ते तावदार्यासमर्थदोषवच्छरीराद्यपेक्षयाऽपवादव्याख्याने न दोषः। अमुमेवाधारं गृहीत्वा जैनाभासः केचित्सचेलत्व मुनीनां ख्यापयन्ति तन्मिथ्या। साक्षान्मोक्षकारणं निर्ग्रन्थलिंगमिति वचनात्। अपवादव्याख्यानमुपकरण कुशीलापेक्षया कर्तव्यम्।

" आराधना भगवती " ग्रंथकी टीकामें कहे गये अभिप्राय करके तिस ही प्रकार मुनिके कम्बल आदि रखनेका व्याख्यान करना अपवाद रूप समझना चाहिये उत्सर्गविधि और अपवाद मार्गमें अपवादकी विधि बलवान् होती है। इस कारण उत्सर्गरूपसे शास्त्रोंमें कहा गया ही वस्त्ररहितपना आचेलक्य संयम तो बहुत बढ़िया आचरण कहा गया है। हां, जब तक आर्य यानी मुनि या ऐलक असमर्थ है। या बात आदि दोषोंवाले शरीरसे ग्रस्त है। शीत, रोगको सहन नहीं कर सकता है। इत्यादिकी अपेक्षा करके अपवादरूपसे व्याख्यान करनेमें कोई दोष नहीं है। अर्थात् संपूर्ण मुनियोंके लिये राजमार्ग तो उत्सर्गरूपेण वस्त्ररहितपन ही है। हां, किसी आपत्तिकालमें वस्त्र रखनेकी अपवादविधी भी लागू हो जाती है। उस भगवती आराधनामें कहे गये वस्त्र रखनेके आधारको ही ग्रहण कर कोई कोई जैनसारिखे दीख रहे श्वेतांबर जैनाभास पंडित मुनियोंके वस्त्ररहितपनको प्रसिद्ध रूपसे बखान रहे हैं। तभी तो वे ऊनी, सूती, वस्त्रोंका रखना, दण्ड रखना, पात्र रखना आदि रूपसे परिग्रही बने हुये हैं। ग्रन्थकार कहते हैं

कि यह सचेलसंयमीपना सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि साक्षात् मोक्षका कारण तो निर्ग्रन्थ-लिंग ही है। आचेलक्य संयमसेही मोक्ष होती है। ऐसा आगम ग्रन्थोंका निर्दोष वचन है। अपवाद रूपसे वस्त्र रखनेका ग्रन्थका व्याख्यान तो उपकरण वकुश नामक मुनिकी अपेक्षासे करना चाहिये। भावार्थ--उच्चमार्ग तो वस्त्ररहितपना ही है। हां, कोई उपकरण वकुश कम्बल आदिमें अत्यासक्ति रखता हो और समाधिमरणमें भी उसका उपयोग नहीं लगता हो तो ऐसी दशामें वैष्णवसम्प्रदाय अनुसार काशीकरों तथा जीवित गंगाप्रवाह, गिरिपात, अग्निपात आदिके समान हम जैनोंके यहां बलात्कारसे मार देना अभीष्ट नहीं किया गया है। उक्त क्रियाओंको करनेवाले और करानेवाले दोनोंही आत्मघाती हैं। आत्मघातीको कथमपि मोक्षमार्गमे लगा हुआ नहीं माना जा सकता है। यों ऐसे उपकरणोंमें आसक्त हो रहे वराक जीवको दया कर कम्वल दे दिया जाय। धर्म्यध्यानके विना व्यर्थ मार देना या कष्ट सहाते रहाना, कृपालु महर्षियोंकी शासन-पद्धति नहीं हैं। यहां मुझ भाषाकारको मात्र यही कहना है कि--वस्त्रको ग्रहण कराना मुनियोंका धर्म नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार वस्त्र ग्रहण कर रहा लोलुप रंक जीव भी मुनि बना नहीं रक्षित रह सकता है। इस दिगंबरीय तत्त्वका पूर्ण लक्ष्य रखा जाय। उद्‌भट विद्वान् " श्री शिवकोटि आचार्य " की बनाई हुई मूलाराधना (भगवती आराधना) की चार सौ इक्कीसवीं गाथा यों है कि " आचेलक्कुद्देसिय सेज्जाहरराय-पिंड किरियम्मे, जेट्ठपडिक्कमणे वियमासं पज्जो सवण कप्पो ॥ ४२१ ॥ इस गाथा अनुसार दश प्रकारके स्थितिकल्पोंमें पहिला आचेलक्य माना है। श्री अपराजित सूरि की बनाई हुई " विजयोदया " टीकामें आचेलक्यका विशद व्याख्यान इस प्रकार किया है कि--" आचेलक्कुद्देसिय " चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलपरिग्रहत्याग आचेलक्य-मित्युच्यते। दशविधे धर्मे त्यागो नाम धर्मः। त्यागश्च सर्वसंगविरतिरचेलतापि सैव। नाचेलो यतिस्त्यागाख्ये धर्मे प्रवृत्तो भवति। अकिञ्चनाख्येऽपि धर्मे समुद्यतो भवति निष्परिग्रहः। परिग्रहार्था ह्यारम्भप्रवृत्तिर्निष्परिग्रहस्या सत्यारम्भे कुतोऽसंयमः। तथा सत्याख्येऽपि धर्मे समवस्थितो भवति। परं परिग्रहनिमित्तं व्यलीकं वदति। असति बाह्ये क्षेत्रादिके अभ्यन्तरे च रागादिके न निमित्तमस्त्यनृताभिधानस्य ततो ब्रुवन्नेवमचेलः सत्यमेव वदतीति। लाघवं च अचेलस्य भवति। अदत्तविरतिरपि संपूर्णा भवति। परिग्रहाभिलाषे सति अदत्तादाने प्रवर्तते नान्यथेति। अपि च रागादिके त्यक्ते भावविशुद्धिमयं ब्रम्हचर्य-

मपि विशुद्धतमं भवति । संगनिमित्तो हि क्रोधस्तदभावे चोत्तमा क्षमा व्यवतिष्ठते । सुरूपोहमाढ्य इत्यादिको दर्पस्त्यक्तो भवति अचेलेनेति । मार्दवमपि तत्र सन्निहितं । अजिह्मता चास्य स्फुटमात्मीयं भावमादर्शयतोऽचेलस्यार्जवता भवति । मायाया मूलस्य परिग्रहस्य त्यागात् । चेलादिपरिग्रह परित्यागपरो यस्मात् विरागभावमुपगतः । शब्दादि विषयेष्वासक्तो भवति । ततो विमुक्तेश्च शीतोष्णदंशमशकादिपरिश्रमाः, सुरासुरोदीर्णाः, घोढास्त्रोपसर्गाः निश्चेलतामभ्युपगच्छता । ततोपि घोरमनुष्ठितं भवति । एवमचेलत्वोपदेशेन दशविधधर्माख्यानं कृतं भवति संक्षेपेण ।

इसका संक्षेप अर्थ इस प्रकार है कि " न चेलो विद्यते यस्य असौ अचेलकः, अचेलकस्य भावः कर्म वा आचेलक्यं " । चेलका अर्थ वस्त्र हैं । जिसके पास वस्त्र नहीं है वह अचेलक है । अचेलकके भाव या कर्तव्यको आचेलक्य कहते हैं । चेलका ग्रहण संपूर्ण परिग्रहोंका उपलक्षण है, तिस कारण संपूर्ण परिग्रहोंका परित्याग कर देना आचेलक्य यह कहा जाता है । उत्तमक्षमा आदि दशधर्मोंमें एक त्याग नामका धर्म भी है । संपूर्ण परिग्रहोंसे विरक्त हो जाना त्याग धर्म है । अचेलता भी वही त्याग रूप है । तिस कारण वस्त्ररहित हो रहा मुनि त्याग नामक धर्ममे प्रवर्त रहा है । नौमे आकिञ्चन्य नामके धर्ममें भी वह निर्वस्त्र मुनि परिग्रहरहित होकर अच्छा उद्यमी हो रहा है । जगत्में परिग्रहके लिये ही कृषि आदि आरम्भोंमें प्रवृत्ति की जाती है किन्तु परिग्रहरहित मुनिके सेवा, वाणिज्य आदि आरम्भ नहीं होनेपर किस कारण असंयम होगा ? अर्थात् वस्त्ररहित मुनि छठे संयम धर्मको भी पालता हैं । तिसी प्रकार दिगंबर मुनि सत्यधर्ममें भी भले प्रकार अवस्थित रहता है । क्योंकि परिग्रहके कारण ही जीव दूसरोंसे झूठ बोलता है । अब क्षेत्र, वास्तु आदि बहिरंग परिग्रह मुनिके नहीं हैं, और रागादिक अंतरंग परिग्रह भी नहीं रहे हैं । तो झूठ बोलनेका निमित्त कारण ही नहीं रहा तब तो इस प्रकार परिग्रहरहित होकर बोल रहा मुनि सत्यही बोलता है । वस्त्ररहित मुनिके लाघवगुण भी होता है । वस्त्रवालेको बोझ लादना पडता है किन्तु वस्त्ररहित मुनि बोझसे रीतें होकर वायुके समान लघु होकर स्वच्छंद गमन करते है । वस्त्र यानी परिग्रहके त्याग देनेसे मुनिके अदत्तविरति यानी अचौर्य महाव्रत भी परिपूर्ण होता है । क्योंकि परिग्रहकी अभिलाषा होते सन्तेही नहीं दान किये गये पदार्थको ग्रहण करनेमें जीव प्रवर्तता है, अन्य कारणोंसे चोरी नहीं की जाती है । लाघव या अचौर्यही

शौचधर्म है। एक बात यह भी है कि राग आदिका त्याग कर चुकनेपर मुनिके भाव-विशुद्धियोंसे तन्मय हो रहा ब्रम्हचर्य धर्म भी अतीव उत्कृष्ट विशुद्ध हो जाता है। क्रोध भी परिग्रहको निमित्त पाकर उपजता है। उस परिग्रहका अभाव हो जानेपर उत्तम-क्षमा स्वयं व्यवस्थित हो जाती है। यों अचेल मुनिके ही उत्तमक्षमा पाई गई। मार्दव धर्म भी उस आचेलक्यके होनेपर ही निकटमें आ बैठता है। क्योंकि " मैं सुन्दर हूं, मैं धनिक हूं " इत्यादिक गर्वका वस्त्ररहितपने करके त्याग हो चुकता है। स्पष्ट रूपसे आत्मीय सहज भावको चारों ओर दिखला रहे अपरिग्रह मुनिके मायाचार रहितपन स्वरूप आर्जवता धर्म होता है। क्योंकि मायाके मूल कारण हो रहे परिग्रहका मुनिने त्याग कर दिया है। परिग्रही जीव इन्द्रियोंके शद्ब, रूप आदि विषयोंमें आसक्त हो जाता है। जिस परिग्रहसे विरागभावको प्राप्त हो चुका मुनि चीर आदि परिग्रहके त्यागमें तत्पर हो रहा सन्ता उस परिग्रहसे विमुक्ति हो जानेके कारण शीत, उष्ण, डांस, मच्छर आदिके परिश्रमको सह लेता है। निष्परिग्रहपनको प्राप्त हो रहे मुनि करके परीषहें तथा देव, असुरों करके उदीरणा किये गये उपसर्ग सब सह लिये जाते हैं। वस्त्र ओढे हुये को डांस, मच्छर आदि परीषहे क्या सतावेंगी? परिग्रहरहित मुनिकेही घोर तपश्चरणका अनुष्ठान किया जाता है। इस प्रकार मुनिके वस्त्ररहितपनका उपदेश कर देनेसे संक्षेप करके दशों प्रकारके धर्मोका निरूपण कर दिया गया हो जाता है। इसके आगे विजयोदया टीकामें अन्य भी अचेलत्वका समर्थन यों किया है कि--

अथवा न्यथा प्रक्रम्यते अचेलता प्रशंसा। संयमशुद्धिरेको गुण: स्वेदरजोमला-वलिप्ते चेले तद्योनिका तदाश्रयाश्च त्रसा: सूक्ष्मा: स्थूलाश्च जीवा उत्पद्यन्ते, ते बाध्यन्ते चेलग्राहिणा। संसक्तं वस्त्रं तावत्स्थापयतीति चेत्तर्हि हिंसा स्याल्। विवेचने चम्रियन्ते संसक्ता:। चेऽलवत: स्थाने, शयने, निषद्यायां, पाटने, छेदने, बंधने, वेष्टने, प्रक्षालने, संघट्टने, आतपप्रक्षेपणे च जीवानां वा बाधेति महानसंयम:। अचेलस्यैवंविधासंयमाभावात् संयमविशुद्धि:। इन्द्रियविजयोद्वितीय:। सर्पाकुले वने विद्यामन्त्रादिरहितो यथा पुमान दृढप्रयत्नो भवति। एवमिन्द्रियनियमने अचेलोपि प्रयतते। अन्यथा शरीरविकारो लज्ज-नीयो भवेदिति। कषायाभावश्च गुणोऽचेलताया: स्तेनभयाद्गोमयादिरसेन लेपं कुर्वन्निगूह-यित्वा कथंचिन्मायां करोति। उन्मार्गेण वा स्तेनवञ्चनां कर्तुयायात्। गुल्मवल्याद्यन्त-र्हितो वा स्यात् चेलादिर्ममास्तीति मानं चोद्वहते। बलादपहरणात् स्तेनेन सह कलहं

कुर्यात् । लाभाद्वालोभः प्रवर्तते । इति चेलग्राहिणाममीदोषाः अचेलतायां पुनरित्थंभूत-दोषानुत्पत्तिः । ध्यानस्वाध्याययोरविघ्नता च । सूचीसूत्रकर्पटादिपरिमार्गणसीवनादि व्याक्षेपेण तयोर्विघ्नो भवति । निःसंगस्य तथाभूतव्याक्षेपाभावात् । सूत्रार्थपौरुषीषु निर्विघ्नता । स्वाध्यायस्य ध्यानस्य च भावना । ग्रंथत्यागश्च गुणः । बाह्यचेलादिग्रन्थत्यागोऽभ्यन्तरपरिग्रहत्यागमूलः । यथा तुषनिराकरणमभ्यन्तरमलनिरासोपायः । अतुषं धान्यं नियमेन शुद्धति । भाज्या तुषस्य शुद्धिः । एवम् चेलवति नियमादेव भाज्या । सचेले वीतरागद्वेषता न गुणः । सचेलोहि मनोज्ञे वस्त्रेरक्तो भवति, दुष्यत्यमनोज्ञे । बाह्य-द्रव्यालम्बनौ हि रागद्वेषौ तावसति परिग्रहे न भवतः । किं च शरीरे अनादरो गुणः शरीर-गतादर वशेनैव हि जनोऽसंयमे परिग्रहे च वर्तते । अचेलेन तु तदादरस्त्यक्तः वातातपादि-बाधा सहनात् । स्ववशता च गुणः । देशांतरगमनादौ सहायाप्रतीक्षणात् । पिच्छमात्र गृहीत्वाहि त्यक्तसकलपरिग्रहः पक्षीव यातीति । सचेलस्तु सहायपरवशमानसश्च कथं संयमं पालयेत् । चेतोविशुद्धिप्रकटनं च गुणो चेलतायां कौपीनादिना प्रच्छादयतो भाव-शुद्धिर्न ज्ञायते । निश्चेलस्य तु निर्विकारदेहतयास्फुटा विशमता निर्भयता च गुणः - ममेदं किमपहरन्ति चौरादयः, किं ताडयन्ति, बध्नतीति वा भयमुपैति सचेलो भयातुरो वा किं न कुर्यात् । सर्वत्र विश्रब्धता च गुणः निष्परिग्रहः न किंचनापि शंकते । सचेलस्तु प्रति-मार्गयायिनं अन्यं वा दृष्ट्वा न तत्र विश्वासं करोति । को वेत्ययं, किंवा करोति । अप्रति-लेखनता च गुणः । चतुर्दशविधं उपधिं गृह्णतां बहुप्रतिलेखनता न तथा चेलस्य । परिकर्म-वर्जनं च गुणः । उद्वेष्टनं, मोचनं,सीवनं,बन्धनं रञ्जनं इत्यादिकमनेकं परिकर्म सचेलस्य । स्वस्य वस्त्रप्रावरणादेः स्वयं प्रक्षालनं, सीवनं वा कुत्सितं कर्म, विभूषा, मूर्च्छा च, लाघवं च गुणः । अचेलोऽल्पोपधिः स्थानासनगमनादिकासु क्रियासु वायुवदप्रतिबद्धो लघु-र्भवति नेतरः । तीर्थकराचरितत्वं च गुणः, संहननबलसमग्रा मुक्तिमार्गप्रख्यापनपर-जिनाः सर्व एवाचेला भूता भविष्यं तश्च यथामेर्वादिपर्वतगताः प्रतिमास्तीर्थकरमार्गानुयायि-नश्च गणधरा इति तेऽप्यचेलास्तच्छिष्याश्च तथैवेतिसिद्धमचेलत्वं । चेलपरिवेष्टितांगो न जिनसदृशः । व्युत्सृष्टप्रलंबभुजो निश्चेलो जिनप्रतिरूपतां धत्ते । अतिगूढबलवीर्यता च गुणः । परीषहसहनेशक्तोऽपि सचेलो न परीषहान् सहते । एवमेतद्गुणावेक्षणादचेलता जिनोपदिष्टा । चेलपरिवेष्टितांग आत्मानं निर्ग्रंथं यो वदेत्तस्य किमपरे पाषंडिनो न निर्ग्रन्था ? वयमेव न ते निर्ग्रन्था इति वाङ्मात्रं नाद्रियते मध्यस्थैः । इत्थं चेले दोषा अचेलतायां अपरिमिता गुणा इति अचेलता स्थितिकल्पत्वेनोक्ता ।

अथवा वस्त्ररहितपन या पात्र आदि रहितपनकी प्रशंसाका दूसरे प्रकारोंसे भी क्रम उठाते हैं। बात यह है कि साधुका एक प्रधानगुण संयमकी शुद्धि रखना है। चेलतासे ही संयमशुद्धि हो पाती है। स्वेद (पसीना) और धूलके मलसे चारों ओर लिप्त हो रहे वस्त्रमें उस पसीना मैलको योनिस्थान पाकर उपजे त्रस जीव और स्थूल, क्ष्म एकेन्द्रिय जीव उस वस्त्रका आश्रय पाकर उपजते रहते हैं। वस्त्रको ग्रहण करने- ाले पुरुष करके वे बाधाको प्राप्त होते हैं। जीवोंसे संसक्त हो रहे वस्त्रको तबतक थापन कर दिया जायगा तो भी हिंसा अवश्य होगी क्योंकि वायु, घाम ारीरकी उष्णतासे वे जीव मर ही जायेंगे। यदि जीवोंको पृथक किया जाता है ! तो स्त्रसे दृढ चिपक रहे जीव मर जाते हैं। चेलधारी पुरुषको महान् असंयम होता है। योंकि उसके स्थित होने, सोने, बैठने, फाडने, छेदने, बांधने लपटने, परवारने, मलने चोडने, धूपमें डालने आदिमें जीवोंको महती बाधा उपजती है। यों सवस्त्र मुनिके ाण संयम नहीं पला। हां, वस्त्ररहित दिगंबर मुनिके इस प्रकार असंयम हो जानेका भाव है। अतः संयमकी विशुद्धि हो रही है। साधुका दूसरा गुण या दूसरा संयम न्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना है। सर्पोंसे आकुलित हो रहे बनमें जिस प्रकार सर्पविद्या, ागमंत्र, नागदमनी औषधि, गरुड आदिसे रहित हो रहा पुरुष अतीव दृढ प्रयत्नशाली ोता है, सदा चौकन्ना रहता है, इसी प्रकार इन्द्रियोंके नियंत्रण करनेमें वस्त्ररहित मुनि ी सचेष्ट होकर प्रयत्न करता है। अन्यथा यानी सवस्त्र होकर इन्द्रियविजयमें असाव- ानी की जायगी तो शरीरमें विकार उपजेगा और लोकमें लज्जास्पद होना पडेगा। ों वस्त्ररहित मुनिही इन्द्रिय संयमको पाल सकता है। अचेलतासे तीसरा गुण कषा- ोंका अभाव हो जाना भी प्राप्त होता है। कारण कि वस्त्रधारी पुरुष वस्त्रका चोरोंके भयसे गोबर, मट्टी आदिके रससे लेप करता हुआ वस्त्रको छिपाकर किसी भी प्रकार ायाचार करता है अथवा अनुचित मार्ग करके चोरको ठगने या धोका देनेके लिये वृत्ति करेगा और स्वयं झाडी, वेल, वृक्षकोटर आदिमें छिप जायगा यह तीव्र मायाचार ़। मेरे पास वस्त्र, कम्बल आदि हैं। यों विचार कर मानकषायको भी धारण करता । बलात्कारसे डाकू लोग छीनते हैं। तो अवश्य उनके साथ कलह करेगा। वस्त्रका ाभ हो जानेसे लोभकषायकी प्रवृत्ति होती है यों वस्त्रको ग्रहण करनेवाले जनोंके वे ोष पाये जाते हैं। किन्तु फिर वस्त्ररहित अवस्थामें मुनिके इस प्रकार माया, मान

आदि दोषोंकी उत्पत्ति नहीं हो पाती है। वस्त्ररहित मुनिके ध्यान और स्वाध्यायमें कोई विघ्न नहीं पडता है जब कि वस्त्रधारीके सुई, डोरा कपडा, रेअ, साबुन आदिके रखने, ढूंढने या सींवने, धोने आदि क्रियाओंमें व्यग्रता हो जानेसे उन ध्यान और स्वाध्यायमें विघ्न हो रहा है। परिग्रहरहित मुनिके तिस प्रकार चित्तमें आकुलता उपज जानेका कोई कारण नहीं है। दिगंबर मुनिके आगमसूत्र और अर्थकी पुरुषार्थपूर्वक विचारणाओंमें कोई विघ्न नहीं पडता है। स्वाध्याय और ध्यानकी भावना प्रकृष्ट बनी रहती है। अचेलतासे चौथा गुण परिग्रहका त्याग हो जाना भी प्राप्त हो जाता है। देखिये, अन्तरंग लोभ आदि परिग्रहके त्यागको मूल कारण पाकर बहिरंग वस्त्र, दण्ड आदि परिग्रहका त्याग हुआ करता है। जिस प्रकार धान्यसे भीतरी तुष (भुसी) का निराकरण करना अभ्यन्तर मलके दूर होनेका उपाय है। भीतरकी तुषसे रहित हो रहा धान नियमसे शुद्ध हो जाता है। हां, बाहरकी भुसी निकल जानेपर भी अन्तरंग भुसी का निकलकर धान्यकी शुद्धि होना विकल्पनीय है। यों वस्त्रधारीके अन्तरंग और बहिरंग दोनों शुद्धियां नहीं हैं। किन्तु वस्त्ररहित मुनिके नियमसेही इस प्रकार विशुद्धि होना भजनीय है। भावार्थ--वस्त्ररहितके बहिरंग शुद्धि तो है ही अन्तरंग शुद्धि होय भी नहीं भी होय, परन्तु सवस्त्र परिग्रहहीके दोनों शुद्धियां नियमसे नहीं हैं। वस्त्रसहित मनुष्यमें रागद्वेषरहितपना गुण नहीं पाया जाता है। क्योंकि वस्त्रधारी जीव मनोनुकूल सुन्दर वस्त्रमें अनुरागी हो जाता है। और मनः प्रतिकूल असुन्दर वस्त्रमें द्वेष करने लग जाता है। बहिरंग द्रव्योंका अवलम्ब पाकर जीवोंके राग, द्वेष उपज जाते हैं। परिग्रहके नहीं होनेपर वे रागद्वेष नग्न साधुके नहीं उत्पन्न होते हैं। पांचवी बात एक यह भी है कि साधुका शरीरमें आदर नहीं करना बढिया गुण है। क्योंकि शरीरमें आदर करनेकी अधीनतासे ही जीव नियमसे असंयम और परिग्रह पकडनेमें प्रवर्त्तते हैं। किन्तु वस्त्ररहित मुनिने उस शरीरका आदर छोड दिया है। वायु, घाम, शीत, वर्षा आदि की परीषहें सहनेसे वे धीर, सहनशील हो गये हैं। अपनी आत्माको वशमें रखना भी साधुका छठा महान् गुण है। देशान्तरको गमन करना, यात्रार्थ जाना, आदि कर्तव्योंमें किसी सहायककी प्रतीक्षा नहीं करनी पडती है। जिस मुनिने संपूर्ण परिग्रहोंको छोड दिया है। प्रतिलेखन केवल पिच्छिकाको ग्रहणकर पक्षीके समान निर्द्वन्द चला जाता है। जो वस्त्र या परिग्रहोंसे सहित है। वह मनमें सहायकोंका अभिलाषुक होकर किस

प्रकार संयमका पालन कर सकेगा ? । वस्त्ररहितपनमें सातवां गुण चित्तकी विशुद्धिका प्रकट करना भी है । जो कौपीन धोती, दुकूल आदि वस्त्रोंसे अंगोंको ढक रहा है। उसके भावशुद्धि नहीं जानी जाती है । " कूपे पातितुं योग्यं कौपीनं = पापं " तद्विशेष-कारणत्वात् लिंगमपि कौपीनं तदाच्छादनवस्त्रत्वाद्वस्त्रमपि कौपीनं " कौपीन शद्बकी निरुक्ति यों की गई है कि कूप+ खञ् कुअेमें गिरा देने योग्य जो पदार्थ है । वह कौपीन है, जो कि पाप है । पापका विशेष कारण होनेसे लिंगको भी कौपीन कहा गया है । और लिंगके आच्छादनका वस्त्र होनेसे लंगोटीको भी उपचरितोपचार या लक्षितलक्षणासे कौपीन कह दिया गया है । यों कौपीनधारीका अन्तरंग विशुद्ध नहीं है । किन्तु निष्प-रिग्रही साधुके शरीर या शरीरके गुह्य अंगोंमें कोई विकार नहीं होनेके कारण वैराग्य-भाव स्पष्ट है । इस अचेलतासे आठवां निर्भयता गुण भी मुनिके हो जाता है । मुनि विचारता है कि ये चोर, डाकू उठाईगीरे मेरा यह क्या अपहरण कर सकते हैं, परिग्रह होता तो मुझे ताडते, बांधते, किन्तु मुझ परिग्रहत्यागीको ये क्या ताडेंगे ? अथवा क्या बांधेगे ? यों निर्भयपनको प्राप्त हो रहा है । किन्तु वस्त्रसहित पुरुष तो भयातुर हो जाता है । और परिग्रहकी रक्षाके लिये क्या क्या पाखंड नहीं करता है ! अचेलतासे सब जीवोंमें विश्वास बना रहना गुण भी नौमा प्रकट हो जाता है । परिग्रहरहित हो रहा मुनि किसीकी भी शंका नहीं करता है । सबके साथ विश्वास रखता हुआ बेखटके प्रवर्तता है । हां, वस्त्रधारी तो प्रत्येक अपने साथ मार्गमें चलनेवाले सहचरको अथवा अन्य किसी भी तटस्थ मार्गगामीको देखकर उनमें विश्वास नहीं करता है । यह कौन है, चौर है, उठाईगीरा है, क्या करेगा ऐसा अविश्वास उसके मनमें शल्यके समान चुभता रहेगा । निर्वस्त्र मुनिका एक अप्रतिलेखना दशवां गुण भी पाया जाता है । अर्थात् निकटमें किञ्चित् भी परिग्रह नहीं होनेसे पिच्छिका द्वारा अधिक शोधना नहीं करनी पडती है । कम्बल, दण्ड, पात्र आदि चौदह प्रकार उपाधियोंको ग्रहण कर रहे श्वेताम्बर साधुको उनके धरने, उठने आदिमें बहुत प्रतिलेखना करनी पडती है । तिस प्रकार निष्परिग्रह नग्न मुनिको इतना झंझट नहीं करना पडता है । परिकर्मवर्जन भी अपरिग्रही साधुका ग्यारहवां गुण पाया जाता है । वस्त्रधारीको खोलना, लपेटना, छोडना, सींवना, बांधना, रंगना, झाडना आदिक अनेक परिकर्म करने पडते हैं । अपने वस्त्र, दोहर, डुपट्टा आदिको स्वयं परवारना अथवा धोना, सुखाना, ये खोटे कर्म और

भूषित होना, मोहित हो जाना आदि खोटे भावकर्म भी परिग्रहीके विद्यमान हैं। वस्त्र-रहितपनेमें बारहवा गुण लाघव भी है। वस्त्रों या परिग्रहोंसे रहित हो रहा मुनि केवल पिच्छिका और कमण्डलु इन अल्प उपधियोंको धारकर खडे होने, बैठने गमन करने आदि क्रियाओंमें वायुके समान प्रतिबन्धकों रहित हो रहा सन्ता लघु हो जाता है। किन्तु अन्य कोई परिग्रही लघु नहीं होता है। परिग्रहको पोटको लादकर भारी बना रहता है। अचेलता रहनेसे तेरहवां गुण तीर्थकराचरितत्व भी पाया जाता है। संहननोंकी सामर्थ्यसे परिपूर्ण हो रहे और मोक्षमार्गसे प्रकाशन करनेमें तत्पर हो रहे ऐसे तीर्थंकर जिनेन्द्र जितने भी हो चुके हैं, और होंगे वे सभी वस्त्ररहित ही हैं। जिस प्रकार सुमेरु पर्वत, नन्दीश्वरद्वीपस्थ गिरी विजयार्ध, कुलाचल आदि पर्वतोंमें चैत्यालयस्थ विराजमान हो रहीं जिनप्रतिमायें हैं। वे सब वस्त्रादि परिग्रहरहित हैं। तीर्थंकरोंके मार्गका अनुसरण करनेवाले जो गणधर हैं वे भी सब वस्त्ररहित हैं। तिसही प्रकार उनके शिष्य-प्रशिष्य भी अचेल हैं। यों अचेलपना सिद्ध हो जाता हैं। जिसने अपने शरीरको वस्त्रसे वेष्टित कर लिया है। वह जिनेंद्रसरीखा नहीं है। जिन रूपधारी साधु भी नहीं है। जिसने अपनी लम्बी भुजाओंको छोडकर नीचे लटका रक्खा है। वह निश्चल या निश्चेल होकर जिनेन्द्र प्रतिमाके रूपको धारण कर लेता है। अचेलतामें अत्यन्त गूढबलसहितपना और अत्यधिक वीर्यसहितपना भी गुण है। नग्नपुरुषही परीषहोंके सहनेमें समर्थ भी होता है। वस्त्रसहित हो रहा जीव परीषहोंको नहीं सहता है। इस प्रकार इन गुणोंका स्पष्ट दर्शन होनेसे जिनेन्द्र भगवान्ने अचेलताका उपदेश किया है। जिसका शरीर चारों ओरसे वस्त्रवेष्टित हो रहा है। वह यदि अपनेको निर्ग्रंथ कहेगा तो उसके समान और भी पाषंडी निर्ग्रन्थ क्यों न हो जायेंगे। " हम ही निर्ग्रन्थ हैं। ये पाषंडी निर्ग्रन्थ नहीं हैं। " ऐसे युक्तिरहित कोरे वचनमात्र मध्यस्थ परीक्षकों करसे आदर नहीं पाते हैं। इस प्रकार वस्त्रधारण करनेमें अनेक दोष हैं। हां,अचेलतामें अपरिमित गुण हैं। इसही कारण सर्वज्ञ भगवान्ने अचेलताको स्थितिकल्प स्वरूप करके कहा है। अब अपराजित सूरि पूर्वपक्षपूर्वक सचेलत्वका खंडन करते हैं।

अथैवं मन्यसे पूर्वागमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्टं तथाह्याचारप्रणिधौ भणितं " प्रतिलिखेत्पात्रकम्बलं ध्रुवमिति। असत्सु पात्रादिषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं क्रियते "। आचारस्यापि द्वितीयाध्यायो लोकविचयो नाम तस्य पञ्चमे उद्देशे एवमुक्तं " पडिलेहणं

पादपुंछणं, उग्गहं, कडासणं, अण्णदरं, उवधिं पापावेज्ज " इति । तथा वत्थेसणाए "वुत्तं तत्थ एसे हिरिमणे सेगं,वत्थं वा धारेज्ज पडिलेहणगं विदियं,तत्थ एसे जुग्गिदे सेदे दुवे वत्थाणि धारिज्ज पडिलेहणगं तदियं । तत्थ एसे परिस्सहं अणधिहासस्स तओ वत्थाणि धारेज्ज पडिलिहणं च उत्थं । " तथापायेसणाए कथितं " हिरिमणेवा जुग्गिदे चावि अण्णगे वा तस्सणं कप्पदि वत्थादिकं पादचारित्तए इति " पुनश्चोक्तं तत्रैव " अलावु पत्तं वा दारुगपत्तं वा मट्टिग पत्तं वा अप्पपाणं अप्पवीजं अप्पसरिदं तथा अप्पकारं पात्रलभे सति पडिग्गहिस्सामीति । " वस्त्रपात्रे यदि न ग्राह्ये कथमेतानि सूत्राणि नीयन्ते । भावनायां चोक्तं " चरिमं चीवर धारितेन परमचेलके तु जिणे " इति । तथा सूत्रकृतस्य पुण्डरीके अध्याये कथितं " णकहेज्जो धम्मकहं वत्थपत्तादि हेदुमिति । " निषेधेप्युक्तं--'कसिणाइ वत्थकम्बलाइं जो भिक्खु पडिग्गहिदि पज्जदि मासिगं लहुगं '। इति एवं सूत्रनिर्दिष्टे चेले अचेलता कथं इत्यत्र उच्यते--आर्यिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्रं कारणापेक्षया । भिक्षूनां =ह्रीमान योग्य शरीरावयवो दुश्चर्मातिलम्बमान वीजो वा परीषहसहने वा अक्षमः स गृह्णाति । तथाचोक्तमाचारांगे ' सु दंमे आउस्सत्तो भगवदा एवमक्खादं इह खलु संयमाभिमुखा दुविहा इत्थी पुरिसा जादा भवन्ति । ते जहा--सव्वसमण्णा गेद णोसव्व समागदे चेव तत्थ जे सव्वसमण्णागदे थिरोगहत्थ पाणिपादे सव्विन्दिय समण्णागदे तस्स णं णोकप्पदि एगमवि वत्थं धारिउं एव परिउं एव अण्णत्थ एगेण पडिलेहगेण इति ' तथाचोक्तं कल्पे " हरिहेतुकं व होइ देहदु गुंच्छति देहे जुग्गि दगे धारेज्जसियं वत्थ परिस्सहाणं च ण विहासीति " द्वितीयमपि सूत्रं कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणमित्यस्य प्रसाधकमाचारे विद्यते " अहपुण एवं जाणेज्ज उपातिकं ते हमं तेहिं सुपडि वण्णे से अथं पडिजुण्ण मुवधिं पदिट्ठावेज्ज " इति । हिमसमये शीतबाधासहः परिगृह्य चेलं तस्मिन्निष्क्रान्ते ग्रीष्मे समायाते प्रतिष्ठापयेदिति । कारणापेक्षं ग्रहणमाख्यातं। परिजीर्णविशेषोपादानादृढानामपरित्याग इति चेत् अचेलतावचनेन विरोधः । प्रक्षालनादिक संस्कार विरहात्परिजीर्णता वस्त्रस्य कथिता नतु दृढस्य त्यागकथनार्थं पात्रप्रतिष्ठापना सूत्रेणोक्तेति । संयमार्थं पात्रग्रहणं सिध्यति इति मन्यसे नैव, अचेलतानाम परिग्रहत्यागः पात्रं च परिग्रह इति तस्यापि त्यागः सिद्ध एवेति । तस्मात्कारणापेक्षं वस्त्रपात्रग्रहणं । यदुपकरणं गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधिर्गृहीतस्य च परिहरणमवश्यं वक्तव्यमेव तस्माद्वस्त्रं पात्रं चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु, वहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यं ।

यच्च भावनायामुक्तं " वीरसं चीवरधारी तेण परमचेलगो जिणोत्ति । तदुक्तं विप्रतिपत्तिबहुलत्वात् । कथं ? केचिद्वदन्ति " तस्मिन्नेवदिने तद्वस्त्रं वीरजिनस्य विलंबन कारिणा गृहीतमिति " । अन्ये षण्मासाच्छिन्नं तत्कंटकशाखादिभिरिति । ' साधिकेन वर्षेण तद्वस्त्रखण्डलकब्राम्हणेन गृहीतमिति केचित्कथयन्ति ' केचिद्वातेन पतितमुपेक्षितं जिनेनेत्यपरे वदन्ति । ' विलम्बनकारिणा जिनस्य स्कन्धे तदारोपितमिति ' । एवं विप्रतिपत्तिबाहुल्यान्न दृश्यते तत्त्वं सचेलर्लिगप्रकटनार्थं । यदि चेलग्रहणं जिनस्य कथं तद्विनाश इष्टः । सदा तद्धारयितव्यं । किं च यदि नश्यतीति ज्ञानं निरर्थकं तस्य ग्रहणं । यदि न ज्ञातमज्ञानमस्य प्राप्नोति । अपि च चेलप्रज्ञापना वांछिता चेत् " आचेलक्कोधम्मो पुरिमचरिमाणं " इति वचो मिथ्या भवेत् । तथा नवस्थाने यदुक्तं " यथाहमचेली तथाहोउ पच्छिमो इदि होक्खदित्ति " तेनापि विरोधः । किं च जिनानामितरेषां वस्त्रत्यागकालो वीरजिनस्येव किं न निर्दिश्यते, यदि वस्त्रं तेषामपि भवेत्, एवं तु युक्तं वक्तुं । सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केनचिद्वस्त्रं वस्तुं निक्षिप्तं उपसर्ग इति । --इदं चाचेलताप्रसाधनपरं शीतदंशमशकतृणस्पर्शपरीषहसहनवचनं परीषहसूत्रेषु । न हि सचेलं शीतादयो बाधन्ते । इमानि च सूत्राणि अचेलतां दर्शयन्ति " परिचत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए । अचेलपवरे भिक्खू जिणरूपधरे सदा । सचेलगो सुखीभवदि, असुखी चावि अचेलगो । अहं तो सचेलो होक्खामि इदि भिक्खूण चिन्तए ।। आचेलगस्स लूहस्स सीदं भवदि एगदा । णातपंसे विचिन्तेज्जो अधिसिज्ज अलाइसौ ।। ण मे णिवारणं अत्थि छाइयं ताण विज्जदि । अहं तावग्गिसेवामि इदि भिक्खू ण चिन्तए ।। आचेलगाण लूहस्स संजदस्स तवस्सिणो, तणेमु असमाणस्से णं ते होदि विराधिदा । एगेण तावकप्पेण संवुडंगशि णसितदंसावाए जोसंपसिद्धं किमंगपुण दीहकप्पेहिं " । एतान्युत्तराध्ययने--आचेलक्कोय जो धम्मो जो वायं पुणरुत्तरो, देसिदो वड्ढमाणेण पासेण अमहप्पणा । एगधम्मे पवत्ताणं दुविधा लिंगकप्पणा, उभएसिं पदिठ्टाणमहं संसयमागदा । " इतिवचनाच्चरमतीर्थस्यापि अचेलता सिध्यति । -णग्गसय मुण्डसय दीह लोमणक्खस्सय, मेहुणादो विरत्तस्स किं विभूसा करिस्सदि । इति दशवैकालिकायामुक्तं । एवमाचेलक्यं स्थितिकल्पः ।

इसका अर्थ यों है कि इसके अनन्तर अब तुम श्वेताम्बर संप्रदायवाले यदि इस प्रकार मानोगे कि फिर पूर्व आचार्य प्रणीत आगमोंमें वस्त्र, पात्र, दण्ड आदिकोंसे ग्रहण करनेका उपदेश किया गया है । तिसी प्रकार " आचारप्रणिधि " नामक ग्रन्थमें यों

कहा है कि साधु आवश्यक रूपसे पात्र, और कम्बलकी प्रतिलेखना करे यानी पिच्छीसे उनको शुद्ध करे। यदि दिगम्बरमन्तव्यानुसार साधुके पास पात्र आदिक नहीं होंगे तो निश्चित प्रतिलेखना किस प्रकार की जायगी। आचारांगका दूसरा अध्याय लोकविचय नामक है। उसके पांचवें उद्देश्यमें इस प्रकार कहा है कि प्रतिलेख पादपोंछण, उग्गाह, चटाई आसन और भी दूसरे परिग्रहोंको साधु प्राप्त करे इत्यादि। तथा वत्थेसणा (वस्त्रेषणा) प्रकरणमें कहा गया है कि " जिस साधुके मनमें लज्जा है। वह एक वस्त्र धारण करे और दूसरा वस्त्र प्रतिलेखनाके लिये रक्खे, किसी योग्य देशमें साधुका दो वस्त्र भी धारण करे और प्रतिलेखनके लिये तीसरा वस्त्र धारण करे। यदि शीत आदि परीषहोंको सहन नहीं कर सके तो तीसरा वस्त्र भी धारण करे। साथही प्रतिलेखनाके लिये चौथा वस्त्र रक्खे। तथा पादेषणा प्रकरणमें यों कहा गया है कि लज्जाशील साधुको वस्त्रादि ग्रहण करने चाहिये। अथवा जिसके लिंग या वृषण अण्डकोशमें दोष हो उसको भी वस्त्र धारना चाहिये फिर भी वहीं यों कहा गया है कि पात्रलाभ होय तो मैं तूम्बीपात्र या लकडीका पात्र या मिट्टीके पात्रको अपने पास रक्खूंगा जिसमें कोई जीव नहीं रहा है। यानी अचित्त हो चुका है, और जो पात्र फैला हुआ नहीं है। छोटा आकार है, ऐसे पात्रका लाभ होनेपर मैं उसको ग्रहण करूंगा। हम श्वेताम्बर कह रहे है कि साधु करके यदि वस्त्र और पात्र यदि नही ग्रहण किये जाते तो उक्त इन सूत्र-वाक्योंको कैसे सार्थकपने पर लिया जा सकता है। भावनामें भी यों कहा गया है कि " अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामीने वस्त्रधारण किया था फिर भी वे अचेलक जिनेन्द्र तो रहे ही तथा सूत्रकृतांगके पुण्डरीक नामक अध्यायमें कहा जा चुका है कि " वस्त्र, पात्र, आदिका प्रयोजन रखकर साधु धर्मोपदेश नहीं करे। " निषेध या निशीथ ग्रन्थमें ऐसा निरूपण है कि " जो साधु वस्त्र, कम्बल आदिको ग्रहण करता है उसको लघु मासिक प्रायश्चित्त करना पडता है। " इस प्रकार आगम सूत्रोंमें जब चेलका बढिया निरूपण किया गया है तो फिर दिगम्बरोंकी अचेलता किस प्रकार ठहर सकती है ? । इस प्रकार कह चुकनेपर अब अपराजित सूरि द्वारा यहां खंडन पक्षमें उत्तर कहा जा रहा है कि आगममें आर्यिकाओंको वस्त्र धारण करनेकी आज्ञा दी है। कारण की अपेक्षासे भिक्षुकोंको वस्त्रधारणकी आज्ञा है। जो भिक्षुक लज्जावान् है अथवा जिसके शरीरके अवयव योग्य नहीं हैं, अथवा जिसके पुरुषलिंगपर चर्म नहीं है,

अण्डकोष या चिन्ह अधिक लम्बे हैं। यों या जो शीत आदि परीषहें सहनेमें समर्थ नहीं है। वह वस्त्र ग्रहण कर लेता है। इन पंक्तियों द्वारा मुक्त देशभाषाकार को श्री अपराजितसूरिका यह अभिप्राय प्रतीत हुआ कि वह वस्त्रधारी गात्र भिक्षुक है। यों श्वेतांबर मतानुसार भी वस्त्रग्रहण करना सभी साधुओंको आज्ञापित नहीं किया गया है। केवल जो लज्जाशील हैं, घृणायुक्त हैं, त्रिस्थानदोषसहित हैं। अथवा परीषहजयी नहीं है वही वस्त्रधारण कर सकते हैं। ऐसाही उन श्वेतांबरोंके ग्रंथोंमें उल्लेख है। सभी साधुओंको वस्त्रग्रहण करना अनिवार्य नहीं है। दिगंबर संप्रदाय अनुसार उक्त दोषवालों को दीक्षा ही नहीं दी जाती है। मुनि अवस्थामें कोई भी वस्त्रोंको धारण नहीं कर सकता वस्त्रसहित दशामें मुनि या साधु बना नहीं रह सकता है। छठे या सातवें गुणस्थानसे वह गिर जायगा उसके अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोंका उदय है। इसके आगे अपराजित सूरि कह रहे हैं कि तुम्हारे आचारांगमें तिस प्रकार कहा गया है कि दीर्घ जीवी भगवान्ने इस प्रकार मेरे लिये श्रुत कहा है कि इस संसारमें दो प्रकारके स्त्री और पुरुष संयमको धारनेवाले हुये होते हैं। वे यों समझो कि जिनके संपूर्ण अवयव परिपूर्ण हैं। और दूसरे जिनके सम्पूर्ण अंग परिपूर्ण नहीं हैं। तिनमें जो निर्दोष संपूर्ण परिपुष्ट अंगवाले हैं, अंग हाथ, कुहनी, पांव जिनके स्थिर हैं। संपूर्ण इंद्रियां निर्दोष हैं। उनको एक भी वस्त्र नहीं पहनना चाहिये केवल एक प्रतिलेखन यानी पिच्छिकाके सिवाय सबका परित्याग कर देना चाहिये। तिसी प्रकार कल्पसंज्ञक ग्रन्थमें भी यों कहा गया है कि जिसका शरीर ही हेतुक है। यानी अपने शरीरके अवयवों अनुसार जिसको अनुक्षण लज्जा लगती है। अथवा जिसका शरीर घृणायुक्त है। या तीन स्थानोंमें दोषोंसे युक्त है। परीषहोंको जीत नहीं सकता है। वह साधु जनतामें श्वेत वस्त्रको धारण करे। कारणकी अपेक्षा कर वस्त्रको ग्रहण करना चाहिये यों इस सिद्धान्तको बढिया सिद्ध करनेवाला आचारांगमें दूसरा सूत्र भी विद्यमान है। अब फिर इस प्रकार समझ लो कि शीतरोगसे आक्रान्त होनेपर या असह्य जाडेकी हेमन्त ऋतु प्राप्त होनेपर साधु वस्त्र उपधिको प्राप्त करे इस प्रकार शीतकालके समयमें शीतबाधाको नहीं सहन करनेवाला वस्त्रका परिग्रहण करके उस शीत ऋतुके निकल जानेपर और ग्रीष्म ऋतुके आ जानेपर वस्त्रको दूर रख देना चाहिये। यानी कपडेका त्याग कर देना चाहिये। यों कारणकी अपेक्षाकर वस्त्रका ग्रहण बखाना गया है। यदि तुम

श्वेताम्बर यों कहोगे कि चारों ओरसे जीर्ण हो चुके विशेष वस्त्रका ग्रहण कर लेनेसे यह बात ध्वनित हो जाती है कि दृढ वस्त्रोंका तो परित्याग करना ही नहीं चाहिये। ऐसा कहनेपर तो हम दिगम्बर संप्रदायवाले कहते हैं कि तब तो अचेलताके कथनके साथ विरोध आ जावेगा जो अचेलताको मान चुका है। वह सचेलताको पुष्ट नहीं कर सकता है विरोध है। धोना, सुखाना, पोंछना आदि संस्कारोंके नहीं होनेसे वस्त्रका जीर्ण हो जाना कहा गया है। किन्तु दृढ वस्त्रका त्याग कहनेके लिये नहीं कहा गया है। पुनः श्वेतांबर यों कहे कि सूत्रमें पात्रकी प्रतिष्ठापना भी कही गयी है। संयमके लिये पात्र (थापडा) का ग्रहणसिद्ध हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यदि तुम यों मानो सो ठीक नहीं है क्योंकि चेल परिग्रहका उपलक्षण है। अचेलताका लक्षण परिग्रह-त्याग है। पात्र भी परिग्रह है। इस कारण उसका भी त्याग कर देना सिद्ध ही हो जाता है। तिस कारण वस्त्र और पात्रका ग्रहण करना तुम्हारे यहां विशेष कारणकी अपेक्षा कर कहा गया है। जो भी कोई उपकरण ग्रहण किया जाता है कारण को अपेक्षा कर ही उसके ग्रहणकी विधि है। पुनः गृहीतका परित्याग करना भी अवश्य कहने योग्य ही है। तिस कारण अर्थके अधिकारकी अपेक्षा कर बहुतसे सूत्रोंमें वस्त्र और पात्रका ग्रहण जो कहा गया है वह कारणकी अपेक्षा कर ही निरूपित है। यों श्रेष्ठ मन्तव्य ग्रहण करना चाहिये। जो भावनामें यों कहा गया है कि अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामीने एक वर्षतक वस्त्रधारण किया था उसके पश्चात् वे वस्त्रका त्याग कर अचेलक जिन हो गये। उस कथन पर हम दिगंबरोंका यह कहना है कि उसमें बहुलतासे विवाद पडे हुये हैं। महावीर स्वामीके वस्त्रग्रहणका तुम्हारें यहां निर्णय नहीं हो सका है। क्योंकि उस विषयमें कोई यों कह रहे हैं कि जिस दिन वीर स्वामीने दीक्षा ली थी उसही दिन वीर जिनेन्द्रके उस वस्त्रको विलम्बन करनेवाले पुरुषने ले लिया था तुम्हारे यहां दूसरे विद्वान् उसी विषयमें यों कह रहे हैं कि छः महीने पश्चात् वह वस्त्र कांटों या शाखाओं करके छिन्न--भिन्न, हो गया था। कोई तुम्हारे आचार्य यों कह रहे हैं कि कुछ अधिक एक वर्ष व्यतीत होनेपर वह वस्त्र खंडलक नामक ब्राम्हणने ग्रहण कर लिया था, कोई यों भी बखान रहे हैं कि वायुके द्वारा गिरा दिये गये उस वस्त्रकी वीर नाथने उपेक्षा कर दी यानी त्याग दिया। विलम्बनको करनेवाले लिकने फिर उस वस्त्रको वीरभगवान्के कन्धेपर रख दिया इत्यादि कोई कोई कहते

हैं। इस प्रकार बहुतसीं विप्रतिपत्तियां होनेसे मुनिके सचेल लिंगका प्रकट करनेके लिये कोई ठोस तत्त्व नहीं दीखता हैं। संदिग्ध तत्त्वको विद्वान् लोग नहीं मानते हैं। यदि वीरनाथने वस्त्रका ग्रहण किया था तो फिर उसका विनाश क्यों इष्ट किया गया है। वे वस्त्रको सदा ही पहिरे रहते। जैसे कि जन्मसे लेकर दीक्षाके पहिले तक देवोपनीत वस्त्रोंको धारण करते थे। एक बात यह भी है कि " वस्त्र नष्ट हो जायगा। " इस प्रकार प्रभुको यदि ज्ञान था तो उस वस्त्रका ग्रहण उन्होंने व्यर्थ किया यदि ज्ञान नहीं था, तो इस भगवान्के अज्ञानभाव प्रकट होता है जो कि इतना अज्ञान अवधिज्ञानी भगवान्को होना नहीं चाहिये। यदि तुम श्वेतांबर यों भी कहो कि वीरनाथने मुनिका लिंग वस्त्र है। इसको प्रज्ञापित करनेके लिये वस्त्र ग्रहण इष्ट किया था। तब तो हम कहते हैं कि " पहिले तीर्थंकर और पिछले तीर्थंकरके यहां आचेलक्य यानी वस्त्र-रहितपना धर्म माना गया है। " यह वचन झूठ पड जावेगा। तिसी प्रकार नवस्थानमें जो यह कहा गया है कि " जिस प्रकार मैं आदिनाथ भगवान् वस्त्ररहित हूं उसी प्रकार पिछला तीर्थंकर महावीर स्वामी भी अचेलक होवेगा। " उस वचनके साथ भी तुम्हारे कथनका विरोध हो जावेगा। एक बात यह भी है कि यदि आप तीर्थंकरोंके साधु अवस्थामें वस्त्रधारण मानते हैं। तो वीर जिनेन्द्रके समान अन्य तेईस तीर्थंकर जिनेन्द्रोंके भी वस्त्रके त्यागका समय क्यों नहीं आप लोगोंने कहा है। यदि उनका भी वस्त्र होता तो इस प्रकार वस्त्रके त्यागके कालको करना समुचित था। हां, यह कहना तो ठीक है कि संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग कर तीर्थंकर जिन जब ध्यानमें स्थिर हो जाते हैं, तो किसीने पहनानेके लिये वस्त्रको डाल दिया वह उपसर्ग हुआ कहा जायगा। यहांतक अचेलताही पुष्ट होती है। देखो, यह युक्ति भी अचेलताको भले प्रकार सिद्ध करनेमें तत्पर हो रही है कि परीषहके सूत्रोंमें शीत, देश मशक, तृणस्पर्श, परीषहोंको सहनेका निरूपण किया है। मोटे वस्त्रोंको पहने हुये साधुको शीत आदि परीषहें नहीं बाध पाती हैं। अतः ये परीषह सहनेके सूत्र अचेलताको ही दिखलाते हैं। निर्वस्त्रताको पुष्ट करनेके लिये आपके यहां अन्य भी आगम वाक्य हैं। साधु विचारता है कि " वस्त्रोंका परित्याग कर चुकनेपर फिर मैं वस्त्रोंको ग्रहण नहीं करूंगा। " जो वस्त्रोंका त्यागकर अचेलकोंमें श्रेष्ठ है वह सदा जिनरूपका धारी है। वस्त्रसहित साधु लौकिक सुखमें मग्न हो जाता है। और वस्त्ररहित तो ऐन्द्रियिक सुखी नहीं होता है। मैं वस्त्रसहित

हो जाऊंगा। " इत्यादिक बातोंको भिक्षुक मनमें नहीं विचारे। और यों भी मनमें नहीं विचारे कि " वस्त्ररहित हो रहे रूखे मुझको एक समयमें शीत सतावेगा इस कारण मैं घामका सेवन करूंगा " ऐसी निर्बलताप्रयुक्त चिन्तनायें साधु न करे। शीत आदि परीषहोंको साधु सहे यों बहुत सा आपके यहां प्राकृत, अपभ्रंश, भाषाओंमें अन्य भी कहा गया है। उत्तराध्ययनमें लिखा है कि सबसे पहले महात्मा पार्श्वनाथ और वर्द्धमान भगवान्ने एक निर्वस्त्रपनाही धर्म कहा है । पीछे मुनिधर्ममें प्रवृत्ति कर रहे साधुओंने दो प्रकार लिंगोंकी कल्पना कर ली है। अतः मैं दोनों सचेल, अचेल, लिंगमें संशयको प्राप्त हुआ हूं। इस प्रकार कथन करने से अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामीकी अचेलता सिद्ध होती है। दशवैकालिक ग्रन्थमें भी यों कहा गया है कि जो नग्न हैं, मुण्ड है, जिसके नख, केश, बढे हुये है, जो मैथुनसे विरक्त है। ऐसे साधुको भूषण क्या करेंगे ? यों आपके ही अनेक प्रमाणोंसे अचेलताका समर्थन होता है। इस प्रकार अपराजित सूरिने आचेलक्य स्थितिकल्पका निरूपण किया है। इस आचेलक्यपर भगवती आराधना ग्रंथकी विद्वद्वरेण्य आशाधर कृत मूलाराधना टीकामें कथन किया गया है--आचेलक्यं वस्त्रादिपरिग्रहाभावो नग्नत्वमात्रं वा। तच्च संयमशुद्धीन्द्रियजय कषायाभाव ध्यानस्वाध्यायनिर्विघ्नता निर्ग्रन्थता वीतरागद्वेषता शरीरानादर स्ववशचेतोविशुद्धि प्राकटच निर्भयत्व सर्वत्र विस्रब्धत्व प्रक्षालनोद्वेष्टनादिपरिकर्मवर्जन विभूषामूर्च्छत्व लाघव तीर्थकराचरितत्वानिगूढबल वीर्यताद्यपरिमित गुण ग्रामोपलम्भात् स्थितिकल्पत्वेनोपदिष्टम्। तद्गुण समर्थनं टीका दृष्टया किंचिदुच्यते यथा--चेले हि स्वेदादियोनिक प्राणिनां प्रक्षालनादिना बाधा स्यात् इति तत्त्यागे संयमशुद्धिः। लज्जनीय शरीरविकारनिरोधनाय प्रयत्नदाढर्येन्द्रियजयः। चोरादि वञ्चनाद्यभावात्कषायाभावः। सूचीसूत्रकर्पटादिमार्गणा सेवनाद्यभावात्स्वाध्यायध्याननिर्विघ्नता । अभ्यन्तर ग्रंथस्य चेलादि परिग्रहमूलस्य त्यागः। मनोज्ञामनोज्ञवस्त्रत्यागात् वीतरागद्वेषता वातातपादिबाधासहनाच्छरीरेऽनादरः। देशान्तर गमनादौ सहायानपेक्षणात्स्ववशता, कौपीनादिप्रच्छादना करणाच्चेतोविशुद्धि प्रकटनं। चौरादि ताडनादिभयाभावान्निर्भयत्वं, अपहार्यस्य अर्थस्याभावात्सर्वत्र विश्रब्धता, चतुर्दशविधोपकरणपरिग्राहिणां सितपटानामिव बहुप्रतिलेखनत्व प्रक्षालनादि व्यासंग भार वाहित्वानि च न सन्तीत्यादि। उक्तं च--

म्लानेक्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः संयमो।
नष्टे व्याकुलचित्तता थ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम्
कौपीनेपि हृते परैश्च झगिति क्रोधः समुत्पद्यते।
तन्नित्यं शुचि रागहृच्छमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम्॥

अपिच-- विकारे विदुषां द्वेषो नाविकारानुवर्तने ।
तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः ॥
नैष्किञ्चन्यमहिंसाच कुतः संयमिनां भवेत् ।
ते संगाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ॥

इसका संक्षेपमें अर्थ यह है कि वस्त्र, दण्ड आदि सभी परिग्रहोंका अभाव कर देना अथवा केवल नग्न हो जाना आचेलक्य है वह आचेलक्य तो संयमकी शुद्धि होना, इन्द्रियोंका जय करना, कषायोंका अभाव हो जाना ध्यान और स्वाध्याय करनेमें निर्विघ्न रहना, निर्ग्रन्थता, रागद्वेष रहितपन, शरीरमें आदर न होना, पराधीन न होकर स्ववश रहना, चित्तकी विशुद्धिका प्रकट होना, भयरहित होना, सबमें विश्वास करना, परवाह न करना, धोना, लमेडना आदि परिक्रियाओंका छूट जाना, विभूषित करनेमें मूर्च्छा नहीं होना, लघु बने रहना तीर्थंकरोंसे आचरित किया जाना बलवीर्यका नहीं छिपा सकना, मार्दव आदिक अपरिमित गुणसमुदायका उपलम्भ होनेमे स्थितिकल्प पने करके उपदेश' गया है। उस अचेलकत्व गुणके समर्थनको विजयोदया टीकाकी दृष्टिसे कुछ कहा जा रहा है। उस प्रकार सुनिये। पसीना आदि योनिको पाकर उपज गये त्रस प्राणियोंको वस्त्रके धोने सुखाने आदिसे बाधा उपजेगी अतः उस वस्त्रका त्याग करनेपर संयमकी शुद्धि होगी। लज्जा करने योग्य शरीरके विकारोंका निरोध करनेके लिये प्रयत्नकी दृढता हो जानेसे इन्द्रियोंका जय होगा। चोर आदि द्वारा ठगने, लूटने आदिका अभाव हो जानेसे कषायोंका अभाव हो जाता है। सुई, सूत, कपडा आदिके ढूंढने, सींवने, सेवा करने आदि झंझटोंका अभाव हो जानेसे स्वाध्याय और ध्यानमें निर्विघ्नता रहती है। चेल आदि बहिरंग परिग्रहको मूल मान कर अभ्यन्तर परिग्रह उपज जाते हैं। वस्त्रका त्याग कर देनेसे उनका त्याग हो जाता है। मनोज्ञवस्त्रका त्याग करनेसे राग छूटता है। और असुन्दर वस्त्रका त्याग कर देनेसे द्वेष छूटता है। वायु, घाम, डांस आदिकी बाधा सहनेसे शरीरमें आदुर नहीं हो पाता है। देशान्तरकी जाने आदिमें सहायककी अपेक्षा नहीं होनेसे स्वतंत्रता हो जाती है। कौपीन आदि द्वारा प्रच्छादन नहीं करनेसे चित्तकी विशुद्धि प्रकट होती है। चोर आदि द्वारा मारना, पीटना आदिका भय नहीं होनेसे नग्नदिगम्बर मुनिको नग्नत्व प्राप्त होता है। चुराने योग्य कोई पदार्थ नहीं होनेसे सभी जीवोंमें मुनिका या मुनिमें सब जीवोंका विश्वास हो जाता है। चौदह प्रकारके उपक-

रणोंको रख कर बडे परिग्रही हो रहे श्वेताम्बरोंके यहां जैसे बहुतसे प्रतिलेखन रखना, पखारना, सुखाना, आदिक और बहुतसे परिग्रहकी पोट लादना, रखना आदिक दोष हैं। वैसे दिगम्बर मुनियोंके नहीं हैं इत्यादिक टीकामें बहुत लिखा है। अन्यत्र भी ग्रन्थोंमें वस्त्रके दोष दिखलाते हुये यों कहा गया है कि वस्त्रोंके मलिन हो जानेपर उनको पखारना पडेगा। धोनेके लिये जल लाना, पात्र लाना, आदि आरम्भ किया जायगा, ऐसा करनेसे भला संयम कहांसे पल सकता है ? वस्त्रके धोनेपर इन्द्रियसंयम और प्राणसंयम दोनों नहीं पलते हैं। और वस्त्रके नष्ट हो जानेपर साधुका चित्त व्याकुल हो जायगा। इसके अनन्तर महान् पूज्य पुरुषोंको भी अन्य जनोंसे वस्त्रकी प्रार्थना करनी होगी। मात्र कौपीनके भी दूसरों द्वारा चुराये जानेपर शीघ्र क्रोध उपज बैठता है। तिस कारण अनेक दोषोंकी खानि हो रहे वस्त्रका मुनिको ग्रहण करना उचित नहीं है। शांतिकी उपासना करनेवाले मुनियोंका वस्त्र तो दिशामण्डल ही है। वह दिशारूपी वस्त्र नित्य है, कभी फटता नहीं है। शुद्ध है, कभी मैला नहीं होता है, राग परिणतिको हरनेवाला है। और भी ग्रंथोंमें इस विषयपर कहा गया है कि परनिमित्तजन्य विकारोंमें विद्वान् पुरुषोंको द्वेष उपजता है हां, अविकार यानी स्वाभाविक परिणतिके अनुकूल प्रवर्तनेमें किसीका कोई द्वेष नहीं होता है। तिस कारण स्वभावसे उत्पन्न हुये नग्नपनेमें भला क्या द्वेष या पापका संसर्ग हो सकता है ? परिग्रहोंका सर्वथा त्याग कर देनेसे मुनियोंका आकिञ्चन्य धर्म पलता है और अहिंसा भी सधती है। उन संयमियोंकी निष्किञ्चनता और अहिंसा धर्म कैसे होंगे जो साधु छाल और चमडा तथा वस्त्रोंका संग यानी परिग्रह करनेके लिये इच्छा रखते हैं। अर्थात् वकला, चमडा, कपडा इन परिग्रहोंके चाहनेवाले पुरुष संयमी नहीं हैं। निष्परिग्रहत्व और अहिंसाको नहीं धारते हैं। यों आशाधरजीने टीकामें साधुओंके वस्त्रादिरहितपनेको पुष्ट किया है। श्री वीर भगवान् या श्री कुन्दकुन्द स्वामीके आम्नाय अनुसार मुनियोंके वस्त्रादि परिग्रहोंका रखना निषिद्ध है। स्वयं ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी दशमें अध्यायके अन्तिम सूत्रका व्याख्यान करते हुये लिखेंगे कि--

पुल्लिंगेनैव तु साक्षाद्द्रव्यतोन्या तथा गम-
व्याघाताद्युक्तिबाधाच्च स्त्र्यादिनिर्वाणवादिनां।
साक्षान्निर्ग्रन्थलिंगेन पारंपर्यात्ततोन्यतः।
साक्षात्सग्रन्थलिंगेन सिद्धौ निर्ग्रन्थता वृथा॥ १३॥

इसका अभिप्राय यही है कि द्रव्य-पुरुषही मोक्षको प्राप्त करता है। स्त्री या नपुंसक तद्भवसे मोक्ष नहीं जाते हैं। इनको वस्त्र रखना अनिवार्य है। निर्ग्रन्थलिंगसे ही साक्षान्मोक्ष प्राप्त होगा. सग्रन्थलिंग करके अव्यवहित रूपसे मोक्ष नहीं हो सकती है। यों संयमीका उत्सर्ग मार्ग आचेलक्यही समझा जाय। वस्त्रसहित हो जानेपर जीवकी देश-संयम या असंयम अवस्था समझी जायगी। मुझ देशभाषाकारको यह विश्वास नहीं हुआ कि श्लोकवार्तिक महान् ग्रन्थमें शीतकाल, लज्जा आदिके अवसरपर उपकरण वकुश मुनि कम्बल, कौशेय वस्त्रको रख सकते हैं। अनगारधर्मामृतको रचनेवाले उद्भट पण्डित आशाधरजीने अपराजित सूरिकी टीकाका आश्रय लेकर मूलाराधना टीकामें अचेलत्वको पोषा है। इससे श्री अपराजित सूरिका दिगम्बरत्व और प्रकांड विद्वत्त्व प्रकट हो जाता है। तभी तो आशाधरजी विजयोदया टीकाका सहारा ले रहे हैं। कोई भी दिगम्बर आम्नायका विद्वान् मुनिको वस्त्र रखना पुष्ट नहीं कर सकता है। भगवती आराधना और उसकी टीकामें भी वस्त्रका समर्थन नहीं है। प्रत्युत प्रबल युक्तियोंसे वस्त्र, पात्र रखनेका खण्डन किया है। ऐसी आचेलक्यकी पुष्टि अन्य ग्रन्थोंमें दुर्लभ है।

पीतपद्मशुक्लास्तिस्रो लेश्याः पुलाकस्य भवन्ति।

पुलाक आदि पांचों निर्ग्रन्थोंके संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, इन पांचों अनुयोगोंका व्याख्यान कर दिया गया है। अब पांचों मुनिवरोंमें छठे लेश्या अनुयोगको घटित करते हैं। प्रथमोक्त पुलाक मुनिके पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्यायें पाई जाती है।

कृष्णो नीलश्च कापोतः पीताः पद्मश्च शुक्लगः,
लक्षणाः षडपि लेश्या वकुशप्रतिसेवना॥
कुशीलयोर्भवन्त्येव कथितेयं महर्षिभिः॥ १४॥

तथा बकुश और प्रतिसेवना कुशील नामक मुनियोंके कृष्ण, नील और कापोत ये तीनों अशुभ लेश्यायें तथा पीत, पद्म लेश्या और शुक्लवर्णोचित कर्तव्यको प्राप्त हो रही शुक्ल लेश्या यों स्वकीय वर्णोचित आचरणों स्वरूप हो रही छओं भी लेश्यायें पाई जाती ही हैं। इस प्रकार महान् ऋषिवरोंने इस लेश्याको कहा हैं।

ननु कृष्णनीलकापोतलेश्यात्रयं वकुशप्रतिसेवना व कुशीलयोः कथं भवति। सन्त्येव तयोरुपकरणासक्तिसंभवादार्त्तध्यानं कादाचित्कं संभवति तत्संभवादादिलेश्या-त्रयं संभवन्त्येवेति मतान्तरं परिग्रहसंस्काराकांक्षा स्वयमेवोत्तर गुणविराधनायामार्त संभवादार्ताविनाभावि च लेश्याषट्कं पुलकस्यार्तकारणाभावान्न षट् लेश्याः। किन्तूत्त-रास्तिस्र एव।

यहां कोई शंका उठाता है कि--वकुश और प्रतिसेवना कुशील दोनों मुनियोंके कृष्ण, नील और कापोत तीनों अशुभ लेश्यायें किस प्रकार हो सकती हैं ? अर्थात् ग्रन्थोंमें इस प्रकार लिखा है कि--" अयदोत्तिछलेस्साओ सुहतिय लेस्साहु देस विरदतिये, तत्तो सुक्का लेस्सा अजोगिठाणं अलेस्सं तु " यों पांचवें, छठे, सातवें गुणस्थानोंमें तीन शुभ लेश्यायें मानी हैं। वकुश और प्रतिसेवना कुशील जब निर्ग्रन्थ हैं तो कमसे कम छठे सातवें गुणस्थानमें अवश्य रहेंगे इससे निचले गुणस्थानोंमें निर्ग्रन्थोंकी गति ही नहीं है। तो फिर छठे, सातवें, गुणस्थानवालोंके अशुभ लेश्यायें कैसे कहीं गई हैं ? बताओ। इसके उत्तरमें ग्रन्थकार कहते है कि--इन दोनोंके अशुभ लेश्यायें भी हो जाती ही हैं कारण कि उन वकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनियोंके शास्त्र, शिला, पटा आदि उपकरणोंमें रागपूर्वक आसक्ति हो जाना संभवता है। कभी कभी आर्त्तध्यान हो जानेकी संभावना है। उस आर्त्तध्यानके सम्भव जानेसे पहली तीनों अशुभ लेश्यायें भी संभव जाती ही हैं। यों कतिपय आचार्योंके मतान्तर हैं। नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्तीके मतानुसार मुनियोंके तीन अशुभ लेश्यायें नहीं पाई जाती हैं किन्तु अन्य आचार्योंका मन्तव्य ऐसा है कि--मुनियोंके बहुभाग शुभ लेश्यायें ही रहेंगी किन्तु कदा-चित् आर्त्तध्यानके हो जानेपर वकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनियोंके अशुभ लेश्यायें भी हो सकती हैं क्योंकि इनके परिग्रहके संस्कारका क्षय नहीं हुआ है। पूर्वदशामें जो परिग्रहका संबंध लगा हुआ था। उसकी स्वल्पवासना मुनिपदमें चली आ रही है। वे मुनि मूलगुणोंको भलेही अक्षुण्ण पालते रहें किन्तु अपने आपही पुरुषार्थ द्वारा जब उत्तर गुणोंकी विराधना करनेमें रतिकर्म वश होकर प्रवर्त जाते हैं तब इनका आर्त्त-ध्यान सम्भव जाता है। आर्त्तध्यानके साथ छहों लेश्याओं का अविनाभावी सम्बन्ध है। यानी आर्त्तध्यानके अवसरपर जीवके शुभ, अशुभ सभी लेश्यायें पाई जाती हैं। पुलाक मुनिके तो आर्त्तध्यान हो जानेका कारण तीव्र अनुराग या आसक्ति नहीं है,

अतः छहों लेश्यायें नहीं मानी गई हैं किन्तु परली ओरकी तीन शुभ लेश्यायें ही हैं। भावार्थ--कोई छोटे अल्प पढे हुये छात्र भी बडे और अधिक पढे हुये छात्रकी अपेक्षा मन्दकषाय देखे गये हैं, कोई कोई अजैन भी जैनोंकी अपेक्षा अल्पकषाय समझे गये हैं। परिणामोंकी विचित्र जातियां हैं। धन, ज्ञान, बल आदिके आधिक्यको धार रहे जीवोंसे किसी किसी निर्धन, मूर्ख, निर्बलकी आत्मा उन्नत कार्योंको कर रही देखी गई है। यों विचार कर परिणामोंकी व्यवस्थाको अतर्क्य समझ लिया जाय।

कपोततेजःपद्मशुक्ललेश्याचतुष्टयं कषायकुशीलस्येदं ज्ञातव्यं। दातव्यं दानीयमितियावत्। कषायकुशीलस्य या कापोतलेश्या दीयते सापि पूर्वोक्तन्यायेन वेदितव्या तस्याः संज्वलनमात्रान्तरंगकषायसद्भावात् परिग्रहः। शक्तिमात्रसद्भावात्सूक्ष्मसांपरायस्य निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च केवला शुक्लैव लेश्या वेदितव्या। अयोगिकेवलिनां तु लेश्या नास्ति।

कषायकुशील सामक मुनिके कपोत, तेजः, पद्म, और शुक्ल यों चारोंही लेश्यायें सम्भव रही समझनी चाहिये। इसका फलितार्थ यह निकला कि कषायकुशीलके लिये उक्त चारों लेश्यायें दातव्य हैं, यानी देने योग्य हैं। कषायकुशील मुनिको जो जो कापोत लेश्या दी जाती है। वह भी पूर्वोक्त नीति अनुसारही समझ लेनी चाहिये। अर्थात् परिग्रहके संस्कारका परिपूर्ण क्षय नहीं हुआ है। अतः शुभ रागपूर्वक कदाचित् कपोत लेश्या बन बैठती है। केवल तीव्र संज्वलन अन्तरंग कषायका सद्भाव रहनेसे उस कपोत लेश्याके योग्य परिग्रह है। बहिरंग द्रव्य रूपसे कोई परिग्रह नहीं पाया जाता है। फिर भी " कषायोदयानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या " असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानों में से कतिपय कपोतलेश्या योग्य परिणाम हो जानेके कारण शक्तिमात्रका सद्भाव है। परिहारविशुद्धि संयमवाले मुनिके भी पिछलीं चार लेश्यायें हो सकती हैं। सूक्ष्म सांपरायसंयमी तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक मुनियोंके केवल अकेली शुक्लही लेश्या समझनी चाहिये। चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती अयोगकेवलज्ञानियोंके तो लेश्या नहीं है जब कि उनके कषाय और योगका सर्वथा अभाव हो चुका है। " विशेष्यविशेषणोभयाभावप्रयुक्तो विशिष्टाभावः " ॥

उत्कृष्टस्थितिषूत्कृष्टतया पुलाकस्य सहस्रारदेवेष्वष्टादशसागरोपमजीवितेषू-पपादो भवति। बकुशप्रतिसेवना कुशीलयोर्द्वाविंशति सागरोपमस्थितिषूपपाद आरणाच्युत स्वर्गयोर्भवति। सर्वार्थसिद्धौ तु कषायकुशीलनिर्ग्रन्थयोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिषु देवेषूपपादो भवति। जघन्योपपादोऽशेषाणामपि सौधर्म्मकल्पे। द्विसागरोपमस्थितिषु देवेषु वेदितव्यः। स्नातकस्य परमनिर्वृतत्वादुपपादो निर्वाणं।

सूत्रोक्त छह अनुयोगोंकी विचारणा हो चुकी है। अब ग्रन्थकार पुलाक आदि मुनियोंके सातवें उपपादका विचार करते हैं। मरकर उत्तरभवकी उत्पत्तिको यहां उप-पाद माना गया है। पुलाक मुनिका उत्कृष्टपने करके उपपाद तो उत्कृष्ट स्थिति-वाले अठारह सागरोपम कालतक वहां जीवित बने रहनेवाले सहस्रार स्वर्गोपदेवोंमें होता है। तथा बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनियोंका आरण और अच्युत स्वर्गोंमें बाईससागरोपम स्थितिको धारनेवाले देवोंमें उपपाद होता है। सर्वार्थसिद्धि विमानमें तो कषायकुशील और निर्ग्रन्थ मुनियोंका तेतीस सागरोपम स्थितिवाले देवोंमें उपपाद (प्रेत्यभाव) होता है। शेषरहित सम्पूर्ण पांचों भी पुलाकादि मुनिवरोंका जघन्य रूपसे उपपाद हो जाना तो सौधर्म ऐशान दो कल्पोंमें दो सागरोपम स्थितिवाले देवोंमें समझ लिया जाय। क्योंकि--सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर कल्पोपपन्न या कल्पातीत वैमा-निक देवोंमें ही उपजता है। जघन्य कोटिके वैमानिक भला सौधर्म ऐशान स्वर्गवासी देवही हो सकते हैं। पूर्वमें मनुष्य आयुःको बांध चुका जीव तो महाव्रतही नहीं ले पायेगा। अव्रती मरकर भोगभूमिमें जावेगा, स्नातक मुनि तो परमनिर्वाणको प्राप्त हो चुके हैं। इस कारण उनका उपपाद निर्वाण यानी मोक्ष हो जाना ही है। संसारमें उपजनाही इनका वर्जित हो गया है।

स्थानान्यसंख्येयानि संयमस्थानानि तानि तु कषायकारणानि भवन्ति। कषाय-तमस्त्वेन भिद्यन्ते। इति कषायकारणानि तत्र सर्वनिकृष्टानि लब्धिस्थानानीति कोर्थः। संयमस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोर्भवन्ति। तौ च समकालमसंख्येयानि संयमस्थानानि व्रजतः। ततस्तदनन्तरं कषायकुशीलेन सह गच्छन्नपि पुलाको व्युच्छिद्यते निवर्तत इत्यर्थः। ततः कषायकुशील एकाक्येवाऽसंख्येयानि संयमस्थानानि गच्छति। तदनन्तरं कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलबकुशाः संयमस्थापनान्यसंख्येयानि युगपत्सह गच्छन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। तत्पश्चाद्बकुशो निवर्तते व्युच्छिद्यत इत्यर्थः। ततोऽपि प्रतिसेवनाकुशीलः

संयमस्थानानि असंख्येयानि व्रजित्वा व्युच्छिद्यते । ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते । अत ऊर्ध्वमकषायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते सोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते । तदुपरि एकं संयमस्थानं स्नातको व्रजित्वा परं निर्वाणं लभते । स्नातकस्य संयमलब्धिरनन्तगुणा भवतीति सिद्धम् ।

अवस्थान नामक आठवें अनुयोगका विचार करते हैं--मुनियोंके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायोंका उदय नहीं है । केवल संज्वलन कषाय और नोकषायोंका उदय छठेसे दशमे गुणस्थानतक यथायोग्य पाया जाता है । नोकषायका उदय नौमे गुणस्थानतक ही है । मुनियोंके सम्भव रहे कषायोंका उदय हो जानेपर भी पुरुषार्थपूर्वक हो रहे आत्मविशुद्धिस्वरूप लब्धिस्थानोंको यहां प्रकरणमें " स्थान " माना गया है । जो कि गिनतीमें असंख्यात लोक प्रमाणस्वरूप असंख्याता संख्यात है । अतः जातिकी अपेक्षा संयमके स्थान असंख्यात हैं । एक संयमी मुनिके एक भवमें कतिपय अन्तर्मुहूर्तोंके समयसंख्याप्रमाण असंख्याते संयमस्थान हो जाते हैं । अनादि-भूत कालीन अनन्तानन्त संयमियों (जो अब सिद्धालयमें विराजमान हैं) ने व्यक्ति-रूपसे अनन्तानन्त संयमस्थान लिये थे किन्तु उनकी जातियां असंख्यात लोकप्रमाण असंख्याती ही थी । एक जीव पर्यायमें उत्कृष्टतया पौने नौवर्ष कमती एक कोटि पूर्ववर्ष तक संयम धार सकता है । इतने कालमें आवलि या मुहूर्त संख्यातगुणे स्वरूप असं-ख्याते संयमस्थान हो रहे संभव जाते हैं । कितनेही संयमस्थान अनेक बार भी हो सकते हैं । ये संयमस्थान तो कषायोंको निमित्तकारण मानकर हो जाते हैं । संज्वलन-कषाय और नोकषायके उदयका तरतमपने करके स्थानोंका भेद हो जाता है । अतः इन स्थानोंके कारण कषाय माने गये हैं । उत्तरोत्तर बढ रही आत्मविशुद्धिको धार रहे असंख्यातासंख्यात संयमस्थानोंको पंक्तिबद्ध ऊपर तर ऊपर विराजमान कर दीजिये उनमें सबसे जघन्य कोटिके लब्धिस्थान तो पुलाक और कषायकुशील मुनिके होते हैं । लब्धिस्थानका अर्थ क्या है ? इसका उत्तर यही है कि संयमके उपयोगी हो रहे पुरु-षार्थद्वारा आत्मविशुद्धिरूप संयमस्थान ही यहां लब्धिस्थान है । वे पुलाक और कषाय कुशील दोनों मुनि जिनदृष्ट असंख्याते संयमस्थानों तक साथ साथ युगपत् गमन करते हैं । अर्थात् समानरूपसे संयमके उपरितन स्थानोंको पकडते हुये चले जाते हैं । वहांसे उसके अनंतर कषायकुशीलके साथ गमन कर रहा भी पुलाक मुनि व्युच्छिन्न हो जाता

है । इसका अर्थ यह है कि पुलाक मुनि निवृत्त हो जाना है । ऊपरले संयमस्थानोंको नहीं ग्रहण कर पाता है । वहांसे ऊपर कषायकुशील अकेलाही संयमस्थानोंपर गमन करता है, इन स्वल्प असंख्याते संयम स्थानोंपर इस कषायकुशीलकाही अधिकार है । उसके अनन्तर असंख्याते उपरितनवर्त्ती संयमस्थानोंपर कषायकुशील, प्रतिसेवना कुशील और वकुश मुनि युगपत् साथ साथ गमन करते हैं । इसका अर्थ यह है कि-- ऊपरले जिनदृष्ट असंख्याते संयमस्थानोंको उक्त तीनों मुनि प्राप्त कर लेते हैं । उसके पश्चात् वकुश मुनिका ऊपर संयमस्थानोंपर जाना निवृत्त हो जाता है । इसका अर्थ यह है कि वकुश मुनिकी इतनेही मध्यवर्त्ती संयमस्थानोंतक गति है । इसके आगे वकुशकी व्युच्छित्ति हो जाती है । उस वकुशकी गतिसे भी ऊपर प्रतिसेवना कुशील असंख्याते संयमस्थानोंको चलकर व्युच्छिन्न हो जाता है । उससे भी असंख्याते स्थान ऊपर चलकर कषायकुशीलकी व्युच्छिति हो जाती है । भावार्थ-- कषायकुशील इनसे ऊपरले संयमस्थानोंका अधिकारी नहीं है । अब इससे ऊपर ग्यारहवें, बारहवें, गुणस्थानोंमें मोहनीयके उपशम या क्षयसे हो जानेवाले अकषायसंयम स्थानोंको निर्ग्रन्थ मुनिवर प्राप्त करते हैं । वें भी असंख्याते संयमस्थानोंतक चलकर व्युच्छिन्न हो जाता हैं । उससे ऊपर एकही संयमस्थानको प्राप्त होकर स्नातक जिनेंद्र परमनिर्वाण पदको प्राप्त कर लेता है । यों पुलाक आदिकी संयम लब्धियोंसे स्नातककी संयमलब्धि अनन्तगुणी हो जाती है । यह बात युक्ति और आगमसे सिद्ध हो चुकी समझ लेनी चाहिये ।

शास्त्रोक्ताः शरसंख्यकाः ऋषिवराश्चारित्रसंसाधकाः,
भव्याम्भोजविकासने दिनकरास्ते वै पुलाकादयः,
दृक्शुद्ध्यादिषु तत्पराः सुरनुताः ज्ञानाब्धि संभाविता,
स्तेमे भूरि दुरन्तदुर्गहरणे किन्न क्षमाः क्षेमदाः ॥ १५ ॥

सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार ग्रन्थित किये गये शास्त्रोंमें ऋषि श्रेष्ठ मुनि पांच प्रकार माने गये हैं । कामके बाण पांच हैं । अतः चारित्रका भले प्रकार साधन कर रहे ऋषि महाशय शर यानी बाणोंकी पांच संख्याको धार रहे हैं । वें पुलाक आदिक पांचो प्रकारके साधु नियमसे भव्यजीव स्वरूप कमलोंके विकासनेमें सूर्यके समान हैं ।

दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओंमें तत्पर हो रहें हैं। इन्द्र बृहस्पति आदि देवों करके स्तुति किये जा चुके हैं तथा जो ऋषिवर ज्ञानसमुद्रमें अवगाह कर रहे हैं। वें पुलाक आदि ऋषि मेरे बहुतसे अनन्त दुष्ट कर्म रूप गढके हरनेमें क्या समर्थ नहीं होंगे ? अपितु कल्याणोंको देनेवाले वे महर्षि मेरे दुःखसे अन्त हो जाने योग्य अनन्त कर्मोंका विनाश कर ही देंगें। संयमियोंका प्ररूपण करते हुये ग्रन्थकारने नौमे अध्यायके अन्तमें यह मंगलाचरणश्लोक कह दिया गया हैं।

इति नवमाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम् ॥

यहां तक श्री उमास्वामिविरचित तत्त्वार्थसूत्रके नौमे अध्यायका श्री विद्यानन्द स्वामी संदर्भित श्लोकवार्त्तिक महान् ग्रन्थमें नवम अध्याय सम्बन्धी द्वितीय आन्हिक समाप्त हो चुका है। --इस विषयकी उत्कट गवेषणासे प्रेरित होकर मैंने स्वकीय शिष्य पंडित लोकनाथ शास्त्रीद्वारा मूडबिद्रीसे ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन प्रतिसे उद्धृत की गई " संयम श्रुतप्रतिसेवना " सूत्रकी श्लोकवार्त्तिक नामक टीका मंगायी वहांकी अतिप्राचीन दो, तीन ताडपत्रकी प्रतियोंमें उपकरणवकुश मुनिके शीतकाल आदिमें कम्बल, कौशेय, आदि वस्त्र ग्रहण कर लेनेका विधान सर्वथा नहीं है। न जाने उत्तर प्रान्तकी कतिपय प्रतियोंमें यह सदोष प्रकरण किसने प्रक्षिप्त किया है ? श्री विद्यानन्द स्वामीकी मूल कृति ताडपत्रीय प्राचीन लिखित ग्रन्थोंमें इस प्रकार है। उसको अविकल उद्धृतकर हम लिखते हैं। वस्तुतः गम्भीर विद्वान् श्री विद्यानन्द स्वामीजीका लेख ऐसाही होना चाहियें।

" संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंग " इत्यादि-तसोऽलक्षणत्वादनिर्देश इति चेत् नान्यतोपीति वचनात्सिद्धेः। भवदादि योगें स इति चेत् नान्यत्रापि दर्शनात्। नार्थतो न शब्दतोऽभिधानतः समध्यम इति यथा। प्रतिसेवनेति पत्वाभावः क्रियान्तराभिसंम्बन्धात्। प्रतिगता सेवनेति, विगता सेवका यतो ग्रामादसौ विसेवको ग्राम इति यथा। पुलाकादयः संयमादिभिः साध्या व्याख्येया स्यर्थः कथमित्याह —

> **संयमादिभिरष्टाभिरनुयोगैर्यथाक्रमम्,**
> **साध्यास्तेऽत्र पुलाकाद्यास्तज्ज्ञैर्भेदप्रभेदतः ॥ १ ॥**
> **संयमाः पंच निर्दिष्टाः श्रुतं च बहुभेदभृत् ।**
> **ततो विराधनं पश्चात्सेवना प्रतिसेवना ॥ २ ॥**

तीर्थं तीर्थंकरापेक्षं धर्ममार्गप्रवर्तनं ।
लिंगं तु द्रव्यभावाभ्यां द्विधा संयतलक्षणं ॥ ३ ॥
योगप्रवृत्तिराख्याता कषायैरनुरञ्जिता ।
लेश्या षोढात्र कृष्णादि द्विधा शुद्धेतरत्वतः ॥ ४ ॥
उपपादं पुनर्जन्मस्थानानि स्युर्यथात्मनां ।
संयमस्येहसामर्थ्यादन्यस्याप्रस्तुतत्वतः ॥ ५ ॥
कषायोत्थान्यसंख्येया न्यकषायोत्थितानि च ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्वभावानि व्यपेक्षया ॥

तत्र पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीलाः सामायिकछेदोपस्थापनयोर्वर्तन्ते । कषायकुशीलाः परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययोः पूर्वयोश्च निर्ग्रन्थस्नातका यथाख्यात संयमे । श्रुते पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वमात्रे, कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्च चतुर्दशपूर्वप्रमाणे । जघन्येन पुलाकानां श्रुतमाचारवस्तु, वकुशादीनामष्टौ प्रवचनमातरः, अपगतश्रुताः स्नातकाः केवलित्वात् । प्रतिसेवना पुलाकस्य पंचसु मूलव्रतेषु रात्रि (राज्य) भोजनषष्ठेषु (वर्जेषु) पराभियोगात् बलात्संभवति । उपकरणवकुशस्योपकरणसंस्कारप्रतिसेवना । शरीरवकुशस्य शरीरसंस्कारप्रतिसेवना । उत्तरगुणेष्वेव प्रतिसेवना कुशीलस्य, कषायकुशीलादयः प्रतिसेवनारहिताः । तीर्थं सर्वतीर्थंकरेषु । सर्वेषां द्रव्यलिंगं सर्वे निर्ग्रन्थाः भावलिंगं प्रतीत्य भाज्याः । लेश्या पुनस्तस्योत्तरास्तिस्रः । वकुशप्रतिसेवना, कुशीलयोः षडपि । कषायकुशीलस्योत्तरास्तिस्र परिहारविशुद्धिश्च । सूक्ष्मसांपरायस्य निर्ग्रंथस्नातकयोश्च शुक्लैव, अयोगिनोऽलेश्याः । पुलाकस्योत्कृष्टोपपादा देवेषूत्कृष्टस्थितिकेषु सहस्रारे । बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंशति सागरोपमस्थितिकेषु, आरणाच्युतकल्पयोः कषायकुशीलयोर्निर्ग्रन्थयोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकेषु सर्वार्थसिद्धौ एषामपि जघन्योपपादः सौधर्मे द्विसागरोपमस्थितिषु । स्नातकस्य निर्वाणं । संयमस्थानेष्वसंख्येयेषु कषायनिमित्तेषु सत्सु सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोस्तौयुगपदसंख्येयस्थानानि गच्छतः । ततः पुलाको व्युच्छिद्यते । ततः कषायकुशीला गच्छत्येकाकी । ततः कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलवकुशाः महासंख्येयस्थानानि गच्छन्त ततो वकुशो व्युच्छिद्यते ततो संख्येयस्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते । ततोप्यसंख्येयस्थानानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते ।

तत ऊर्ध्वमकषाय थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते । सोप्यसंख्येयस्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते, तत ऊर्ध्वमेकं स्थानं गत्वा स्नातको निर्वाणं प्राप्नोति । तदा संयमलब्धिरनन्तगुणा भवति, एवं नवमाध्यायसूत्रितां संवरनिर्जरासिद्धिमुपसंहरन्नाह,—

सिद्ध्यत्येवमुदीरितक्रमवशाद्गुप्त्याविभिः संवरो ।
विध्राणैः प्रतिपक्षतामुरुबलैः कर्मास्रवाणां यथा ॥
तद्वत्सत्तपसोवितेनविविधा कारेण नृग्निर्जरा ।
नानात्मीयविशुद्धिवृद्धिवशतो धीरस्य निःसंशयम् ॥

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकारे नवमस्याध्यायस्य द्वितीयमान्हिकं ।

इसका अर्थ इस प्रकार है कि संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन विकल्पोंमें या विकल्पों करके पुलाक आदिको साध लेना चाहिये । इस सूत्रोक्त मन्तव्यमें किसीको शंका उपजती है कि कोई व्याकरणका सप्तमी या तृतीया विभक्तिके अर्थमें तस् प्रत्ययको करनेवाला लक्षणसूत्र नहीं है । अतः इस सूत्रमें विकल्पतः यों तस् प्रत्ययान्त निर्देश नहीं करना चाहिये । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि व्याकरणमें तस् प्रत्ययके प्रकरणपर "अन्यतोपि" ऐसा वचन कहा गया है । यानो पंचमी विभक्तिके अतिरिक्त अन्य विभक्तियोंके अर्थमें भी तस् प्रत्यय हो जाता है । इस कारण यहां सप्तम्यर्थ या तृतीयार्थ अनुसार "विकल्पतः" पदकी सिद्धि हो जाती है । पुनः शंकाकार कहता है कि वह "अन्यतोऽपि" जो कहा गया है । उसका व्याख्यान यह है कि भवत् युष्मत्, आदिका योग हो जानेपर अन्य विभक्तियोंसे भी वह तस् प्रत्यय कर दिया जाता है । आचार्य कहते हैं कि यह भी तो नहीं कहना क्योंकि भवत् आदिका योग नहीं भी हो जानेपर अन्य स्थानोंमें भी तस् प्रत्यय हुआ देखा जाता है । जैसे कि प्रसिद्ध ग्रन्थमें ऐसा प्रयोग है कि अर्थमें, शद्बम तथा संज्ञाधारनेमें या अर्थ करके, शद्ब करके अथवा संज्ञा करके जो नहीं है वह मध्यम है । यहां भवत् आदिका योग नहीं है, फिर भी तस् प्रत्यय हो रहा देखा जाता है । अब सूत्रोक्त प्रतिसेवना पदमें शंका उठाई जा सकती है कि "प्रतिसेवना" शद्बम दन्त्य सकारके स्थानपर मूर्धन्य षकार होना चाहिये । जैसे कि प्रतिषेध परीषह आदि शद्ब हैं । इसके समाधानार्थ ग्रन्थकार कहते हैं कि "प्रतिसेवना" इस पदमें मूर्धन्य षकार हो जानेका अभाव है कि अन्य क्रियाका मध्य में संबंध हो रहा है, जैसे कि जिस

ग्रामसे सेवक विगत यानी दूर चले गये हैं वह गांव " विसेवक " कहा जाता है। यहां विसेवक पदमें " आदेशप्रत्यययोः " इस सूत्र करके ष नहीं हो पाता है। क्योंकि दूसरी गत क्रियाका संबंध हो गया है । उसी प्रकार " प्रतिगतासेवना " यों मध्यमें अन्य क्रियाका सम्बन्ध हो जानेसे ष नहीं होने पाता है। उसी क्रियाका सम्बन्ध बना रहता तो अखण्डपदकी रक्षा हो जानेके अनुसार मूर्धन्य ष हो सकता था। यों पुलाक आदिक मुनिवर "संयम श्रुत" आदि करके साध्य यानी व्याख्यान करने योग्य हैं। यह सूत्रका अर्थ निकला। किस प्रकार वे साध लिये जाय ? ऐसी जिज्ञासा उत्थित होनेपर ग्रन्थकार अग्रीम वार्त्तिकोंको कह रहे हैं। उस मुनिपदवीको जाननेवाले विद्वानों करके, संयम आदि आठ अनुयोगों करके क्रम अनुसार वे पुलाक आदि ऋषि स्वकीय भेद-प्रभेदों द्वारा यहां साध लेने योग्य हैं ।। १ ।। सामायिक, छेदोपस्थापना, आदि भदोंवाले संयम पांच कहे जा चुके हैं। दूसरा श्रुत भी बहुत भेद--प्रभेदोंको धार रहा है। विद्यमान व्रतोंकी विराधना हो जानेपर पीछे तदवस्थित होनेके लिये सेवा करना तीसरी प्रतिसेवना कही जाती है ।। २ ।। चौथा तीर्थ तो तीर्थंकर महाराजोंकी अपेक्षा रखता हुआ धर्ममार्गका प्रवर्तन करना है, पांचवां लिंग तो द्रव्य और भाव करके दो प्रकार हो रहा संयमीका लक्षण है ।। ३ ।। कषायों करके पीछे पीछें रंगी जा रही योगोंकी प्रवृत्ति छठी लेश्या बखानी गई है। कृष्ण आदि भेदसे छः प्रकार हो रही वह लेश्या यहां शुद्ध और उससे न्यारी अशुद्ध रूपसे दो प्रकार मानी गई है ।। ४ ।। उपपादके कतिपय अर्थ हैं। किन्तु यहां संयमकी सामर्थ्यसे जन्मस्थान रूप उपपाद लिया गया है। संसारी जीवोंके मरकर कर्मानुसार पुनः जन्म लेनेके जो स्थान हैं। वह उपपाद हैं, अन्य उपपाद यहां प्रस्ताव प्राप्त नहीं हैं ।। ५ ।। इसी प्रकार स्थानके भी अनेक अर्थ हैं। किन्तु संयमका प्रकरण होनेके कारण यहां कषायोंसे उत्पन्न हुये और नोकषायोंसे उपजे अथवा ग्यारहमेंसे ऊपर गुणस्थानोंमें अकषाय भावोंसे भी उत्पन्न हुयें असंख्यात लोकप्रमाण संयमस्थान यहां स्थान माने जाते हैं, जो कि विभिन्न अपेक्षाओं करके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्वरूप होकर नियत हैं ।। ६ ।। इसके आगे ग्रन्थकार स्वनिर्मित अलंकार ग्रन्थमें कह रहे हैं कि उन मुनियोंमेंसे या आठ अनुयोगोंमेंसे पुलाक, वकुश, और प्रतिसेवनाकुशील मुनि तो सामायिक और छेदोपस्थापना संयमोंमें वर्त रहे हैं। हां, कषायकुशील ऋषिवर तो परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसांपराय संयममें तथा

पूर्ववर्त्ती सामायिक, छेदोपस्थापना इन दोनों संयमोंमें भी प्रवर्त रहे हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक साधुवर्य तो अकेले यथाख्यात संयममें प्रवृत्ति करते हैं। उक्त पांचों निर्ग्रन्थोंका यदि श्रुत अनुयोगमें विचार किया जाय तो यों व्यवस्था है कि पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील ये उत्कर्ष करके अभिन्नाक्षर दशपूर्व मात्रमें प्रवृत्ति करते हैं। ये ग्यारह अंग दशपूर्वसे अधिक नहीं जान पाते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ तो उत्कर्षेण ग्यारह अंग और चौदह पूर्वपरिमित शास्त्रज्ञानमें प्रवेश कर जाते हैं। जघन्य रूपसे पुलाकोंका श्रुतज्ञान आचारवस्तु नामका विशेष प्रकरण है। वकुश आदि यानी वकुश कुशील और निर्ग्रन्थोंका जघन्य श्रुतज्ञान आठ प्रवचनमातायें हैं। स्नातक मुनिवर्य तो श्रुतज्ञानको पारकर दूरकर चुके हैं क्योंकि केवलज्ञान दशामें दूसरा ज्ञानस्थान नहीं पाता है। तीसरी प्रतिसेवनाका व्याख्यान यों है कि पुलाक मुनिके अहिंसादि पांच मूल गुण महाव्रतोंमें और छठे रात्रिभोजन त्यागव्रतमें दूसरोंके अभियोगसे बलात्काररूपेण प्रतिसेवना कदाचित् संभव जाती है। उपकरणवकुश मुनिके उपकरणोंके संस्कार करनेसे प्रतिसेवना हो जाती है। शरीर वकुश यतिके शरीरके संस्कार करनेके अनुसार प्रतिसेवना हो जाती है, प्रतिसेवना कुशीलके तो मूलगुणोंमें नहीं होकर उत्तर गुणोंमेंही प्रतिसेवना होती है। कषायकुशील आदिक अर्थात् कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये प्रतिसेवनासे रहित हैं। इनको कोई दोष नहीं लग पाता है। चौथे तीर्थको यो बखानिये कि संपूर्ण तीर्थंकरोंके समयमें और उनके वारोंमें ये पांचो प्रकारके निर्ग्रन्थ हो जाते हैं। पांचवे लिंग अनुयोगकी यों व्याख्या है कि संपूर्ण मुनियोंका द्रव्यलिंगही है, द्रव्य स्त्री या नपुंसक कथमपि महाव्रतोंको नहीं धारते हैं, अतः सभी निर्ग्रन्थ द्रव्यलिंगी प्रतीति कर पुल्लिंगी हैं। हां, भावलिंगकी प्रतीति अनुसार विकल्पनीय हैं। किसीके भाववेद पुल्लिंगका उदय है, अन्य मुनि भाववेदकी अपेक्षा स्त्रीवेदी है, तीसरेके कार्यरहित होकर नपुंसक वेदका उदय भी संभवता है जो कि नौमे गुणस्थानके संवेद भागतक पाया जा सकता है। लेश्या तो फिर उस पुलाक मुनिके उत्तरवर्तिनी पीत, पद्म, शुक्ल तीन हैं। वकुश और प्रतिसेवनाकुशील मुनियोंके छहों भी लेश्यायें हैं। कषायकुशील और परिहारविशुद्धिसंयमवालेके परली ओर की तीन शुभ लेश्यायें हैं। सूक्ष्मसांपराय संयमी और निर्ग्रन्थ स्नातक मुनियोंके शुक्लही लेश्या होती है। चौदहवे गुणस्थानवर्त्ती अयोगी महाराज तो लेश्यारहित हैं। सातवें उपपाद अनुयोगकी विकल्पना

यों है कि पुलाक मुनिका मरकर जन्म होना स्वरूप उपपाद उत्कृष्ट रूपसे उत्कृष्ट-स्थितिवाले देवोंमें सहस्रार स्वर्गमें होता है। वकुश और प्रतिसेवना कुशील साधुओंका आरण, अच्युत, स्वर्गोंमें बाईससागरोपमस्थितिवाले देवोंमें उत्कृष्टतया होगा। कषाय-कुशील और निर्ग्रन्थ मुनिवरोंका उपपाद तो तेंतीस सागरोपम स्थितिको धारनेवाले देवोंमें सर्वार्थसिद्धि विमानमें होगा। सभी पुलाक वकुश कुशील मुनियोंका जघन्य रूपेण उपपाद तो दो सागरोपम स्थितिवाले देवोंमें सौधर्म कल्पमें होगा। स्नातक मुनिका तो पंडितपंडितमरण निर्वाण है। निर्ग्रन्थ और स्नातकोंका पुनर्जन्म होता ही नहीं हैं। आठमे स्थान अनुयोगका मुनियोंमें परामर्श कीजिये कि कषायके उदय, उपशम, क्षयको निमित्त पाकर हो रहे सन्ते असंख्याते संयम स्थानोंमें पुलाक और कषाय-कुशील मुनियोंके सम्पूर्ण जघन्य विशुद्धिको लिये हुये लब्धिस्थान होते हैं। वे दोनोंही ऊपर ऊपर रची हुयी लब्धिस्थानोंमें कुछ दूरतक दोनों साथ साथ युगपत् चलतें हैं। इसके पश्चात् पुलाककी व्युच्छित्ति हो जाती है। यानी पुलाक इससे अधिक ऊंचा संयमस्थानोंपर नहीं चढ पाता है। उससे ऊपर कषायकुशील (वकुश होना चाहिये) अकेलाही जाता है, कतिपय स्थानोंपर चढकर उससे ऊपर कषायकुशील, प्रतिसेवना कुशील और वकुश मुनिवर्य साथ साथ असंख्याते लब्धिस्थानोंपर चलते हैं। पहिले वकुशकी व्युच्छित्ति हो जाती है। उससे भी ऊपर असंख्याते संयमस्थानोंपर जाकर वहांसे प्रतिसेवना कुशीलकी व्युच्छित्ति हो जाती है। उससे भी अधिकतर असंख्याते संयमस्थानोंपर चलकर कषायकुशील व्युच्छिन्न हो जाता है। उनसें ऊपर निर्ग्रन्थ मुनि कषायरहितजन्य संयमस्थानोंको प्राप्त करता है। वह भी बारहमें गुणस्थानमें पाये जानेवाले असंख्याते लब्धिस्थानोंतक जाकर व्युच्छिन्न हो जाता है। उसके ऊपर अन्तिम एक संयम स्थानको चलकर स्नातक मुनिवरेण्य निर्वाणको प्राप्त हो जाता हैं। उस समय संयमलब्धि अनन्तानन्त गुणी हो जाती है। इस प्रकार नौमे अध्यायमें श्री उमा-स्वामी करके सूत्रोंद्वारा रची गयी संवर और निर्जराकी सिद्धिका प्रकरण संकोच करते हुये ग्रन्थकार श्री विद्यानन्दस्वामी अग्रिम शार्दूलविक्रीडित छन्दमें निरूपण करते हैं। कि " इस प्रकार नौमे अध्यायमें कहे जा चुके क्रमके वशसे जिस प्रकार कर्मास्रवोंके प्रतिपक्षीपनको धार रहे और मोटी सामर्थ्यको रखनेवाले गुप्ति, समिति आदि परिण-तियों करके संवर होता सिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार धीर वीर तपस्वी आत्माका

विविध आकारवाले कहे जा चुके तप, करके शुद्धात्मसंबंधी अनेक संयम विशुद्धियोंकी वृद्धिके वशसें निर्जरा हो जाती है। इस सिद्धान्तको संशयरहित होकर स्वीकार कर लेना चाहिये। इस प्रकार यहांतक तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकार नामक महान् ग्रंथमें नौमे अध्यायका दूसरा प्रकरण समुदाय स्वरूप आन्हिक समाप्त हो चुका है। **कृतधिय संवरनिर्जरानिःश्रेणीमासाद्यापिम मोक्षप्रासादमारोहन्तु।**

इति श्री विद्यानन्द आचार्य विरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे

नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ९ ॥

इस प्रकार यहां तक श्री विद्यानन्द आचार्य महाराजके द्वारा विशेष उत्साह पूर्वक रचे गये तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकार नामक महान् ग्रन्थमें नौवा अध्याय परिपूर्ण हो चुका है। --इस नौमे अध्यायके प्रकरणोंकी संक्षेपसे सूचना इस प्रकार है कि प्रथमही संवरका लक्षण करते हुये निरोध और संवरका सामानाधिकरण्य निरुक्ति अनुसार बताया गया है। बंधके निरोधको संवरपनेका निषेध किया है, द्रव्यसंवर और भावसंवरका विचार करते हुये गुणस्थानोंकी चर्चा की है। तेरहवें तक देश संवर और चौदहवें गुणस्थानमें पूर्ण संवर होना बताया हैं। संवरके गुप्ति आदि कारणोंका हेतुहेतुमद्भाव पोषते हुये तपसे निर्जराका होना भी युक्ति सिद्ध किया है। सूत्रानुसार गुप्ति, समिति और धर्मोंकी ऊहापोहपूर्वक प्रतिपत्ति कराई हैं। आठ शुद्धियोंका विवरण करते हुये मुनिकी पांच भिक्षावृत्तियोंका दिग्दर्शन किया है।

जैन समाजमें पूजन करना अच्छा प्रचलित है। देव, गुरु, शास्त्र अथवा अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, जिनधर्म, जिनागम जिनचैत्य, जिनचैत्यालय, इन नौ देवोंकी अर्चा करनेसे सम्यग्दर्शन पुष्ट होता है। देव पूजनमें सभी व्यवहारधर्म गर्भित हैं। जैसे कि विश्वासघातमें सम्पूर्ण पाप छिपे हुये है।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।

श्री समन्तभद्राचार्यके प्रमाणवाक्यानुसार कही गयी सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा पूजनों द्वारा होती है। पूजा करना सम्यग्दर्शनका कार्य भी है और कारण भी हैं। जैसे कि आप्तका उपदेश सम्यग्ज्ञानका कार्य और कारण है अथवा

यम, नियम ये सम्यक्चारित्रके कार्य और कारण भी हैं। नौ देवोंकी नित्य नैमित्तिक पूजनसे मोक्ष मार्ग माने गये रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है।

भाद्रपद दशलक्षण पर्वमें बहुभाग जैन बन्धु जिनचैत्यालयमें जो दशधर्मोंकी पूजा करते हैं वह नैमित्तिक पूजा है। गृहस्थके आवश्यकोंके अनुसार प्रतिदिन जो पूजा की जाती है वह नित्यमह है।

जैनोंमें कितनेही पर्व या पुण्य दिवस, पूर्व कालोंसे चले आ रहे हैं। उनमें यथा-योग्य नव देवताओंका पूजन किया जाता है।

वीर निर्वाण दिवस, नन्दीश्वर पर्व आदिमें मुख्य रूपसे जिनेन्द्रदेव या प्रतिमा देवताकी पूजा की जाती है। श्रुतपंचमीको जिनागम देवकी अर्चा प्रधानतया होती है।

सम्मेदशिखर, सोनागिर, पावापुर आदिकी वन्दना करते समय चैत्यालयदेवकी या वहांसे मोक्ष गये सिद्धोंकी अर्चा होती है। रक्षाबन्धन (सलूना) के दिन तो विशेष पूजा की जाती है वह गुरुपूजा है। अर्थात् विष्णुकुमार अकंपन आदि आचार्य, उपा-ध्याय, साधुओंकी पूजा है। दशलक्षण पर्वमें तो उत्तम क्षमा आदि या रत्नत्रय आदि धर्मोंके पूजनकी मुख्यता है। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, जिनधर्म, जिना-गम, जिनचैत्य और जिन चैत्यालय इन नव देवताओंमें पांच परमेष्ठी तो जीव तत्व हैं। और चैत्यालय पुद्गल तत्व हैं। सिद्धोंके विना चार परमेष्ठियोंके प्रतिपादित वचन और श्रुतज्ञानको जिनागम कहते हैं। धर्म देवता तो वस्तु स्वभाव, जीवदया, व्रतधारण, व्यवहार रत्नत्रय, सामायिक, गुप्ति, उपशम श्रेणि, क्षपकश्रेणि, इन अव-स्थाओंको पार करता हुआ, उत्तम क्षमा, अहिंसा, ब्रम्हचर्य, केवलज्ञान, शुद्ध चारित्र, अव्याबाध आदि रूप हो रहा जीवस्वभाव ही है। सचित्त अचित्त द्रव्यों या भावों द्वारा नौ देवोंकी पूजा करनेवालोंको परिशेषमें आठ देवताओंका परित्याग करना पडेगा। ऊंची ध्यान अवस्थामें निज--आत्म--स्वरूप धर्मदेवताकी ही उपासना की जायगी तब मोक्ष प्राप्त होगी। मोक्ष हो चुकनेपर भी शुद्ध धर्मदेवही वहां सर्वदा स्वरस स्वानुभूत सच्चिदानन्दमय अनुभूत होते रहेंगे। निश्चयधर्म और व्यवहार धर्मके भेदसे आत्मीय धर्म दो प्रकार का है। पूजन ईर्यासमिति, ब्रम्हचर्याणुव्रत, मुनि दान व्युत्सर्ग, अनशन, वैयावृत्य, परीषहजय, परिहार, विशुद्धि आदि ये निचले गुणस्थानोंमें पाये जानेवाली

परिणतियां सब व्यवहार धर्म हैं। किन्तु उपरिमगुणस्थान या गुणस्थानातीत निश्चय-धर्मकी प्राप्तिके नितांत आवश्यक मार्ग ये ही हैं। अतः तब तक उपादेय हैं।

परमभावग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके द्वारा जो आत्माका स्वरूप ग्रहण किया जाता है वही निश्चय धर्म समझना चाहिये। जैन शासनका मन्थन करनेसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि धर्म और धर्मीका अभेद संबंध है। यहां अन्य द्रव्योंके तदात्मक धर्मो या सांसारिक जीवोंके धर्मोका विचार नहीं कर केवल आत्मद्रव्यके अविष्वग्भावी धर्मोंका परामर्श किया जाता है। उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तपः, त्याग, आकिंचन्य और ब्रम्हचर्य ये दशलक्षण धर्म कहे गये हैं। साथही इनको परमब्रम्ह शुद्धसिद्ध परमात्मस्वरूप भी इष्ट किया जाता है। दशलक्षण पर्वमें पूजन करते समय "ॐ ह्रीं परब्रह्मणे उत्तमक्षमाधर्माङ्गाय नमः" "ॐ ह्रीं परब्रम्हणे उत्तममार्दवधर्माङ्गाय नमः" इत्यादि से अनादिकालीन मंत्रोंको बोलकर पूजकजन अष्ट द्रव्योंको चढाते हैं और नियत दिनोंमें यथाक्रमसे उक्त अनादिकालीन दशों मंत्रोंका दश दिनतक जाप करते हैं। इन धर्मोंका व्याख्यान श्रवण, मनन, पालन, ध्यान भी उनकी लब्धिके लिये किया जाता है। उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंका व्याख्यान सुनना जितना मनोहारी है उनका पालन करना उससे कहीं असंख्यात गुण अधिक आनन्दप्रद है।

सम्यग्दृष्टि जीवको स्वात्मानुभवसे जैसा निजानन्द रस झलकता है। उसी प्रकार धार्मिक पुरुषोंको उक्त सिद्ध परमात्मस्वरूप क्षमा आदि धर्मोंके धारण, पालन द्वारा आत्मीय रसानुभवकी अलौकिक छटा प्रतिभासित रहती है। आत्माके निज गुण कभी नियुक्त नहीं हो पाते हैं। प्रत्युत सिद्ध अवस्थामें तो वे और भी परिस्फुट,निर्मल, निःप्रतिबन्ध होकर व्यक्त हो जाते हैं। निश्चय धर्म अविनाशी है, अन्तकाल तक आत्मामें तदात्मक होकर बना रहता है। प्रकरणमें यह कहना है कि ये क्षमा आदि धर्म शुद्ध आत्माके परमोत्कृष्ट परिणाम हैं। अशुद्ध निश्चय नय, सद्भूत व्यवहार नय, अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय, उपनय आदि नयोंके विषय हो रहे और संसारी जीवोंके कर्तव्य माने गये मतिज्ञान, देवपूजन, गुरुसेवा अध्ययन, प्रतिक्रमण, आलोचना, संस्थानविचय, मदीय शरीर आदि हेय परिणतियोंके सदृश ये धर्म नहीं हैं किन्तु आत्माके तदात्मक निज स्वरूप हैं। यानी इन धर्मोंको अलग कर दिया जाय तो धर्मी आत्मा कुछ भी नहीं रह जायगा। जैसे कि उष्णता या उसके अविनाभावी गुणोंके निकाल देनेपर अग्नितत्व असत् हो जाता है।

इन दश धर्मोंमें सभीके पहिले ' उत्तम ' शब्द पडा हुआ है जो की इस लोक या परलोकके सुखप्रद अभ्युदयोंकी अपेक्षासे किये गये व्यवहारी जघन्य, मध्यम, धर्मोंका व्यावर्तक है । भावार्थ--व्यावहारिक क्षमा, मार्दव, आदि धर्म संसारी जीवोंके भी पाये जाते हैं जो कि परम भाव माने गये उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि धर्मोंके संपादक है । साधनोंसे साध्य न्यारा है या परिमार्जित है ।

चारित्रगुणस्वरूप उत्तम क्षमा आदिको यों परब्रम्हमय समझिये कि आत्माकी वैभाविक परिणतिको करनेवाले चारों प्रकारके क्रोध कर्मोका उदय हो जानेपर आत्मा अपने क्षमाभावसे च्युत हो जाता है । क्रोधको आत्मीय पुरुषार्थ द्वारा नहीं उपजने देना क्षमा है । मुनियोंमें क्षमा पाई जाती है किन्तु दशवें गुणस्थानमें क्रोधका उदय हट जानेपर उत्कृष्ट क्षमा हो जाती है तथा आनुषङ्गिक दोषोंके भी टल जानेपर चौदहवें गुणस्थानके अन्तमें (सिद्धोंकी क्षमा) अत्यन्त उत्कृष्ट उत्तम क्षमा है । गुणकी परम स्वाभाविक परिणति कर्मकलंक रहित सिद्ध अवस्थामें पाई जाती है तभी तो क्षमाके लिये " ध्यान कोटि समा क्षमा " यह लिखा गया हैं । करोड शुभध्यानोंके बराबर एक क्षमा है । उत्तम ध्यान माने गयें धर्म्य ध्यान और शुक्लध्यानसे भी क्षमा कोटिगुणी उपादेय है । ध्यान तो संसार अवस्था है, सातवें गुणस्थानतक ही धर्म्य ध्यान है तथा एक अर्थमें चिन्ताओंको रोककर शुद्ध आत्म--संबंधी लम्बे२ नयज्ञानोंके पिण्ड हो रहे श्रुतज्ञानोंका समुदायस्वरूप शुक्लध्यान भी बारहवें गुण-स्थान तक ही पाया जाता है । उत्तमक्षमा तो इन गुणस्थानोंमें पूर्णक्षमाके अनन्तवें भाग मात्र है । वस्तुत: अनन्तानन्त अविभाग प्रतिछेदोंके धारी उतम क्षमा, मार्दव, आर्जवशील, केवलज्ञान आदि क्षायिक भाव तो अनन्तकालतक पूर्णरीत्या सिद्ध परमात्माओंके ही पाये जाते हैं । क्षायिक भाव और पारमाणिक भावोंका अखण्ड समुदाय ही सिद्ध परमात्मा है । यों चारित्र मोहनीय माने गयें क्रोध, मान माया, लोभ नामक कर्मोंके क्षयसे हुए यें उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच धर्म भी केवलज्ञान क्षायिक सम्यक्त्वके समान अक्षय अनन्तानन्तकालतक शुद्ध परमात्मास्वरूप होकर मुक्तात्माओंमें तदवस्थ जडे हुए हैं ।

असदभिधानरूप झूठे वचनका त्याग करना सत्यव्रत है । पांचवां निश्चय सत्य-धर्म इससे भी कहीं ऊंचा आत्मतत्व है तथा ' अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रम्हपरमम्' समन्तभद्राचार्यकी इस उक्तिके अनुसार अहिंसाके समान सत्य भी शुद्ध सिद्ध परमेष्ठीका

अनन्त अबिनाशी धर्म है । ' सत्सु साधु सत्यं ' जो सज्जनोंमें साधु है वह सत्य है, तीर्थंकरसे अधिक सज्जन अन्य कौन हो सकते हैं, तीर्थंकर भगवान दीक्षाके समय या आगे पीछे भी सत्य सिद्धोंको नमस्कार करते हैं । छठे संयमके विषयमें यों विचार कीजिये कि व्रत--धारण, समिति--पालन, कषायनिग्रह, इन्द्रिय-जय, योगनिरोधरूप व्यवहार संयम तो श्रावक या मुनिवरोंमें पाया पाता है । इन्द्रियसंयम या प्राणसंयम भी व्रतियोंमें मिलता है । हां, क्षायिकलब्धि या क्षायिक उपयोग स्वरूप इन्द्रियोंको स्वायत्त रखना, अथवा सुख सत्ता, चैतन्य, बोध इन भाव प्राणोंकी बाल २ रक्षा करना बडे भारी पुरुषका कार्य है । इस कामको सिद्ध भगवान विना इच्छाके स्वभावत: अनुरक्षण करते रहते हैं । जैसे कोई पहलवान शरीरावयवों, धातु उपधातुओंको यत्न द्वारा यथास्थान स्थिर रखता है । इस मल्लके कार्यमें भले ही कुछ इच्छाका योग भी है किन्तु मुक्त जीवोंके मोहकर्मजन्य इच्छा नहीं है । हां, ज्ञान और प्रयत्न हैं । टोटल ऐसा है कि जगत्का एक कार्य इच्छासे होता है और अनन्त कार्य बिना इच्छाके स्वकारणोंसे होते रहते हैं । पैंतालीस लाख योजन परिमित ऊपरले तनु वातवलयमें विराजमान हो रहे और भूतकालीन समयोंसे असंख्यातवें भाग नामक अनन्तानन्त संख्यावाले सिद्ध भगवान स्वकीय निरिच्छ छत्रच्छायासे त्रस स्थावर जीवोंकी रक्षा कैसे करते हैं ? अथवा जीवोंको आत्मीय गुण या मोक्षमार्गपर उदासीन कारण होकर कैसे लगा देते हैं ? इस सिद्धान्तको पुष्ट करनेके लिये एक स्वतंत्र लम्बा लेख अपेक्षणीय है ।

श्री राजवार्तिकमें एकेंद्रिय आदि प्राणियोंकी पीडाका परिहार और इन्द्रिय विषयोंमें आसक्ति नहीं करना संयम माना है । ये अभावात्मक प्रतिजीवी गुण जैसे सिद्धोंमें निवसते हैं वैसे मुनियोंमें तो क्या क्षपकश्रेणीमें भी नहीं पाये जाते हैं । गृहस्थोंकी तो बात ही क्या है, अज्ञान या अशक्यानुष्ठान होनेके कारण क्षपकश्रेणीमें भी उत्तम समय नहीं पल पाता है । क्षपक श्रेणी भी तो संसार है । मुमुक्षु जीव क्षपक श्रेणीको प्राप्त कर पुन: छोड देता है । तब कहीं आगेके पुरुषार्थों द्वारा वह मोक्ष प्राप्त कर पाता है । सातवें तपो धर्मका विवरण यों है कि कर्मोंकी निर्जरा हो जाय या पुन: कर्मोंका सम्बन्ध न हो जाय एतदर्थ तप करना पडता है । व्यावहारिक बाह्य और आभ्यन्तर बारह तप तो सिद्धोंमें नहीं है । किन्तु पुनः योग और कषायका प्रकरण नहीं

मिल सके तथा पुनः कर्मसम्बन्ध न हो जाय इसके लिये मुक्त जीवोंका स्वाभाविक उत्तम तप नामक पुरुषार्थ होता रहता है।

देखो भावात्मक अनुजीवी और अभावात्मक प्रति-जीवी गुणों, तथा अनेक स्वभावोंका पिण्ड ' वस्तु ' है। विद्वान् पुरुष इस सिद्धान्तको भले प्रकार जानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ पर छः स्थानवाली हानि वृद्धिको ले रहे भाव गुणोंके समान अविभाग प्रतिच्छेदहीन ये प्रागभाव, ध्वंस, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव चारों अभाव भी तदात्मक होकर लद रहे हैं। कोई भी वस्तु निजस्वरूप इनके बोझको उतार कर फेंक नहीं सकती है। प्रागभावका तिरस्कार कर यदि पांचसौ वर्ष आगेकी औलादोंको आज पैदा कर लिया जाय तो इस अन्नके दुर्लभ युगमें क्या भरपूर सुभिक्षमें भी आपके हिस्सेमें एक अन्नका दाना भी न पडेगा तथा रहनेके लिये एक अंगुल स्थान भी बांटमें नहीं आयगा। ' कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निन्हवे '। (समन्तभद्र) इसी प्रकार पांचसौ वर्षके पूर्ववर्ती मुर्दाघाटों, श्मशानों या कब्रिस्तानोंको जगा दिया जाय तो पुरखा लोग अन्न जलके कष्टमे दुःखी होकर हत्याकांड मचा देंगे। जैसे कभी (प्राचीन समयमें) बारहवर्षके अकालमें लोग दूसरोंके पेटमेंसे अन्न निकालकर खा लिया करते थे। ' प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ' (समन्तभद्र) बात यह है कि आगे होनेवाले पदार्थोंके प्रागभावोंको वैसाही निषेध रूपमें बना रहने दो इसपर खुशियां मनाओ। तथा स्वकीय पुरखाओंको भी ध्वंसकी मृत्यु निद्रामें सोता रहने दो तभी आप हम चैनकी वंशी बजा सकते हैं। यों प्रागभाव और ध्वंस का मानना अत्यावश्यक है तथैव अपने सिरपर या परोसी हुई थालीमें सर्प व्याघ्र आदिका अभाव बना रहने दो अन्यथा इस अभावका कतिपय क्षणके लिये भी यदि तिरस्कार कर देवेंगे तो उसी क्षण फण उठाये हुये सर्प, दहाडता हुआ बघेरा सिरपर चढ बैठेगा। थाली कालचक्र बन जायगी। यों प्रत्येक वस्तुमें स्वातिरिक्त अनन्तानन्त पदार्थों स्वरूप नहीं परिणत हो जानेका उद्देश्य रख जम कर बैठ गये असंख्य अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभावकी भीतर भीतें पडी हुई हैं।

' स्वपरादानापोहनव्यवस्थापाद्यम् खलु वस्तुनो वस्तुत्वम् ' (राजवार्तिक) अपने निज तत्वको पकडे रहना और परकीय उपाधियोंका परित्याग करते रहना ही वस्तुका वस्तुत्व है, यहां प्रयोजन इतना ही है कि कर्मबन्ध पुनः नहीं बन बैठे एतदर्थ

सिद्ध भगवान भी निश्चय तपको तपतें रहते हैं। जैसे कि कमलपत्र सर्वदाही कोशिशसे अपने छोटे २ रोंगटोंको सतर किये रखता है, जो कि रोम पानीके कणोंसे भी बहुत बारीक और सघन हैं। तभी पत्तेंको पानी नहीं छू पाता है। हां, उस रोमावलीके मुरझा जानेपर पत्तेसे पानी भिड जाता है। क्योंकि पत्तेको बेलसे तोड देनेपर या सुखा देनेपर कुछ काल पश्चात् वह यत्न ढीला पड जाता है। प्रत्येक वृक्ष स्वशक्तिसे अपने तना, शाखाओं, पत्तों, फूलों, फलोंको ताजा (सजाता हुआ) बनाये रखता है। अत: रोमावलीको सदा सतर बनाए रखना पडता है तभी कमलपत्र अपने शरीरसे पानीको नहीं लगने देता है। संसारी जीवों या पुद्गलोंके गुणों समान सिद्ध भगवानके गुणोंको भी अर्थक्रियायें करनी पडती हैं। तभी वे अपने कैवल्य या सिद्धत्वकी रक्षा कर पाते हैं। यों शुद्ध आत्माओंका स्वरूप हो रहा तपोधर्म है।

परिग्रहनिवृत्ति स्वरूप त्याग तो पूर्णरीत्या सिद्धोंमें ही है। अर्हन्तोंके भी शरीर और चार अघातिया कर्म लग रहे हैं। दानान्तराय कर्मके क्षयसे उपजा क्षायिक दान सिद्धोंमें भी पाया जाता है। उदासीनतया वे जीवोंके लिये ज्ञानदान, अभयदान मोक्षमार्ग प्रदान करते रहते हैं। अष्टशतीकी ' यावन्ति कार्याणि तावन्त: स्वभावभेदा: ' इस पंक्ति तथा श्री गोम्मटसार अनुसार नो आगम द्रव्यको जब सिद्धमें लगाया जायगा तो विशुद्ध बुद्धिवाले जिज्ञासुओंके हृदयमें उक्त सिद्धान्त भले प्रकार बैठ जावेगा। यों निश्चय उत्तमत्यागधर्मस्वरूप तो सिद्धचक्र ही है अन्य कोई नहीं।

जैन न्यायशास्त्रका अखण्ड सिद्धान्त है कि ' भावाभावात्मकं वस्तु ' प्रत्येक पदार्थ भावों और अभावोंका तदात्मक पिण्ड हो रहा है। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्य या उसकी पर्यायोंके साथ अत्यन्ताभाव हो रहा है। द्रव्यकी सजातीय पर्यायोंमें अन्योन्या-भाव प्रविष्ट हो रहा है। ये अभाव सभी द्रव्यों और स्वभावोंमें, अविभाग प्रतिच्छे-दोंमें यहांतक कि स्वयं अभावोंमें भी पाये जाते हैं। इसका दृष्टान्त द्वारा स्वल्प स्पष्टीकरण यों है। वर्तमानमें जितने मनुष्य विद्यमान हैं उन सबके भाग्य, आदतें, वचन--प्रणाली, विचारणायें, हस्ताक्षर आदि न्यारे २ हैं। यही नहीं, सबकी सूरतें मूरतें भी न्यारी २ हैं। तभी तो लोग अपने २ लडके, मां, बाप, पत्नी, स्वामी, सेवकको झट पहचान लेते हैं। इस आकृति भेदसेही ब्रम्हचर्य और अचौर्याणुव्रतकी खासी रक्षा हो पाती है। यदि सूरतें या आकृतियां भिन्न २ न होती तो सुन्दरी ताराके लिये

विद्याबलसे सुग्रीवकी सूरत बदल कर आ गये साहसगति विद्याधरके प्रकरण समान बडे २ अनर्थ या अत्याचार मच जाते, कोई भी सरकार किसी भी प्रकार इसका फैसला नहीं कर पाती ।

भाइयो ! मनुष्यों, स्त्रियों, लडके, लडकियोंकी सूरतें तो पृथक २ आपको दीख ही रही है । मैं तो यह कहता हूं कि घोडे, बैल, भैंस, गाय, हिरण, बन्दर, सर्प, इन सब जीवोंकी भी सूरतें आपसमें एकसी नहीं हैं । यानी जयपुरमें यदि पच्चीस लाख कबूतर हैं तो उनकी एक २ की सूरत भी अलग २ है । आपके घरमें यदि पचास चिडियां हैं तो उन सबकी मूरतें न्यारी २ हैं । जरा उनके बच्चोंसे पूछो वे सब अपनी २ माताको पहचान कर अपनी २ खास मां से शीघ्र लपट जाते हैं । नासमझ और बेवकूफ बच्चेकी बात न्यारी है । इतनाही नहीं, मक्खियां चीटियां, दीमकें, खटमल, बर्र ततैया, मच्छर, मकडियां, मछलियां, मगर, कछुआ आदि ये सबही अपनी २ जातिमें एक दूसरेसे न्यारी २ सूरतवाले होते हैं । मेरे अभिप्रायको आप समझ गये होंगे । मैं कह रहा हूं कि सहारनपुरमें कई करोड मक्खियां है लेकिन एक २ मक्खीकी सूरत न्यारी २ है । कोई भी मक्खी दूसरी मक्खीसे शकलमें नहीं मिलती है । स्थूलदृष्टिवालोंको वे एकसी दीखती हैं, किन्तु उनकी सूरतें उसी प्रकार न्यारी २ हैं जैसे कि प्रत्येक कुटुम्बके सब मनुष्योंके शरीरोंके आकार और मुखाकृतियां भिन्न २ हैं । केवल मनुष्योंकी मुखाकृतियां ही न्यारी २ नहीं किन्तु हरएकके पेट हाथ कान अंगुली रोम सभी अंग प्रत्यङ्गोंकी सूरत न्यारी २ है । कोई भेद-विज्ञान कर सके या न कर सके यह दूसरी बात है । आपकी आवश्यकता या अनावश्यकताके साथ वस्तुव्यवस्थाका अन्वय व्यतिरेक नहीं है । टकसालमें सन १९४१ के ढले हुए रूपसे एकसे हैं उनकी आकृतियां समान है । भले ही उनका उपादान कारण भिन्न २ हो इसका यहां विचार नहीं चल रहा है । इसी प्रकार एक सांचेकी बनी हुई ईंटें या एक साथ छपी हजार पुस्तकें एकसी हो सकती हैं । डीबनका लट्ठा अथवा सरोजनीकी मलमल इनके सैकडों थान अथवा एक साथ उसी सांचेमें ढले हुये कल पुरजे, एक सूरतवाले हो सकते हैं । हमें इनकी आकृतियां न्यारी २ नहीं सिद्ध करनी है । कैमरामें इनकी तस्वीरें खिचवावें तो वे तस्वीरें एकसी हों भी, किन्तु उक्त जीवोंके शरीरोंकी आकृतियां समान नहीं है । मक्खियोंके फोटो प्रत्येक रूपसे भिन्न २ हैं ।

हां, तो थोडा और आगे सरकिये, जुंये, लीखें, घुन, लटें, पइयां गिजाइयां ही अकेली अकेली भिन्न २ आकृतिवाली हैं किन्तु इतनाही प्रत्येक वस्तुमें तादात्म्य रूपसे पाया जा रहा अभाव पदार्थ हमें आदेश देता है कि मैंने छाप लगाकर प्रत्येक गेहूं चावल मक्का, बाजरा, पोस्त, सरसों, जीरा, इलायची आदि सब चीजोंमें अथवा आम, अमरूद, खरबूजा और अंगूर आदि फलों यहांतक कि साग, तोरई, घास, पत्ता, फूल, डण्ठल सबकी परस्परमें न्यारी २ आकृतियां बनने दी हैं। भावार्थ-दुनियामें करोडों मन गेहूं उपजता है। लाखों मन बाजरा उगता है। उन अरबों खरबों गेहूंका प्रत्येक दाना दूसरे गेहूंके दानेकी सूरतका नहीं है। एक बाल (कुकडी) के दो हजार बाजरा भी सब न्यारी २ सूरतके हैं जैसे एक मां के लडकोंकी आकृति न्यारी २ है। प्रत्येक अंगूर या अमरूदकी शक्ल दूसरे किसी अंगूर या अमरूदसे नहीं मिलेगी। सूक्ष्मदृष्टिसे निरखिये, पारखी जौहरीके समान इन रत्नोंपर भेदभावकी गहरी दृष्टि डालिये, संसारमें भेद विज्ञानही कठिन है। और भी आगे बढकर समझिये कि भूतकालमें भी जितने घोडे, मक्खियां, गेहूं, बाजरा, पोस्त, घास, वृक्ष, बनस्पतियां और फल हो चुके है वे भी सब न्यारी २ आकृतियोंको लिये हुए थे, वे आकृतियां इन वर्तमानके घोडे आदिकी न्यारी २ आकृतियोंसे भिन्न २ प्रकारकी ही थी। जैसे कि भूतकालमें ऐसा कोई मनुष्य नहीं हुआ जिसकी सूरत आपसमें या आजकलके किसी भी मनुष्यसे ठीक २ पूर्णतया मिलती हुई हो। अब आप सभी अन्य देव-देवियां, त्रसकाय, स्थावरकाय जीवोंकी भूत, वर्तमान, भविष्यकालीन भिन्न २ अनन्तानन्त आकृतियोंका विचार स्वयं कर सकते हैं। क्योंकि जीवोंके अगुरुलघुगुण और अभाव स्वभाव बहुत विलक्षण प्रकारके हैं। समवायीकारण तो भिन्न २ हैं ही, इस बातको तो सभी जानते हैं। इसकी यहां चर्चा ही नहीं है। इस बातका भी लक्ष्य रखना कि प्रत्येक मनुष्य, घोडा, कबूतर, चींटी, लट, फल, घास, गेहूं आदिकी सूरत कुछ दिनोंमें बदली रहती है। अर्थात् एक मनुष्यकी बाल्य अवस्थामें मुखाकृति न्यारी थी, युवावस्था और वृद्धदशाकी सूरत बदली हुयी निराली है। यदि आप किसीको शीघ्र २ नहीं देखेंगे तो पहिचानना कठिन हो जाय, बीस वर्ष पीछे तो बाप बेटेको नहीं चीन्ह सकता है। इस आकृतिओंके परिवर्तित भेदको मैं कहांतक बीस वर्ष या दश वर्ष, एक वर्ष, एक मास, एक दिन, एक घंटा, एक मिनट या अन्तिम सीमा एक समयतक ले जाऊं ? । इस सिद्धांतका परीक्षण, निर्णय अब स्वयं कर लीजियेगा।

तात्पर्य यह है कि भावोंके समान अभावोंका भी साम्राज्य सर्वत्र छा रहा है। आप भावोंके कार्योंको देखते आ रहे हैं किन्तु अभावोंके कार्योंका विस्तार बहुत बढा हुआ है। सम्पूर्ण कार्योंमें केवलान्वयी होकर प्रतिबन्धकाभावको कारण माना गया है। अभाव उन बडे २ कार्योंको साधते हैं जो कि भाव कारणोंके द्वारा कालत्रयमें नहीं हो सकते हैं। असम्भव हैं, जैन न्यायग्रन्थोंमें इस तत्वका अति सुन्दर विवेचन किया गया है। यों ' भावाभावैर्गुम्फित वस्तु। ' प्रत्येक वस्तु अनन्तानन्त भाव और अभावोंके साथ तदात्मक होकर गुंथ रही है।

' मेरा कुछ नहीं और मैं किसीका नहीं ' यह नौवां आकिंचन धर्म तो पूर्ण-रीत्या सिद्धोंमें ही मिलेगा जब कि अरहन्तोंके भी आठ प्रातिहार्य, परमौदारिक शरीर, सुस्वरप्रकृतिका उदय अनेक उपाधियां लग रही हैं। सिद्धोंका आत्मा निजस्वरूप बना रहे, पर पदार्थपर ही रहें! इस अर्थक्रियाके लिये किसी स्वभावका वहां बैठे रहना अनिवार्य है। एक बात यह भी ध्यानमें रखनेकी है कि प्रत्येक सत् वस्तु अर्थ क्रिया-ओंको करती है, मुक्त हो चुके सिद्धभगवानको भी स्वोचित क्रियायें करनी पडती है। जनसिद्धान्तमें पुरुषार्थ चार माने गये हैं। पुरुष यानी आत्माका अर्थ यानी प्रयोजन या कर्तव्य इसको पुरुषार्थ कहते हैं। असि, कृषि, वाणिज्य, अध्यापन आदि द्वारा न्यायपूर्वक अर्थोपार्जन करना अर्थपुरुषार्थ है। तलवार, व्यापार, शिल्प, गायन आदि साधनोंसे किये गये अर्थ पुरुषार्थके अनेक भेद है। इन्द्रियोंके भोग्य-उपभोग्य माने गये अथवा जलक्रीडा, दौलत, नाच देखना, रतिक्रिया आदि उपायोंसे हुये काम पुरुषार्थके भी अनेक प्रकार हैं। तथा पूजन, दान, ईर्या, व्रतपालन, सत्य भाषण, उपवास, दीक्षा लेना आदि रूपसे धर्म पुरुषार्थके अनेक भेद हैं। उसी प्रकार सिद्ध लोकमें निश्चय रत्नत्रय, स्वाथ निष्ठा, आत्मगुणोंको भरपूर बनाए रखना लोकाग्र निवास, कर्मबन्ध नहीं होने देना, उत्तम ब्रम्हचर्य रक्षित रखना, उत्तमक्षमा अहिंसा आदि मोक्ष पुरुषार्थ अनेकविध हो रहे हैं।

सिद्धोंके अगुरुलघुगुण या अन्य गुण कोई खाली नहीं बैठे है। स्वल्प भी ढील कर देनेपर भिन्न डाकुओंके द्वारा छापा मार देनेका अंदेशा है। आपको क्या पता है कि पुरुषार्थियोंको क्या २ कार्य करने पडते हैं, तब कही अर्थक्रियाये हो पाती हैं। किसान बीज डालकर अलग हो जाता है। फिर भूमिके भीतर बीजमें जन्म ले चुके जीवको या

गर्भाशयमें आ गये जीवको कितनेही अव्यक्त अबुद्धि-अनिच्छापूर्वक कार्य स्वकीय प्रयत्नोंसे करने पडते हैं। तभी विविध प्रकारके फल, फूल, अन्न, गन्ना, औषधियोंका स्वरूप तैयार होता है। गर्भस्थित जीव अपनें पर्याप्ति या अन्य प्रयत्नोंसे हड्डी, मांस, रुधिर, नाक, कान आदि अवयवोंको बना डालता है। यह विचित्र जगत तो जीव अजीवकी चमत्कारिक अर्थक्रियाओंका ही परिणाम है।

जलबिन्दुको ऊपरसे गोल मटोल बना रहनेके लिये या लवणसमुद्रके पानीको हजारों योजन ऊंचा उठा रहनेके लिये, तथा आगको अग्नि ज्वालाओंको ऊपर फेंकते रहनेके लिये एवं वायुको तिरछा फैलनेके लिये भीतरी अनेक कोशिशें करनी पडती हैं। जीवके यत्नको पुरुषार्थ कह देते हैं। जडकी कोशिशको सामर्थ्य कह देते हैं। संक्षेपमें यही कहना है कि सिद्धभगवान कोई ' वस्तु ' से न्यारे नहीं हैं। संसारी जीव या अजीव तत्वोंके समान सिद्धोंको भी निज निष्ठा बनाये रखनेके लिये पुरुषार्थ करना अनिवार्य है। कारण रूप मोक्ष पुरुषार्थ सम्यग्दर्शन अवस्थासे शुरू हो जाता है। और साध्यस्वरूप मोक्ष पुरुषार्थ सिद्धोंमें पाया जाता है। सिद्ध निठले नहीं बैठे है ' किदक्रिच्चा ' सिद्धोंको जो कृतकृत्य कहा है उसका तात्पर्य इतनाही है कि वे लौकिक वाणिज्य, देवपूजन, स्वाध्याय, खेलना, कूदना, अध्ययन, भोजन, शयन, कर्मबन्ध, योग कषाय आदि कार्योंको करचुके हैं। ये कार्य अब उन्हें आगे नहीं करना है। किन्तु सिद्ध सभी कार्योंसे मुक्त नहीं अन्यथा वहां ' वस्तुत्व ' ही प्रतिष्ठित नहीं रह सकेगा।

दशवां धर्म ब्रम्हचर्य है। शुद्ध चिदात्मक परमब्रम्हमें चर्या करना यह ब्रम्हचर्य तो शुद्ध परमात्मामें ही घटित होता हैं। तभी तो अठारह हजार शीलोंके भेदोंका स्वामित्व होना चौदहवें गुणस्थानमें माना गया है। स्वस्त्रीपरस्त्रीत्याग या स्वपरपति भी कोई कल्पित धर्म नहीं है, वास्तविक भाव द्रव्य आत्मक धर्म हैं। न्याय ग्रन्थोंमें अभावको भावस्वरूप सिद्ध किया है।

प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त गुण हैं। सिद्धपरमात्मा भी शुद्ध द्रव्य है। अत: उनमें अपरिमित गुण भरें हुये हैं। यदि इन सिद्ध गति, केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व अनाहार, उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव ब्रम्हचर्य, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि क्षायिक या पारिणामिक भावोंको सिद्धोंमें नहीं माना जाय तो फिर मुक्तजीव आकाश-कुसुम समान कुछ नहीं रहते हैं। " बौद्धोंका प्रदीपनिर्वाण सम आत्माका निर्वाण हो जाना

मोक्षतत्व " व्यवस्थित नहीं है। क्षायिक भाव सिद्धोंकी आत्मा ही हैं। रत्नत्रय या वीर्य, सूक्ष्मत्व आदि गुण इनहीमें गर्भित हो जाते हैं। अथवा ये उत्तम क्षमा आदि धर्म भी उन सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंमें लीन हो जाते हैं। राजवार्त्तिकमें अनन्तवीर्य अनन्तसुख, चारित्र आदिका इन्हीं गुणोंमें अन्तर्भाव बताया है। वस्तुतः ये सम्पूर्ण गुण या धर्म स्वतंत्र होकर अनन्त हैं। केवल गिनतीका संकोच कर अन्तर्भाव करना रुचि न होते हुये भी लिख दिया है। जैसे कि बन्धन और संघात ये दश कर्मप्रकृतियां सर्वथा भिन्न हैं फिर भी बन्ध और उदयअवस्थामें शरीर कर्ममें ही अभिन्न गिन ली गई है। यों गिननेसे क्या तत्वनिन्हव हो सकता है? कभी नहीं।

आप लोग विचार सकते है कि ' ॐ ऱ्हीं परब्रम्हणे उत्तमक्षमाधर्मांगाय नमः ' यहां मंत्रोंमें क्षमा, ब्रम्हचर्य आदि धर्मोंकें साथ ही परब्रम्ह शद्व लगाया गया है। ईर्या-समिति, भाषासमिति, परीषहजय, प्रतिक्रमण, शुक्ल ध्यान, आलोचन आदिको परब्रम्ह क्यों नहीं कहा जाता है? इसमें अवश्य रहस्य है। सिद्धान्त यह है कि ईर्यासमिति, प्रतिक्रमण, आलोचना आदि तों छठे गुणस्थानतकही पाये जाते हैं। सामायिक नौवेंतक हैं। परीषहजय बारहवें तक हैं। यों ये सब संसार अवस्थायें हैं। किन्तु ये धर्म तो मोक्षस्वरूप अन्तिम लक्ष्य हैं। व्यवहार रत्नत्रय भी इनका साधन है परम साध्य नहीं है। माघ, चैत्र, भाद्रपदमें इन धर्मोंका पूजन, स्तवन, चिंतन, ध्यान करनेसे पूरे वर्ष भर संस्कार बना रहता है। इससे भी बढकर पूरे जन्मभर तक, यह भी नहीं मोक्ष होनेतक असंख्य भवोंमें और यहांतक कि मोक्ष हो चुकनेपर भी अनन्तकाल ये धर्म टिके रहेंगे। ऐसे अक्षयनिधिको अपनाना प्रत्येक मुमुक्षुका प्रधान कर्तव्य है जो कि अपनी आत्मामें ही रक्खी हुई है, कहीं बाहरसे लाना नहीं है। केवल व्यक्त करना है। बस यह काय कर लिया--तो बाजी जीत ली समझो।

॥ ॐ धर्मस्वरूपपरमब्रम्हसिद्धेभ्यो नमः ॥

बारह अनुप्रेक्षाओंके विषय अनित्यपन आदि धर्मोंका तात्त्विकपन पुष्ट किया है। परीषहोंके लक्षण, भेद, स्वामियों और कारणोंको युक्तिपूर्वक दर्शाया है। अनन्तर पांच चारित्र और बारह तपोंका वर्णन किया है। व्युत्सर्ग, दान, परिग्रहनिवृत्ति त्याग इनके पृथग्भावपर विचार किया गया है। ध्यानका बढिया विवेचन करते हुये कापिलोंके मन्तव्यका निराकरण किया गया है, इस स्थलका खण्डन, मण्डन अतीव मनन करने

योग्य है । ध्यान कल्पनारूप नहीं है। और निरोध अभावरूप नहीं है, वह ध्यान अन्त-मुहूर्तही ठहर सकता है। प्राणायाम आदि शारीरिक क्रियायें ध्यानस्वरूप नहीं हैं इत्यादि सिद्धान्तोंका बढिया परामर्श किया है । ध्यान विषयके ऊहापोह भी ध्यानियोंके ही ध्येय हैं । ध्यानके चारों भेदोंमें ध्यानसामान्यका लक्षण घटित कर हेतुवाद मुद्रासे पहिलेके दो ध्यानोंको संसारका कारण और पिछले दो ध्यानोंको मोक्षका कारण सिद्ध किया है । आर्तध्यान और रौद्रध्यानके भेदोंमें युक्तियां प्रदर्शित की हैं । धर्म्यध्यानके भेदोंका विवरण कर शुक्लध्यानका सूत्रानुसार युक्तिपूर्ण विवेचन किया गया है । कतिपय स्थलोंपर राजवार्त्तिक ग्रन्थसे तात्त्विक सम्मेलन हो जाता है । वितर्क और विचारका विचार कर शुक्लध्यानके स्वामियोंका प्ररूपण करते हुये ग्रन्थकारने केवलज्ञानीके भी मुख्यरूपसे ध्यान होना पुष्ट किया है, जो कि हृदयाकर्षक है । ग्रन्थकार स्याद्वादनीतिको साथ साथही पुष्ट करते जाते हैं । यों नौमें अध्यायका पहिला आन्हिक समाप्त किया गया है । दूसरे आन्हिककी आदिमें सम्यग्दृष्टि आदिकी असंख्यात गुणी निर्जरा होनेमें युक्तियोंको दिखलाते हुये ग्रन्थकारने सभी संयमी तपस्वियोंका नैगमनय अनुसार निर्ग्रन्थपना प्रदर्शित किया है । व्यवहार और निश्चय नयसे भी पुलाक आदि पांचो निर्ग्रन्थ हैं । वस्त्र, पात्र, दण्ड, कम्बल आदिका ग्रहण करनेवाले साधुओंका मोहीपना और मूर्च्छासहितपना पुष्ट किया है । ऐसे साध्वाभास कभी निर्ग्रन्थ नहीं कहे जा सकते हैं । इन मोही साधुओंसे विचारे गृहस्थ हजार गुणे अच्छे हैं । तभी तो श्री समन्तभद्र आचार्यने " गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्, अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः " मोही साधु पतित है, मिथ्यादृष्टि है, गृहस्थ पांचवें गुणस्थानमें है। शून्यसे एकको कितना भी गुणा कहा जाय वह गुणाकार अल्पोयान् ही रहेगा । राजवार्त्तिक ग्रन्थके समान यहां भी कुछ शंकायें की गई हैं । उनका युक्तिपूर्वक निराकरण कर दिया गया है । " संयमश्रुत " आदि सूत्रके विवरणमें कुछ लिपिकी अशुद्धियां हैं । प्रतिभाशाली विद्वान् लिपिकर्ताओंपर दया करते हुये ग्रन्थको शुद्ध कर लेवें । यहां उपकरण बकुशकी अपेक्षा मुनिके कदाचित् वस्त्रका ग्रहण करना आभासित होता है । जो कि दिगम्बर सम्प्रदाय अनुसार सत्यार्थ नहीं है । स्वयं ग्रन्थकारने पुलाकवकुश " आदि सूत्रमें वस्त्र आदिका अखण्ड युक्तियोंसे खण्डन किया है ।

भगवती आराधना मूल ग्रन्थमें साधुके वस्त्रका ग्रहण देखा नहीं गया है। "आचेलक्कुद्देसिय सेज्जा हरराय पिण्ड किरियम्मे, वद जेट्ट पडिक्कमणे मासं पज्जो सवणकप्पो" यह चारसौ छब्बीस (४२६) वी गाथा है। मूलमें आचेलक्यपद पडा हुआ है। सर्वथा वस्त्रके त्यागको आचेलक्य कहते हैं। जब परिग्रहका त्याग हुआ तो वस्त्रका त्याग अवश्यंभावी है। वस्त्रके ग्रहण करनेसे संयम पल नहीं सकता है। वस्त्रमें पसेव, रज, मल लग जानेसे त्रस जीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है। वस्त्रके दबनेसे, मसलनेसे, त्रस जीवोंकी हिंसा होवेगी। वस्त्रमें मल, रुधिर, पसीना लग जानेपर पुनः धोया जायगा तो साधुके महान् असंयम होगा, नहीं धोवे तो अपने और दूसरेके ग्लानिका कारण होय। वस्त्रको कोई चुराले जाय तो क्रोध होय, लज्जा उपजे यह भावहिंसा हुई। लज्जावश ग्राम, नगर आदिमें जा नहीं सकते, वस्त्रको दूसरेसे मांगें तो दीनता उपजे, सुन्दर बढिया वस्त्र मिले तो अभिमान हो जाय, मोटा, खोटा मिले तो परिणामोंमें दीनता होय, वस्त्रके रखनेसे चोर आदिका डर है, वायुके द्वारा वस्त्र उडें तो पुनः अंग ढकनेका विकल्प हो जाय ऐसी दशामें स्वाध्याय, जप, ध्यानका भंग होय, यों सीवना, समेटना, उतारना, धोना, मांगना आदि द्वारा महान् पापबन्धका कारण वस्त्र है। जब मुनिका शरीरसेही ममत्व नहीं है, तो फिर वस्त्र क्यों ग्रहण करने लगे ? मुनि महाराजकी सिंहवृत्ति है। वे दीनता, हीनता, याचकताको कदाचित् भी धारण नहीं करते हैं। यद्यपि ग्रन्थोंमें आर्यिका साध्वीके सोलह हाथकी साडी रखनेका विधान है। तथापि उसको निर्ग्रन्थ नहीं माना गया है। आर्यिकाका प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय है। तीर्थंकर महाराजको भलेही पूर्ण वैराग्य हो जाय, लोकान्तिक देव आकर उनके निष्क्रमण कल्याणककी स्तुति करें। फिर भी वनमें जाकर केशलोंच कर लेनेपरही आत्मध्यान करते हुये उनके सातवां गुणस्थान और मनःपर्ययज्ञान युगपत् होता है। स्त्रियोंके सचेल संयम है जो कि मोक्षका कारण नहीं है। ऋद्धिविशेषोंका भी हेतु नहीं है। सचेल संयमसे जब सांसारिक ऋद्धियांही प्राप्त नहीं हो पाती हैं। तो निःशेषकर्मोका क्षय हो जाना स्वरूप मोक्ष तो कैसे मिल सकता है ? " स्त्रियो न मोक्षहेतुसंयमवत्यः साधूनामवन्द्यत्वाद्गृहस्थवत् " न चात्रासिद्धो हेतुः " वरसमयदिक्खियाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू, अभिगमण वंदणणमंसण विणएण सो पुज्जो " इत्यभिधानात् । बाह्याभ्यन्तर परिग्रहवत्वाच्च न तास्तद्वत्यस्तद्वत् । (प्रमेयकमलमार्तण्डः) वस्त्रग्रहण आदि बाह्य परिग्रहसे अन्तरंगके शरीरानुराग आदि परिग्रहका अनुमान कर दिया जाता है। यदि कोई

यों कहे कि शरीरकी उष्मासे वायुकाय आदिके जीव नहीं मरें अतः रागद्वेष नहीं होते हुये भी अहिंसाके लिये वस्त्र ले लिया जाता है तब तो दिगंबरोंकी ओरसे कहा जा सकता है कि– " वस्त्ररहित साधुओंके हिंसकपनेका प्रसंग आ जावेगा, अरहन्त आदिक मुक्तिको नहीं प्राप्त कर सकेंगे क्योंकि इनके वस्त्र नहीं है। हिंसादोष लगता रहेगा वस्त्रवाले गृहस्थही मोक्षको जा सकेंगे और वस्त्रग्रहण कर चुकनेपर भी जन्तुओंका उपघात होना दोष तदवस्थ रहेगा क्योंकि वस्त्रसे नहीं ढके जा सके हाथ, पांव, मुख आदि प्रदेशोंसे निकल रही ऊष्मासे जीवहिंसा अवश्यंभाविनी है। जैसे वीजनेकी वायुसे अनेक जीव मरते हैं। उसी प्रकार वस्त्रके संकोचने, फैलाने आदिसे उपजी वायु करके अनेक जीवोंको पीडा उपजेगी ऐसी दशामें प्राणिसंयम नहीं पल सकता है। मांगना, सीवना, धोना, सुखाना, धरना, लेना, चोरभय, रागद्वेष आदि द्वारा मनके संक्षोभको करनेवाले वस्त्रका ग्रहण करना साधुओंके लिये सर्वथा निषिद्ध है, संयमका उपघातक है। साधु यदि लज्जा या शीतके निवारणके लिये वस्त्र रखता है तो कामपीडा, मुखदुर्गन्ध, मार्गश्रम आदिके निवारणार्थ कामिनी, ताम्बूल, घोडा आदिको भी रख लेवे। मनचली तन्वी युवतियोंके मनमें क्षोभ न हो जाय इस कारण यदि स्वकीय अंग, उपाङ्ग ढकनेके लिये वस्त्रका ग्रहण मानोगे तब तो साधुको अपने नेत्र फोड डालने चाहिये। या नेत्रोंसे कपडा बांध लेना चाहिये। क्योंकि रागवर्धक अन्य पदार्थोंको देखनेमें नेत्र निमित्तकारण हो रहे हैं। बात यह है कि वस्त्र रखनेसे इन्द्रियसंयम भी नहीं पलता है। कम्बल या कौशेय वस्त्र तो मूलमें स्वयं अपवित्र भी हैं। वैष्णव, श्वेताम्बर, मोहमदीय, लोगोंने कम्बलको पवित्र मान रक्खा है। वह सर्वथा निन्द्य है। युक्ति और विज्ञानसे भी सिद्ध हो जाता है कि मांस, रक्त, चर्म, हड्डी, ऊन इनमें सतत त्रस जीवोंका उत्पाद होता रहता है, अतः कम्बल, पात्र, डण्डा, कौशेय आदिको महान् परिग्रह समझा जाय। छठे, सातवें, या इससे ऊपरले गुणस्थानोंवाले साधु कदाचित् भी कोई परिग्रह नहीं रखते हैं। कमण्डलु, पिच्छिका, शास्त्र तो संयमके उपकरण हैं। तपश्चर्याके साधन हैं, परिग्रह नहीं हैं। अतः मोहरहित साधु इनको अहिंसा, स्वाध्याय, ध्यानकी सिद्धिके लिए रख लेता है। पण्डित सदासुखजी कासलीवालने भगवती आराधनाके "आचेलक्कुद्देसिय" आदि गाथाकी भाषाटीका करते हुये लिखा है कि इसकी संस्कृत टीकाके कर्ता श्वेतांबर हैं। कम्बल, पात्र आदि रखनेकी पुष्टि की है, इसका शास्त्रनिमग्नविद्वान् विचार

कर लेवें। इसके आगे भगवती आराधनाकी संस्कृत टीका अर्थसहित देशभाषाकारके द्वारा दिखाई गई है। मेरी बुद्धि अनुसार अपराजितसूरि दिगम्बराचार्य हैं। उन्होंने भगवती आराधना की संस्कृत टीकामें बहुत बढिया अचेलताका सयुक्तिक समर्थन किया है और श्वेताम्बर ग्रन्थोंसेही अचेलताको समझा कर पुष्ट किया है। श्वेताम्बरोंके पूर्वपक्ष उठाये गये हैं, उनका महती विद्वत्तासे उत्तरपक्ष किया गया है, सम्भव है। पण्डित सदासुखजीकी अपराजितसूरिकी इस " आर्यिकाणामागमेऽनुज्ञातं वस्त्रं कारणापेक्षया, भिक्षूणां न्हीमानयोग्य शरीरावयवो दुश्चर्माभिलम्बमान बीजो वा परीषहसहने वा अक्षमः सगृण्हाति " पंक्तिका अर्थ यह जंच गया होय कि भिक्षुक लज्जा या परीषहोंको नहीं सहनेपर वस्त्रोंको ग्रहण कर लेता है। किन्तु यह पंक्ति तो विशेष परिस्थिति उपस्थित हो जानेपर श्वेताम्बरोंके मतानुसार वस्त्रका ग्रहण कह रही है। यह दिगम्बरोंका सिद्धान्त न समझ लिया जाय। अपराजित सूरि या दिगम्बर शासन वस्त्रग्रहणको पुष्ट नहीं करते हैं। अपराजितसूरि तो बडे उत्साहपूर्वक अचेलतापर झुके हुये हैं। अब रही श्लोकवार्त्तिककी बात कि"यह व्याख्यान अपवादरूप समझना चाहिये"। उसका अभिप्राय यही है कि आचार्यने लज्जा, त्रिस्थानदोष आदि सबका पर्यवेक्षण कर निर्दोष पुरुषको जिनदीक्षा दी थी। किन्तु जो पुनः निर्बलतावश कर्मपरतन्त्रतासे लज्जाशील या शीतबाधाको नहीं सहनेवाला अथवा त्रिस्थानदोषी हो गया है। वह अपवाद मार्ग अनुसार वस्त्रको ग्रहण कर लेवे। संयमसे च्युत हो जाय किन्तु सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट न होय। पुनः बलवान आत्मा होकर उत्सर्गमार्ग आचेलक्यको धारण करता हुआ मोक्षमार्गमें लग बैठे। तभी तो आगे चलकर "जैनाभासाः केचित् सचेलत्वं मुनीनां ख्यापयन्ति" तन्मिथ्या साक्षान्मोक्षकारणं निर्ग्रन्थलिगं " ग्रन्थकारने इस पंक्ति द्वारा जैनाभासोंके माने गये सचेलत्वको मिथ्या ठहरा कर मोक्षका कारण निर्ग्रन्थ लिंगही माना है। पंडित आशाधरजीने भी 'भगवती आराधना' की टीकामें निर्वस्त्रत्वको बहुत बढिया पुष्ट किया है। मुनिके पात्र, दण्ड, आदिका तो परिपूर्ण रीत्या परित्याग समझो ही। यों " भगवती आराधना " और उसकी अपराजितसूरि कृत विजयोदया टीका तथा आशाधर कृत मूलाराधना टीका एवं श्लोकवार्त्तिक और उसके भाष्यका पूर्वापर संदर्भ मिलाकर विद्वान् पुरुष पर्यवेक्षण करे। उनको सर्वत्र साधुके निर्वस्त्रत्व या निष्परिग्रहत्व गुणका समर्थन मिलेगा । "अलमेतद्विपयकवावदूकतया नमोऽस्तु दिगम्बरमुनिभ्यः।"

आगे पुलाक आदि मुनिवरोंको लेश्या उपपाद आदिका प्रतिपादन कर मंगलाचरणपूर्वक द्वितीय आन्हिकको समाप्त किया है। -इस श्लोकवार्तिक महान् ग्रन्थका अध्ययन, अध्यापन इन पचासो वर्षोंमें क्वचित्, कदाचित् ही हुआ है। शुद्धलिपि के पुस्तकका मिलना भी अतीव दुर्लभ हो गया है। टीका, टिप्पणी तो नाममात्र भी उपलब्ध नहीं है। कर्नाटक देश या किसी प्राचीन भण्डारमें कोई ताडपत्रपर लिखी हुई या किसी प्रकाण्ड विद्वान्के द्वारा निरीक्षित की गई पुस्तक मिले तो गुणग्राही विद्वान् पाठ या देशभाषाको शुद्ध करते हुये सर्वज्ञ आम्नाय तत्त्वार्थोंका यथार्थ श्रद्धान् कर लेवें। " नहि सर्वः सर्ववित् " नमोऽस्त्वभिमतसिद्धिकर्त्र्यै स्याद्वादवाण्यै " कतिपयदिनों पश्चात् प्रयत्न करके ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन प्रतिके लेखको मूडबिद्रीसे मंगाया गया तदनुसार " संयमश्रुतप्रतिसेवना " सूत्रकी श्लोकोंमें रचित वार्त्तिकों और उनके भाष्यभूत अलंकारका अविकल हिन्दी अनुवाद कर दिया गया है। अब सभी संशयोंका निराकरण होकर आत्मा आल्हादित हो जाता है। दिगम्बर विद्वान् दिगम्बरसे कथमपि विचलित नहीं हो सकते है। " प्रीणन्तु सन्तः, "

इति श्री विद्यानन्द स्वामिविरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकार नामक महान् ग्रन्थकी आगरामण्डलांतर्गत चावली ग्रामनिवासि श्री हेतुसिंहसुत सहारनपुर वास्तव्य माणिकचन्द्रकृत देशभाषामय " तत्त्वार्थचिन्तामणि " नामकी टीकामें नौमा अध्याय परिपूर्ण हुआ।

ध्याने हित्वार्तरौद्रे समितिमुपगता वैशिकं संवरं ये,
ध्यायन्तो धर्म्यशुक्ले परिषहजयतो भावनेद्धाष्टशुद्धीः,
कुर्वाणाः स्वात्मपलावगणितगुणितां निर्जरां कर्मणान्ते
निर्ग्रन्थाः संयमाढ्यैः स्वपरहितरताः पान्तु भाज्यास्त्रिगुप्ताः ॥ १ ॥

इति नवमोऽध्यायः ॥

॥ श्री ॥

अथ दशमोऽध्यायः ॥

नवम अध्यायके अनन्तर अब तत्त्वार्थाधिगमशास्त्रके दशवें अध्यायका प्रारम्भ किया जाता है-

असंख्यवन्दारुसुरेन्द्रवृन्द-
निमेषशून्याक्षिसहस्रलोक्यं
निकृष्टकर्माष्टकशैलवज्रं,
नमामि वीरं त्रिजगच्छरण्यम् ॥ १ ॥

इदानीं मोक्षस्य स्वरूपाभिधानं प्राप्तकालं तत्प्राप्तिः केवलज्ञानपूर्विकेति केवलज्ञानोत्पत्तिकारणमुच्यते । " अथेदानीं मोक्षस्वरूपमप्रतिपादयितुंकामो भगवान् पर्यालोचयति मोक्षस्तावत्केवलज्ञानप्राप्तिपूर्वको भवति, तस्य केवलस्योत्पत्तिकारणं किमिदमेवेति निर्धार्य सूत्रमिदमाहुः, ।

अब इस समय दशमें अध्यायके प्रारम्भमें सातवे मोक्ष तत्त्वके प्रतिपादनके लिये शुभकामना रख रहे भगवान् उमास्वामी महाराज मनमें पर्यालोचना करते हैं कि मोक्ष तो पहले केवलज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर होती है। यों मोक्षके स्वरूप कथनका अवसर प्राप्त हो जानेपर मोक्षके पूर्वमें हुये केवलज्ञानका निरूपण करना आवश्यक हुआ। उस केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण क्या यह ही वक्ष्यमाण सूत्रोक्त हो सकता है ? इस प्रकार सदागम--सत्तर्क अनुसार निर्धारण कर केवलज्ञानके उत्पादक कारणकी प्रतिपत्ति करानेवाले इस अग्रिम सूत्रको महामना उमास्वामी महाराज स्पष्टरूपेण कह रहे हैं।

मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥

मोहनीयकर्मके क्षयसे तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंके क्षयसे आत्मामें केवलज्ञान आदि उपजते हैं। अर्थात् बारहवें गुणस्थानके आदिमें मोहनीयकर्मका निरवशेष क्षय हो जाता है। मोहका पलसाध्य क्षय करनेमें आत्माको विशेष परिश्रम करना पडता है। अत: बारहवें गुणस्थानमें अन्तर्मुहूर्त कालतक आत्मा विश्राम करता है। साथही तीन घातिकर्मोंका क्षय करनेके लिये घोर प्रयत्न भी करता जाता है। एकत्ववितर्क अवीचार नामक बलवत्तर समर्थ पुरुषार्थ हो चुकनेपर तेरहवें गुणस्थानके आदिमें ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका क्षय कर डालता है। तब विश्व-प्रकाशक केवलज्ञान सूर्य उत्पन्न हो जाता है। ज्ञानावरणके क्षय और केवलज्ञानकी उत्पत्तिका समय वही एक है। रोगोत्पादक पौद्गलिक दोषोंका विनाश और आरोग्य उत्पत्ति भिन्न कालीन नहीं है। जिस जीवके मोहका क्षय हो चुका है, या ज्ञानावरणके क्षय अनुसार केवलज्ञान उपज चुका है। उस जीवको मोक्ष होना अनिवार्य है। अत: इस सूत्रमें मोक्षके समर्थ कारण केवलज्ञान तथा केवलदर्शन आदिके भी समर्थ उत्पादक कारणोंका प्ररूपण किया गया है।

मोहस्य क्षयो विध्वंसो मोहक्षयस्तस्मात् । आवरणशद्व. प्रत्येकं प्रयुज्यते तेन ज्ञानावरणं च दर्शनावरणं च ज्ञानदर्शनावरणे तौ चान्तरायश्च ज्ञानदर्शनावरणान्तराया-स्तेषां क्षयो ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयस्तस्माच्चकारादायुस्त्रिकनामत्रयोदशक्षयाच्च केवलं केवलज्ञानमुत्पद्यते । त्रिषष्ठिप्रकृतिक्षयात्केवलज्ञानं भवतीत्यर्थः । अष्टाविंशतिः प्रकृतयो मोहस्य, पञ्च ज्ञानावरणस्य नव दर्शनावरणस्य पञ्चान्तरायस्य । मनुष्यायुर्वर्ज्यं मायुस्त्रयं । साधारणातप पञ्चेन्द्रियरहित चतुर्जाति नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्यं, स्थावर, सूक्ष्म, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्यं, उद्योतलक्षणास्त्रयोदश नामकर्मणः प्रकृतयश्चेति त्रिषष्ठिः ।

सूत्रमें कहे गये मोहके क्षयका अर्थ मोहका विध्वन्स हो जाना है अर्थात् आत्मासे बद्ध हो रहा मोहनीयकर्म आत्मीय पुरुषार्थ द्वारा निर्जीर्ण कर दिया जाता है। वह कर्म आत्मासे पृथक् होकर अन्य धूल, रेत, आदि पर्यायोंमें परिणत हो जाता है। जैसे कि सोडा, साबुन, पानी द्वारा वस्त्रसे मल छूटकर अन्य कीच, धोवन आदि पुद्गल पर्यायोंरूप परिणम जाता है। कर्म या मलका समूलचूल विनाश नहीं हो जाता है।

घटका ध्वंस ठीकरा आदि पर्याय उपज जाता है, यों ऐसा मोहका क्षय है। उस मोह क्षयसे यों निरुक्ति कर पांचमी विभक्तिमें " मोहक्षयात् " शब्द बना लिया है। द्वंद्वसमासके आदि या अन्तमें पडे हुये पदका प्रत्येकमें अन्वय कर लिया जाता है। प्रकरणमें यह कहना है कि " ज्ञानदर्शनावरण " पदके अन्तमें पडे हुयें आवरण शब्दका प्रत्येकमें प्रयोग कर देना चाहिये। तैसा कर देनेसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण यों निर्वचन कर समासद्वारा " ज्ञानदर्शनावरणे " पद बना दिया जाता है। वे ज्ञानावरण और दर्शनावरण तथा अन्तराय यों द्वन्द्वसमास कर " ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाः पद बना लिया जाय। उनका क्षय हो जाना " ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षय है । उसको पञ्चम्यन्तपद बनाकर उससे क्षायिक ज्ञानकी उत्पत्ति होना ज्ञात कर उसे केवलज्ञानका उत्पादक हेतु समझ लिया जाय। सूत्रमें समुच्चय अर्थका द्योतन कर रहा चकार पडा हुआ है। उससे तीन आयुमें और नामकर्मकी तेरह प्रकृतियोंका एकत्रीकरण हो जाता है। इनका भी क्षय हो जानेसे केवल यानी केवलज्ञान उपज जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि त्रेसठि प्रकृतियोंका क्षय हो जानेसे केवलज्ञान आदि होते हैं। अट्ठाईस तो मोहनीय कर्मकी प्रकृतियां हैं, पांच ज्ञानावरण की, नौ दर्शनावरण कीं, पांच अन्तरायकीं, तथा मनुष्य आयुको छोडकर नरकआयु तिर्यञ्चआयु, देवआयु यों तीन आयुकर्म एवं साधारण आतप, पञ्चेन्द्रिय जातिसे रहित एकेंद्रिय जाति, द्विइन्द्रिय जाति, त्रिइन्द्रियजाति, चार इन्द्रियजाति, ये चार जातियां कर्म नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, स्थावर, सूक्ष्म, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य उद्योत, स्वरूप तेरह नामकर्मकी प्रकृतियां हैं। इस प्रकार जाति कर्मोंकी संतालीस, आयु कर्मकी तीन, नामकर्मकी तेरह, यों त्रेसठि प्रकृतियां हुई इनके क्षयसे केवलज्ञान उपजता है।

ननु मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणक्षयात्,
अन्तरायक्षयात्प्राप्तिः केवलस्य नृणां भवेत् ॥ १ ॥
वाक्यभेदः कर्मणां च क्षयाच्च परिभाषितः ।
प्रतिपादनमुत्क्षिप्यानुक्रमास्तच्च कोप्यसौ ॥ २ ॥
पूर्वमेवास्ति जीवस्य विज्ञेयः कर्मणां क्षयः ।
कर्मक्षयं विना भव्यो नो याति परमां गातिम् ॥ ३ ॥

यहां कोई शंका उठा रहा है कि मनुष्योंके केवलज्ञानकी प्राप्ति होना मोहनीय कर्मके क्षयसे तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्मोके क्षयसे होगी। इस प्रकार वाक्यका भेद क्यों किया गया है ? समास कर लाघवसे एक साथ मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, कर्मोंके क्षयसे केवलज्ञानका उत्पाद होना कह देना चाहिये था। वाक्यका भेद कर देनेंसे सूत्रकारकें ऊपर गौरवदोष दिया जा सकता है। ग्रन्थकार कह रहे कि हैं समासवृत्ति कर प्रतिपादन करानेका उल्लंघन कर जो कोई वाक्य भेद किया गया है। वह किसी भी अनुक्रम नामके अतिशयका परिभाषण करता है। उक्त कर्मोंका क्रमानुसार क्षय हो जानेसे केवलज्ञान उपजता है। पहिले ही इस जीवके मोहनीय कर्मका क्षय हो जाता है। पश्चात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्मोंका क्षय किया जाता है। तब केवलज्ञान आदि चतुष्टयकी प्राप्ति होती है। कर्मोंका क्षय किये विना कोई भी भव्य जीव उत्कृष्ट मोक्षगतिको प्राप्त नहीं कर पाता है। अत्याधिक पुरुषार्थपूर्वक प्रणिधान विशेष लगाकर विशिष्ट जातीय परिणामों करके आत्मा कर्मोंका क्षय करनेके लिये उद्युक्त हो जाता है।

भव्यः प्राणी सम्यग्दृष्टिर्जीवः परिणामविशुद्धया वर्द्धमानोऽसंयतसम्यग्दृष्टि, - देशसंयत, प्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयत गुणस्थानेष्वन्यतमगुणस्थानेऽनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टय दर्शनमोह त्रितय क्षयमुपनय ततः क्षायिक सम्यग्दृष्टिर्भूत्वाऽप्रमत्तगुणस्थानेऽथाप्रवृत्तकरणमंगीकृत्यापूर्वाकरणाभिमुखी भवति ।

भव्य प्राणी ज्ञानोपयोगी जीव सम्यग्दृष्टि होकर परिणामोंकी विशुद्धि करके अनुक्षण बढ रहा सन्ता चौथे असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान या पांचवें देशसंयत गुणस्थान अथवा छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान एवं सातमें निरतिशय अप्रमत्तसंयत गुणस्थान इन चारमेंसे किसी भी एक गुणस्थानमें करणत्रय द्वारा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायोंका विसंयोजन करता हुआ मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व इन तीनों दर्शन मोहनीय कर्मोंके क्षयको प्राप्त कर देता है। उसके पश्चात् क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर सातमें अप्रमत्तगुणस्थानमें अथाप्रवृत्तकरणको अङ्गीकार कर आठमें अपूर्वकरण गुणस्थानके अभिमुख हो जाता है। भावार्थ--प्रथमोपशम सम्यक्त्व, अनन्तानुबन्धि विसंयोजन, क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेके पूर्वमें कतिपय स्थलोंपर भिन्न भिन्न जातिके करणत्रय होते है। किन्तु यहां प्रकरण अनुसार सातिशय अप्रमत्त सातवें

गुणस्थान और आठवें तथा नौवें गुणस्थानोंमें पाये जा रहे तीनों कारणोंका अग्रिम वार्त्तिकों द्वारा निरूपण करते हैं। ज्ञानके विना सभी आत्मीय परिणाम यद्यपि अवाच्य हैं फिर भी चारित्र गुणके परिणाम हो रहे उन तीनों कारणोंके अन्तस्तलपर शिष्यको पहुंचानेके लिये आचार्य महाराज स्तुत्य प्रयत्न करते हैं। अविनाभावी हेतुओंसे साध्यकी प्रतिपत्ति होवेगी ही।

अथाप्रमत्तकरणमपूर्वकरणं च वा,
निवृत्तिरहितं यस्मिन्न निवृत्तिश्च कथ्यते ॥ ४ ॥
परिणामविशेषात्किं सोऽयं समुपवर्णितः
कीदृशास्ते भवन्त्येवानिवृत्तिकरणांतगाः ॥ ५ ॥
विशिष्टपरिणामाश्च वाच्यं शब्दमनुक्रमं ।
एकस्मिन् समयेऽन्यस्यैकैकस्य समयस्य तत् ॥ ६ ॥

एकदा लोकमानाश्च जीवस्य परिणामिकाः ।

पहिला करण अथाप्रवृत्त करण है और दूसरा अपूर्व करण है, तथा तीसरा निवृत्तिरहित अनिवृत्तिकरण कहा जाता है। परिणामोंकी विशुद्धियोंका विशेषरूपसे बढना होते रहनेसे यह अनिर्वचनीय करणोंका क्रम आगममें भले प्रकार वर्णित किया गया है। वे अनिवृत्तिकरण तक अन्तको प्राप्त हो रहे विशिष्ट परिणाम भला किस ढंगके हैं? और वे इसही क्रमसे उपजते हैं? इन प्रश्नोंका उत्तर शद्वों द्वारा नहीं कहा जा सकता है। तथापि क्रम अनुसार शिष्य व्युत्पत्तिके लिये शद्वों द्वारा कहा जा रहा है। जैसे कि अन्धे पुरुषको कच्चे, पके, आम्र फलोके वर्णका ज्ञान उनकी अविनाभावी गन्धोंद्वारा कर दिया जाता है। एक समयमें दूसरे अन्य एक एक समयके एक काल देखे जा रहे परिणाम समुदाय नाना जीवोंके हो जाते हैं। तिस कारण पहिला करण अथाप्रवृत्त या अधःकरण है। भावार्थ–यहां कुछ पाठमें त्रुटि रह गयी दीखती है, " श्री गोम्मटसार " में-

जह्मा उवरिम भावा हेठ्ठिम भावेंहि सरिसगा होंति
तह्मापढमं करणं अधापवत्तोति णिद्दिट्ठं ॥

अन्तोमुहुत्त मेत्तो तक्कालो होदि तत्थपरिणामा
लोगाणमसंखमिदा उवरुवरिं सरिसवड्ढिगया ।।
बावत्तरिति सहस्सा सोलस चउचारि एक्क पंचेव,
धण अद्धाण विसेसे तिय संखाहोइ संखेज्जे ।।

इत्यादि कतिपय गाथाओं द्वारा तीनों कारणोंका उदाहरणसहित विस्तृत वर्णन है। समकालीन और भिन्न कालीन जीवोंके परिणाम सदृश और विसदृश भी हों इस कारण पहिला करण अधःकरण है। ऊर्ध्वगच्छ, तिर्यग्गच्छ, प्रचयधन, अनुकृष्टि-रचना, इत्यादि विधिसे विचार कर लिया जाय। पहिले करणका अन्तमुहूर्तकाल बडा है। उत्तरोत्तर छोटा है। दूसरे अपूर्व करणमें समान सामयिक नाना जीवोंके परिणाम सदृश और विसदृश भी हैं हां, भिन्नकालीन जीवोंके परिणाम विसदृश ही हैं,--

छण्णउवि चउ सहस्सा अट्ठय सोलस धणं तवद्धाणं,
परिणामविसेसोवि य चउसंखा पुव्वकरण संदिट्ठी ।।

इन दोनों करणोंके परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण हैं। एक जीवके केवल अन्तर्मुहूर्त कालकी गणनामें आनेवाले छोटे असंख्यात समयों प्रमाणही परिणाम होते हैं। हां, तीसरे करणके सम्पूर्ण परिणामके बल छोटे अन्तमुहूर्तके समयों बराबर स्वल्प असंख्याते ही हैं। समान समयोंके जीवोंके परिणाम समान ही हैं और भिन्नकालीन जीवोंके परिणाम विसदृश ही हैं--

एगम्हि कालसमये संठाणादीहिं जह णिवट्टन्ति
ण णिवट्टन्ति तहा विय परिणामेहिं मिहो जेहिं ।।

यों गोम्मटसारमें इन करणोंका व्यासरूपेण वर्णन है। विशेष परिच्छित्तिके अभिलाषुक विद्वान् वहांसे परितृप्ति करें यहां मात्र संकेत करनाही पर्याप्त समझा जाय।

एकस्मिन् समये ह्यसलोकमानावच्छिन्ना जीवस्य परिणामाः सन्ति, तत्राप्रमत्त-गुणस्थाने पूर्वपूर्वसमये प्रवृत्ता यादृशाः परिणामास्तादृशा एव, अथानन्तरमुत्तरसमयेष्वास-मंतात्प्रवृत्ता विशिष्टचारित्ररूपाः परिणामा अथाप्रवृत्तकरणवाच्या भवंति अपूर्वकरण-प्रयोगेणापूर्वकरणक्षपकगुणस्थानव्यपदेशमनुभूयाभिनवशुभाभिसंधिर्ना धर्म्यशुक्लध्याना-भिप्रायेण कृशीकृतपापप्रकृतिस्थित्यनुभागः सन् संवर्धितपुण्यकर्मानुभवः सन् अनिवृत्तिकरणं लब्ध्वा अनिवृत्तिबादरसांपरायक्षपकगुणस्थानमधिरोहति ।

एक समयमें नियमित संभावित देखे जा रहे परिणाम जीवके मर्यादित हैं। तीनों करणोंके परिणामोंकी मर्यादा न्यारी न्यारी है। उन तीन परिणामोंमें पहिला करण सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानमें होता है। पहिले पहिले समयोंमें जिस प्रकारके परिणाम प्रवृत्त हुये हैं उनके पश्चात् उत्तर समयोंमें भी वैसे ही परिणाम चारों ओरसे प्रवृत्त हो जाय वे चारित्र गुणके विशिष्ट रूप हो रहे परिणाम अथाप्रवृत्तकरण शब्द करके वाच्य हो जाते हैं। दूसरे अपूर्वकरण नामक प्रयोग करके आठवें अपूर्वकरण क्षपक गुणस्थान नामका अनुभव कर नवीन नवीन शुभ परिणामोंको विचार रहा आत्मा पहिले ध्याये गये धर्म्यध्यान और वर्तमानमें ध्याये जा रहे शुक्लध्यानके अभिप्राय (नय विचार) करके पापकर्म प्रकृतियोंके स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्धको कृष कर देता है। वही आत्मा पुण्य कर्मोंके अनुभागको बढिया बढा चुका सन्ता नवमे गुणस्थानमें अनिवृत्तिकरणको प्राप्त करके " अनिवृत्तिवादरसांपरायक्षपक " गुणस्थानपर चढता है। यहां दशमें गुणस्थानकी अपेक्षा कषाय मोटी है, निवृत्ति नहीं है। अतः इसका नाम अन्वर्थ है। जैसा नाम है वैसा ही अर्थ है।

तत्राप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानकषायाष्टकं नष्टं विधाय नपुंसकवेदविनाशं कृत्वा स्त्रीवेदं समूलकाषं कषित्वात्र हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणं नोषायषट्कं पुंवेदे प्रक्षिप्य क्षपयित्वा पुंवेदं क्रोधसंज्वलने च क्रोधसंज्वलनं मानसंज्वलने, मानसंज्वलनं मायासंज्वलने, मायासंज्वलनं लोभसंज्वलने, लोभ संज्वलनं क्रमेण वादरकिट्टिविभागेन विनाशमानयति। वादर किट्टिरिति कोर्थः। उपायद्वारेण फलं भुक्त्वा निर्जीर्यमाणमुद्धत शेषमुपहतशक्तिकं कर्म किट्टिरित्युच्यते आज्य किट्टिवत्। सा किट्टिर्द्विधा भवति। बादर. किट्टिसूक्ष्मकिट्टिभेदादिति किट्टिशब्दस्यार्थो वेदितव्यः। तत्पश्चाल्लोभसंज्वलनं कृषीकृत्य सूक्ष्मसांपरायक्षपको भूत्वा निःशेषं मोहनीयं निर्मूल्य क्षीणकषायगुणस्थाने स्फोटितमोहनीयभारः सन्नधिरोहति। तस्य गुणस्थानोपांत्य समयेऽन्त्यसमयात्प्रथमसमये द्विचरमसमये निद्राप्रचले द्वे प्रकृती क्षपयित्वा अन्त्यसमये पंच ज्ञानावरणानि, चत्वारि दर्शनावरणानि, पंचान्तरायान् क्षपयति तदनन्तरं केवलज्ञान, केवलदर्शनस्वभावं केवलं संप्राप्याचिन्त्य विभूतिमाहात्म्यं प्राप्नोति।

उस नवमें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरण कर्म, क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रत्याख्यानावरण कर्म क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठों कषायोंको नष्टकर पुनः नपुंसकवेदका विनाश करके और स्त्रीवेद कर्मको मूलसहित कसते हुये बधकर पश्चात्

हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा-स्वरूप छओं नोकषाय कर्मोंको पुंवेद कर्ममें प्रक्षेपण कर क्षय कर दिया जाता है। पुंवेदका क्रोधसंज्वलनमें और क्रोधसंज्वलन कर्मका मानसंज्वलनमें, तथा मानसंज्वलनका मायासंज्वलनमें एवं मायासंज्वलन कर्मका लोभसंज्वलनमें प्रक्षेपण कर संक्रमण क्रम अनुसार प्रलय कर दिया जाता है। वादर-कृष्टि विभाग करके वादरलोभ संज्वलन कर्मका विलय कर मात्र सूक्ष्म संज्वलन कर्म अवशेष रह जाता है। किट्टि शब्द प्राकृतभाषाका है, जो कि कृष्टिका अपभ्रंश है। वादर किट्टि इस शब्दका अर्थ क्या है ? इसका उत्तर यही है कि उपाय द्वारा फलको भोग कर निर्जराको प्राप्त हुये कर्मोंसे उद्धृत कर लिये गये अवशेषहीन शक्तिवाले कर्म किट्टि नामसे कहे जाते हैं। जैसे कि घृतका विलोडनकर मोटे रूपसे सूक्ष्म कर्षण हो जाता है अथवा अन्नको चाकीमें पीस देनेंसे उसके सूक्ष्मखण्ड हो जाते हैं। यों नवमें गुणस्थानमें पूर्वस्पर्द्धक, अपूर्व स्पर्द्धक, वादरकृष्टि, सूक्ष्मकृष्टि, अनुभाग अनुसार संज्वलन कर्मको सूक्ष्म कर दिया जाता है। वह किट्टि वादरकिट्टि और सूक्ष्मकिट्टि भेदसे दो प्रकार की होती है। यों किट्टि शब्दका अर्थ समझ लेना चाहिये। उसके पश्चात् लोभ संज्वलनको कृषकर दशवें गुणस्थानमें सूक्ष्मसांपरायक्षपक होकर अन्तमें सम्पूर्ण मोहनीय कर्मका निर्मूलनकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानमें मोहनीय कर्मके भारको फेंककर निर्मोह हो रहा सन्ता परिणामोंकी विशुद्धि द्वारा ऊपर चढ जाता है। उस अन्तर्मुहूर्त कालस्थायी बारहमें गुणस्थानके उपान्त्य समयमें यानी अन्तिम समयसे पहिले समयमें अर्थात् द्विचरम समयमें निद्रा और प्रचला दो प्रकृतियोंका क्षय कर अन्तिम समयमें पांच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण तथा पांच अन्तराय कर्मोंका पुरुषार्थ द्वारा क्षय करा देता है। उसके अव्यवहित पश्चात् आत्माके स्वभाव हो रहे केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वरूप केवलको भले प्रकार प्राप्त कर नहीं चिन्त-नमें आवे ऐसी बहिरंग, अन्तरंग विभूतिके माहात्म्यको वह यत्नशील आत्मा प्राप्त हो जाता है। वीरनिर्वाण सम्वत् २४४४ यानी विक्रम सम्वत् १९७५ में मुद्रित हुई पुस्त-कमें " मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तराय क्षयाच्च केवलं " सूत्रकी टीका छपी नहीं है, उत्तर प्रान्तकी लिखित पुस्तकमें जो कुछ शुद्ध, अशुद्ध टीका पाई गई उसकी भाषा यथायोग्य संशोधन कर कर दी गई है। पुनः मूडबिद्रीसे ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन

प्रतिके लेखको मंगाया गया। वह इस प्रकार है– " मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् " ॥१॥ निर्जरा पदार्थस्यैव संवरानन्तरनिर्देशभाजः प्रस्तुतत्वात् तन्निर्देश एव युक्तोऽधुना न पुनः केवलोत्पत्तेरिति कश्चित् तदसत्। मोक्षवचनादेव निर्जरास्वभाव सम्प्रत्ययान्मोक्षनिर्देशोपपत्तेस्तर्हि मोक्षसूत्रमेवारब्धव्यमिति चेत्, अत्रोच्यते;—

अथ मोहक्षयाज्ज्ञानावरणाविक्षयाच्च नुः
केवलं व्यक्तिमेतीति यन्मोक्षः प्रस्तुतावपि ॥
सूत्रकारोऽब्रवीन्नूनं तत्प्राधान्यसिद्धये
मुक्तस्याज्ञानरूपत्वव्युदासाय च कस्यचित् ॥
सुखं केवलमत्रोक्तं दुःखेनापृक्तमुत्तमं,
ज्ञानं प्रादेशिकैर्ज्ञानैर्दर्शनं दर्शनैस्तथा ॥
वीर्यं च देशवीर्येण दानाद्यैस्तद्विपर्ययः
मोहस्यात्यन्तिकध्वंसात्सुखमात्यन्तिकं भवेत् ॥
प्रशमात्मकमित्येतत्प्रतिक्षेपो न निर्वृतौ ।
ज्ञानं तथा विधं शुद्धं ज्ञानावरणसंक्षयात् ॥
दर्शनावरणध्वंसाद्दर्शनं चेति तत्स्थितिः,
वीर्यं च दानाद्यशेष स्वान्तरायक्षयादिति ॥
नाकिंचित्कर चैतन्यमात्रं मुक्तावशक्तिकं ।

नन्विह दशमेऽध्याये कथं मोक्षस्य प्रस्तुतिरिति चेत् नवमाध्याये संवरस्य गुप्त्यादिसूत्रेण प्ररूपणात्। " तपसा निर्जरा च " ति सूत्रेण निर्जरायाः कथनात् " मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः " इति चाविपाकनिर्जराप्रतिपत्तेः। " ततश्च निर्जरे" त्यनेन विपाकनिर्जरायाः प्रतिपादनात्। नन्वेतदपि निर्जराकारणकथनं न स्वरूपवचनमिति चेत् न निर्जराशब्दनिरुक्त्यैवार्थाव्यभिचारिण्या निर्जरालक्षणस्याभिधानात् तदर्थं सूत्रान्तरानारम्भाभिप्रायात्। ततो मोक्षस्यैवेह प्रस्तुतिः। तस्यामपि केवलस्यैवोत्पत्तिहेतुकथनं किमर्थमिति चेत् तस्य प्राधान्यसिद्ध्यर्थं मुक्तस्याज्ञानरूपव्यवच्छेदार्थं चैवं सूत्रकारोऽब्रवीदिति नो निश्चयः। द्विविधं हि निःश्रेयसं परापरभेदात्। तत्र केवलोत्पत्तिरपरामुक्तिः, कृत्स्न विप्रमोक्षः परा, यद्येवं न्यायप्राप्तमेव प्रथमं अपरमोक्षस्य केवलोत्पादलक्षणस्य वचनं तदनन्तरं परमोक्षवचनात्। तथा च कथं केवलस्य प्राधान्यसिद्ध्यर्थं

अन्तोमुहुत्त मेत्तो तक्कालो होदि तत्थपरिणामा
लोगाणमसंखमिदा उवरुवरिं सरिसवड्ढिगया ॥
बावत्तरिति सहस्सा सोलस चउचारि एक्क पंचेव,
धण अद्धाण विसेसे तिय संखाहोइ संखेज्जे ॥

इत्यादि कतिपय गाथाओं द्वारा तीनों कारणोंका उदाहरणसहित विस्तृत वर्णन है। समकालीन और भिन्न कालीन जीवोंके परिणाम सदृश और विसदृश भी हों इस कारण पहिला करण अधःकरण है। ऊर्ध्वगच्छ, तिर्यग्गच्छ, प्रचयधन, अनुकृष्टि-रचना, इत्यादि विधिसे विचार कर लिया जाय। पहिले करणका अन्तमुहूर्तकाल बडा है। उत्तरोत्तर छोटा है। दूसरे अपूर्व करणमें समान सामयिक नाना जीवोंके परिणाम सदृश और विसदृश भी हैं हां, भिन्नकालीन जीवोंके परिणाम विसदृश ही हैं,-

छण्णउदि चउ सहस्सा अट्ठय सोलस धणं तवद्धाणं,
परिणामविसेसोवि य चउसंखा पुव्वकरण संविट्ठी ॥

इन दोनों करणोंके परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण हैं। एक जीवके केवल अन्तर्मुहूर्त कालकी गणनामें आनेवाले छोटे असंख्यात समयों प्रमाणही परिणाम होते हैं। हां, तीसरे करणके सम्पूर्ण परिणामके बल छोटे अन्तमुहूर्तके समयों बराबर स्वल्प असंख्याते ही हैं। समान समयोंके जीवोंके परिणाम समान ही हैं और भिन्नकालीन जीवोंके परिणाम विसदृश ही हैं--

एगम्हि कालसमये संठाणादीहिं जह णिवट्टन्ति
ण णिवट्टन्ति तहा विय परिणामेहिं मिहो जेहिं ॥

यों गोम्मटसारमें इन करणोंका व्यासरूपेण वर्णन है। विशेष परिच्छित्तिके अभिलाषुक विद्वान् वहांसे परितृप्ति करें यहां मात्र संकेत करनाही पर्याप्त समझा जाय।

एकस्मिन् समये ह्यसंख्येयलोकमात्रावच्छिन्ना जीवस्य परिणामाः सन्ति, तत्राप्रमत्त-गुणस्थाने पूर्वपूर्वसमये प्रवृत्ता यादृशाः परिणामास्तादृशा एव, अथानन्तरमुत्तरसमयेऽप्यास-न्नतात्प्रवृत्ता विशिष्टचारित्ररूपाः परिणामा अधाप्रवृत्तकरणवाच्या भवंति अपूर्वकरण-प्रयोगेणापूर्वकरणक्षपकगुणस्थानव्यपदेशमनुभूयाभिनवशुभाभिसंधिर्ना धर्म्यशुक्लध्याना-भिप्रायेण कृशीकृतपापप्रकृतिस्थित्यनुभागः सन् संवर्धितपुण्यकर्मानुभवः सन् अनिवृत्तिकरणं लब्ध्वा अनिवृत्तिबादरसांपरायक्षपकगुणस्थानमधिरोहति।

एक समयमें नियमित संभावित देखे जा रहे परिणाम जीवके मर्यादित हैं। तीनों करणोंके परिणामोंकी मर्यादा न्यारी न्यारी है । उन तीन परिणामोंमें पहिला करण सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानमें होता है। पहिले पहिले समयोंमें जिस प्रकारके परिणाम प्रवृत्त हुये हैं उनके पश्चात् उत्तर समयोंमें भी वैसे ही परिणाम चारों ओरसे प्रवृत्त हो जाय वे चारित्र गुणके विशिष्ट रूप हो रहे परिणाम अथाप्रवृत्तकरण शब्द करके वाच्य हो जाते हैं। दूसरे अपूर्वकरण नामक प्रयोग करके आठवें अपूर्वकरण क्षपक गुणस्थान नामका अनुभव कर नवीन नवीन शुभ परिणामोंको विचार रहा आत्मा पहिले ध्याये गये धर्म्यध्यान और वर्तमानमें ध्याये जा रहे शुक्लध्यानके अभिप्राय (नय विचार) करके पापकर्म प्रकृतियोंके स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्धको कृप कर देता है। वही आत्मा पुण्य कर्मोंके अनुभागको बढिया बढा चुका सन्ता नवमे गुणस्थानमें अनिवृत्तिकरणको प्राप्त करके " अनिवृत्तिबादरसांपरायक्षपक " गुणस्थानपर चढता है। यहां दशमें गुणस्थानकी अपेक्षा कषाय मोटी है, निवृत्ति नहीं है। अतः इसका नाम अन्वर्थ है। जैसा नाम है वैसा ही अर्थ है।

तत्राप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानकषायाष्टकं नष्टं विधाय नपुंसकवेदविनाशं कृत्वा स्त्रीवेदं समूलकाषं कषित्वात्र हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणं नोकषायषट्कं पुंवेदे प्रक्षिप्य क्षपयित्वा पुंवेदं क्रोधसंज्वलने च क्रोधसंज्वलनं मानसंज्वलने, मानसंज्वलनं मायासंज्वलने, मायासंज्वलनं लोभसंज्वलने, लोभ संज्वलनं क्रमेण बादरकिट्टिविभागेन विनाशमानयति। बादर किट्टिरिति कोर्थः । उपायद्वारेण फलं भुक्त्वा निर्जीर्यमाणमुद्धत शेषमुपहतशक्तिकं कर्म किट्टिरित्युच्यते आज्य किट्टिवत्। सा किट्टिर्द्विधा भवति । बादर. किट्टिसूक्ष्मकिट्टिभेदादिति किट्टिशब्दस्यार्थो वेदितव्यः । तत्पश्चाल्लोभसंज्वलनं कृषीकृत्य सूक्ष्मसांपरायक्षपको भूत्वा निःशेषं मोहनीयं निर्मूल्य क्षीणकषायगुणस्थाने स्फोटितमोहनीयभारः सन्नधिरोहति। तस्य गुणस्थानोपांत्य समयेन्त्यसमयात्प्रथमसमये द्विचरमसमये निद्राप्रचले द्वे प्रकृती क्षपयित्वा अन्त्यसमये पंच ज्ञानावरणानि, चत्वारि दर्शनावरणानि, पंचान्तरायान् क्षपयति तदनन्तरं केवलज्ञान, केवलदर्शनस्वभावं केवलं संप्राप्याचिन्त्य विभूतिमाहात्म्यं प्राप्नोति।

उस नवमें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरण कर्म, क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रत्याख्यानावरण कर्म क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठों कषायोंको नष्टकर पुनः नपुंसकवेदका विनाश करके और स्त्रीवेद कर्मको मूलसहित कसते हुये बधकर पश्चात्

हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा स्वरूप छओं नोकषाय कर्मोंको पुंवेद कर्ममें प्रक्षेपण कर क्षय कर दिया जाता है। पुंवेदका क्रोधसंज्वलनमें और क्रोधसंज्वलन कर्मका मानसंज्वलनमें, तथा मानसंज्वलनका मायासंज्वलनमें एवं मायासंज्वलन कर्मका लोभसंज्वलनमें प्रक्षेपण कर संक्रमण क्रम अनुसार प्रलय कर दिया जाता है। वादर-कृष्टि विभाग करके वादरलोभ संज्वलन कर्मका विलय कर मात्र सूक्ष्म संज्वलन कर्म अवशेष रह जाता है। किट्टि शद्व प्राकृतभाषाका है, जो कि कृष्टिका अपभ्रंश है। वादर किट्टि इस शद्वका अर्थ क्या है ? इसका उत्तर यही है कि उपाय द्वारा फलको भोग कर निर्जराको प्राप्त हुये कर्मोंसे उद्धृत कर लिये गये अवशेषहीन शक्तिवाले कर्म किट्टि नामसे कहे जाते हैं। जैसे कि घृतका विलोडनकर मोटे रूपसे सूक्ष्म कर्षण हो जाता है अथवा अन्नको चाकीमें पीस देनेसे उसके सूक्ष्मखण्ड हो जाते हैं। यों नवमें गुणस्थानमें पूर्वस्पर्द्धक, अपूर्व स्पर्द्धक, वादरकृष्टि, सूक्ष्मकृष्टि, अनुभाग अनुसार संज्वलन कर्मको सूक्ष्म कर दिया जाता है। वह किट्टि वादरकिट्टि और सूक्ष्मकिट्टि भेदसे दो प्रकार की होती है। यों किट्टि शद्वका अर्थ समझ लेना चाहिये। उसके पश्चात् लोभ संज्वलनको कृषकर दशवें गुणस्थानमें सूक्ष्मसांपरायक्षपक होकर अन्तमें सम्पूर्ण मोहनीय कर्मका निर्मूलनकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानमें मोहनीय कर्मके भारको फेंककर निर्मोह हो रहा सन्ता परिणामोंकी विशुद्धि द्वारा ऊपर चढ जाता है। उस अन्तर्मुहूर्त कालस्थायी बारहमें गुणस्थानके उपान्त्य समयमें यानी अन्तिम समयसे पहिले समयमें अर्थात् द्विचरम समयमें निद्रा और प्रचला दो प्रकृतियोंका क्षय कर अन्तिम समयमें पांच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण तथा पांच अन्तराय कर्मोंका पुरुषार्थ द्वारा क्षय करा देता है। उसके अव्यवहित पश्चात् आत्माके स्वभाव हो रहे केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वरूप केवलको भले प्रकार प्राप्त कर नहीं चिन्तनमें आवे ऐसी बहिरंग, अन्तरंग विभूतिके माहात्म्यको वह यत्नशील आत्मा प्राप्त हो जाता है। वीरनिर्वाण सम्वत् २४४४ यानी विक्रम सम्वत् १९७५ में मुद्रित हुई पुस्तकमें " मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तराय क्षयाच्च केवलं " सूत्रकी टीका छपी नहीं है, उत्तर प्रान्तकी लिखित पुस्तकमें जो कुछ शुद्ध, अशुद्ध टीका पाई गई उसकी भाषा यथायोग्य संशोधन कर कर दी गई है। पुनः मूडबिद्रीसे ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन

प्रतिके लेखको मंगाया गया। वह इस प्रकार है-- " मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् " ॥१॥ निर्जरा पदार्थस्यैव संवरानन्तरनिर्देशभाजः प्रस्तुतत्वात् तन्निर्देश एव युक्तोऽधुना न पुनः केवलोत्पत्तेरिति कश्चित् तदसत्। मोक्षवचनादेव निर्जरास्वभाव सम्प्रत्ययान्मोक्षनिर्देशोपपत्तेस्तर्हि मोक्षसूत्रमेवारब्धव्यमिति चेत्, अत्रोच्यते;--

अथ मोहक्षयाज्ज्ञानावरणादिक्षयाच्च नुः
केवलं व्यक्तिमेतीति यन्मोक्षः प्रस्तुतादपि ॥
सूत्रकारोऽब्रवीन्नूनं तत्तत्प्राधान्यसिद्धये
मुक्तस्याज्ञानरूपत्वव्युदासाय च कस्यचित् ॥
सुखं केवलमत्रोक्तं दुःखेनापृक्तमुत्तमं,
ज्ञानं प्रादेशिकैर्ज्ञानैर्दर्शनं दर्शनैस्तथा ॥
वीर्यं च देशवीर्येण दानाद्यैस्तद्विपर्ययः
मोहस्यात्यन्तिकध्वंसात्सुखमात्यन्तिकं भवेत् ॥
प्रशमात्मकमित्येतत्प्रतिक्षेपो न निर्वृतौ ।
ज्ञानं तथा विधं शुद्धं ज्ञानावरणसंक्षयात् ॥
दर्शनावरणध्वंसाद्दर्शनं चेति तत्स्थितिः,
वीर्यं च दानाद्यशेष स्वान्तरायक्षयादिति ॥
नाकिंचित्कर चैतन्यमात्रं मुक्तावशक्तिकं ।

नन्विह दशमेऽध्याये कथं मोक्षस्य प्रस्तुतिरिति चेत् नवमाध्याये संवरस्य गुप्त्यादिसूत्रेण प्ररूपणात्। " तपसानिर्जरा च " ति सूत्रेण निर्जरायाः कथनात् " मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः " इति चाविपाकनिर्जराप्रतिपत्तेः। " ततश्च निर्जरे'त्यनेन विपाकनिर्जरायाः प्रतिपादनात्। नन्वेतदपि निर्जराकारणकथनं न स्वरूपवचनमिति चेत् न निर्जराशद्वनिरुक्त्यैवार्थाव्यभिचारिण्या निर्जरालक्षणस्याभिधानात् तदर्थं सूत्रान्तरानारम्भाभिप्रायात्। ततो मोक्षस्यैवेह प्रस्तुतिः। तस्यामपि केवलस्यैवोत्पत्तिहेतुकथनं किमर्थमिति चेत् तस्य प्राधान्यसिद्ध्यर्थं मुक्तस्याज्ञानरूपव्यवच्छेदार्थं चेवं सूत्रकारोऽब्रवीदिति नो निश्चयः। द्विविधं हि निःश्रेयसं परापरभेदात्। तत्र केवलोत्पत्तिरपरामुक्तिः, कृत्स्न विप्रमोक्षः परा, यद्येवं न्यायप्राप्तमेव प्रथमं अपरमोक्षस्य केवलोत्पादलक्षणस्य वचनं तदनन्तरं परमोक्षवचनात्। तथा च कथं केवलस्य प्राधान्यसिद्ध्यर्थं

तदभिधानमिति न चोद्यं केवलस्योत्पादस्यात्मलाभलक्षणत्वात् । आत्मलाभस्यान्तर्मलक्षय-हेतुकस्य मोक्षत्वव्यवस्थानात् जीवस्याज्ञानव्यवच्छेदात् सर्वथाप्यभावात् किंचित्करत्वव्यव-च्छेदवत् । तथाचोक्तम्-

आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात् ॥
नाभावं नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् । इति

किं पुनः केवलमत्राभिप्रेतं ? निःशेष मोहक्षयादनंतप्रशमसुखं केवलं सांसारिक-सुखेन दुःखानुषक्तेन रहितत्वात्, ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च अनन्तं ज्ञानदर्शनं वीर्य-मभयदानादि च केवलं, क्षायोपशमिकाज्ञानादिविविक्तत्वात् न चैतद्विरुद्धं नयानां केवल-लब्धीनामुपदेशात् । मोहादिप्रक्षयः कुतः सिद्धः ? इति चेदुच्यते,—

मोहादिप्रक्षयः सिद्धः परमः क्वचिदात्मनि ॥
प्रकृष्यमाणरूपत्वान्माणिक्यादौ मलादिवत् ।

ततः प्रोक्तं केवलं सर्वार्थगोचरं, किंचिद्दर्शनं ज्ञानं चेति । सूत्रे वृत्तिप्रसंगो लघ्वर्थमिति चेन्न, क्रमेण क्षयज्ञापनार्थत्वात् मोहादीनां तत्क्षयो हेतुः केवलोत्पत्तेरिति हेतुलक्षण विभक्तिनिर्देशः । एतदेवाह—

पूर्वं मोहक्षयो ज्ञानावरणादित्रयक्षयः
तदनन्तरमित्येतद्वृत्त्यनिर्देशतो मतं
घातिसंघातनिर्घाता देवं केवलमात्मनः,
स्वरूपं मुख्यमुद्भूति स्तल्लब्धिर्मुक्तिरर्हता ॥

इतश्च केवलस्य प्राधान्यमित्याह,—

तस्यां सत्यां मुमुक्षूणां मुक्तिमार्गोपदेशनात् ।
सिद्धचेदिति प्रधानत्वं केवलस्येति पूर्ववाक् ॥

कुतः पुनः मोहादीनां क्षय इति चेदुच्यते "भव्यजीवस्यात्मविशुद्धि विशेषात् । असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थाने वेदकसम्यक्त्वस्य क्षायिकदर्शनचारित्रपरिणामविशेषात् क्रमशोऽशुभेतर कर्मप्रकृतिक्षपणनिबन्धनादित्यर्थः ।

इन वार्त्तिकों और भाष्यका अर्थ यों है कि मोहके क्षयसे और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, तथा अन्तराय कर्मोंके क्षयसे केवलज्ञान उपजता है । ऐसा सूत्रार्थ होनेपर

कोई आक्षेप करता है कि नौमे अध्यायमें संवर तत्त्वका निरूपण कर चुकनेपर उसके पश्चात् दशमें अध्यायमें अगिले निर्जरा पदार्थकाही निर्देश करना योग्य है। अवसर संगति अनुसार निरूपण योग्यताको धार रहा निर्जरा तत्त्वही प्रस्ताव प्राप्त है। अतः दशमें अध्यायके आदिमें अब उस निर्जराका प्ररूपण करना ही समुचित है, किन्तु फिर केवलज्ञानकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करना सूत्रकारको युक्त नहीं है। यहां तक कोई प्रतिवादी कह रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह उसका कहना प्रशंसनीय नहीं है, असत्यार्थ है। कारण दशवें अध्यायमें मोक्षतत्त्वका कथन कर देनेसेही निर्जरा स्वरूपकी भले प्रकार प्रतीति हो जाती है। एकदेश होना निर्जरा है, और पूर्णरूपेण कर्मोंका क्षय हो जाना मोक्ष है। जैसे कि कोई भी अवयवी प्रासादकी रचना उसके भींत, खम्भ, छत आदि अवयवोंकी रचनापूर्वक होती है। उसी प्रकार निर्जराकी प्रतीति हो जानेमेही मोक्षका प्रतिपादन युक्तिपूर्ण सिद्ध हो जाता है। इसपर यदि आक्षेप कर्ता यों कहे कि तब तो इस अध्यायकी आदिमें मोक्षके प्रतिपादक सूत्रका ही प्रारम्भ करना चाहिये, केवलज्ञानको आदिमें क्यों कह बैठे ? इस प्रकार विक्षेप उठानेपर तो ग्रन्थकार करके इस अवसरपर समाधानार्थ अग्रिम वार्त्तिकें कही जा रही हैं। उन वार्त्तिकोंका अर्थ यह है कि अब दशमें अध्यायके प्रारम्भमें यह कहा जाता है कि मोहनीय कर्मका क्षय हो जानेसे तथा ज्ञानावरण आदि कर्मोंका क्षय हो जानेसे आत्माका केवल (ज्ञान) प्रकट हो जाता है। जिस कारणसे कि केवलज्ञानका प्रकट हो जानाही जीवन्मोक्ष है। अतः मोक्षका प्रस्ताव हो जानेसे भी सूत्रकार महाराज नियमसे केवलज्ञानको कह चुके हैं। ततः उस केवलज्ञानकी प्रधानताको सिद्ध करनेके लिये यह रचना की गई है। केवलज्ञानीका मोक्ष हो जाना रोकनेपर भी नहीं रुक पाता है। अतः केवलज्ञानकी उत्पत्ति प्रधान मानी गई है। दूसरी बात यह भी है कि किसी किसी वादीके यहां मोक्ष अवस्थामें ज्ञान नही माना गया है। वैशेषिकोंने मोक्ष अवस्थामें बुद्धि आदि नौ गुणोंका ध्वंस हो जाना स्वीकार किया है। अतः मोक्षप्राप्त जीवके ज्ञानरहित स्वरूप हो जानेका खण्डन करनेके लिये केवलज्ञानका आद्यमें प्रतिपादन करना आवश्यक पड गया है। ।। १-२ ।। का० " यहां सूत्रमें केवल पद दिया गया है। उसका केवलज्ञान अर्थ करना उपलक्षण है। साथही अनन्तसुख, दर्शन, वीर्य आदिका उपज जाना भी अभिप्रेत हो रहा है। केवल का अर्थ अन्योंसे रीता होता है। जैसे कि कोई पण्डित केवल वैयाकरण है,

इसका तात्पर्य यही है कि वह न्यायशास्त्र, साहित्य, सिद्धान्त, ज्योतिष आदि शास्त्रोंके ज्ञानसे रहित हो रहा शुद्ध वैयाकरण मात्र है। इसी प्रकार केवल सुखका अर्थ यह है कि अर्हन्त अवस्थामें दुःख सर्वथा नहीं रहे। दुःखके सम्पर्कसे रहित हो रहा उत्तम सुखही यहां केवलसुख कहा गया है। "तत्सुखं यत्र नासुखं" प्रदेश प्रदेश यानी स्वल्प विषयोंमें होनेवाले क्षायोपशमिक ज्ञानोंके संसर्गसे रहित हो रहा क्षायिकज्ञानही यहां केवलज्ञान अभीष्ट है। तिसी प्रकार एकदेशी क्षायोपशमिक दर्शनोंसे रहित हो रहा क्षायिक दर्शन ही यहां दर्शन माना गया है ॥ ३ ॥ का० ॥ वीर्य भी छोटी छोटी स्वल्प सांसारिक शक्तियोंसे पृथग्भूत हो रहा अनन्तवीर्य यहां केवलवीर्य प्रतिपादित किया गया है। एवं उस अनन्तदान, लाभ आदिसे विपरीत हो रहे संसारी जीवोंके अल्पदान, स्तोकलाभ, अदान आदि भावोंसे असंलग्न हो रहे क्षायिकदान, क्षायिकलाभ आदि भी सूत्रोक्त केवल-पद करके कहे गये हैं। यो चार कर्मोंके क्षय हो जानेसे अनन्त चतुष्टयोंका होना निरूपित किया गया है। अन्तका अतिक्रमण कर रहे अनन्तकाल तकके लिये मोहकर्मका ध्वंस हो जानेसे जीवन मुक्तको आत्यन्तिक अनन्तानन्त सुख हो जावेगा। यह सुख परमशान्ति स्वरूप है। वैशेषिक या नैयायिक कुछ भी माने किन्तु जैन सिद्धान्त अनुसार मोक्ष अवस्थामें इस अनन्तानन्त प्रशमसुखका निराकरण नहीं है तथा ज्ञानावरणका अतीव क्षय हो जानेसे तिसी प्रकार अनन्तानन्त शुद्ध क्षायिकज्ञान भी मोक्ष अवस्थामें विद्यमान है। निराकरणीय नहीं है ॥ ४-५ का० ॥ एवं दर्शनावरण कर्मका प्रध्वंस हो जानेसे अनन्तानन्त क्षायिक महासत्तालोचनात्मक दर्शन भी व्यक्त हो जाता है। अपने अपने क्षायिकदान, क्षायिकलाभ आदिके प्रतिपक्षी हो रहे दानान्तराय, लाभान्त-राय आदि सम्पूर्ण अन्तराय कर्मोंके क्षयसे अनन्तज्ञान, अनन्तानन्तवीर्य, आदिकी भी मोक्ष अवस्थामें स्थिति प्रसिद्ध है। इस प्रकार मोक्षमें चैतन्य, सुख, दर्शन, वीर्य, दान आदि अनेक शुद्ध परिणतियोंकी व्यवस्था हो रही है। जो सांख्यमतानुयायी मोक्ष अव-स्थामें केवल चैतन्यही मानते हैं। अथवा ज्ञानाद्वैतवादी या ब्रम्हाद्वैतवादी अकेले ज्ञान या चित्सत्ताको मान बैठें हैं। ऐसा मुक्तिमें शक्ति (वीर्य) दान आदिसे रहित हो रहा केवल कुछ भी नहीं कर सकनेवाला चैतन्यही नहीं व्यवस्थित है। अर्थात् ज्ञानावरण, लाभान्तराय, भोगान्तराय आदिका क्षयोपशम हो जानेपर भी यदि वीर्यान्तरायका क्षयोपशम नहीं है। तो वे सब व्यर्थ (फेल) हैं। निर्बल, अशक्त या सरोग अवस्थामें

पण्डितों, धनाढ्योंके ज्ञान, भोग, उपभोग कुछ भी नहीं होने पाते हैं। अतः अनेक गुणोंकी स्फूर्ति होनेमें वीर्यगुणका स्फुरायमाण होना अनिवार्य आवश्यक है। जिस दार्शनिकने मोक्ष अवस्थामें वीर्यगुणसे रहित हो रहा केवल चैतन्यमात्र रक्खा है। वह कोरा चैतन्य अकिंचित्कर है, जडताके समान है। शारीरिक अंगोंके समान अनेक गुण परस्परापेक्ष होकरही स्वकीय सत्ताको स्थिर किये हुये हैं। धडके विना अकेला मस्तक मर जावगा, मस्तकके विना धड भी जीवित नहीं रह सकता है। तद्वत् चैतन्यकी स्थिति अनन्तवीर्यके साथ अवलम्बित है ।। ६।।० ।। "शक्तिर्यस्य बलं तस्य" यों वार्तिकों द्वारा अनेक विप्रतिपत्तियोंका निराकरण हो चुकनेपर पुनः कोई आक्षेपकर्ता शंका उठा रहा है कि यहां दशमें अध्यायमें सातवें मोक्ष तत्त्वके निरूपणका प्रस्ताव किस प्रकार समझा गया ? बताओ। ऐसा आक्षेप प्रवर्तनपर तो हम ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि नौवें अध्यायमें " सगुप्तिसमिति " इत्यादि सूत्र करके संवरतत्त्वकी प्ररूपणा की जा चुकी है। वहां ही "तपसा निर्जराच" इस सूत्र करके छठे निर्जरा तत्त्वका भी कथन हो चुका है। तथा " मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः " इस सूत्र करके अविपाक निर्जराकी प्रतिपत्ति कराई जा चुकी है। " ततश्च निर्जरा " इस आठवें अध्यायके सूत्र करके सविपाक निर्जराका भी प्रतिपादन कर दिया गया है। अतः छहों तत्त्वोंका व्याख्यान हो चुकनेपर परिशेष न्यायसे इस दशवें अध्यायमें मोक्षका निरूपण करना न्याय प्राप्त है। यदि यहां कोई यों शंका उठावे कि यह तीन सूत्रों द्वारा निर्जराका प्रतिपादन भी निर्जराके कारणोंका कथन है ' इनमें निर्जराका सिद्धान्तलक्षण नहीं कहा गया है। अतः निर्जराका सूत्रकारको कण्ठोक्त लक्षण यहां करना चाहिये। यों कहनेपर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि यह नहीं कहना क्योंकि निर्जरा शद्बकी व्यभिचार दोषसे रहित हो रही " निर्जीर्यते यया सा निर्जरा " इस निरुक्ति करकेही निर्जराके लक्षणका कथन हो जाता है। अतः उस निर्जरा स्वरूपके लिये अन्य सूत्रके आरम्भ करनेमें सूत्रकारका अभिप्राय नहीं है। शद्ब निरुक्ति करकेही यदि पदका यौगिक अर्थ निकल पडता है। तो उनके पारिभाषिक लक्षण सूत्रको बनानेकी आवश्यकता नहीं रह जाती है। जैसे कि ज्ञान चारित्र, क्षायिक, ईर्या, ज्ञानावरण आदिक पद हैं। हां, जिन शद्बोंका योगिक अर्थ सूत्रकारको अभीष्ट नहीं हैं। उन सम्यग्दर्शन उपयोग, गुप्ति, परीषह आदि शद्बोंकी निरुक्ति कर देनेसे इष्ट अर्थका व्यभिचार हो जाता है। अतः उनका लक्षण

स्वतन्त्र सूत्रों द्वारा कहा ही है। तिस कारण निर्जराका व्याख्यान ही चुकनेपर यहां दशमें अध्यायमें मोक्षतत्त्वका ही प्रस्ताव प्राप्त है। ऐसा क्रमप्राप्त होनेपर शिष्य पूछता है कि अच्छी बात है। उस मोक्षका प्रस्ताव प्राप्त होनेपर मोक्षकी प्रतिपत्ति करानेवाला सूत्र कहना चाहिये था। अप्रकृत केवलकी ही उत्पत्तिके हेतुका कथन भला किसलिये किया जा रहा है? बताओ। यों भलमनुषाई का प्रश्न उतरनेपर तो ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि उस केवल (ज्ञान) की प्रधानताको सिद्ध करनेके लिये तथा मोक्षप्राप्त जीवके अज्ञान स्वरूप हो जानेका निराकरण करनेके लिये सूत्रकार इस दशम अध्यायके प्रथम सूत्रको कह चुके हैं, ऐसा हमारा निश्चय यह है कि निःश्रेयस यानी मोक्ष होना परनिःश्रेयस और अपर निःश्रेयस भेदसे दो प्रकार है। उनमें केवलज्ञान, अनन्तदर्शन आदिकी उत्पत्ति हो जाना तो अपरमोक्ष है। जो कि तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानमें हो रही जीवनमुक्ति कही जाती है। हां, सम्पूर्ण आठों, कर्मोंका अनन्तकाल तकके लिये निःशेष रूपेण छूट जाना परमुक्ति है जो कि सिद्ध अवस्थामें प्राप्त हो जाती है। इस समाधानपर शंकाकार पुनः आक्षेप उठाता है कि, यदि इस प्रकार है। "कि केवलज्ञानका उपज जाना अपरनिःश्रेयस है।" तब तो केवलज्ञान सुखादिकी उत्पत्ति हो जाना स्वरूप अपर मोक्षका पहिले कथन करना न्याय मार्गद्वारा प्राप्त हुआ, उस अपरनिःश्रेयसके अव्यवहित पश्चात् परमोक्षका कथन करना ठीक है और तैसा सुव्यवस्थित हो जानेपर ग्रन्थकारने केवलकी प्रधानताको सिद्ध करनेके लिये उस प्रथम सूत्रको कहा है। यह समाधान करना किस प्रकार ठीक कहा जा सकता है? बताओ यही सीधा उत्तर अच्छा था कि मोक्षका प्रस्ताव प्राप्त हो रहा है। प्रथम सूत्र द्वारा अपरमोक्षका प्रतिपादन है, और दूसरे सूत्र करके परमुक्ति कही जा रही है। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि यह चोद्य उठाना उचित नहीं है। क्योंकि केवलज्ञान आदिका उत्पाद हो जाना आत्मलाभ स्वरूप है। अतः अन्तरंग घातिकर्म स्वरूप मलोंके क्षयको हेतु मानकर उपजे आत्मलाभको ही मोक्षपनकी व्यवस्था दी गई है। ऐसा नियत कर देनेसे मोक्षमें जीवके अज्ञान स्वरूप (ज्ञानरहित) हो जानेका परिहार हो जाता है। जैसे कि मोक्ष अवस्थामें सभी प्रकारोंसे अभाव हो जाने और कुछ भी नहीं कर सकनेका व्यवच्छेद कर दिया जाता है। अर्थात् बौद्धोंने मोक्ष अवस्थाको सर्वथा अभावरूप मान रक्खा है। जैसे कि दीपक बुझ जाता है। कुछ भी शेष नहीं रहता है, तथा वैशेषिकोंके

यहां मुक्तात्मा कुछ भी नहीं करनेवाला अकिंचित्कर माना गया है । अद्वैतवादियोंके यहां छोटी सत्ताका अभाव होकर बडी सत्तामें मिल जाना मोक्ष कहा है । किन्तु जिनागममें अनन्तज्ञान, और सुख, वीर्य, चारित्र आदिको पुरुषार्थों द्वारा भोगनेवाला मुक्तात्मा अभीष्ट किया है । यहां, लौकिक खाना, पीना, सोना आदि क्रियाओंको मुक्तात्मा नहीं करता है । बात यह है कि कर्मोदय-जन्य खाने, पीने आदि क्रियाओंमें इतना पुरुषार्थ नहीं किया जाता है । जितना कि मुक्तात्माको यथा प्राप्त स्वकीय सुख, ज्ञान, वीर्य, चारित्र आदिका उपभोग करने या स्वरूपनिष्ठ होनेमें प्रयत्न करना पडता है । विद्यार्थीको अपनी ग्रन्थोक्त प्रमेयोंकी स्मृतियोंको धारे रहनेमें भारी पुरुषार्थ लगाना पडता है । तभी वह उत्तीर्ण हो पाता है । अनेक संकल्प, विकल्पोंमें पडे हुये और कर्मों द्वारा सताये गये संसारी जीव अपने स्तोकज्ञान, दर्शन, आत्मनिष्ठा, उत्साह, स्वल्प स्वतन्त्रता आदिका भी उपभोग नहीं कर पाते हैं । इस त्रैराशिक द्वारा मुक्तोंके अनन्तज्ञान आदिका अनुभव न करनेमें किये जा रहे पुरुषार्थका अनुमान कुछ कुछ लगाया जा सकता है । आचार्य इसी बातको कह रहे हैं कि जीवके सर्वथा अभाव तथा अकिंचित्करपनका व्यवच्छेद हो जानेके समान आदि सूत्र द्वारा अज्ञान स्वभावका व्यवच्छेद कर दिया जाता है । और तिसी प्रकार पूर्वाचार्यप्रणीत अन्य ग्रन्थोंमें कहा जा चुका भी है कि जीवके अन्तरंग द्रव्य भाव मलोंका क्षय हो जानेसे स्वात्मलाभ हो जानेको ही गणधरदेव मोक्ष मानते हैं । जीवका अभाव हो जाना मोक्ष नहीं है, जीवका अचेतन हो जाना भी मोक्ष नहीं है । तथा व्यर्थ अकिञ्चित्कर कूटस्थ चैतन्य मात्र हो जाना भी मोक्ष स्वरूप नहीं है । अर्थात् इन तीनों अवस्थाओंमें निजात्मस्वरूपका लाभ नहीं हो पाया है । प्रत्युत अपनी गांठकी छोटी मोटी सम्पत्ति ही खोई जा चुकी है । इस प्रकार प्रथम सूत्रसे आत्मलाभ और द्वितीय सूत्रसे कारणों द्वारा प्रतिबन्धकोंका दूर हो जाना मोक्षका स्वरूप कहा गया है । यहां कोई प्रश्न उठाता है कि यहां प्रथम सूत्रमें कहे गये केवलपदका फिर क्या अर्थ लिया गया है ? बताओ । इसके समाधानार्थ पूर्वकारिकाओंमें कहे गये अर्थकाही आचार्य महाराज विवरण करते हैं कि शेषरहित सम्पूर्ण मोहनीय कर्मका क्षय हो जानेसे उत्पन्न हुआ । प्रशान्तिस्वरूप अनन्तसुख यहां केवलपदका वाच्यार्थ है । जो कि सुख कर्मजन्य दुःखोंसे बहुभाग मिल रहे सांसारिक सुखसे रहित है । तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंके क्षयसे उपजा

अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अभयदान, क्षायिकलाभ आदि भी केवलपदसे अभि-प्रेत हो रहे हैं जो कि क्षायोपशमिक अल्पज्ञान, कुज्ञान, अज्ञान, अदर्शन, अनुत्साह आदिसे पृथग्भूत होनेके कारण " केवल " पदद्वारा ग्राह्य हैं। अन्योंसे पृथग्भूत कर दिये गये अकेली व्यक्तिको केवल माना जाता है। मोक्ष अवस्थामें यह केवलज्ञान दर्शन आदिका आत्मलाभ हो जानेको स्वीकार करना कोई सिद्धान्तसे विरुद्ध नहीं है क्योंकि प्राचीन शास्त्रोंमें जीवनमुक्तोंके नौ केवललब्धियोंके प्रकट हो जानेका उपदेश पाया जाता है। भावार्थ--अरहन्त अवस्थामें नौ केवललब्धियां उपज बैठती हैं। गोम्मटसारमें ऐसा निरूपण है कि--

" केवलणाणदिवायरकिरणकला
वप्पणासियण्णाणो,
णव केवललद्धुग्गम सुजणिय परमप्प ववएसो "
असहायणाणदंसणसहियो इदि केवलीहु जोगेण
जुत्तोत्ति सजोगिजिणो अणाइ णिहणारिसो उत्तो "

इसका ऐदम्पर्य यह है कि धाराप्रवाहसे चले आ रहे अनादि निधन आर्ष-ग्रन्थोंमें यों कहा गया है कि सहायरहित केवलज्ञान, दर्शन आदिसे सहित केवली हैं। उनके क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये नौ लब्धियां प्रकट हो जाती हैं। यहां कोई विनीत शिष्य पूंछता है कि मोह-नीय कर्म, ज्ञानावरण आदिका प्रक्षय हो जाना भला किस हेतुसे सिद्ध हो चुका माना जाय ? यों प्रश्न उपस्थित हो जानेपर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा समाधान कहते हैं कि किसी न किसी आत्मामें (पक्ष) मोह आदि कर्मोंका प्रकृष्ट क्षय प्रसिद्ध हो चुका है। (साध्यदल) मोह आदिकी हीनताका प्रकर्ष हो रहा होनेसे (हेतु) माणिक्य, सुवर्ण आदिमें जैसे मल, किट्टि आदिका सर्वथा प्रक्षय सिद्ध है। (अन्वय दृष्टान्त) ॥ ८ ॥ अर्थात् माणिक्य, मोती, सुवर्ण आदिमें अन्तरंग, बहिरंग मलोंके प्रयोगोंद्वारा क्षयका तारतम्य होते होते अन्तमें सर्व मलोंका ध्वंस हो जाना सिद्ध है। उसी प्रकार संसारी जीवमें कर्मोंकी क्षीयमाणता तारतम्य रूपसे बढ रही देखी जाती है। वह अन्तमें जाकर मोहादिके पूर्णक्षयको सिद्ध कर देती है। इस विषयका " दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषा-स्त्यतिशायनात्, क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः " इस देवागमकी कारिकाका

विवरण करते हुये ग्रन्थकारने अष्टसहस्रीमें अच्छा विवेचन किया है। यहां ग्रन्थकार उपसंहार करते हैं कि तिस कारण सम्पूर्ण अर्थोंको विषय कर रहे कोई क्षायिक दर्शन और ज्ञान आदि भी केवल हैं। यह बहुत बढिया प्रथम सूत्रमें कहा जा चुका है। अब यहां दूसरे प्रकारकी शंका उठाई जाती है। जैसे कि राजवार्त्तिकमें की गई है कि यहां प्रथम सूत्रमें लाघव करनेके लिये सूत्रमें समासवृत्ति कर देनेका प्रसंग प्राप्त है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि क्रमसे मोह आदि कर्मोंके क्षय हो जानेकी ज्ञप्ति करानेके लिये पहिले पदका द्वन्द्वसमास नहीं किया गया है। अन्तर्मुहूर्त पहिले उस मोहका क्षय हो जाना केवलकी उत्पत्तिका हेतु है इसी कारण मोहक्षयात् पदका हेतु-स्वरूपको कहनेवाली पञ्चमी विभक्ति द्वारा कथन किया गया है। इसही रहस्यको ग्रन्थकार अग्रिम दो वार्त्तिकोंमें कह रहे हैं कि " पूर्वही बारहवें गुणस्थानकी आदिमें चारित्र मोहनीय कर्मका क्षय हो जाता है, उसके अन्तर्मुहूर्तका पश्चात् तेरहवें गुणस्थानकी आदिमें ज्ञानावरणादि तीनों कर्मोंका क्षय हो जाता है। यह तत्त्वसमासवृत्तिपूर्वक कथन नहीं करनेसे सूत्रकारका मन्तव्य है यों प्रतीत हो जाता है ॥ ९ ॥ इस प्रकार घातिकर्मोंके समुदायका समूल घात हो जानेसे आत्माके केवल उपजता है। उन क्षायिक भावोंका प्रकट हो जानाही आत्माका मुख्य स्वरूप है। अरहन्त परमेष्ठियोंके उस स्वरूपकी लब्धि हो जाना ही मोक्ष है। अरहन्तदेवके अनुयायी दार्शनिक स्वरूपलाभ हो जानेको मोक्ष स्वीकार करते हैं ॥ १० ॥ ग्रन्थकारको केवलकी प्रधानता अभीष्ट है। उसका समर्थन किया जा चुका है, फिर भी कुछ अस्वरस रह गया दीखता है। अतः ग्रन्थकार उस बातको सिद्ध करनेके लिये सर्वोत्कृष्ट हेतु दे रहे हैं कि इस हेतुसे भी सूत्रोक्त केवलकी प्रधानता पुष्ट होती है। इसको अग्रिम वार्त्तिक द्वारा ग्रन्थकार कहते हैं कि उस केवलकी उत्पत्ति होते सन्तेही मोक्षाभिलाषी जीवोंको मुक्तिके मार्गका उपदेश प्राप्त होता है। अतः केवलकी प्रधानता भले प्रकार सिद्ध हो बैठेगी इसही कारण सूत्रकारने दशमें अध्यायके पूर्वमें केवलकी उत्पत्ति हो जानेका वचन कहा है। ॥ ११ ॥ अब यहां किसीका प्रश्न उठता है कि फिर यह बताओ कि मोहादिकोंका क्षय भला किस कारणसे हो जाता है। इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तनपर तो ग्रन्थकार द्वारा यों समाधान कहा जाता है कि वह कर्मोंका क्षय तो जीवकी विशेष आत्मविशुद्धिसे हो जाता है। शुद्ध प्रणिधानोंसे कर्मोंका क्षय हुआ करता है। चौथे असंयतसम्यग्दृष्टि आदि

गुणस्थानोंमें उपशमसम्यक्त्वके पीछे वेदकसम्यक्त्व और क्षायिकसम्यग्दर्शन तथा चारित्र संबन्धी परिणाम विशेषोंसे कर्मोंका क्षय कर दिया जाता है। जो कि उपयोग द्वारा लगाये गये विशुद्ध परिणाम क्रम क्रमसे अशुभ और शुभ कर्म प्रकृतियोंकी क्षपणा करनेमें समर्थ कारण हो रहे हैं। यहां तक इस सूत्रके अर्थका स्पष्टीकरण कर दिया गया है।

अथ केवलज्ञानोत्पत्ति प्रवितर्क्यैवामी पूर्वोदितनिर्जरानिदानानां सन्निधाने मोक्षकारणं मोक्षस्वरूपं च व्याचष्टे।

अब इसके अनन्तर केवलज्ञानकी उत्पत्तिकी बढ़िया वितर्कणा कर इस समय पहिले कह दिये गये। निर्जराके कारणोंकी सन्निकटता हो जानेपर सूत्रकार महाराज मोक्षके कारण और मोक्षके स्वरूपका अग्रिम सूत्र द्वारा व्याख्यान करते हैं। मुद्रित पुस्तकमें इस सूत्रका अवतरण यों हैं कि–कस्माद्धेतोर्मोक्षः किं लक्षणश्चेत्यत्रोच्यते–किस कारणसे मोक्ष होती है ? और उस मोक्षका लक्षण क्या है ? यहां ऐसी जिज्ञासा उत्थित होनेपर सूत्रकार आचार्य करके अग्रिम सूत्र कहा जाता है।

बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥

कर्मबन्धके हेतु हो रहे मिथ्यादर्शनादिकों या आस्रवका अभाव हो जाना स्वरूप संवर और एकदेश कर्मक्षय करनेवाली निर्जरा इन दो आत्मीय परिणामों करके सम्पूर्ण कर्मोंका अनन्तानन्त कालके लिये प्रकर्षरूपेण छूट जाना मोक्ष है।

बन्धस्य हेतवो मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगास्तेषामभावो नूतनकर्मणामप्रवेशो बन्धहेत्वभावः। पूर्वोपार्जितकर्मणामेकदेशक्षयो निर्जरा। बन्धहेत्वभावश्च निर्जरा च बन्धहेत्वभावनिर्जरे। ताभ्यां बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां द्वाभ्यां कारणाभ्यां कृत्स्नानां विश्वेषां कर्मणां विशिष्टमन्यजनासाधारणं प्रकृष्टमेकदेशकर्मक्षयलक्षणनिर्जराया तु उत्कृष्टमात्यन्तिकं मोक्षणं मोक्षः। कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष उच्यते। एतेन पूर्वपदेन मोक्षस्य हेतुरुक्तो, द्वितीयपदेन मोक्षस्वरूपं प्रतिपादितमिति वेदितव्यम्।

बन्धके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग हैं। उनका अभाव हो जाना अर्थात् नवीन कर्मोंका प्रवेश नहीं होना ही बन्धहेत्वभाव है। पहिले समयोंमें उपार्जित किये गये संचित कर्मोंका एकदेशरूपेण क्षय कर देना निर्जरा है।

बन्धहेत्वभाव और निर्जरा इन दो पदोंका इतरेतर नामक द्वन्द्व समास कर " बन्ध-हेत्वभाव निर्जरे " ऐसा पद बना लिया जाता है । तृतीया या पञ्चमी विभक्तिके द्विवचन अनुसार ताभ्यां कर देनेपर " बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां " पद बन जाता है । इन दोनों कारणों करके कृत्स्न यानी सम्पूर्ण कर्मोंका वि यानी विशिष्ट जो कि अन्य मनुष्योंसे असाधारण होय ऐसा प्र यानी प्रकृष्ट हो रहा जो एक देश कर्मोंका क्षय हो जाना नामक निर्जरा करके उत्कृष्ट आत्यन्तिक यानी अनन्तानन्त कालतकके लिये छूट जाना मोक्ष है । यों " कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः " इस लक्षणवाक्यके एक एक पदका अर्थ कह दिया गया है । इस सूत्रके " बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां " इस पूर्व पद करके तो मोक्षके हेतुका निरूपण किया गया है । जो कि संवर और निर्जरा हैं । तथा दूसरे " कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षः " इस पद करके मोक्षके स्वरूपकी प्रतिपत्ति दरसाई गई है । यों समझ लेना चाहिये ।

ननु च सप्तसु तत्त्वेषु षट्तत्त्वस्वरूपं प्रोक्तं, निर्जरास्वरूपं नोक्तं । सत्यं सर्वकर्मणां हरणान्मोक्षः ।

यहां कोई शंका उठा रहा है कि इस तत्त्वार्थशास्त्र ग्रन्थमे सात तत्त्वोंमेसे जीव, अजीव, आस्रव बन्ध, संवर और मोक्ष इन छह तत्त्वोंका स्वरूप बहुत अच्छा कहा जा चुका है । किन्तु छठे निर्जरातत्त्वका स्वरूप नहीं कहा गया है, इसका क्या कारण है ? आचार्य कहते हैं कि यह प्रश्नकर्ताका कथन सत्य है । " यावदुत्तरं न वदामि-तावत्सत्यम् " जबतक हम समाधानार्थ उत्तर नहीं कह देते हैं । तबतक शंकाकार ठीक कह रहा है, श्रोताओंपर उसका प्रभाव पड सकता है । अब समझो, बात यह है कि सम्पूर्ण कर्मोंका विनाश हो जानेसे मोक्ष होता है । कर्मोंका क्षय युगपत हो नहीं सकता है। संचित कर्मोंका क्षय क्रमसे ही होगा । अतः बिना कहे ही अर्थापत्ति प्रमाणकी सामर्थ्यसे निर्जरातत्त्वका स्वरूप जान लिया जाता है । भावार्थ-जो छात्र यहांतक तत्त्वार्थ शास्त्रका अध्ययन कर चुका है । उसको अनेक अवक्तव्य या अनुक्त प्रमेयोंकी प्रतिपत्ति भी हो जानेकी योग्यता है । गुरुजी महाराज सभी भावार्थोंको अपने मुखसेही कहते फिरें तो शिष्योंकी बुद्धि विशुद्ध नहीं हो पाती है । रसाढ्यव्यञ्जनोंको कितना भी भाजनोंमें पकाकर निष्पन्न कर दिया जाय फिर भी मुखमें लार मिलाने और स्वाद आनेके लिये दान्तोंसे चबाये जानेका कार्य शेष रखना पडता है । अतः नहीं कहे गये ।

अथवा " ततश्च निर्जरा " और तपसा निर्जरा च, यों संकेतमात्र कह दिये गये निर्जरातत्त्वको अनभिधायक उच्चार्यमाण शद्बोंकी सामर्थ्यसेही समझ लिया जाय । इसी तत्वको ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा कह रहे हैं ।

सर्वकर्मक्षयो मोक्षो यदि प्रोक्तस्ततस्तथा ।
सामर्थ्यादेव ज्ञायेत कर्मणां निर्जरा मता ॥ १ ॥

सूत्रकार महाराजने यदि " सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय हो जाना मोक्ष है । " यह बढिया सूत्रमें कह दिया है । तब तो उन्हीं पदोंमे तिस प्रकार कहे विना सामर्थ्यसेही यह बात जान ली जाती है कि मध्यमें कर्मोंकी निर्जरा होना मान लिया गया है। भावार्थ— निर्जरापूर्वक ही मोक्ष होती है, क्रम क्रमसेही नदी सूखती है, बालक क्रम अनुसार युवा होता है । महान् अगाध, ग्रन्थोंकी व्युत्पत्तिका लाभ कालक्रमसेही होता है । इसी प्रकार कर्मोंका क्षय भी क्रमसे निर्जरा होते सन्तेही हो पाता है । अतः निर्जराका स्वरूप अभिहित शद्बों द्वारा ही गम्यमान है । गम्यमानको पुनः कण्ठोक्त शद्बों द्वारा कह देनेपर " पुनरुक्त दोष " लग जानेकी सम्भावना है ।

यदेकदेशेन कर्मक्षयो निर्जरा तेन पृथक् सूत्रं निर्जरालक्षणप्रतिपादकं न विहितमिति वेदितव्यं ।

जब कि एकदेश करके कर्मोंका क्षय होना निर्जरा है । जब कभी कर्मोंका क्षय होगा तब एक एक अंश करकेही होगा, तिस कारण निर्जराके लक्षणकी प्रतिपत्ति करादेनेवाला पृथक् सूत्र सूत्रकार महोदयने नहीं किया है । यह पूर्वोक्त शंकाका समाधान समझ लेना चाहिये ।

कर्मक्षयो द्विप्रकारो भवति प्रयत्नाप्रयत्नसाध्यविकल्पात्तत्राप्रयत्नसाध्यश्चरमोत्तमशरीरस्य नारकतिर्यग्देवायुषां भवति । प्रयत्नसाध्यस्तु कर्मक्षयः कथ्यते ।

चलाकर प्रयत्नसे साध्य किया जाय और विनाही प्रयत्नके साध्य हो जाय । यों इन दो विकल्पोंसे कर्मोंका क्षय हो जाना दो प्रकार होता है । उन दो भेदोंमें दूसरा विनाही प्रयत्नके साध्य हो जाय ऐसा कर्म क्षय तो तद्भवमोक्षगामी उत्तम चरम शरीरवाले जीवके नरकआयुः, तिर्यञ्चआयुः, और देवआयुः, इन तीन कर्मोंका हो जाता है । क्योंकि चरमशरीरी जीवके परभवकी आयुःका बन्ध ही नहीं होता है ।

भावार्थ--यदि देवआयुका बन्ध हो जाता तो मरकर उनको देवगतिमें जाना पडता, जब कि उनका उसी भवमें मोक्ष हो जाना अनिवार्य है। तथा नरक आयु:, और तिर्यक् आयुका उनको यदि बन्ध हो गया होता तो वे चरम शरीरी जीव नहीं होते हुवे वे अणुव्रत या महाव्रतोंको ही धारण नहीं कर पाते। क्योंकि " चत्तारि वि खेत्ताइं आउग बन्धेण होइ सम्मत्तं अणुवय महव्व आइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं "अतः उसी मनुष्य पर्यायसे मोक्षको प्राप्त करनेवाले जीवके चार आयु, कर्मोंमें केवल भुज्यमान मनुष्य आयुष्य कर्मका सद्भाव है। इतर तीन आयुओंका विना यत्न किये ही क्षय हो चुका समझो। हां, प्रथमोक्त प्रयत्नोंसे साध्य हो रहा कर्मोंका क्षय तो अब यथाम्नाय कहा जा रहा है। सम्पूर्ण कर्मप्रकृतियां एकसौ अडतालीस (१४८) हैं। उनमें तीन आयुओंका तो यत्न किये विना ही क्षय हो जाना कहा जा चुका है। शेष एकसौ पैंतालीस प्रकृतियोंका क्षय करनेके लिये मुमुक्षु पुरुषार्थी जीवको महान् प्रयत्न करना पडता है। संसारी जीवोंके अनेक प्रकार पुरुषार्थ होते है। खाये हुये को पचाना लडका, लडकी उत्पन्न करना उनको पालना, पढाना, पावोंसे चलकर देशान्तरको जाना, पूजन करना, सामायिक करना, स्वाध्याय, ध्यान करना इत्यादिक सम्पूर्ण क्रियायें पुरुषार्थ है। औषधिकी सहायता पाकर अनेक रोगोंको स्वकीय ज्ञात, अज्ञात पुरुषार्थों द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। छोटी फुंसियां, हलका श्लेष्म, स्वल्प सुईका चुभ जाना आदिक पचासों लघु रोगोंका विना औषधिके ही स्वकीय आरोग्यवर्धक अस्वसंविदित पुरुषार्थ द्वारा विनाश कर दिया जाता है। बहुभाग बडे रोगोंमें भी औषधि मात्र आश्वासन करा देती है। कुछ कुपित वात, पित्त, कफ, सम्बन्धी दूषित पुद्गलका निवारण भी कर देती है। किन्तु आरोग्य, स्वास्थ्य, बलवृद्धि तो शारीरिक प्रकृति अनुसार निज पुरुषार्थ द्वाराही प्राप्त होते हैं। घोडा को जब थकान हो जाती है। तब वह लेट लाटकर स्वकीय पुरुषार्थसे मार्गखेदको मिटा देता है। अनेक मनुष्य दिनमें कार्य करके थक जाते हैं। रातको सो जानेपर शारीरिक प्रकृतिके बलसे बुद्धिपूर्वक या पुरुषार्थों द्वारा उस थकानको दूर कर दिया जाता है। " स्वजीविते काम सुखे च तृष्णया, दिवाश्रमार्ता निशिशेरते प्रजाः। त्वमार्य नक्तंदिवमप्रमत्त वा नजागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि " ("बृहत् स्वयंभूस्तोत्र") यों एकेंद्रियसे लगाकर पञ्चेन्द्रियपर्यन्त अनन्तानन्त जीवोंके बुद्धिपूर्वक, अबुद्धिपूर्वक, इच्छापूर्वक, अनिच्छापूर्वक, विचारपूर्वक, अविचारपूर्वक अनेक पुरुषार्थ होते रहते हैं।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थके भेद हैं। हगना, मूतना, जम्हाई लेना, छींकना ये भी पुरुषार्थ हैं। ऐसे पुरुषार्थोंसे लौकिक कार्य सम्पादित होते हैं। साधारण रूपेण सभी जीवोंमें पायें जा रहे खाना, पीना, सो जाना, उच्चारण करना, चलना आदि पुरुषार्थोंसे न तो कर्मका क्षय होता है। और न ऐसे कार्योंको करनेसे कोई प्रमाणपत्र मिलता है। हां, मोक्षके साधनभूत पुरुषार्थोंका संपादन करनेसे महती प्रतिष्ठा और अविनश्वर सुखसंपत्ति प्राप्त होती है। लौकिक पुरुषार्थोंसे असंख्यातगुणा पुरुषार्थ अलौकिक कार्योंमें करना पडता है। हंसने, रोने, व्यायाम करने, नाचने, घोडा बैल हांकने, पांव दाबने, गाडी खेंचने, कुश्ती लडने आदि कार्योंमें जो ईषत् अगण्य पुरुषार्थ होता है उससे असंख्यातगुणा पुरुषार्थ मन, काय द्वारा देवदर्शन, देवार्चन, मुनिदान आदि शुभक्रियाओंके अनुष्ठानमें किया जाना है। सामायिक करने और शुभध्यान लगानेंमें तो अपरिमित पुरुषार्थ संयमीको करना पडता है। यदि कोई इन्द्र शारीरिक बलसे जम्बूद्वीपको उठा लेवें उस प्रयत्नसे उपशमश्रेणी, क्षपकश्रेणीवालोंका बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ कहीं अनन्तगुणा तोलमें समझा जायगा। सच पूछो तो पशुबल या शारीरिक बलसे आत्मीय पुरुषार्थ बलोंके लिये गुणकारका मिलनाही असंभव है। शून्यसे एक अक्षरको कितना गुना कहा जा सकता है ? जो कोई संख्या गुणाकारके लिये नियत की जायगी, अल्पीयसी पडेगी इस रहस्यको पहिले भी कहा जा चुका है। निःसंशय अव-धारण करनेके लिये पुनरुक्त किया गया है। बात यह है कि सातिशयमिथ्यादृष्टिसे प्रारम्भकर चौदहवें गुणस्थानतक जीवोंके बडे भारी प्रयत्नपूर्वक पुरुषार्थ हो रहे हैं। समाधिमरण कर रहा, श्रावक या मुनि तथा भावनाओंको भाव रहा धर्मात्मा अथवा उत्तमक्षमा आदिक धर्मोंको धार रहा, व्रतोंको पाल रहा, इन्द्रियोंका निग्रह कर रहा, परीषहोंको जीत रहा, कषायोंपर विजय पा रहा, अभक्ष्योंको त्याग कर रहा, अहिंसा, ब्रम्हचर्य आदिमें तन्मय हो रहा, मन, वचन, कायका गोपन कर रहा मुमुक्षु जीव बडा भारी पुरुषार्थी है। एक रटे हुये व्याख्यानको झाड देनेवाले पण्डितसे सिद्धान्त या न्यायकी कठिन पंक्तिको चुपके होकर लगा रहा विद्वान् अत्यधिक पुरुषार्थी है। अलमे-तत् प्रसंगिन्या कथया।

चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, सप्तमेषु गुणस्थानेषु मध्येऽन्यतम गुणस्थानेऽनन्तानुबन्धि-कषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्वप्रकृतित्रयस्य च क्षयो विधीयते, अनिवृत्तिबादरसांपरायगुण-स्थानस्य नव भागाः क्रियन्ते तत्र प्रथमभागे निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि,

नरकगति, तिर्यग्गति, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य आतपोद्योत स्थावर सूक्ष्म, साधारणा-भिधानकानां षोडशानां कर्मप्रकृतिनां प्रक्षयो भवति । द्वितीयभागमध्ये कषायाष्टकं नष्टं विधीयते, तृतीयभागे नपुंसकवेदच्छेदः क्रियते । चतुर्थभागे स्त्रीवेदविनाशः सृज्यते,पञ्चमे भागे नोकषाय षट्कं प्रध्वस्यते, षष्ठे भागे पुंवेदानां पुंवेदाभावो रच्यते, सप्तमे भागे संज्वलनक्रोधविध्वन्सः कल्प्यते । अष्टमे भागे संज्वलनमानविनाशः प्रणीयते, नवमे भागे संज्वलनमायाक्षयः क्रियते । लोभसंज्वलनं दशमगुणस्थानप्रान्ते विनाशं गच्छति । निद्रा-प्रचले द्वादशगुणस्थानस्योपांत्यसमये विनश्यते पंच ज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिकेवल दर्शनावरणचतुष्टयपञ्चान्तरायाणां तदन्त्यसमये क्षयो भवति ।

अर्थात् संसारी जीव जीनासे उतरने, चढने, पानीमें तैरने, साइकिल चलाने, दण्ड बैठक करने आदि प्रयत्नोंकोही पुरुषार्थ समझ रहा है। सामायिक, ध्यान आदिमें किये जा रहे बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थोंका कभी परिचय नहीं हो पाया है। " न हि बन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनां " बन्ध्या स्त्री पुत्रप्रसवकी भारी सुखदुःख वेदनाका अनुभव नहीं कर पाती है। शास्त्रीय, आचार्य परीक्षा की उत्तीर्णताप्रयोजनको साधनेवाले शास्त्ररहस्य चिन्तनके पुरुषार्थोंका संवेदन एक लट्ठ किसान क्या कर सकता है ? । अनादि कालीन मिथ्यादृष्टि जीवको सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें महान् अत्यधिक प्रयत्न करना पडता है। क्षायिक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाना तो सामग्री मिलनेपर घोर पुरुषार्थका कार्य है। चौथे, पांचवें, छठे या सातवें गुणस्थानोंके मध्यमेंसे किसी भी एक गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी कषायोंके क्रोध, मान, माया, लोभ चारों पौद्गलिक कर्मोंका तथा मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथात्व, और सम्यक्त्व इन तीनों प्रकृतियोंका यत्न द्वारा क्षय कर दिया जाता है। इस घोर प्रयत्नसाध्य कार्यमें श्रान्त हो चुके आत्माको दो बार विश्राम लेना पडता है। ऐसा गोम्मटसारकी संस्कृत टीकामें निरूपित है। ग्रन्थकार कह रहे हैं कि अनिवृत्ति सांपराय नामक गुणस्थानके नौ भाग किये जाते हैं। उनमेंसे पहिले भागमें निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगति, तिर्यग्गति, एकेन्द्रियजाति, द्विइन्द्रियजाति, त्रिइन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, नामक सोलह कर्म प्रकृतियोंका प्रक्षय हो जाता है। नवमें गुणस्थानके द्वितीय भागके मध्यमें अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और

प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान माया, लोभ इन आठों कषायोंको मुनिके जिनदृष्ट या स्वसंविदित प्रयत्न द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। तीसरे भागमें नपुंसकवेद कर्मका चौथे भागमें स्त्रीवेद कर्मका छेद किया जाता है। विनाश करना रचा जाता है, पांचवें भागमे हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छहों नोकषायोंका प्रध्वंस कर दिया जाता है। छठे भागमें पुंवेदका अत्यन्ताभाव रचा जाता है। सातवें भागमें संज्वलन क्रोधका विध्वंस आत्मसामर्थ्य द्वारा बनाया जाता है। आठवें भागमें संज्वलन मानके विनाशकी बढ़िया रचना की जाती है। नवमें गुणस्थानके नववें भागमें संज्वलन माया कर्मका क्षय कर दिया जाता है। सूक्ष्मलोभसंज्वलन कर्मको यह पुरुषार्थी जीव दशमें गुणस्थानके प्रकृष्ट अन्तसमयमें विनाशको प्राप्त कर देता है। क्षपकश्रेणीवाला यति-वर्य इससे परें बारहमें गुणस्थानके अन्तिम समयके पूर्व निकटवर्त्ती उपान्त समयमें निद्रा और प्रचला दो कर्मप्रकृतियोंको नष्ट कर डालता है। उस बारहमें गुणस्थानमें क्षीणकषाय परमपुरुषार्थी जीव ज्ञानावरणकी पांचों कर्मप्रकृतियां और दर्शनावरणकी चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण इन चारों प्रकृतियोंका तथा पांच अन्तरायकर्मकी प्रकृतियोंका बुद्धिपूर्वक यत्न द्वारा क्षय कर डालता है। उसी क्षण तेरहवें गुणस्थानके आदिमें मुमुक्षु जीव अनन्तानन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इस अनन्तचतुष्टयकों प्राप्त कर अपर निःश्रेयस अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। शुभ पुरुषार्थ कभी व्यर्थ नहीं जाता है। " पुरुषार्थी लभते मोक्षम्। "

सयोगकेवलिनः कस्याश्चिदपि प्रकृतेः क्षयो नास्ति। चतुर्दशगुणस्थानस्य द्विचरमसमये द्वासप्ततिप्रकृतीनां क्षयो भवति। कास्ताः प्रकृतयः? । अन्यतर हि वेदनीर देवगति, औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरपंचकं ॥ ७ ॥ तद्बन्धनपंचकं॥ १२॥ तत्संघातपंचकं ॥ १७ ॥ तत्संस्थानषट्कं ॥ २३ ॥ औदारिकवैक्रियिकाहारक शरीरांगोपांगत्रयं ॥ २६ ॥ संहननषट्कं ॥ ३२ ॥ प्रशस्ताप्रशस्तवर्णपंचकं ॥ ३७ ॥ सुरभिर-सुरभिगंधद्वयं ॥ ३९ ॥ प्रशस्ताप्रशस्तरसपञ्चकं ॥ ४४ ॥ स्पर्शाष्टकं ॥ ५२ ॥ देवगति प्रायोग्यानुपूर्व्यं ॥ ५३ ॥ अगुरुलघुत्व ॥ ५४ ॥ उपघात ॥ ५५ ॥ परघात ॥ ५६ ॥ उच्छ्वास ॥ ५७ ॥ प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिद्वयं ॥ ५९ ॥ अपर्याप्ति ॥ ६० ॥ प्रत्येक-शरीर ॥ ६१ ॥ स्थिरत्वमस्थिरत्वं ॥ ६३ ॥ शुभत्वमशुभत्वं ॥ ६५ ॥ दुर्भगत्वं ॥ ६६ ॥ सुस्वरत्व, दुःस्वरत्व ॥ ६८ ॥ अनादेयं च ॥ ६९ ॥ अयशस्कीर्तिः ॥ ७० ॥ निर्माण ॥ ७१ ॥

नीचगोत्र ॥७२॥ मिति अयोगिकेवलिचरमसमये त्रयोदश प्रकृतयः क्षयमुपयान्ति। कास्ता-अन्यतरवेदनीयं १ मनुष्यायुः, २ मनुष्यगति, ३ पञ्चेन्द्रियजाति, ४ मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वी ५ त्रसत्वं ६ बादरत्वं ७ पर्याप्तकत्वं ८ शुभगत्वं ९ आदेयत्वं १० यशस्कीर्तिः ११ तीर्थकरत्व १२ उच्चैर्गोत्रं १३ चेति एतासां द्रव्यकर्मप्रकृतीनां क्षयान्मोक्षोऽवसीयत इति निर्णीतः। पुनस्तथाच तस्य कर्मणः सद्बन्धोदयोदीरण व्यवस्थाग्रहणं तत्कृत-विभागो गुणस्थानापेक्षः प्रवचनाज्ञेयः।

तेरहवें गुणस्थानवाले योग सहितकें वलज्ञानीके तो किसी भी प्रकृतिका क्षय नहीं होता है। हां, चौदहवे गुणस्थानके द्विचरम समय यानी अन्तिम समयके पूर्ववर्त्ती समयमें बहत्तर प्रकृतियोंका क्षय हो जाता है। वे बहत्तर प्रकृतियां कौनसी हैं ? इसका उत्तर यह है कि साता, असाता दो वेदनीय कर्मोंमेंसे एक कोई सा भी वेदनीयकर्म, देव-गति, औदारिकशरीर, वैक्रियिकशरीर नामकर्म, आहारक शरीर तैजसशरीर नामकर्म, कार्मणशरीर, ये पांचों शरीर नामक नामकर्म, उन पांचों शरीरोंके पांचों बन्धनकर्म और पांचों शरीरोंके पांचो संघात नामकर्म, उन शरीर कर्मोसे उपजे नोकर्म शरीरोंके उपयोगी छहों संस्थान, औदारिक अंगोपांग, वैक्रियिकशरीर अंगोपाङ्ग, आहारक शरीर अंगोपांग यों ये तीनों अंगोपांग नामककर्म, छओं संहननकर्म, प्रशस्त और अप्रशस्त पांचों वर्णकर्म, सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों गन्ध कर्म, प्रशंसनीय और अप्रशंसनीय पांचों रस-कर्म, आठां स्पर्शकर्म, देवगति प्रायोग्यानुपूर्व्य, अगुरुलघुत्व, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, ये दोनों कर्म प्रकृतियां, अपर्याप्तिकर्म प्रत्येक शरीर, स्थिरत्व, अस्थिरत्वकर्म, शुभ, अशुभत्वकर्म, दुर्भगत्व, सुस्वरत्व, दुःस्वरत्व, अनादेयकर्म, अयशस्कीर्ति, निर्माण नामकर्म और नीचैर्गोत्र इस प्रकार बहत्तर प्रकृति-योंका योग है। चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती अयोगकेवली महाराजके अन्तिम समयमें तेरह प्रकृतियां क्षयको प्राप्त हो जाती हैं। वे तेरह कर्म प्रकृतियां कौनसी है ? इसका समाधान यह है कि दोनों वेदनीय कर्मोंसे शेष रहा कोई भी एक वेदनीय कर्म, मनुष्य आयुष्य, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, त्रसत्व, बादरत्व, पर्याप्तकत्व, शुभगत्व, आदेयत्व, यशस्कीर्ति, तीर्थंकरत्व, उच्चैर्गोत्र, यों तेरह प्रकृतियां चौदहवेंके अन्तिम समयके अव्यवहित उत्तर क्षणमें नष्ट हो जाती हैं। यों इन एकसौ अडतालीस कर्म प्रकृतियोंके क्षयसे मोक्ष हो जाना निर्णीत किया जाता है। यहांतक मोक्ष शब्दकी

निरूपित कर कर्मोंके छूट जानेको मोक्ष कहा जा चुका है। पुनः इनका विशेष वर्णन तथा उन कर्मोंकी सत्ता, बन्ध, उदय, उदीरणा आदिकी व्यवस्थाका ग्रहण करना या इस गुणस्थानमें किन प्रकृतियोंका बन्ध है ? यों बन्ध, अबन्ध, बन्धव्युच्छित्ति, उदय, अनुदय, उदयव्युच्छित्ति, सत्ता, असत्ता, सत्वाव्युच्छित्ति, उदीरणा, अनुदीरणा, उदीरणा-व्युच्छित्ति इत्यादि करके लिये गये विभागको गुणस्थानोंकी अपेक्षा रखकर आर्ष आम्नाय अनुसार चले आ रहे शास्त्रसे लगा लेना चाहिये। अथवा—राजवार्त्तिक, गोम्मटसार आदि ग्रन्थोंसे बन्ध, उदय, सत्ता आदिकी गुणस्थानोंमें व्यवस्थाको समझ लिया जाय, यहां संक्षेपसे कथन करना मात्र अभीष्ट है। मुद्रित पुस्तकमें " बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः " इस सूत्रकी टीका छपी नहीं है। उत्तर प्रांतकी लिखित पुस्तकमें जो कुछ शुद्ध अशुद्ध, टीका पाई गई उसका यथायोग्य संशोधन कर देशभाषा कर दी गई है। पुनः मूडबिद्रीसे ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन प्रतिके लेखको मंगाया गया वह इस प्रकार है।

अथ परममोक्षः कुतः स्यादिति प्रतिपादनार्थमाह,— " बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः। कोऽयं बन्धहेतुः ? को वा तदभावः ? इत्याह—

आस्रवाभिहितो बन्धहेतुः पूर्वमनेकधा
तस्याभावः परो ज्ञेयः संवरः सर्वकर्मणां ॥ १ ॥

कासौ निर्जरेत्याह; —

निर्जरा च परा योग-केवलयन्त्यक्षणोद्भवा,
ताभ्यां मोक्षस्तयोरन्यतरापायेऽस्य नोदयः ॥ २ ॥

न तावत्संवरापाये कृत्स्नकर्मक्षयः क्वचित्
अपरापरकर्मोपढौकनात्स्वनिमित्ततः ॥ ३ ॥

नापि तन्निर्जरापाये पूर्वकर्मव्यवस्थितेः
नानुपक्रमसाध्यायां निर्जरायां विरोधतः ॥ ४ ॥

तपोतिशयतः सम्यग्दर्शनज्ञानयोगिनः
न भावसंवरोऽन्योतो मार्गो रत्नत्रयात्मकः ॥ ५ ॥

निर्जरादेशमोक्षात्मा सन्मार्गफलमेव सा
न प्रमात्मकमार्गस्य विघातकृदितीरितं ॥ ६ ॥

ननु च मिथ्यादर्शनादि हेत्वभावादभिनवकर्मादानाभावः पूर्वोक्ति निर्जराहेतु सन्निधाने चार्जितकर्मनिर्जरा इति । बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां प्रादुर्भवन् मोक्षः किं लक्षण इत्याह । कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष इति तद्व्याख्यानार्थमाह,—

विशेषेणप्रकृष्टेन मोक्षः स्यात्कृत्स्नकर्मणां
जीवस्यात्यन्तविश्लेषः स मोक्ष इति लक्ष्यतां ॥ ७ ॥

ननु च कृत्स्नकर्मसन्तानस्याद्यभावादन्ताभाव इति चेत् न बीजांकुरसन्तानेनानेकान्तात्-उक्तं च—

दग्धेबीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः
कर्मबीजे तथा दग्धे नारोहति भवांकुरः ॥ ८ ॥ इति

केनरूपेण कर्मपुद्गलद्रव्यस्य क्षय इति चेदभिधीयते । कृत्स्नस्य कर्मत्वेनक्षयः कर्मणो न पुद्गलत्वेन । सतो द्रव्यस्य द्रव्यत्वेनात्यन्तविनाशायोगात् । तदनुत्पत्तिमत्त्वात्सर्वदास्थितेरेव प्रसिद्धेः । कर्मत्वपर्यायेण तु तस्यात्मपरिणामविशेषादुत्पत्ति सिद्धेः युक्तो विनाश इति सिद्धः कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः भावसाधनो मोक्षशद्बो द्विविषयो विप्रयोगक्रियामात्रगतेः । " मोक्ष आसने " इत्यस्य धातोर्घञि सति मोक्षणं मोक्ष इति व्युत्पत्तेः । मोक्तव्य मोक्षकापेक्षत्वाद्विप्रयोगक्रियामात्रस्य गतेः । कृत्स्नशद्बेनाष्टविधस्य कर्मणः सद्बन्धोदयोदीरणव्यवस्थस्य ग्रहणं । तत्क्षयविभागो गुणस्थानापेक्षः प्रवचनाज्ञेयः ।

इसका देशभाषामें अर्थ इस प्रकार है कि इसके अनन्तर परममोक्ष किन कारणोंसे उपजेगा ? इस सिद्धान्तकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकार महाराज इस अगिले सूत्रको कहते हैं--सूत्रार्थ यों है कि बन्धके हेतुओंका अभाव और निर्जरासे सम्पूर्ण कर्मोंका निश्शेषरूपेण प्रागभावानधिकरण होकर निरन्त छूट जाना मोक्ष है। यहांपर कोई विनीत शिष्य प्रश्न उठाता है कि यह बन्धका हेतु क्या पदार्थ है ? और उस बन्ध हेतुका अभाव भी क्या है ? बताओ। ऐसी विनीत शिष्यकी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्त्तिकको कह रहे हैं। पूर्व अध्यायोंमे आस्रवको कहा जा चुका है। उसके अनेक भेद हैं। आस्रवही बन्धका हेतु है। सम्पूर्ण कर्मोंके उस आस्रवका

उत्कृष्ट अभाव हो जाना तो संवर समझ लिया जाय अर्थात् बन्धहेत्वभावका अर्थ संवर तत्त्व है ॥ १ ॥ पुनः वही जिज्ञासु पूंछ रहा है कि महाराज वह निर्जरा भला क्या पदार्थ है ? बताओ। ऐसी सविनय जिज्ञासा प्रवर्तनेपर आचार्य महाराज अग्रिम वार्तिकोंको स्पष्टरूपेण कह रहे हैं कि चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती अयोग केवली भगवान्के अन्तिम क्षणमें उपजी उत्कृष्ट निर्जराही यहां निर्जरा ली गई है। समर्थ कारणों करके अव्यवहित उत्तर क्षणमेंही कार्य बना दिया जाता है। अतः उन उत्कृष्ट संवर और उत्कृष्ट निर्जरा तत्त्वों करके अनन्तर क्षणमें मोक्ष तत्त्व उत्पन्न हो जाता है। उन संवर और निर्जरा दोनोंमेंसे किसी भी एकका अपाय यानी विकलता हो जानेपर इस मोक्ष कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो पायेगी ॥ २ ॥ क्योंकि पहिले कहे गये संवरका विश्लेष हो जानेपर तो किसी भी आत्मामें सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय नहीं हो पाता है। जब कि अपने निमित्तकारणों द्वारा उत्तरोत्तर कर्मोंका आना बढता रहेगा तो सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय नहीं हो पायेगा। भावार्थ--नावमेंसे शनैः शनैः पानी निकालते हुये भी यदि नावका छेद नहीं बन्द किया है। तो नावका पानी कभी नहीं निश्शेष हो सकेगा। इसी प्रकार यदि गुप्ति आदि द्वारा संवर नहीं किया जायगा तो अविरति, प्रमाद आदि भावों करके कर्मोंका आस्रव हो जाता ही रहेगा मोक्ष नहीं हो पायेगा ॥ ३ ॥ तथा दूसरे कारण निर्जराका अपाय मान लेनेपर भी किसी भी आत्मामें सर्व कर्मोंका विनाश नहीं हो सकेगा। जब कि संचित हो रहे पूर्व कर्मोंकी आत्मामें दृढरूपेण अब स्थिति हो रही है। अर्थात् छेद बन्द कर देनेपर भी नावमेंसे यदि पूर्वसंचित जलको नहीं निकाला जायगा तो नाव आधी पौन तो अब डूब ही रही है। फल कालमें संस्कारवश वायुके झकोंरो द्वारा पूरी डूब जायगी यों नावमेंसे जल निश्शेष नहीं हो पायेगा, अतः अनुपक्रमसे साध्य हो रही निर्जराके होते सन्तेही मोक्ष हो पाता है। यह कार्यकारणभाव कोई विरोध दोषको देनेवाला नहीं है ॥ ४ ॥ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त हो रहे जीवके चमत्कारक तपसे भावसंवर उपज जाता है। इससे अन्य कोई मोक्षका मार्ग नहीं है। तप तो चारित्र है, अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नत्रय स्वरूपही मोक्षमार्ग है। जो कि आद्य सूत्रमें कहा गया था ॥५॥ इसी प्रकार एक देश मोक्ष हो जाना स्वरूप जो निर्जरा है। वह भी उस श्रेष्ठमार्ग रत्नत्रयका फलस्वरूपही है। संचित कर्मोंकी रत्नत्रयसे निर्जरा हो जाती है। यों

रत्नत्रयात्मक मार्गका विघात करनेवाला यह सूत्रोक्त सिद्धान्त नहीं है। यह इस सूत्र द्वारा सूत्रकारने कह दिया है। भावार्थ--प्रथमाध्यायके पहिले सूत्रमें रत्नत्रयको मोक्षका मार्ग (उपाय) बताया गया है। और अब बन्धहेत्वभाव और निर्जराको मोक्षका कारण कह दिया है। यह सूत्रकारका निरूपण विरोध दोषापन्न होय यह नहीं समझ बैठना क्योंकि संवर और निर्जरा रत्नत्रयस्वरूपही है ॥ ६ ॥ अब कोई ऊहापोह करनेवाला प्रश्न उठाता है कि आपने पूर्वकारिकाओं द्वारा सूत्रोक्त कारणकोटिको बहुत अच्छी तरह समझा दिया है कि इस रत्नत्रयधारी जीवके मिथ्यादर्शन, अविरति आदि हेतुओंका अभाव हो जानेसे नवीन नवीन आनेवाले कर्मोंके ग्रहणका अभाव हो गया तथा पूर्वमें कह दिये गये निर्जराके अनुभव चमत्कारिक तपश्चरण हेतुओंका निकटपन हो जानेपर संचित कर्मोंकी निर्जरा हो गई। इस प्रकार बंधहेत्वभाव और निर्जरा करके मोक्षका प्रादुर्भाव हुआ अब यह बताओ कि उस उपज रही मोक्षका लक्षण क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर सूत्रकार महाराज सूत्रके विधेयदलको यों कह रहे हैं कि सम्पूर्ण कर्मोंका विशेषरूपेण प्रकृष्ट मोक्ष हो जाना मोक्ष है। यों कह चुकनेपर उसका व्याख्यान करनेके लिये ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकको कह रहे हैं कि " वि " यानी विशेषरूपसे और " प्र " यानी प्रकृष्ट रूपसे जीवके सम्पूर्ण कर्मोंका अत्यन्त वियोग जो हो जावेगा वही मोक्ष है। ऐसा इस लक्ष्यलक्षणभाव द्वारा समझ लेना चाहिये। सूत्रकारका एक एक पद अनिष्ट व्यावर्त्तक है ॥ ७ ॥ अब यहां कोई प्रश्न उठा रहा है कि व्यक्ति-रूपसे कर्म भलेही सादि और सान्त हों किन्तु सम्पूर्ण कर्मोंकी सन्तान अनादि कालसे चली आ रही है। अनादि पदार्थ अवश्य अनन्त होता है। वैशेषिक प्रागभावको अनादि और सान्त मानते हैं। अतः प्रागभावसे भिन्न हो रहा जो जो सत्पदार्थ अनादि है। वह निश्चयसे अनन्त है, यह निर्दोष व्याप्ति बन रही है। अतः सर्व कर्मोंकी सन्ता-नका आदि नहीं होनेसे उसकें अन्तका भी अभाव हो जायगा ऐसी दशामें अनन्तकाल तकके लिये कर्मोंका अभाव नहीं हो सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि बीजकी सन्तान और अंकुरकी सन्तान करके व्यभिचारदोष आ जायगा। अर्थात् जो जो अनादि सत् है। वह वह अनन्त है, यह व्याप्ति व्यभिचरित है। देखिये किसी भी बीज या अंकुरको पकड लिया जाय उसकी सन्तान बराबर अनादिकालसे चली आ रही है। मध्यमें एक व्यक्तिके भी टूटनेका व्यवधान नहीं पडा है किसी भी

निरुक्ति कर कर्मोंके छूट जानेको मोक्ष कहा जा चुका है । पुनः इनका विशेष वर्णन तथा उन कर्मोंकी सत्ता, बन्ध, उदय, उदीरणा आदिकी व्यवस्थाका ग्रहण करना या इस गुणस्थानमें किन प्रकृतियोंका बन्ध है ? यों बन्ध, अबन्ध, बन्धव्युच्छित्ति, उदय, अनुदय, उदयव्युच्छित्ति, सत्ता, असत्ता, सत्ताव्युच्छित्ति, उदीरणा, अनुदीरणा, उदीरणाव्युच्छित्ति इत्यादि करके लिये गये विभागको गुणस्थानोंकी अपेक्षा रखकर आर्ष आम्नाय अनुसार चले आ रहे शास्त्रसे लगा लेना चाहिये । भावार्थ—राजवार्तिक, गोम्मटसार आदि ग्रन्थोंसे बन्ध, उदय, सत्ता आदिकी गुणस्थानोंमें व्यवस्थाको समझ लिया जाय, यहां संक्षेपसे कथन करना मात्र अभीष्ट है । मुद्रित पुस्तकमें " बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः " इस सूत्रकी टीका छपी नहीं है । उत्तर प्रांतकी लिखित पुस्तकमें जो कुछ शुद्ध अशुद्ध, टीका पाई गई उसका यथायोग्य संशोधन कर देशभाषा कर दी गई है । पुनः मूडबिद्रीसे ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन प्रतिके लेखको मंगाया गया वह इस प्रकार है ।

अथ परममोक्षः कुतः स्यादिति प्रतिपादनार्थमाह,— " बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः । कोऽयं बन्धहेतुः ? को वा तदभावः ? इत्याह—

आस्रवाभिहितो बन्धहेतुः पूर्वमनेकधा
तस्याभावः परो ज्ञेयः संवरः सर्वकर्मणां ।। १ ।।

कासौ निर्जरेत्याह ;—

निर्जरा च परायोग-कैवल्यन्तक्षणोद्भवा,
ताभ्यां मोक्षस्तयोरन्यतरापायेऽस्य नोदयः ।। २ ।।

न तावत्संवरापाये कृत्स्नकर्मक्षयः क्वचित्
अपरापरकर्मोपढौकनात्स्वनिमित्ततः ।। ३ ।।

नापि तन्निर्जरापाये पूर्वकर्मव्यवस्थितेः
नानुपक्रमसाध्यायां निर्जरायां विरोधतः ।। ४ ।।

सयोस्निश्चयतः सम्यग्दर्शनज्ञानयोगिनः
न भावसंवरोऽन्योतो मार्गो रत्नत्रयात्मकः ।। ५ ।।

निर्जराविशेषमोक्षात्मा सन्मार्गफलमेव सा
न ह्यात्मकमार्गस्य विघातकृदितीरितं ॥ ६ ॥

ननु च मिथ्यादर्शनादि हेत्वभावादभिनवकर्मादानाभावः पूर्वोदित निर्जराहेतु सन्निधाने चार्जितकर्मनिर्जरा इति । बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां प्रादुर्भवन् मोक्षः किं लक्षण इत्याह । कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष इति तद्व्याख्यानार्थमाह,—

विशेषेणप्रकृष्टेन मोक्षः स्यात्कृत्स्नकर्मणां
जीवस्यात्यन्तविश्लेषः स मोक्ष इति लक्ष्यतां ॥ ७ ॥

ननु च कृत्स्नकर्मसन्तानस्याद्याभावादन्ताभाव इति चेत् न बीजांकुरसन्तानेनानेकान्तात्-उक्तं च—

दग्धेबीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः
कर्मबीजे तथा दग्धे नारोहति भवांकुरः ॥ ८ ॥ इति

केनरूपेण कर्मपुद्गलद्रव्यस्य क्षय इति चेदभिधीयते । कृत्स्नस्य कर्मत्वेनक्षयः कर्मणो न पुद्गलत्वेन । सतो द्रव्यस्य द्रव्यत्वेनात्यन्तविनाशायोगात् । तदनुत्पत्तिमत्त्वात्सर्वदावस्थितेरेव प्रसिद्धेः । कर्मत्वपर्यायेण तु तस्यात्मपरिणामविशेषादुत्पत्ति सिद्धेः युक्तो विनाश इति सिद्धः कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः भावसाधनो मोक्षशद्बो द्विविषयो विप्रयोगक्रियामात्रगतेः । " मोक्ष आसने " इत्यस्य धातोर्घञि सति मोक्षणं मोक्ष इति व्युत्पत्तेः । मोक्तव्य मोक्षकापेक्षत्वाद्विप्रयोगक्रियामात्रस्य गतेः । कृत्स्नशद्बेनाष्टविधस्य कर्मणः सद्बन्धोदयोदीरणव्यवस्थस्य ग्रहणं । तत्क्षयविभागो गुणस्थानापेक्षः प्रवचनाज्ज्ञेयः ।

इसका देशभाषामें अर्थ इस प्रकार है कि इसके अनन्तर परममोक्ष किन कारणोंसे उपजेगा ? इस सिद्धान्तकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकार महाराज इस अगिले सूत्रको कहते हैं--सूत्रार्थ यों है कि बन्धके हेतुओंका अभाव और निर्जरासे सम्पूर्ण कर्मोंका निश्शेषरूपेण प्रागभावानधिकरण होकर निरन्त छूट जाना मोक्ष है। यहांपर कोई विनीत शिष्य प्रश्न उठाता है कि यह बन्धका हेतु क्या पदार्थ है ? और उस बन्ध हेतुका अभाव भी क्या है ? बताओ। ऐसी विनीत शिष्यकी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिकको कह रहे हैं। पूर्व अध्यायोंमे आस्रवको कहा जा चुका है। उसके अनेक भेद हैं। आस्रवही बन्धका हेतु है। सम्पूर्ण कर्मोंके उस आस्रवका

उत्कृष्ट अभाव हो जाना तो संवर समझ लिया जाय अर्थात् बन्धहेत्वभावका अर्थ संवर तत्त्व है ।। १ ।। पुनः वही जिज्ञासु पूंछ रहा है कि महाराज वह निर्जरा भला क्या पदार्थ है ? बताओ । ऐसी सविनय जिज्ञासा प्रवर्तनेपर आचार्य महाराज अग्रिम वार्तिकोंको स्पष्टरूपेण कह रहे हैं कि चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली भगवान्‌के अन्तिम क्षणमें उपजी उत्कृष्ट निर्जराही यहां निर्जरा ली गई है । समर्थ कारणो करके अव्यवहित उत्तर क्षणमेंही कार्य बना दिया जाता है । अतः उन उत्कृष्ट संवर और उत्कृष्ट निर्जरा तत्त्वों करके अनन्तर क्षणमें मोक्ष तत्त्व उत्पन्न हो जाता है । उन संवर और निर्जरा दोनोंमेंसे किसी भी एकका अपाय यानी विकलता हो जानेपर इस मोक्ष कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो पायेगी ।। २ ।। क्योंकि पहिले कहे गये संवरका विश्लेष हो जानेपर तो किसी भी आत्मामें सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय नहीं हो पाता है । जब कि अपने निमित्तकारणों द्वारा उत्तरोत्तर कर्मोंका आना बढता रहेगा तो सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय नहीं हो पायेगा । भावार्थ--नावमेंसे शनैः शनैः पानी निकालते हुये भी यदि नावका छेद नहीं बन्द किया है । तो नावका पानी कभी नहीं निश्शेष हो सकेगा । इसी प्रकार यदि गुप्ति आदि द्वारा संवर नहीं किया जायगा तो अविरति, प्रमाद आदि भावों करके कर्मोंका आस्रव हो जाता ही रहेगा मोक्ष नहीं हो पायेगा ।। ३ । तथा दूसरे कारण निर्जराका अपाय मान लेनेपर भी किसी भी आत्मामें सर्व कर्मोंक विनाश नहीं हो सकेगा । जब कि संचित हो रहे पूर्व कर्मोंकी आत्मामें दृढरूपेण अव स्थिति हो रही है । अर्थात् छेद बन्द कर देनेपर भी नावमेंसे यदि पूर्वसंचित जलको नहीं निकाला जायगा तो नाव आधी पौन तो अब डूब ही रही है । फल कालमें संस्कारवश वायुके झकोरो द्वारा पूरी डूब जायगी यों नावमेंसे जल निश्शेष नहीं हो पायेगा, अतः अनुपक्रमसे साध्य हो रही निर्जराके होते सन्तेही मोक्ष हो पाता है । यह कार्यकारणभाव कोई विरोध दोषको देनेवाला नहीं है ।। ४ ।। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त हो रहे जीवके चमत्कारक तपसे भावसंवर उपज जाता है । इससे अन्य कोई मोक्षका मार्ग नहीं है । तप तो चारित्र है, अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नत्रय स्वरूपही मोक्षमार्ग है । जो कि आद्य सूत्रमें कहा गया था ।।५।। इसी प्रकार एक देश मोक्ष हो जाना स्वरूप जो निर्जरा है । वह भी उस श्रेष्ठमार्ग रत्नत्रयका फलस्वरूपही है । संचित कर्मोंकी रत्नत्रयसे निर्जरा हो जाती है । यो

रत्नत्रयात्मक मार्गका विघात करनेवाला यह सूत्रोक्त सिद्धान्त नहीं है। यह इस सूत्र द्वारा सूत्रकारने कह दिया है। भावार्थ--प्रथमाध्यायके पहिले सूत्रमें रत्नत्रयको मोक्षका मार्ग (उपाय) बताया गया है। और अब बन्धहेत्वभाव और निर्जराको मोक्षका कारण कह दिया है। यह सूत्रकारका निरूपण विरोध दोषापन्न होय यह नहीं समझ बैठना क्योंकि संवर और निर्जरा रत्नत्रयस्वरूपही है ॥ ६ ॥ अब कोई ऊहापोह करनेवाला प्रश्न उठाता है कि आपने पूर्वकारिकाओं द्वारा सूत्रोक्त कारणकोटिको बहुत अच्छी तरह समझा दिया है कि इस रत्नत्रयधारी जीवके मिथ्यादर्शन, अविरति आदि हेतुओंका अभाव हो जानेसे नवीन नवीन आनेवाले कर्मोंके ग्रहणका अभाव हो गया तथा पूर्वमें कह दिये गये निर्जराके अनुभव चमत्कारिक तपश्चरण हेतुओंका निकटपन हो जानेपर संचित कर्मोंकी निर्जरा हो गई। इस प्रकार बंधहेत्वभाव और निर्जरा करके मोक्षका प्रादुर्भाव हुआ अब यह बताओ कि उस उपज रही मोक्षका लक्षण क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर सूत्रकार महाराज सूत्रके विधेयदलको यों कह रहे हैं कि सम्पूर्ण कर्मोंका विशेषरूपेण प्रकृष्ट मोक्ष हो जाना मोक्ष है। यों कह चुकनेपर उसका व्याख्यान करनेके लिये ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकको कह रहे हैं कि " वि " यानी विशेषरूपसे और " प्र " यानी प्रकृष्ट रूपसे जीवके सम्पूर्ण कर्मोंका अत्यन्त वियोग जो हो जावेगा वही मोक्ष है। ऐसा इस लक्ष्यलक्षणभाव द्वारा समझ लेना चाहिये। सूत्रकारका एक एक पद अनिष्ट व्यावर्त्तक है ॥ ७ ॥ अब यहां कोई प्रश्न उठा रहा है कि व्यक्ति-रूपसे कर्म भलेही सादि और सान्त हों किन्तु सम्पूर्ण कर्मोंकी सन्तान अनादि कालसे चली आ रही है। अनादि पदार्थ अवश्य अनन्त होता है। वैशेषिक प्रागभावको अनादि और सान्त मानते हैं। अतः प्रागभावसे भिन्न हो रहा जो जो सत्पदार्थ अनादि है। वह निश्चयसे अनन्त है, यह निर्दोष व्याप्ति बन रही है। अतः सर्व कर्मोंकी सन्ता-नका आदि नहीं होनेसे उसके अन्तका भी अभाव हो जायगा ऐसी दशामें अनन्तकाल तकके लिये कर्मोंका अभाव नहीं हो सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि बीजकी सन्तान और अंकुरकी सन्तान करके व्यभिचारदोष आ जायगा। अर्थात् जो जो अनादि सत् है। वह वह अनन्त है, यह व्याप्ति व्यभिचरित है। देखिये किसी भी बीज या अंकुरको पकड लिया जाय उसकी सन्तान बराबर अनादिकालसे चली आ रही है। मध्यमें एक व्यक्तिके भी टूटनेका व्यवधान नहीं पडा है किसी भी

निरुक्ति कर कर्मोंके छूट जानेको मोक्ष कहा जा चुका है। पुनः इनका विशेष वर्ण तथा उन कर्मोंकी सत्ता, बन्ध, उदय, उदीरणा आदिकी व्यवस्थाका ग्रहण करना य इस गुणस्थानमें किन प्रकृतियोंका बन्ध है? यों बन्ध, अबन्ध, बन्धव्युच्छित्ति, उदय अनुदय, उदयव्युच्छित्ति, सत्ता, असत्ता, सत्ताव्युच्छित्ति, उदीरणा, अनुदीरणा, उदीरणा व्युच्छित्ति इत्यादि करके लिये गये विभागको गुणस्थानोंकी अपेक्षा रखकर आ आम्नाय अनुसार चले आ रहे शास्त्रसे लगा लेना चाहिये। भावार्थ—राजवार्तिक गोम्मटसार आदि ग्रन्थोंसे बन्ध, उदय, सत्ता आदिकी गुणस्थानोंमें व्यवस्थाको समझ लिया जाय, यहां संक्षेपसे कथन करना मात्र अभीष्ट है। मुद्रित पुस्तकमें "बन्धहेत्वभाव निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः" इस सूत्रकी टीका छपी नहीं है। उत्तर प्रांतकी लिखित पुस्तकमें जो कुछ शुद्ध अशुद्ध, टीका पाई गई उसका यथायोग्य संशोधन कर देशभाषा कर दी गई है। पुनः मूडबिद्रीसे ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन प्रतिके लेखको मंगाया गया वह इस प्रकार है।

अथ परममोक्षः कुतः स्यादिति प्रतिपादनार्थमाह,— "बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः। कोऽस्य बन्धहेतुः? को वा तदभावः? इत्याह—

आस्रवाभिहितो बन्धहेतु पूर्वमनेकधा
तस्याभावः परो ज्ञेयः संवरः सर्वकर्मणां ॥ १ ॥

कासौ निर्जरेत्याह; —

निर्जरा च परायोग—केवल्यन्तक्षणोद्भवा,
ताभ्यां मोक्षस्तयोरन्यतरापायेऽस्य नोदयः ॥ २ ॥

न तावत्संवरापाये कृत्स्नकर्मक्षयः क्वचित्
अपरापरकर्मोपढौकनात्स्वनिमित्ततः ॥ ३ ॥

नापि तन्निर्जरापाये पूर्वकर्मव्यवस्थितेः
नानुपक्रमसाध्यायां निर्जरायां विरोधदः ॥ ४ ॥

सर्वोत्तमयतः सम्यग्दर्शनज्ञानयोगिनः
न भावसंवरोऽन्योसौ मार्गो रत्नत्रयात्मकः ॥ ५ ॥

निर्जरावेशमोक्षात्मा सन्मार्गफलमेव सा
न त्रयात्मकमार्गस्य विघातकृदितीरितं ॥ ६ ॥

ननु च मिथ्यादर्शनादि हेत्वभावादभिनवकर्मादानाभावः पूर्वोदित निर्जराहेतु सन्निधाने चार्जितकर्मनिर्जरा इति । बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां प्रादुर्भवन् मोक्षः किं लक्षण इत्याह । कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष इति तद्व्याख्यानार्थमाह,—

विशेषेणप्रकृष्टेन मोक्षः स्यात्कृत्स्नकर्मणां
जीवस्यात्यन्तविश्लेषः स मोक्ष इति लक्ष्यतां ॥ ७ ॥

ननु च कृत्स्नकर्मसन्तानस्याद्यभावादन्ताभाव इति चेत् न बीजांकुरसन्तानेनानेकान्तात्-उक्तं च—

दग्धेबीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः
कर्मबीजे तथा दग्धे नारोहति भवांकुरः ॥ ८ ॥ इति

केनरूपेण कर्मपुद्गलद्रव्यस्य क्षय इति चेदभिधीयते । कृत्स्नस्य कर्मत्वेनक्षयः कर्मणो न पुद्गलत्वेन । सतो द्रव्यस्य द्रव्यत्वेनात्यन्तविनाशायोगात् । तदनुत्पत्तिमत्त्वात्सर्वदास्थितेरेव प्रसिद्धेः । कर्मत्वपर्यायेण तु तस्यात्मपरिणामविशेषादुत्पत्ति सिद्धेः युक्तो विनाश इति सिद्धः कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः भावसाधनो मोक्षशद्बो द्विविषयो विप्रयोगक्रियामात्रगतेः । " मोक्ष आसने " इत्यस्य धातोर्घञि सति मोक्षणं मोक्ष इति व्युत्पत्तेः । मोक्तव्य मोक्षकापेक्षत्वाद्विप्रयोगक्रियामात्रस्य गतेः । कृत्स्नशद्बेनाष्टविधस्य कर्मणः सद्बन्धोदयोदीरणव्यवस्थस्य ग्रहणं । तत्क्षयविभागो गुणस्थानापेक्षः प्रवचनाज्ञेयः ।

इसका देशभाषामें अर्थ इस प्रकार है कि इसके अनन्तर परममोक्ष किन कारणोंसे उपजेगा ? इस सिद्धान्तकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकार महाराज इस अगिले सूत्रको कहते हैं--सूत्रार्थ यों है कि बन्धके हेतुओंका अभाव और निर्जरासे सम्पूर्ण कर्मोंका निश्शेषरूपेण प्रागभावानधिकरण होकर निरन्त छूट जाना मोक्ष है । यहांपर कोई विनीत शिष्य प्रश्न उठाता है कि यह बन्धका हेतु क्या पदार्थ है ? और उस बन्ध हेतुका अभाव भी क्या है ? बताओ । ऐसी विनीत शिष्यकी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्त्तिकको कह रहे हैं । पूर्व अध्यायोंमे आस्रवको कहा जा चुका है । उसके अनेक भेद हैं । आस्रवही बन्धका हेतु है । सम्पूर्ण कर्मोंके उस आस्रवका

उत्कृष्ट अभाव हो जाना तो संवर समझ लिया जाय अर्थात् बन्धहेत्वभावका अर्थ संव
तत्त्व है ॥ १ ॥ पुनः वही जिज्ञासु पूंछ रहा है कि महाराज वह निर्जरा भला क्य
पदार्थ है ? बताओ। ऐसी सविनय जिज्ञासा प्रवर्तनेपर आचार्य महाराज अग्रि
वार्तिकोंको स्पष्टरूपेण कह रहे हैं कि चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती अयोग केवली भगवान्
अन्तिम क्षणमें उपजी उत्कृष्ट निर्जराही यहां निर्जरा ली गई है। समर्थ कारण
करके अव्यवहित उत्तर क्षणमेंही कार्य बना दिया जाता है। अतः उन उत्कृष्ट संव
और उत्कृष्ट निर्जरा तत्त्वों करके अनन्तर क्षणमें मोक्ष तत्त्व उत्पन्न हो जाता है। उ
संवर और निर्जरा दोनोंमेंसे किसी भी एकका अपाय यानी विकलता हो जानेप
इस मोक्ष कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो पायेगी ॥ २ ॥ क्योंकि पहिले कहे गये संवरव
विश्लेष हो जानेपर तो किसी भी आत्मामें सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय नहीं हो पाता है
जब कि अपने निमित्तकारणों द्वारा उत्तरोत्तर कर्मोंका आना बढता रहेगा तो सम्पू
कर्मोंका क्षय नहीं हो पायेगा। भावार्थ--नावमेंसे शनैः शनैः पानी निकालते हुये भ
यदि नावका छेद नहीं बन्द किया है। तो नावका पानी कभी नहीं निश्शेष हो सकेगा
इसी प्रकार यदि गुप्ति आदि द्वारा संवर नहीं किया जायगा तो अविरति, प्रमा
आदि भावों करके कर्मोंका आस्रव हो जाता ही रहेगा मोक्ष नहीं हो पायेगा ॥ ३
तथा दूसरे कारण निर्जराका अपाय मान लेनेपर भी किसी भी आत्मामें सर्व कर्मोंव
विनाश नहीं हो सकेगा। जब कि संचित हो रहे पूर्व कर्मोंकी आत्मामें दृढरूपेण अ
स्थिति हो रही है। अर्थात् छेद बन्द कर देनेपर भी नावमेंसे यदि पूर्वसंचित जलव
नहीं निकाला जायगा तो नाव आधी पौन तो अब डूब ही रही है। फल काल
संस्कारवश वायुके झकोंरो द्वारा पूरी डूब जायगी यों नावमेंसे जल निश्शेष नहीं।
पायेगा, अतः अनुपक्रमसे साध्य हो रही निर्जराके होते सन्तेही मोक्ष हो पाता है। य
कार्यकारणभाव कोई विरोध दोषको देनेवाला नहीं है ॥ ४ ॥ सम्यग्दर्शन और सम्य
ग्ज्ञानसे युक्त हो रहे जीवके चमत्कारक तपसे भावसंवर उपज जाता है। इससे अ
कोई मोक्षका मार्ग नहीं है। तप तो चारित्र है, अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चा
रित्र इन तीनों रत्नत्रय स्वरूपही मोक्षमार्ग है। जो कि आद्य सूत्रमें कहा गया था ॥५
इसी प्रकार एक देश मोक्ष हो जाना स्वरूप जो निर्जरा है। वह भी उस श्रेष्ठमा
रत्नत्रयका फलस्वरूपही है। संचित कर्मोंकी रत्नत्रयसे निर्जरा हो जाती है। ६

रत्नत्रयात्मक मार्गका विघात करनेवाला यह सूत्रोक्त सिद्धान्त नहीं है। यह इस सूत्र द्वारा सूत्रकारने कह दिया है। भावार्थ–प्रथमाध्यायके पहिले सूत्रमें रत्नत्रयको मोक्षका मार्ग (उपाय) बताया गया है। और अब बन्धहेत्वभाव और निर्जराको मोक्षका कारण कह दिया है। यह सूत्रकारका निरूपण विरोध दोषापन्न होय यह नहीं समझ बैठना क्योंकि संवर और निर्जरा रत्नत्रयस्वरूपही है ॥ ६ ॥ अब कोई ऊहापोह करनेवाला प्रश्न उठाता है कि आपने पूर्वकारिकाओं द्वारा सूत्रोक्त कारणकोटिको बहुत अच्छी तरह समझा दिया है कि इस रत्नत्रयधारी जीवके मिथ्यादर्शन, अविरति आदि हेतुओंका अभाव हो जानेसे नवीन नवीन आनेवाले कर्मोंके ग्रहणका अभाव हो गया तथा पूर्वमें कह दिये गये निर्जराके अनुभव चमत्कारिक तपश्चरण हेतुओंका निकटपन हो जानेपर संचित कर्मोंकी निर्जरा हो गई। इस प्रकार बंधहेत्वभाव और निर्जरा करके मोक्षका प्रादुर्भाव हुआ अब यह बताओ कि उस उपज रही मोक्षका लक्षण क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर सूत्रकार महाराज सूत्रके विधेयदलको यों कह रहे हैं कि सम्पूर्ण कर्मोंका विशेषरूपेण प्रकृष्ट मोक्ष हो जाना मोक्ष है। यों कह चुकनेपर उसका व्याख्यान करनेके लिये ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकको कह रहे हैं कि " वि " यानी विशेषरूपसे और " प्र " यानी प्रकृष्ट रूपसे जीवके सम्पूर्ण कर्मोंका अत्यन्त वियोग जो हो जावेगा वही मोक्ष है। ऐसा इस लक्ष्यलक्षणभाव द्वारा समझ लेना चाहिये। सूत्रकारका एक एक पद अनिष्ट व्यावर्त्तक है ॥ ७ ॥ अब यहां कोई प्रश्न उठा रहा है कि व्यक्तिरूपसे कर्म भलेही सादि और सान्त हों किन्तु सम्पूर्ण कर्मोंकी सन्तान अनादि कालसे चली आ रही है। अनादि पदार्थ अवश्य अनन्त होता है। वैशेषिक प्रागभावको अनादि और सान्त मानते हैं। अतः प्रागभावसे भिन्न हो रहा जो जो सत्पदार्थ अनादि है। वह निश्चयसे अनन्त है, यह निर्दोष व्याप्ति बन रही है। अतः सर्व कर्मोंकी सन्तानका आदि नहीं होनेसे उसके अन्तका भी अभाव हो जायगा ऐसी दशामें अनन्तकाल तकके लिये कर्मोंका अभाव नहीं हो सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि बीजकी सन्तान और अंकुरकी सन्तान करके व्यभिचारदोष आ जायगा। अर्थात् जो जो अनादि सत् है। वह वह अनन्त है, यह व्याप्ति व्यभिचरित है। देखिये किसी भी बीज या अंकुरको पकड लिया जाय उसकी सन्तान बराबर अनादिकालसे चली आ रही है। मध्यमें एक व्यक्तिके भी टूटनेका व्यवधान नहीं पडा है किसी भी

निरुक्ति कर कर्मोंके छूट जानेको मोक्ष कहा जा चुका है। पुनः इनका विशेष वर्णन तथा उन कर्मोंकी सत्ता, बन्ध, उदय, उदीरणा आदिकी व्यवस्थाका ग्रहण करना या इस गुणस्थानमें किन प्रकृतियोंका बन्ध है ? यों बन्ध, अबन्ध, बन्धव्युच्छित्ति, उदय, अनुदय, उदयव्युच्छित्ति, सत्ता, असत्ता, सत्ताव्युच्छित्ति, उदीरणा, अनुदीरणा, उदीरणा-व्युच्छित्ति इत्यादि करके लिये गये विभागको गुणस्थानोंकी अपेक्षा रखकर आर्ष आम्नाय अनुसार चले आ रहे शास्त्रसे लगा लेना चाहिये। भावार्थ–राजवार्त्तिक, गोम्मटसार आदि ग्रन्थोंसे बन्ध, उदय, सत्ता आदिकी गुणस्थानोंमें व्यवस्थाको समझ लिया जाय, यहां संक्षेपसे कथन करना मात्र अभीष्ट है। मुद्रित पुस्तकमें " बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः " इस सूत्रकी टीका छपी नहीं है। उत्तर प्रांतकी लिखित पुस्तकमें जो कुछ शुद्ध अशुद्ध, टीका पाई गई उसका यथायोग्य संशोधन कर देशभाषा कर दी गई है। पुनः मूडबिद्रीसे ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन प्रतिके लेखको मंगाया गया वह इस प्रकार है।

अथ परममोक्षः कुतः स्यादिति प्रतिपादनार्थमाह,— " बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः। कोऽयं बन्धहेतुः ? को वा तदभावः ? इत्याह—

आस्रवाभिहितो बन्धहेतु पूर्वमनेकधा
तस्याभावः परो ज्ञेयः संवरः सर्वकर्मणां ॥ १ ॥

कासौ निर्जरेत्याह;—

निर्जरा च परायोग-केवल्यन्तक्षणोद्भवा,
ताभ्यां मोक्षस्तयोरन्यतरापायेऽस्य नोदयः ॥ २ ॥

न तावत्संवरापाये कृत्स्नकर्मक्षयः क्वचित्
अपरापरकर्मोपढौकनात्तन्निमित्ततः ॥ ३ ॥

नापि तन्निर्जरापाये पूर्वकर्मव्यवस्थितेः
नानुपक्रमसाध्यायां निर्जरायां विरोधतः ॥ ४ ॥

तपोतिशयतः सम्यग्दर्शनज्ञानयोगिनः
न भावसंवरोऽन्योतो मार्गो रत्नत्रयात्मकः ॥ ५ ॥

निर्जरावेशमोक्षात्मा सन्मार्गफलमेव सा
न त्रयात्मकमार्गस्य विघातकृदितीरितं ॥ ६ ॥

ननु च मिथ्यादर्शनादि हेत्वभावादभिनवकर्मादानाभावः पूर्वोदित निर्जराहेतु सन्निधाने चार्जितकर्मनिर्जरा इति । बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां प्रादुर्भवन् मोक्षः किं लक्षण इत्याह । कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष इति तद्व्याख्यानार्थमाह,—

विशेषेणप्रकृष्टेन मोक्षः स्यात्कृत्स्नकर्मणां
जीवस्यात्यन्तविश्लेषः स मोक्ष इति लक्ष्यतां ॥ ७ ॥

ननु च कृत्स्नकर्मसन्तानस्याद्यभावादन्ताभाव इति चेत् न बीजांकुरसन्तानेनानेकान्तात्-उक्तं च—

दग्धेबीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः
कर्मबीजे तथा दग्धे नारोहति भवांकुरः ॥ ८ ॥ इति

केनरूपेण कर्मपुद्गलद्रव्यस्य क्षय इति चेदमिधीयते । कृत्स्नस्य कर्मत्वेनक्षयः कर्मणो न पुद्गलत्वेन । सतो द्रव्यस्य द्रव्यत्वेनात्यन्तविनाशायोगात् । तदनुत्पत्तिमत्त्वात्सर्वदास्थितेरेव प्रसिद्धेः । कर्मत्वपर्यायेण तु तस्यात्मपरिणामविशेषादुत्पत्ति सिद्धेः युक्तो विनाश इति सिद्धः कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः भावसाधनो मोक्षशब्दो द्विविषयो विप्रयोगक्रियामात्रगतेः । " मोक्ष आसने " इत्यस्य धातोर्घञि सति मोक्षणं मोक्ष इति व्युत्पत्तेः । मोक्तव्य मोक्षकापेक्षत्वाद्विप्रयोगक्रियामात्रस्य गतेः । कृत्स्नशब्देनाष्टविधस्य कर्मणः सद्बन्धोदयोदीरणव्यवस्थस्य ग्रहणं । तत्क्षयविभागो गुणस्थानापेक्षः प्रवचनाज्ञेयः ।

इसका देशभाषामें अर्थ इस प्रकार है कि इसके अनन्तर परममोक्ष किन कारणोंसे उपजेगा ? इस सिद्धान्तकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकार महाराज इस अगिले सूत्रको कहते हैं--सूत्रार्थ यों है कि बन्धके हेतुओंका अभाव और निर्जरासे सम्पूर्ण कर्मोंका निश्शेषरूपेण प्रागभावानधिकरण होकर निरन्त छूट जाना मोक्ष है। यहांपर कोई विनीत शिष्य प्रश्न उठाता है कि यह बन्धका हेतु क्या पदार्थ है ? और उस बन्ध हेतुका अभाव भी क्या है ? बताओ। ऐसी विनीत शिष्यकी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्त्तिकको कह रहे हैं। पूर्व अध्यायोंमे आस्रवको कहा जा चुका है। उसके अनेक भेद हैं। आस्रवही बन्धका हेतु है। सम्पूर्ण कर्मोके उस आस्रवका

उत्कृष्ट अभाव हो जाना तो संवर समझ लिया जाय अर्थात् बन्धहेत्वभावका अर्थ संवर तत्त्व है ॥ १ ॥ पुनः वही जिज्ञासु पूंछ रहा है कि महाराज वह निर्जरा भला क्या पदार्थ है ? बताओ । ऐसी सविनय जिज्ञासा प्रवर्तनेपर आचार्य महाराज अग्रिम वार्तिकोंको स्पष्टरूपेण कह रहे हैं कि चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती अयोग केवली भगवान्के अन्तिम क्षणमें उपजी उत्कृष्ट निर्जराही यहां निर्जरा ली गई है । समर्थ कारणों करके अव्यवहित उत्तर क्षणमेंही कार्य बना दिया जाता है । अतः उन उत्कृष्ट संवर और उत्कृष्ट निर्जरा तत्त्वों करके अनन्तर क्षणमें मोक्ष तत्त्व उत्पन्न हो जाता है । उन संवर और निर्जरा दोनोंमेंसे किसी भी एकका अपाय यानी विकलता हो जानेपर इस मोक्ष कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो पायेगी ॥ २ ॥ क्योंकि पहिले कहे गये संवरका विश्लेष हो जानेपर तो किसी भी आत्मामें सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय नहीं हो पाता है । जब कि अपने निमित्तकारणों द्वारा उत्तरोत्तर कर्मोंका आना बढता रहेगा तो सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय नहीं हो पायेगा । भावार्थ--नावमेंसे शनैः शनैः पानी निकालते हुये भी यदि नावका छेद नहीं बन्द किया है । तो नावका पानी कभी नहीं निश्शेष हो सकेगा । इसी प्रकार यदि गुप्ति आदि द्वारा संवर नहीं किया जायगा तो अविरति, प्रमाद आदि भावों करके कर्मोंका आस्रव हो जाता ही रहेगा मोक्ष नहीं हो पायेगा ॥ ३ ॥ तथा दूसरे कारण निर्जराका अपाय मान लेनेपर भी किसी भी आत्मामें सर्व कर्मोंका विनाश नहीं हो सकेगा । जब कि संचित हो रहे पूर्व कर्मोंकी आत्मामें दृढरूपेण अब स्थिति हो रही है । अर्थात् छेद बन्द कर देनेपर भी नावमेंसे यदि पूर्वसंचित जलको नहीं निकाला जायगा तो नाव आधी पौन तो अब डूब ही रही है । फल कालमें संस्कारवश वायुके झकोरो द्वारा पूरी डूब जायगी यों नावमेंसे जल निश्शेष नहीं हो पायेगा, अतः अनुपक्रमसे साध्य हो रही निर्जराके होते सन्तेही मोक्ष हो पाता है । यह कार्यकारणभाव कोई विरोध दोषको देनेवाला नहीं है ॥ ४ ॥ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त हो रहे जीवके चमत्कारक तपसे भावसंवर उपज जाता है । इससे अन्य कोई मोक्षका मार्ग नहीं है । तप तो चारित्र है, अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नत्रय स्वरूपही मोक्षमार्ग है । जो कि आद्य सूत्रमें कहा गया था ॥५॥ इसी प्रकार एक देश मोक्ष हो जाना स्वरूप जो निर्जरा है । वह भी उस श्रेष्ठमार्ग रत्नत्रयका फलस्वरूपही है । संचित कर्मोंकी रत्नत्रयसे निर्जरा हो जाती है । यों

रत्नत्रयात्मक मार्गका विघात करनेवाला यह सूत्रोक्त सिद्धान्त नहीं है। यह इस सूत्र द्वारा सूत्रकारने कह दिया है। भावार्थ--प्रथमाध्यायके पहिले सूत्रमें रत्नत्रयको मोक्षका मार्ग (उपाय) बताया गया है। और अब बन्धहेत्वभाव और निर्जराको मोक्षका कारण कह दिया है। यह सूत्रकारका निरूपण विरोध दोषापन्न होय यह नहीं समझ बैठना क्योंकि संवर और निर्जरा रत्नत्रयस्वरूपही है ॥ ६ ॥ अब कोई ऊहापोह करनेवाला प्रश्न उठाता है कि आपने पूर्वकारिकाओं द्वारा सूत्रोक्त कारणकोटिको बहुत अच्छी तरह समझा दिया है कि इस रत्नत्रयधारी जीवके मिथ्यादर्शन, अविरति आदि हेतुओंका अभाव हो जानेसे नवीन नवीन आनेवाले कर्मोंके ग्रहणका अभाव हो गया तथा पूर्वमें कह दिये गये निर्जराके अनुभव चमत्कारिक तपश्चरण हेतुओंका निकटपन हो जानेपर संचित कर्मोंकी निर्जरा हो गई। इस प्रकार बंधहेत्वभाव और निर्जरा करके मोक्षका प्रादुर्भाव हुआ अब यह बताओ कि उस उपज रही मोक्षका लक्षण क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर सूत्रकार महाराज सूत्रके विधेयदलको यों कह रहे हैं कि सम्पूर्ण कर्मोंका विशेषरूपेण प्रकृष्ट मोक्ष हो जाना मोक्ष है। यों कह चुकनेपर उसका व्याख्यान करनेके लिये ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकको कह रहे हैं कि " वि " यानी विशेषरूपसे और " प्र " यानी प्रकृष्ट रूपसे जीवके सम्पूर्ण कर्मोंका अत्यन्त वियोग जो हो जावेगा वही मोक्ष है। ऐसा इस लक्ष्यलक्षणभाव द्वारा समझ लेना चाहिये। सूत्रकारका एक एक पद अनिष्ट व्यावर्त्तक है ॥ ७ ॥ अब यहां कोई प्रश्न उठा रहा है कि व्यक्ति-रूपसे कर्म भलेही सादि और सान्त हों किन्तु सम्पूर्ण कर्मोंकी सन्तान अनादि कालसे चली आ रही है। अनादि पदार्थ अवश्य अनन्त होता है। वैशेषिक प्रागभावको अनादि और सान्त मानते हैं। अतः प्रागभावसे भिन्न हो रहा जो जो सत्पदार्थ अनादि है। वह निश्चयसे अनन्त है, यह निर्दोष व्याप्ति बन रही है। अतः सर्व कर्मोंकी सन्तानका आदि नहीं होनेसे उसके अन्तका भी अभाव हो जायगा ऐसी दशामें अनन्तकाल तकके लिये कर्मोंका अभाव नहीं हो सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि बीजकी सन्तान और अंकुरकी सन्तान करके व्यभिचारदोष आ जायगा। अर्थात् जो जो अनादि सत् है। वह वह अनन्त है, यह व्याप्ति व्यभिचरित है। देखिये किसी भी बीज या अंकुरको पकड लिया जाय उसकी सन्तान बराबर अनादिकालसे चली आ रही है। मध्यमें एक व्यक्तिके भी टूटनेका व्यवधान नहीं पडा है किसी भी

निरूपित कर कर्मोंके छूट जानेको मोक्ष कहा जा चुका है। पुनः इनका विशेष वर्णन तथा उन कर्मोंकी सत्ता, बन्ध, उदय, उदीरणा आदिकी व्यवस्थाको ग्रहण करना या इस गुणस्थानमें किन प्रकृतियोंका बन्ध है ? यों बन्ध, अबन्ध, बन्धव्युच्छित्ति, उदय, अनुदय, उदयव्युच्छित्ति, सत्ता, असत्ता, सत्ताव्युच्छित्ति, उदीरणा, अनुदीरणा, उदीरणा-व्युच्छित्ति इत्यादि करके लिये गये विभागको गुणस्थानोंकी अपेक्षा रखकर आर्ष आम्नाय अनुसार चले आ रहे शास्त्रसे लगा लेना चाहिये। भावार्थ—राजवार्त्तिक, गोम्मटसार आदि ग्रन्थोंसे बन्ध, उदय, सत्ता आदिकी गुणस्थानोंमें व्यवस्थाको समझ लिया जाय, यहां संक्षेपसे कथन करना मात्र अभीष्ट है। मुद्रित पुस्तकमें "बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः" इस सूत्रकी टीका छपी नहीं है। उत्तर प्रांतकी लिखित पुस्तकमें जो कुछ शुद्ध अशुद्ध, टीका पाई गई उसका यथायोग्य संशोधन कर देशभाषा कर दी गई है। पुनः मूडबिद्रीसे ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन प्रतिके लेखको मंगाया गया वह इस प्रकार है।

अथ परममोक्षः कुतः स्यादिति प्रतिपादनार्थमाह,— "बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः। कोऽयं बन्धहेतुः ? को वा तदभावः ? इत्याह—

आस्रवाभिहितो बन्धहेतु पूर्वमनेकधा
तस्याभावः परो ज्ञेयः संवरः सर्वकर्मणां ॥ १ ॥

कासौ निर्जरेत्याह;—

निर्जरा च परायोग-केवल्यन्तक्षणोद्भवा,
ताभ्यां मोक्षस्तयोरन्यतरापायेऽस्य नोदयः ॥ २ ॥

न तावत्संवरापाये कृत्स्नकर्मक्षयः क्वचित्
अपरापरकर्मोपढौकनात्स्वनिमित्ततः ॥ ३ ॥

नापि तन्निर्जरापाये पूर्वकर्मव्यवस्थितेः
नानुपक्रमसाध्यायां निर्जरायां विरोधदः ॥ ४ ॥

तपोतिशयतः सम्यग्दर्शनज्ञानयोगिनः
न भावसंवरोऽन्योतो मार्गो रत्नत्रयात्मकः ॥ ५ ॥

निर्जराशेषमोक्षाख्या सन्मार्गफलमेव सा
न क्षयात्मककर्मांशस्य विधात्तक्रदितीरितं ॥ ६ ॥

ननु च मिथ्यादर्शनादि हेत्वभावादभिनवकर्मादानाभावः पूर्वोदित निर्जराहेतु सन्निधाने चार्जितकर्मनिर्जरा इति । बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां प्रादुर्भवन् मोक्षः किं लक्षण इत्याह । कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष इति तद्व्याख्यानार्थमाह,—

विशेषेणप्रकृष्टेन मोक्षः स्यात्कृत्स्नकर्मणां
जीवस्यात्यन्तविश्लेषः स मोक्ष इति लक्ष्यतां ॥ ७ ॥

ननु च कृत्स्नकर्मसन्तानस्याद्याभावादन्ताभाव इति चेत् न बीजांकुरसन्तानेनानैकान्तात्-उक्तं च—

दग्धेबीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः
कर्मबीजे तथा दग्धे नारोहति भवांकुरः ॥ ८ ॥ इति

केनरूपेण कर्मपुद्गलद्रव्यस्य क्षय इति चेदभिधीयते । कृत्स्नस्य कर्मत्वेनक्षयः कर्मणो न पुद्गलत्वेन । सतो द्रव्यस्य द्रव्यत्वेनात्यन्तविनाशायोगात् । तदनुत्पत्तिमत्त्वात्सर्वदाविश्वतेरेव प्रसिद्धेः । कर्मत्वपर्यायेण तु तस्यात्मपरिणामविशेषादुत्पत्ति सिद्धेः युक्तो विनाश इति सिद्धः कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः भावसाधनो मोक्षशद्बो द्विविषयो विप्रयोगक्रियामात्रगतेः । " मोक्ष आसने " इत्यस्य धातोर्घञि सति मोक्षणं मोक्ष इति व्युत्पत्तेः । मोक्तव्य मोक्षकापेक्षत्वाद्विप्रयोगक्रियामात्रस्व गतेः । कृत्स्नशद्बेनाष्टविधस्य कर्मणः सद्बन्धोदयोदीरणव्यवस्यस्य ग्रहणं । तत्क्षयविभागो गुणस्थानापेक्षः प्रवचनाज्ञेयः ।

इसका देशभाषामें अर्थ इस प्रकार है कि इसके अनन्तर परममोक्ष किन कारणोंसे उपजेगा ? इस सिद्धान्तकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकार महाराज इस अगिले सूत्रको कहते हैं--सूत्रार्थ यों है कि बन्धके हेतुओंका अभाव और निर्जरासे सम्पूर्ण कर्मोंका निश्शेषरूपेण प्रागभावानधिकरण होकर निरन्त छूट जाना मोक्ष है। यहांपर कोई विनीत शिष्य प्रश्न उठाता है कि यह बन्धका हेतु क्या पदार्थ है ? और उस बन्ध हेतुका अभाव भी क्या है ? बताओ। ऐसी विनीत शिष्यकी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्त्तिकको कह रहे हैं। पूर्व अध्यायोंमे आस्रवको कहा जा चुका है। उसके अनेक भेद हैं। आस्रवही बन्धका हेतु है। सम्पूर्ण कर्मोंके उस आस्रवका

उत्कृष्ट अभाव हो जाना तो संवर समझ लिया जाय अर्थात् बन्धहेत्वभावका अर्थ संवर तत्त्व है ॥ १ ॥ पुनः वही जिज्ञासु पूंछ रहा है कि महाराज वह निर्जरा भला क्या पदार्थ है ? बताओ। ऐसी सविनय जिज्ञासा प्रवर्तनेपर आचार्य महाराज अग्रिम वार्तिकोंको स्पष्टरूपेण कह रहे हैं कि चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती अयोग केवली भगवान्के अन्तिम क्षणमें उपजी उत्कृष्ट निर्जराही यहां निर्जरा ली गई है। समर्थ कारणों करके अव्यवहित उत्तर क्षणमेंही कार्य बना दिया जाता है। अतः उन उत्कृष्ट संवर और उत्कृष्ट निर्जरा तत्त्वों करके अनन्तर क्षणमें मोक्ष तत्त्व उत्पन्न हो जाता है। उन संवर और निर्जरा दोनोंमेंसे किसी भी एकका अपाय यानी विकलता हो जानेपर इस मोक्ष कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो पायेगी ॥ २ ॥ क्योंकि पहिले कहे गये संवरका विश्लेष हो जानेपर तो किसी भी आत्मामें सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय नहीं हो पाता है। जब कि अपने निमित्तकारणों द्वारा उत्तरोत्तर कर्मोंका आना बढता रहेगा तो सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय नहीं हो पायेगा। भावार्थ--नावमेंसे शनैः शनैः पानी निकालते हुये भी यदि नावका छेद नहीं बन्द किया है। तो नावका पानी कभी नहीं निश्शेष हो सकेगा। इसी प्रकार यदि गुप्ति आदि द्वारा संवर नहीं किया जायगा तो अविरति, प्रमाद आदि भावों करके कर्मोंका आस्रव हो जाता ही रहेगा मोक्ष नहीं हो पायेगा ॥ ३ ॥ तथा दूसरे कारण निर्जराका अपाय मान लेनेपर भी किसी भी आत्मामें सर्व कर्मोंका विनाश नहीं हो सकेगा। जब कि संचित हो रहे पूर्व कर्मोंकी आत्मामें दृढरूपेण अब स्थिति हो रही है। अर्थात् छेद बन्द कर देनेपर भी नावमेंसे यदि पूर्वसंचित जलको नहीं निकाला जायगा तो नाव आधी पौन तो अब डूब ही रही है। फल कालमें संस्कारवश वायुके झकोंरो द्वारा पूरी डूब जायगी यों नावमेंसे जल निश्शेष नहीं हो पायेगा, अतः अनुपक्रमसे साध्य हो रही निर्जराके होते सन्तेही मोक्ष हो पाता है। यह कार्यकारणभाव कोई विरोध दोषको देनेवाला नहीं है ॥ ४ ॥ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त हो रहे जीवके चमत्कारक तपसे भावसंवर उपज जाता है। इससे अन्य कोई मोक्षका मार्ग नहीं है। तप तो चारित्र है, अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नत्रय स्वरूपही मोक्षमार्ग है। जो कि आद्य सूत्रमें कहा गया था ॥५॥ इसी प्रकार एक देश मोक्ष हो जाना स्वरूप जो निर्जरा है। वह भी उस श्रेष्ठमार्ग रत्नत्रयका फलस्वरूपही है। संचित कर्मोंकी रत्नत्रयसे निर्जरा हो जाती है। यों

रत्नत्रयात्मक मार्गका विघात करनेवाला यह सूत्रोक्त सिद्धान्त नहीं है। यह इस सूत्र द्वारा सूत्रकारने कह दिया है। भावार्थ--प्रथमाध्यायके पहिले सूत्रमें रत्नत्रयको मोक्षका मार्ग (उपाय) बताया गया है। और अब बन्धहेत्वभाव और निर्जराको मोक्षका कारण कह दिया है। यह सूत्रकारका निरूपण विरोध दोषापन्न होय यह नहीं समझ बैठना क्योंकि संवर और निर्जरा रत्नत्रयस्वरूपही है ॥ ६ ॥ अब कोई ऊहापोह करनेवाला प्रश्न उठाता है कि आपने पूर्वकारिकाओं द्वारा सूत्रोक्त कारणकोटिको बहुत अच्छी तरह समझा दिया है कि इस रत्नत्रयधारी जीवके मिथ्यादर्शन, अविरति आदि हेतुओंका अभाव हो जानेसे नवीन नवीन आनेवाले कर्मोके ग्रहणका अभाव हो गया तथा पूर्वमें कह दिये गये निर्जराके अनुभव चमत्कारिक तपश्चरण हेतुओंका निकटपन हो जानेपर संचित कर्मोंकी निर्जरा हो गई। इस प्रकार बंधहेत्वभाव और निर्जरा करके मोक्षका प्रादुर्भाव हुआ अब यह बताओ कि उस उपज रही मोक्षका लक्षण क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर सूत्रकार महाराज सूत्रके विधेयदलको यों कह रहे हैं कि सम्पूर्ण कर्मोंका विशेषरूपेण प्रकृष्ट मोक्ष हो जाना मोक्ष है। यों कह चुकनेपर उसका व्याख्यान करनेके लिये ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकको कह रहे हैं कि "वि" यानी विशेषरूपसे और "प्र" यानी प्रकृष्ट रूपसे जीवके सम्पूर्ण कर्मोंका अत्यन्त वियोग जो हो जावेगा वही मोक्ष है। ऐसा इस लक्ष्यलक्षणभाव द्वारा समझ लेना चाहिये। सूत्रकारका एक एक पद अनिष्ट व्यावर्त्तक है ॥ ७ ॥ अब यहां कोई प्रश्न उठा रहा है कि व्यक्ति-रूपसे कर्म भलेही सादि और सान्त हों किन्तु सम्पूर्ण कर्मोंकी सन्तान अनादि कालसे चली आ रही है। अनादि पदार्थ अवश्य अनन्त होता है। वैशेषिक प्रागभावको अनादि और सान्त मानते हैं। अतः प्रागभावसे भिन्न हो रहा जो जो सत्पदार्थ अनादि है। वह निश्चयसे अनन्त है, यह निर्दोष व्याप्ति बन रही है। अतः सर्व कर्मोंकी सन्ता-नका आदि नहीं होनेसे उसके अन्तका भी अभाव हो जायगा ऐसी दशामें अनन्तकाल तकके लिये कर्मोंका अभाव नहीं हो सकता है। ग्रन्थकार कहते है कि यह तो नहीं कहना क्योंकि बीजकी सन्तान और अंकुरकी सन्तान करके व्यभिचारदोष आ जायगा। अर्थात् जो जो अनादि सत् है। वह वह अनन्त है, यह व्याप्ति व्यभिचरित है। देखिये किसी भी बीज या अंकुरको पकड लिया जाय उसकी सन्तान बराबर अनादिकालसे चली आ रही है। मध्यमें एक व्यक्तिके भी टूटनेका व्यवधान नहीं पडा है किसी भी

लडका लडकी या गर्भज नपुंसक (हीजडा) को ले लिया जाय उसके अनादिकालीन अनन्तानन्त पिताओंने अपने औरस्य सन्तानको अवश्य उपजाया था, सन्तानको नहीं उपजा करके क्लीबपनेकी गाली खाकर वे नहीं मरे । इसी प्रकार उस मानवकी अनादिकालीन अनन्त मातायें भी बन्ध्यायें न कहाकर प्रसवित्री बन चुकी हैं । अब बीज, अंकुरपर आ जाइये कि उसको भूंज लेनेपर या जला देनेपर पुनः उसकी सन्तान नहीं चलती है । अतः जला दिये गये बीजकी अनादि सन्तान भी सान्त हो गई इसी बातको अन्य ग्रन्थमें भी यों कहा गया है कि जिस प्रकार बीजके अग्निद्वारा अत्यन्त रूपसे दग्ध किये जानेपर पुनः उससे अंकुर नहीं उगता है । तिसी प्रकार रत्नत्रयद्वारा कर्मबीजके दग्ध हो जानेपर पुनः जन्मजरामृत्युस्वरूप संसार अंकुर नहीं उपज पाता है । पुनः कोई जिज्ञासु पूछ रहा है कि कर्मपरिणत पुद्गलद्रव्यका क्षय बताओ किस स्वरूपसे हो जाता है ? क्या उसका मटियामेट होकर समूलशिख विनाश हो जाता है ? अथवा उस पुद्गलकी कर्मअवस्थाका विनाश हो जाता है, बताओ । यों सानुनय तर्क उठानेपर ग्रन्थकारसे यह समाधान कहा जाता है कि सम्पूर्ण कर्मका कर्म अवस्थापनेसे क्षय हो जाता है, पुद्गलपने करके क्षय नहीं होता है । क्योंकि अनादि अनन्त सत्स्वरूप हो रहे किसी भी द्रव्यका द्रव्यपने करके अत्यन्त विनाश हो जानेका योग नहीं है । " नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः " सद्द्रव्यका विनाश नहीं होता है, और सद्द्रव्य कभी उपजता नहीं है । जितने एक या असंख्यात वा अनन्त द्रव्य हैं तीनों कालोंमें उतनेही हैं, अपनी इयत्ताको नहीं छोडते हैं । " नित्यावस्थितान्यरूपाणि " अतः उन द्रव्योंकी उत्पत्ति भी नहीं मानी गई है । विनाश और उत्पादसे रहित हो रहे द्रव्यकी सदा स्थितिही प्रसिद्ध है । हां, उन परिणामी द्रव्योंकी पर्यायोंका उत्पाद या विनाश होता रहता है । कार्मणवर्गणास्वरूप उस पुद्गलकी संसारी आत्माके कषाय आदि परिणाम विशेषसे कर्मपर्यायरूप करके उत्पत्ति हो जाना सिद्ध है । इसी कारण आत्मपरिणामों करके उसका कर्मत्व पर्यायरूपसे विनाश हो जाना भी युक्तिपूर्ण है । इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय हो जाना मोक्ष सिद्ध कर दिया गया है । अब ग्रन्थकार दूसरी बातको बता रहे हैं । मोक्ष शद्ब भावमें प्रत्यय कर साधा गया है । जो कि दो को विषय करता है । कारण कि प्रकर्ष रूपसे वियोग हो जाना मात्र इतनीही क्रियाकी ज्ञप्ति हो रही है । "मोक्ष असने" यों इस धातुसे घञ् प्रत्यय करनेपर

छूट जाना मात्र क्रिया मोक्ष है। यों मोक्ष शद्बकी निरुक्ति कर व्युत्पत्ति कर लेनी चाहिये। संयोग, वियोग, द्वित्व, त्रित्व संख्या इत्यादि पदार्थ दो आदि पदार्थोंमें रहते हैं। छोडने योग्य कर्म मोक्तव्य हैं, और छोड देनेवाला आत्मा पुरुषार्थी मोक्षक है। इस अपेक्षासे केवल विप्रयोग यानी केवल वियोग हो जाना इतनी क्रियाकी ज्ञप्ति हो जाती है। कर्मका विशेषण सूत्रमे कृत्स्न कहा गया है। कर्मोंकी सत्ता, बन्ध होना, उदयमें आना, उदीरणा हो जाना, आदिक अनेक अवस्थायें हैं। मोक्षमें पौद्‌गलिक सम्पूर्ण कर्मोंका नाश तो हो ही जाता है। साथही कर्मोंकी तत्स्वरूप कृत्स्न अवस्थाओंसे भी कर्मोंका नाश हो जाता है। अतः सत्ता, बन्ध, उदय और उदीरणा अवस्थाओंमें व्यवस्थित हो रहे आठों प्रकारके कर्मोंका कृत्स्न शद्ब करके ग्रहण हो जाता है। उन कर्मोंके क्षय होनेका विभाग कैसा है ? इसका गुणस्थानोंकी उपेक्षा रखता हुआ वह विभाग आप्तोक्त आगमसे उपरिष्ठात् प्राप्त कर लेना चाहिये। अर्थात् किस २ गुणस्थानमें किन किन प्रकृतियोंका क्षय होता है। इस रहस्यको राजवार्त्तिक, गोम्मटसार, आदि महान् आर्ष ग्रन्थोंसे समझ लिया जाय।

किं द्रव्यकर्मणामेव मोक्षः स्यादुत भावकर्मणामपीत्याशंकायामिदमाह; —

यहां कोई प्रश्न उठाता है कि क्या पौद्‌गलिक द्रव्यकर्मोंके क्षयसेही मोक्ष होवेगी ? अथवा क्या भाव कर्मोंके क्षयसे भी मोक्ष हो सकेगी ? इस प्रकार आशंका प्रवर्तनेपर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्रको स्पष्टरूपेण कह रहे हैं।

औपशमकादिभव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

उपशम सम्यक्त्व, उपशमचारित्र इन औपशमिक भाव और मतिज्ञान आदिक क्षायोपशमिक भावको आदि लेकर भव्यत्व पर्यन्त भावकर्मोंका भी क्षय हो जानेसे मोक्ष होती है। अर्थात् दोनों औपशमिक भाव, अठारहों क्षायोपशमिकभाव, इकईसों औदयिक भाव और पारणामिक भव्यत्वभावका मोक्ष अवस्थामें क्षय हो जाता है। अभव्यत्वभाव तो मोक्षगामी जीवके है ही नहीं।

" भविया सिद्धि जेंसि जीवाणं ते हवन्ति भवसिद्धा,
तव्विवरीया भव्वा संसारादो ण सिज्झन्ति ॥ "

जिनकी भविष्यमें सिद्धि होनेवाली है। वे जीव भव्य हैं किन्तु जिनकी सिद्धि हो चुकी वे तो भूत सिद्ध हैं। उनमें भविष्य कालकी अपेक्षा रखनेवाला भव्यत्व नहीं

है। हां, जीवत्वभाव विद्यमान है। कर्मोंके क्षयसे उपजनेवाले क्षायिक भाव तो मोक्ष अवस्थामें रहनेही चाहिये।

भव्यत्वग्रहणमन्यपारिणामिकानिवृत्त्यर्थं, तेन जीवत्वादेरव्यावृत्तिः सर्वतः सर्वदा प्रसिद्धा भवति। कस्मादौपशमिकादिक्षयान्मोक्ष इत्याह; —

इस सूत्रमें भव्यत्वका ग्रहण करना तो अन्य पारिणामिक भावोंकी नहीं निवृत्ति करनेके लिये है। यों तिस भव्यत्वका कण्ठोक्त निरूपण कर देनेसे जीवत्व, अस्तित्व, पर्यायत्व, असर्वगतत्व, अरूपत्व आदि पारिणामिक भावोंकी व्यावृत्ति नहीं होना सर्वदा सब ओरसे प्रसिद्ध हो जाता है। अर्थात् जीवत्व, अस्तित्व आदिक पारणामिक भाव मोक्ष अवस्थामें सदा सर्व रूपसे विद्यमान रहते हैं। यहां कोई तर्कशील विद्यार्थी पूछता है कि किस कारणसे औपशमिक आदि भावोंके क्षयसे मोक्ष हो जाता है? युक्तिपूर्वक समझाओ। ऐसी तर्कणा उपस्थित हो जानेपर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकोंको कह रहे हैं

तथौपशमिकादीनां भव्यत्वस्य च संक्षयात्।
मोक्ष इत्याह तदभावे संसारित्वप्रसिद्धितः ॥ १ ॥
नन्वौपशमिकेऽभावे क्षायोपशमिकेऽपि च।
भावेऽत्रौदयिके पुंसो भावोस्तु क्षायिके कथं ॥ २ ॥

तिस प्रकार औपशमिक, क्षायोपशमिक आदि और भव्यत्वभावका बढिया क्षय हो जानेसे मोक्ष होती है। इस सिद्धान्तको सूत्रकारने हेतुपूर्वक कहा है। (प्रतिज्ञा) क्योंकि उन औपशमिक आदि भावोंके पाये जानेपर संसारी बने रहनेकी प्रसिद्धि है। (हेतु) अर्थात् उपशम सम्यग्दर्शन, मतिज्ञान, संयमासंयम, देवगति, क्रोध आदि भावोंका सद्भाव संसारी जीवोंमेंही पाया जाता है। यदि मुक्त जीवोंमें भी उक्त भावोंकी सत्ता मानी जायगी तो वे संसारी हो जावेंगे। उनको कभी मोक्ष नहीं नहीं हो सकेगा। हां, औपशमिक, औदयिक आदि भावोंका अभाव हो जानेपर शुद्ध आत्माकी कोई क्षति नहीं होती है। प्रत्युत, आत्माकी स्वात्मीयता और शुद्धता अधिक प्रकट हो जाती है। यहां कोई शंका उठाता है कि औपशमिक भाव और क्षायोपशमिक भी भाव

तथा मनुष्यगति आदि औदयिक भावोंके अभाव हो जानेपर आत्माका सद्भाव बना रहे क्योंकि ये नैमित्तिकभाव हैं। पर उपाधियोंसे जन्य हैं। औपाधिक भाव नष्ट हो जाने ही चाहिये तभी निराकुल होकर स्वात्मलाभ हो सकेगा किन्तु क्षायिक भावोंके अभाव हो जानेपर आत्माका सद्भाव किस प्रकार ठहर सकता है ? क्योंकि पर उपाधियोंका क्षय हो जानेपर स्वात्मनिष्ठा प्राप्त होती है। सूत्रकार महाराजने " औपशमिकादि भव्यत्वानां च " इस सूत्रमें आदि पद करके क्षायिक भावोंका भी ग्रहण किया होगा। क्षायिकचारित्र, क्षायिकदान, आदि भावोंकी निवृत्ति हो जाना तो अच्छा नहीं जचा ।

अत्र समाधीयते ; —

यहां ऐसी शंका उपस्थित हो जानेपर ग्रन्थकार करके अब समाधान वचन कहा जाता है।

सिद्धिः सव्यपदेशस्य चारित्रादेरभावतः ।
क्षायिकस्य न सत्यास्मिन् कृतकृत्यत्वनिर्वृतिः ॥ ३ ॥
न चारित्रादिरस्यास्ति सिद्धानां मोहसंक्षयात् ।
सिद्धा एव तु सिद्धास्ते गुणस्थानविमुक्ततः ॥ ४ ॥

देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्र, सामायिक, छेदोपस्थापना इत्यादि नामोंसे कहे जा रहे चारित्र अथवा क्षायिकदान, लाभ, आदि नामवाली लब्धियां आदिके अभावसे सिद्धि होती है। हां, शुद्ध अव्यपदेश्य क्षायिक भावोंके अभावसे सिद्धि नहीं है। प्रत्युत इन निर्विकल्पक चारित्र, क्षायिकदान आदि भावोंके होनेपरही सिद्धोंके कृतकृत्यपनकी सिद्धि हो रही है। स्वरूपनिष्ठा करानेवाले परिणामोंको चारित्र माना गया है। अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्ति होनेको चारित्र कहते हैं। " असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं " अथवा " बहिरअन्तर किरिया रोहो भवकारणप्पणासट्ठं " संसार कारणोंके विनाशार्थ बहिरंग अन्तरंग क्रियाओंका रोध करना चारित्र है। जब मोक्ष अवस्थामें जीव कृतकृत्य हो जाता है। करने योग्य कृत्योंको कर चुकता है। तो इसके उक्त चारित्र, दान, आदिक सविकल्प नहीं हैं। हां, चारित्र मोहनीय कर्मका बढिया क्षय हो जानेसे सिद्धोंके क्षायिकभावका सद्भाव है। वस्तुतः

देखा जाय तो सिद्ध भगवान् तो सिद्ध ही हैं। " चारित्रवान् हैं, दानवान् हैं, इत्यादिक रूपसे उनका निरूपण करना शोभा नहीं देता है। " गगनं गगनाकारं, सागरः सागरोपमः। अर्हन्नर्हन्निव प्रोक्तः सिद्धाः सिद्धोपमाः स्मृतः "। निर्विकल्पक निरुपम सिद्धपरमेष्ठी सिद्ध ही हैं। क्योंकि वे गुणस्थानोंके झगडेसे विशेषरूपेण मुक्त हो चुके हैं।

नन्वेवं केवलदर्शनादीनामपि क्षायिकभावानां मोक्षे क्षयः प्रसज्यत इत्यारेकायामपवादमाह; —

यहां कोई विनीत शिष्य आशंका उठा रहा है कि इस प्रकार औपशमिक आदि भावोंका क्षय माननेपर तो मोक्ष अवस्थामें केवलदर्शन, केवलज्ञान आदिक क्षायिक भावोंके भी क्षय हो जानेका प्रसंग आ जावेगा ? और ऐसी दशामें प्रदीपनिर्वाण समान मोक्ष तत्त्व शून्यपदार्थ बन बैठेगा तुच्छाभावको जैनोंने अभीष्ट नहीं किया है। इस प्रकार संशय उपस्थित हो जानेपर सूत्रकार महाराज अपवाद मार्गको अग्रिम सूत्र द्वारा स्पष्ट रूपेण कह रहे हैं।

अन्यत्र केवल सम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

केवलसम्यक्त्व, (क्षायिकसम्यग्दर्शन) केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व भाव इनसे वर्जित शेष सम्पूर्ण भावोंका मोक्षमें क्षय हो जाता है। भावार्थ–औपशमिक आदिक त्रेपन भावोंमेंसे कतिपय क्षायिकभाव और जीवत्वभाव मुक्तोंमे अवश्य पाया जाता है। अस्तित्व आदि भाव भी उनके पाये जाते हैं। एकसौ अडतालीस प्रकृतियोंमेंसे किसी भी एक आदिका उदय या सद्भाव बना रहनेसे जीव सिद्ध नहीं हो पाता है। हां, सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय हो जानेपर सिद्धत्व भाव सदा सिद्धोंका जगमगाता रहता है। अतः अनेक शुद्धभावोंका पिण्ड मुक्त अवस्थामें है। मोक्ष तुच्छ पदार्थ नहीं है।

अन्यत्र शब्दोऽयं परिवर्जनार्थस्तदपेक्षः सिद्धत्वेभ्य इति विभक्तिनिर्देशः। 'अन्यत्र द्रोणभीष्माभ्यां सर्वेयोधाः पराङ्मुखा, इति यथा। अन्यशब्दप्रयोगे तद्विज्ञानमिति चेन्न, प्रत्ययान्तस्यापि प्रयोगे तद्दर्शनात्।

सूत्रमें पडा हुआ यह " अन्यत्र " शब्द तो परित्याग अर्थको लिये हुये है। उस परिवर्जन अर्थकी अपेक्षा अनुसार " सिद्धत्वेभ्यः " यहां पञ्चमी विभक्तिका निर्देश

किया गया है। जिस प्रकार कि द्रोण और भीष्मको छोडकर सभी योद्धा युद्धसे पराङ्मुख हो गये हैं। इस प्रयोगमें अन्यत्र शद्बका योग हो जानेपर "द्रोणभीष्माभ्यां" इस पदमें पञ्चमी विभक्ति की गई है। यहां कोई आक्षेप करता है कि अन्य शद्बका प्रयोग करनेपर भी उस वर्जन अर्थका विशेषज्ञान हो सकता था सूत्रकारने व्यर्थ "त्र" प्रत्यय लगाकर अन्यत्र इतने बडे शद्बका प्रयोग किया ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि जिस प्रकार "अन्यो देवदत्तात्" यहां अन्य शद्बके प्रयोगमें पञ्चमी विभक्ति हुई है। उसी प्रकार स्वार्थमें त्र प्रत्ययकर त्र प्रत्ययान्त अन्यत्र शद्बके प्रकृष्ट सन्निधान होनेपर भी विभक्त्यर्थ अनुसार उस पञ्चमी विभक्तिका होना देखा जाता है। स्वार्थिक प्रत्ययोंके लग जानेसे कोई गौरव दोषचर्चा आदर नहीं पाती है।

अनन्तवीर्यादिनिवृत्तिप्रसंग इति चेन्न, अत्रैवान्तर्भावात्। अनन्तवीर्यहीनस्यानंतावबोधवृत्त्यभावात् सुखस्य ज्ञानसमवायित्वात्। बन्धस्याव्यवस्था अश्वादिवदिति चेन्न, मिथ्यादर्शनाद्युच्छेदे कात्स्न्र्येन तत्क्षयात्। पुनः प्रवर्तनप्रसंगो जानतः पश्यतश्च कारुण्यादिति चेन्न, सर्वास्रवपरिक्षयात्। वीतरागे स्नेहपर्यायस्य कारुण्यस्यासंभवाद् भक्तिस्पृहादिवत्। अकस्मादिति चेदनिर्मोक्षप्रसंगः सतो हेतुकस्य नित्यत्वापत्तेर्विनाशायोगात्।

पुनः कोई शंकाकार बोल उठा कि सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और सिद्धत्वभाव इन चारकाही उल्लेख कर देनेसे तो अन्य अनन्तवीर्य, अनन्तसुख, सूक्ष्मतत्व आदि भावोंकी निवृत्ति हो जानेका प्रसंग आ जावेगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उन अनन्तवीर्य आदिकोंका इन्हीं सम्यक्त्व आदिमें अनन्तभाव हो जाता है। जो जीव अनन्तवीर्यसे हीन है, उसके अनन्तज्ञानकी प्रवृत्ति हो जानेका अभाव है। ज्ञान और वीर्यका अविनाभावी सम्बन्ध है। जैसे कि रूप कह देनेसे रस आदि विना कहे ही समझ लिये जाते है। उसी प्रकार क्षायिकज्ञानका कण्ठोक्त सद्भाव स्वीकार कर लेनेपर तदविनाभावी अनन्तवीर्यका सद्भाव विना कहे ही अर्थापत्त्या प्रतीत हो जाता है। तथा सुखका ज्ञान गुणके साथ एकार्थसमवाय संबन्ध हो रहा है। ज्ञान और सुख दोनों एक अर्थ आत्मामें गुरुभाईके समान एकार्थ समवेत हो रहे हैं। अतः ज्ञानका निरूपण कर देनेसे उसके सहचर सुखका भी निरूपण हो चुका समझो। अथवा सुख ज्ञानमय ही है। अतः ज्ञानपदसे तदभिन्न सुखका भी ग्रहण हो जाता है। यहां

कोई तर्क उठा रहा है कि घोडे, बैल, आदिके समान बन्धकी कोई व्यवस्था नहीं हो सकेगी। अर्थात् घोडे आदिका एक बन्धन टूट जानेपर भी पुनः दूसरे बन्धनोंसे जैसे उनका बन्ध जाना सम्भव है। उसी प्रकार जीवका भी कोई एक बन्ध दूर हो गया है। तो भी अन्य कर्मबन्धन बन बैठेंगे। सदाके लिये मोक्ष हो जानेकी व्यवस्था नहीं मानी जा सकती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि बन्धके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति आदिक परिणाम हैं। परिपूर्णरूपसे मिथ्यादर्शन आदिका जब उच्छेद हो चुका है। तब उन बन्ध हेतुओंका क्षय हो जानेसे पुनः बन्ध नहीं हो पाता है। जब कारणही नहीं रहे तो कार्योंकी उत्पत्ति किनसे होगी ?। पुनः कटाक्ष उठाया जा रहा है कि एक बार मुक्त हो जानेपर भी फिर उनके बन्धकी प्रवृत्ति हो जानेका प्रसंग लग जावेगा। कारण कि अनेक शारीरिक और मानसिक दुःख समुद्रमें डूब रहे जगत्को ज्ञानद्वारा जान रहे और केवलदर्शन द्वारा सत्तालोचन कर रहे मुक्त जीवके अवश्य करुणा उपजेगी, दुःखित जीवोंको देखकर अहिंसक दयालु जीवका करुणाभाव उपज जाना स्वाभाविक है। मुनियोंके भी क्लिश्यमान जीवोंमें कारुण्यभावनाका उपज जाना सातवें अध्यायमें कहा गया है। उस करुणासे सिद्धोंके द्रव्यकर्मोंका बन्ध जाना अनिवार्य है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्यों कि सम्पूर्ण शुभ, अशुभ, आस्रवोंका परिपूर्ण क्षय हो जानेसे मुक्त जीवोंके बन्ध परिणतिका अभाव है। आस्रवपूर्वक बन्ध होता है। सिद्धोंमें करुणा नहीं है, करुणा तो स्नेहप्रमादकी पर्याय है। रागभावोंसे सर्वथा रीते हो रहे मुक्त जीवोंमें स्नेहकी पर्याय हो रही करुणाका उसी प्रकार असंभव है जैसे कि भक्ति, स्पृहा, गृद्धि, आकांक्षा आदि नहीं संभवती हैं। अर्थात् सिद्धभगवान् अहिंसा, उत्तमक्षमामय हैं। उनमें भक्ति, करुणा, आदिक राग परिणतियां नहीं हैं। जो कि बन्धके कारण हैं। यदि किसी भी कारणके नहीं भी होनेपर अकस्मात् मुक्तके बन्ध होना मानोगे यानी विनाही कारणके मुक्तजीव कर्मबद्ध हो जावेगा। कहोगे तब तो कदाचित् भी मोक्ष नहीं हो सकनेका प्रसंग आ जावेगा। मोक्ष हो जानेके अव्यवहित उत्तर कालमें ही पुनः कर्मबन्ध बन बैठेगा। तब मोक्ष कहां हुई। यह दार्शनिकोंका नियम है कि "सदकारणवन्नित्यं" सत् होकर जो उत्पादक कारणोंसे रहित है वह नित्य है। गगनकुसुम, अश्वविषाण, या वैशेषिकके यहां माने गये। प्रागभाव इन असत् पदार्थोंमें अतिप्रसंगका निवारण करनेके लिये

नित्यके लक्षणमें सत् विशेषण दिया गया है। और घट, पट, आदिमें अतिव्याप्ति न होय अतः अकारणवत् विशेष्य है। अब यदि सत्पदार्थ माने गये बन्धके हो जानेका कोई कारण नहीं माना जावेगा विना ही कारण बन्ध होता रहेगा तो अहेतुक सद्भूत बन्धको नित्य होते रहनेकी अनिष्ट आपत्ति आ जावेगी। और ऐसा होनेसे बन्धका कभी विनाश नहीं हो पावेगा। तब तो किन्हीं भी जीवोंका मोक्ष होना असंभव हो जावेगा। किन्तु कालान्तर स्थायी मोक्ष तत्त्व हैं। अतः कारणोंके नष्ट हो जानेपर पुनः बन्धका नहीं होना प्रमाण प्रसिद्ध है।

मुक्तस्य स्थानवत्वात् पात इति चेन्न, अनास्रवत्वात् सास्रवस्य यानपात्रादेः पातदर्शनात्, गौरवाभावाच्च तस्य न पात स्तालफलादेः सतिगौरवे वृन्तसंयोगाभावात् पतनप्रसिद्धेः।

यहां किसी स्थूल बुद्धि दार्शनिकका आक्षेप है कि आप जैनोंने मुक्त जीवोंका जब विशेष स्थान माना है। अर्थात् तनुवातवलयमें सिद्धपरमेष्ठी विराजते हैं। जो कोई पदार्थ स्थिर रहता है वह आधारके नहीं होनेपर गिर पडता है। अतः मुक्त जीवका अधोदेशमें पतन हो जाना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि मुक्त जीवोंकी आत्मामें कोई द्रव्यकर्म या नोकर्मका आस्रव नहीं हो रहा है। नावमें छेद हो जानेपर छेद द्वारा पानीका आस्रव होते रहनेसे नाव जलमग्न हो जाती है, मुख द्वारा अन्न, जलका आस्रव होते रहनेसे उदर स्थित मल मलाशयमें गिरता है, पर्वतीय पिछले जलका धकापेल आगमन होते रहनेसे अगिला जल नीचे गिर पडता है। यों आस्रव सहित हो रहे नाव आदिका पात देखा जाता है। मुक्त जीवोंके आस्रवही नहीं है। " कारणाभावे कार्याभावः " एक बात यह भी है कि भारी पदार्थ नीचे गिरता है मुक्त जीवोंमें गौरव यानी भारीपन नहीं है जो कि पुद्गल स्कन्धोंमें ही पाया जाता है। देखिये, तालफल, सेव, नारियल आदिका गौरव होते सन्तेही फलके डांठल और शाखाके संयोगका अभाव हो जानेसे पात हो जाना प्रसिद्ध हो रहा है। " वृन्तं कुसुमबन्धनम् "। उछाली गई गेंद भारी होनेसे नीचे गिर पडती है। अतः मुक्त जीवोंमें भारीपन नहीं होनेसे उनका पतन नहीं होने पाता है। केवल अवस्थान होने मात्रसेही किसीका पात नहीं हो जाता है। अन्यथा वायु, सूर्य आदि सभी पदार्थोंका पतन हो जायगा जो कि किसीको भी इष्ट नहीं है।

ननु महापरिमाणानामल्पोऽस्याधारे मोक्षक्षेत्रे परस्परोपरोध इति चेन्न, अवगाहशक्तियोगात् नानाप्रदीपमणिप्रकाशादिवत् तत एव जन्ममरणद्वन्द्वोपनिपात व्याबाधाविरहात् परमसुखिनः । तत्सुखस्य नास्त्युपमानमाकाशपरिमाणवत् ।

पुनः कोई शंका उठाता है कि सिद्ध परमेष्ठी अनन्तानन्त हैं । महापरिमाणवाले सिद्धोंका अत्यन्त छोटे पैंतालीस लाख योजन प्रमाण आधारभूत सिद्ध क्षत्रमें अवगाह माना जायगा । तो परस्पर अवरोध यानी रुक जाना, धक्का पेल होना, घिचपिच संकीर्ण होना आ रहे अन्य सिद्धोंको स्थान न मिल सकना, हो जायगा । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि अमूर्त सिद्धोंमें अवगाह शक्तिका योग हो रहा है । जैसे कि अनेक दीपक, मणि, टौर्च, अग्नि आदिके प्रकाश, प्रताप, उद्योत, उष्णता आदिक एक ही घर या डेरेमें उपरोध किये विना समा जाते हैं । सिद्ध भगवान् तो अमूर्त हैं, बहुतसे मूर्त बादर पुद्गलोंका भी परस्पर एक क्षेत्रमें अवगाह हो जाता है । दूधमें थोडा बूरा समा जाता है, ऊंटनीके दूधमें मधु वहीं समा जाता है, ऊपर आकाशमें वायु, बिजली, मेघ, धुआं सुगन्ध, दुर्गन्ध, स्कन्ध आदिक अनेक पदार्थ भरे पडे हैं । यों मूर्त स्थूलोंकी जब यह दशा है । तो सूक्ष्म पुद्गल या अमूर्त पदार्थ धर्म, अधर्म आदि तो बडी निराकुलतासे एक स्थान पर ठहर जा सकते हैं । एक सिद्ध भगवान्के स्थानपर अनन्तानन्त सिद्ध विराजमान हैं । क्योंकि वे अवगाहनशक्तिवाले अमूर्त परमात्मा पदार्थ हैं । तिस ही कारणसे जन्म लेना, मरना, आकुलता, झगडे, टन्टोंका ऊपर पडना, बहुत बाधायें होना, इनका विरह हो जानेसे वे मुक्त जीव परमसुखी हैं । आयुष्यकर्मके अभावसे अवगाहगुण और वेदनीय कर्मके अभावसे अव्याबाधगुण तथा नामकर्मका ध्वन्स कर देनेसे उनके अमूर्तत्व गुण प्रकट हो गये हैं । विशेषरूपेण सभी आबाधाओंके अभावको निमित्त पाकर हुआ सिद्धोंके अनन्त समीचीन सुख हैं । सिद्धोंके उस परम सुखका दृष्टान्त देने योग्य कोई उपमान नहीं है । जैसे कि आकाश परिमाणकी उपमा रखनेवाला कोई नहीं है ।

मुक्तानामनाकारत्वादभाव इति चेन्नातीतानन्तर शरीराकारानुविधायित्वात् गतसिक्थकमूषागर्भवत् । मुक्तानामशरीरत्वे तदभावाद्विसर्पणप्रसंग इति चेन्न, कारणाभावात् । कुतः कारणात् संहरणविसर्पणे संसारिणः स्यातामिति चेत्, नामकर्मसंबधात् संहरणविसर्पणधर्मत्वं प्रदीपप्रकाशवत् ।

यहां कोई आक्षेप कर रहा है कि मुक्तजीव अमूर्त हैं। ऐसी दशामें उनका लम्बाई चौडाईवाला या रूप, रसवाला कोई आकार नहीं होनेसे मुक्तोंका अभाव हो जावेगा। जैसे कि कोई आकार न होनेसे जगत्में अश्वविषाण नहीं हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो ठीक नहीं है ! क्योंकि अव्यवहित व्यतीत हो चुके शरीरके आकारका अनुकूल विधान करनेवाली मुक्त आत्मायें हैं। जिस सांचेके गर्भमेंसे मौम निकाल दिया गया है, उस आकाशका वही आकार पीछे बना रहता है। "मौम गयो गलि मूष मझार रह्यो तहां व्योमतदाकृतिधारी" उसी प्रकार मुक्तके आत्माकी लम्बाई, चौडाई, मोटाई, स्वरूप आकृति तो पूर्वशरीर अनुसार है। "किं चूणा चरमदेहदो सिद्धो" स्वास, उश्वासके लेनेसे जीवित शरीर कुछ बढ जाता है। मुक्त जीवके स्वास उस्वासको निमित्त पाकर आत्म प्रदेशोंका बढ जाना नहीं है। तथा मुख प्रदेश, उदराशय, पोली नसें इनके भर जानेसे आत्मप्रदेश कुछ ठस जाते हैं। यहां कोई कटाक्ष कर रहा है कि आत्माके प्रदेश गृहीत शरीर अनुसार घटते बढते रहते हैं। मुक्तजीवोंके शरीर तो नहीं है। ऐसी दशामें उस शरीरका अभाव हो जानेसे मुक्त आत्माओंके लोक बराबर फैल जानेका प्रसंग आता है। जब कि आप जैनोंने एक जीवको प्रदेश लोकाकाशके समान माना है। "असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्" ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि कारणका अभाव है। यहां, कोई प्रश्न उठाता है कि संसारी जीवके किस कारणसे संकोच विस्तार हुआ करते हैं ? जो कि कारण मुक्तोंके नहीं हैं, बताओ ? यों पूछनेपर तो आचार्य कह रहे हैं कि नामकर्मके सम्बन्धसे संसारी जीवका संकोच विस्तार धर्मोंसे सहितपना है। जैसे कि प्रदीपका प्रकाश संकुचता फैलता है। अर्थात् प्रदीपका लम्बा, चौडा प्रकाश नियत परिमाणको ले रहा सन्ता भोलुआ, मौनि, डेरा आदि द्रव्योंसे रुक जानेपर छोटा बडा हो जाता है। उसी प्रकार नामकर्मके सम्बन्धसे जीवका परिमाण छोटा बडा शरीरावच्छिन्न होकर परिमित है। नामकर्मका अभाव हो जानेसे मुक्तजीवके संकोच विस्तार कुछ हो नहीं पाता है। अन्तिमशरीर अनुसार कुछ घटकर उतनाही बना रहता है।

नात्मनः संहरणविसर्पणवत्वे साध्ये प्रदीपो दृष्टान्तः श्रेयान् मूर्ति मद्द्रव्यर्यादिति चेन्न, उभयलक्षणप्राप्तत्वात्। दृष्टान्तस्य हि लक्षणं साध्यधर्माधिकरणत्वं साधनधर्माधिकरणत्वं च। तत्र संहरणविसर्पणधर्मकत्वस्य साध्यस्याधिष्ठानपरिमाणानुविधायित्वस्य

साधनस्य च प्रदीपे सद्भावात् स दृष्टान्तः स्यादेव जीवस्य चामूर्तमूर्तत्वोभय लक्षणयुक्तत्वात् न मूर्तिमद्वैधर्म्यमस्ति यतोऽयं दृष्टान्तो न स्यात्। "बन्धं प्रत्येकत्वं लक्षणतो भवति तस्य नानात्वं, तस्मादमूर्तिभावो नैकांताद्भवति जीवस्य।" इति रचनात् कथंचिन्मूर्तिमत्वस्यापि प्रसिद्धेः। नामकर्मसंबन्धप्रसंगः प्रदीपस्येति चेन्न, तस्य दृष्टान्तत्वेनाविवक्षितत्वात् साधन धर्मत्वानभिप्रायात् स्वाधिष्ठानपरिमाणानुविधायित्वस्य च साधनधर्मस्य तत्र भावात् शरीरं हि जीवस्याधिष्ठानं प्रदीपस्य तु गृहं तत्परिमाणानुविधानमुभयोरस्तीति नोपालंभः। शरीरपरिमाणानुविधायित्वं साधनं प्रदीपे तस्या सत्वात्। नापि गृहपरिमाणानुविधायित्वं तस्यात्मन्यभावात् तत इदमुच्यते-संसारी जीवः प्रदेशसंहरणविसर्पण धर्मकः स्वाधिष्ठानपरिमाणानुविधायित्वात् प्रदीपप्रकाशवत्, नहि मुक्तात्मा स्वाधिष्ठानपरिमाणानुविधायी तस्याशरीराधिष्ठानस्याभावात्। पूर्वानन्तरशरीरपरिमाणं तु यदनुकृतं तत्परित्यागकारणस्य नामकर्मसंबंधिनिबन्धनशरीरान्तरस्याभावान्न विसर्पणं मुक्तस्य यतो लोकाकाशपरिमाणत्वापत्तिः।

यहां कोई आक्षेप करता है कि आत्माके संकोच विस्तारसहितपना साधनेमें दीपक दृष्टान्त देना श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि आत्माका मूर्तिमान्के साथ विलक्षण धर्मसहितपना हो रहा है। प्रदीप मूर्तिमान् है। अमूर्ति आत्मा उससे विलक्षण हैं। साधर्म्य रखनेवाला पदार्थ दृष्टान्त हो सकता है, विधर्मा नहीं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि मूर्त और अमूर्त दोनों लक्षणोंसे प्राप्त हो रहा आत्मा है। शुद्ध उपयोग लक्षणकी अपेक्षा आत्मा अमूर्त है। और कर्म नोकर्मके बन्ध परिणामकी अपेक्षा आत्मा मूर्त है। साध्यधर्मका अधिकरणपना और साधनधर्मका अधिकरणपना दृष्टान्तका स्वरूप है। उनमें संकोच विस्तार धर्मोंसे सहितपने साध्यका और अधिष्ठानके परिमाणका अनुविधान करना साधनका प्रदीपमें सद्भाव है। अतः वह दीपक दृष्टान्त हो हो जायगा। जीवके नयविवक्षा अनुसार अमूर्तपन और मूर्तपन दोनों लक्षणोंका योग है। इस कारण मूर्तिमान्के साथ विधर्मापन नहीं है जिससे कि मूर्त जीवका मूर्त दीपक दृष्टान्त नहीं हो पाता, अर्थात् साधर्म्य होनेसें दीपक दृष्टान्त समुचित है। सिद्धान्त ग्रन्थोंमें इस प्रकार वचन है कि जीव और पुद्गलका बन्धके प्रति एकत्व हो रहा है। और अपने अपने लक्षणोंसे उनका नानात्व नियत है। तिस कारण एकान्त रूपसे जीवका अमूर्त होना नहीं है। यों बन्धकी अपेक्षा जीवका कथंचित् मूर्तिसहितपना

भी प्रसिद्ध हो रहा है। यहां कोई स्थूल बुद्धि श्रोता आक्षेप उठाता है कि मूर्त आत्माके नामकर्मका बन्ध हो रहा है। उसीके समान प्रदीपके नामकर्मके सम्बन्ध हो जानेका प्रसंग आवेगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि उसकी दृष्टान्तपनेसे विवक्षा नहीं की गई है। कर्मबन्धनकी अपेक्षा हेतुधर्मपनका हमारा अभिप्राय नहीं है। अपने आधार हो रहे अधिष्ठानके परिमाणका अनुविधान करना केवल इतनेही साधन धर्मका कुछ दीपकमें सद्भाव है। सभी दार्ष्टान्तिके धर्म दृष्टान्तमें नहीं मिलते हैं। अन्यथा वह दृष्टान्तही नहीं रहेगा दार्ष्टान्त बन बैठेगा। प्रकरणमें जीवका अधिष्ठान नियमसे शरीर है। और दीपकका आश्रय तो घर है, जीव और प्रदीप दोनोंमें उन अपने आधारोंके परिमाणका अनुविधान करना पाया जाता है। इस कारण हमारे ऊपर कोई उलाहना नहीं आता है। जीवमें अपनें शरीरके परिमाणका अनुविधान करना साधन है। उसका प्रदीपमें असद्भाव है, और प्रदीपमें अपने आधार हो रहे घरके परिमाणका अनुविधान है उसका जीवमें भी अभाव है। तिस कारण अनुमान वाक्य बनाकर यह कह दिया जाता है कि संसारी जीव (पक्ष) आत्मप्रदेशोंके संकोचविस्तार धर्मोंको लिये हुये है। (साध्य) अपने अधिष्ठानके परिमाणका अनुविधान करनेवाला होनेसे (हेतु) प्रदीपके प्रकाशसमान (अन्वयदृष्टान्त) किन्तु तथा मुक्त आत्मा (पक्ष) अपने अधिष्ठानके परिमाणका अनुविधान करनेवाला नहीं है। (साध्यदल) क्योंकि वह अरीर है, उसके अधिष्ठानका अभाव है। (हेतु) मुक्त आत्माने जो अव्यवहित पूर्ववर्ती शरीरके परिमाणका अनुकरण कर लिया है। वह तो अन्तिम शरीर उपाधिके हट जानेसे स्वाभाविक हो गया है। यदि नामकर्म पुनः कोई दूसरा शरीर रचा जाता तो उस आकारको मुक्त आत्मा अवश्य छोड देता नामकर्म सम्बन्धका निमित्त पाकर शरीरान्तरकी रचना होना उस पूर्वाकारके परित्यागका कारण है। मुक्त जीवके अब शरीर रचनाका अभाव है। अतः मुक्त आत्माका प्रदेश विस्तार हो जाना नहीं होता है। जिससे कि लोकाकाश बरोबर परिमाण हो जानेकी आपत्ति प्राप्त होती।

ननु संहरणविसर्पणस्वभावस्यात्मनः प्रदीपवदेवानित्यत्वप्रसंग इति चेन्न तावन्मात्रस्य विवक्षितत्वात् चन्द्रमुखीवत्। संहरणविसर्पणस्वभावत्वमात्रं विवक्षितं चन्द्रमुखीप्रियदर्शनवत्। सर्वसाधर्म्ये दृष्टान्तस्यापन्हवात्।

यहां कोई अनुनयपूर्वक आक्षेप करता है कि प्रदीप प्रकाशके समान आत्माका यदि संकुचित होना, फैलना स्वभाव माना जायगा। तब तो प्रदीपके समानही आत्माको भी अनित्य हो जानेका प्रसंग लागू होगा, आचार्य महाराज कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि हमको प्रदीपका केवल उतनाही धर्म विवक्षा प्राप्त हो चुका है। जैसे कि किसी सुन्दर मुखवाली स्त्रीको चन्द्रमुखी कह दिया जाता है। " चन्द्रवन्मुखं यस्याः सा चन्द्रमुखी " जिसका मुख चन्द्रमाके समान है। वह चन्द्रमुखी है। यहां केवल चन्द्रमाका दर्शन जैसे प्रिय है। उसी प्रकार स्त्रीका मुखदर्शन भी प्यारा है। यहां मात्र चन्द्रका प्रियदर्शन होना गुणही स्त्रीमुखमें विवक्षित कर स्त्रीमुखकी चन्द्रमाकी उपमा दे दी गई है। यों तो चन्द्रमामें आकाश प्रलम्बमानत्व, सकलंकत्व, कुमुदबन्धुत्व, रत्नमयत्व आदि अनेक धर्म हैं। जो कि स्त्रीमुखमें नहीं पाये जाते हैं, एवं स्त्रीमुखमें भी चर्म वेष्टितत्व, नेत्रकृष्णत्व, भक्षकत्व, कफवत्त्व, शब्दोत्पादकत्व, अस्थिमांसवत्त्व, उच्चारकत्व आदि अनेक धर्म पाये जाते हैं जो कि ज्योतिष्क विमान हो रहे चन्द्रमामें नहीं पाये जाते हैं। अतः प्रदीप दृष्टान्त अनुसार आत्मामें प्रदीपका केवल संकोच विकासशालित्व स्वभाव वक्ताको अभीष्ट हो रहा है। जैसे कि चन्द्रमुखी कहनेपर चन्द्रमाका प्रियदर्शन स्वभावही स्त्रीमुखमें उपमाताको इष्ट हो रहा है। प्रदीपके अन्य अनित्यत्व, प्रतापकत्व, धूमोत्पादकत्व, अग्निकायिकजीव धारित्व, पौद्गलिकत्व, घृत,तैल,विद्युत्, गैस जन्यत्व आदिक धर्म आत्मामें नहीं है। तथैव आत्माके चैतन्य, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिक धर्म प्रदीपमे विद्यमान नहीं हैं। सभी प्रकारोंसे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिका समानधर्म सहितपना माना जावेगा तो दृष्टान्तकाही अपन्हव हो जायगा। दार्ष्टान्त स्वयं दृष्टान्त बन बैठेगा। या दृष्टान्तही दार्ष्टान्त हो जायगा, ऐसी दशामें जगत्से सभी दृष्टान्त चुरा लिये जायगे। अथवा सर्व दृष्टांत छिप जायंगे।

सर्वथाऽभावो मोक्षः प्रदीपवदिति चेन्न, साध्यत्वात्। प्रदीपेपि निरन्वयविनाशस्याप्रतीते स्तस्य तमः पुद्गलभावेनोत्पादाद्दीपपुद्गलभावेन विनाशात्पुद्गलजात्या ध्रुवत्वात्। दृष्टत्वाच्च निगलादिवियोगे देवदत्ताद्यवस्थानवत्। न सर्वथा मोक्षावस्थायामभावः।

यहां कोई बौद्धदार्शनिक कटाक्ष करता है कि जैसे बत्ती, तैल, अग्नि, पात्रके, मिल जानेपर दीपक निरन्तर प्रवर्तता रहता है। और उनका क्षय हो जानेपर किसी

दिशा विदिशाको नहीं जाता हुआ उसी स्थलपर अत्यन्त विनाशको प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार कारणवश स्कन्धकी सन्तान प्रतिसन्तान रूपसे चला आ रहा यह विज्ञान स्कन्धस्वरूप जीव पदार्थ बिचारा क्लेशका क्षय हो जानेपर किसी दिशाविदिशाको नहीं जाकर जहां था वहां का वहीं प्रलयको प्राप्त हो जाता है। यही मोक्ष है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि आपका दिया हुआ दृष्टान्त स्वयं साध्य कोटिमें पडा हुआ है। प्रदीपमें भी अन्वय सन्तान नहीं रहकर निरन्वय नष्ट हो जानेकी प्रतीति नहीं हो रही है। दीपक बुझ जानेपर अन्धकार या काजल स्वरूप पुद्‌गल पर्याय हो करके उस दीपकका उत्पाद हो रहा है। और पुद्‌गलकी पर्याय हो रहे दीपक रूपसे उसका नाश हो गया है। तथा पुद्‌गल जातिस्वरूपसे ध्रुवता है। " न सर्वथा नित्य मुदेत्यपैति, न च क्रियाकारक मत्रयुक्तं, नैवासतो जन्मसतो न नाशो दीपस्तमः पुद्‌गलभावतोऽस्ति " (श्री समन्तभद्र स्वामी) जब दृष्टान्त दिये जा रहे दीपककाही अत्यन्त विनाश नहीं हुआ है। तद्‌वत आत्माका भी मोक्ष अवस्थामें अभाव नहीं होता है। प्रत्येक द्रव्यमें अनादिसे अनन्तकालतक उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप परिणाम होते रहते हैं। एक बात यह भी है कि जैसे सांकल, बेडी, रस्सी, पींजरा आदिका वियोग हो जानेपर देवदत्त, कैदी, बैल, पक्षी आदिका अवस्थान रहता है। यानी उनका सद्‌भावना बना रहता है। यों देखा जाता है, अतः इसी प्रकार आत्माके कर्मबन्धका क्षय हो जानेपर आत्माके सद्‌भावको छिपा नहीं सकते है। अर्थात्–आत्माका समूलचूल मटियामेंट नहीं हो जाता है। यों मोक्ष अवस्थामें सभी प्रकारोंसे अभाव हो जाना सिद्ध नहीं हो सकता है।

यत्रैव कर्मविप्रमोक्षस्तत्रैवावस्थानमिति चेन्न, साध्यत्वात् यो यत्र विप्रमुक्तः स तत्रैवावतिष्ठत इति । सिद्धं, देशान्तरगतिदर्शनात् निगलादिविनिर्मुक्तस्य । गतिकारणसद्‌भावाद्देशान्तरगतिदर्शनमिति चेत्, निःशेषकर्मबन्धन विप्रमुक्तस्यापि गतिनिमित्तस्योर्ध्वव्रज्यास्वभावस्य भावात् देशान्तरगतिरस्तु । तदेवम् ।

यहां कोई अक्रियावादी दार्शनिक कह रहा है कि जहां ही स्थलपर कर्मोंका विप्रमोक्ष हुआ है। वहां ही स्थानपर आत्माकी अवस्थिति हो जायगी क्योंकि गतिके कारण नोई कर्म नहीं रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि तुम्हारा आपादन प्रमाण निर्णीत नहीं हो सका है। " जो जहां कोई छूटता है, वह वहां ही

निश्चल होकर बैठा रहता है।" यह बात साधने योग्य है, जब कि गायु, वायु, कैदी छूटनेके स्थानसे अन्यत्र जाते हुये भी देखे जाते हैं। हां यह बात सिद्ध हो चुकी हैं कि सांकल आदिसे विशेषरूपेण निर्मुक्त हो गये। भैंस, हाथी आदिका अन्य देशोंमे गमन होना देखा जा रहा है। यदि इसपर कोई यों कहे कि भैंस आदिकी गतिके कारण हो रहे उत्साह, वेग, इच्छा, शारीरिक पुरुषार्थ आदि कारणोंका सद्भाव है। अतः उनको देशांतरमें गमन हो जाना दीख रहा है। यों कहनेपर तो हम भी बडी प्रसन्नताके साथ समाधान करेंगे कि निःशेष कर्मबन्धनोंसे विप्रमुक्त हो रहे आत्माके भी ऊर्ध्वगमनके निमित्तकारण हो रहे ऊर्ध्वगति स्वभावका सद्भाव है। अतः अन्यदेशसंबंधिनी गति हो जाओ। मुक्त आत्मामें वीर्य पुरुषार्थ, ऊर्ध्वगमनस्वभाव, चैतन्य सत्ता, अगुरुलघु, सम्यक्त्व, अनन्तसुख आदि अनन्तानन्त गुण और स्वभाव विद्यमान रहते हैं। द्रव्य या शुद्धद्रव्यकी पर्याय मुक्त आत्मा है। कोई मात्र अविभाग प्रतिच्छेद या स्वभावही तो मुक्त आत्मा नहीं है। तिस कारण इस प्रकार उक्त आक्षेपोंका बढिया समाधान हो चुकनेपर सूत्रोक्त रहस्य जो सिद्ध हुआ है। उसको अग्रिम वार्त्तिकों द्वारा सुनो समझो।

मोक्षः केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसंक्षयात्।
सिद्धत्वसंक्षयान्नेति त्वन्यत्रेत्यादिनाब्रवीत्॥ १॥
एतैः सह विरोधस्याभावान्मोक्षस्य सर्वथा।
स्वयं सव्यपदेशैश्च व्यपदेशस्तथात्वतः॥ २॥
सिद्धत्वं केवलादिभ्यो विशिष्टं तेषु सत्स्वपि,
कर्मोदयनिमित्तस्या सिद्धत्वस्य क्वचिदगतेः॥ ३॥

औपशमिक सम्यक्त्व, भव्यत्व, मनःपर्ययज्ञान, मनुष्यगति आदि भावोंका क्षय हो जानेसे जैसे मोक्ष होता है। उस प्रकार केवल सम्यक्त, या केवलज्ञान अथवा क्षायिक दर्शन आदि भावोंका भी भले प्रकार क्षय हो जानेसे मोक्ष होती है ऐसा नहीं है। एवं कर्मोदय जन्य असिद्धत्व भावका विनाश होनेपर उपज गये सिद्धत्व भावका समीचीन क्षय हो जानेसे भी मुक्ति नहीं हो पाती है इस सिद्धान्तको तो "अन्यत्र केवलज्ञानदर्शन" इत्यादि सूत्र करके उमास्वामी महाराज कह चुके हैं। अर्थात् अन्य भावोंके

समान मोक्षमें क्षायिक सम्यग्दर्शन आदि भावोंका नाश नहीं हो पाता है। जो कि सूत्रकारने इस सूत्रसे कह दिया है। इन क्षायिक सम्यग्दर्शन आदि भावोंके साथ मोक्षका सभी प्रकारोंसे विरोधका अभाव है। अर्थात् औपशमिक, क्षायोपशमिक भावोंके साथ जैसे मोक्षका विरोध है। वैसा क्षायिक भावोंके साथ विरोध नहीं है। जैन-सिद्धान्त अनुसार मोक्ष अभावस्वरूप नहीं है। किन्तु विभावपरिणतिका क्षय होकर गुणोंका स्वाभाविक परिणमन होते रहना मोक्ष है। मोक्षमें क्या सर्वत्र सर्वदाही द्रव्योंमें अनेक नहीं कहने योग्य अनिर्वचनीय गुण पाये जाते हैं। फिर भी शिष्योंको प्रतिपत्ति करानेके लिये कतिपय शद्बों द्वारा निरूपे जा रहे व्यपदेश सहित भावों करके द्रव्योंकी प्रतिपत्ति कराई जाती है। मोक्षमें परिपूर्ण स्वानुभव है, विश्वपदार्थोंका ज्ञान है। सम्पूर्ण सत्तालोचन है, स्वनिष्ठा है, तथा सिद्धत्व या कृतकृत्यपना भरपूर हो रहा है। इस कारण स्वयं व्यपदेश यानी शद्बप्रयोगसहित हो रहे सम्यग्दर्शन आदि करके तिस प्रकार मोक्षका निरूपण हो रहा समझो। यदि यहां कोई यों पूछें, कि क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिकज्ञान आदिभावोंसे सिद्धत्व भावमें क्या विशिष्टता है, जो केवलज्ञान आदिको प्राप्त हो चुका है। वह सिद्ध भी हो चुका है समझो, फिर सिद्धत्व भावका पृथक् निरूपण क्यों किया गया है? इसका समाधान ग्रन्थकार पहिलेसेही करें देते हैं कि केवल आदिसे सिद्धत्वभाव विलक्षण है। क्योंकि उन केवलज्ञान आदिके होते सन्ते भी किसी भी कर्मके उदयको निमित्त पाकर हुये असिद्धपनकी कहीं कहीं ज्ञप्ति हो रहीं है। एक सौ अडतालीस कर्मोंमेंसे चाहे किसी भी कर्मका उदय बना रहनेसे जीव सिद्ध नहीं हो पाता है। चौथेसे लेकर सातवें तक किसी भी गुणस्थानमें क्षायिक सम्यक्त्व उपजकर ऊपर गुणस्थानोंमें भी पाया जाता है। नाना क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवोंके चौथे गुणस्थानमें एकसौ इकतालीस प्रकृतियोंकी सत्ता है। यथायोग्य अनेक प्रकृतियोंका उदय है। तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों तेरहवें गुणस्थानोंमें उपज जाते हैं। वहां पिचासी प्रकृतियोंका सद्भाव है, चौदहवें गुणस्थानके उपान्त्य-समय और अन्त्यसमयमें बहत्तर और तेरह कर्मोंकी सत्ता है। अभी तक सिद्धत्व भाव नहीं हो पाया है। अत: ग्रन्थकार लिख रहे है कि वह सिद्धत्वभाव उन केवल सम्यक्त्व आदि परिणतियोंसे विभिन्नही है। कारण कि कहीं कहीं तेरहवें या चौदहवें गुण-स्थानोंमें तीन अन्तर्मुहूर्तोंसे प्रारम्भ कर करोडों वर्षों तक केवलज्ञान आदिके होते हुये भी असिद्धत्व भावकी प्राप्ति हो रही है।

ततः सकलकल्मषसन्ततिसंसक्तिविनिर्मुक्तिरेव स्वात्मेति समाचक्षते युक्ति-शास्त्राविरुद्धवचसः सूरयो भगवन्तस्तस्य स्वात्मनः प्राप्तिः परा निवृत्तिरिति निःसंदिग्धं, तेन स्वविशेषगुणव्यावृत्तिर्मुक्तिश्चैतन्यमात्रस्थितिर्वा अन्यथा वा वदंतोपाकृताः, प्रमाण-व्याहतत्वादिति निवेदयति; —

तिसही कारण पूर्व आचार्य महाराज यों भले प्रकार आम्नायपूर्वक बखानते आ रहे हैं कि सम्पूर्ण पापोंकी संततिके संसर्गका विशेषरूपेण सर्वांग मोक्ष हो जानाही आत्माका निजस्वरूप है। अर्थात् किसी समयके भी कर्मसमुदायको जीव अधिकसे अधिक सत्तर कोटाकोटी सागर कालमें छुडा देगा किन्तु उनके उदय अनुसार कषाय-वश हो रही पापोंकी सन्ततिसे मोक्ष पा जाना अतीव दुर्लभ है। कषायोंके संस्कारवश अनन्तानन्त वर्षोंसे जीवके कर्मबन्ध सन्तति लगी चली आ रही है। कर्मोंकी स्थिति सत्तर कोटाकोटी सागर, चालीस कोटाकोटी सागर आदि रूप करके व्यवस्थित है। किन्तु कर्म सन्तानका कोई स्थितिबन्ध नियत नहीं है। "अन्तोमुहुत्त पद्धवं छम्मासं संख संख णांतभवं" यह सब एक उदयापन्न कर्मव्यक्तिका वासनाकाल है। सन्तानका नहीं अनादिसे अनन्त कालतक भी अभव्योंकी कल्मषसन्तति पायी जाती है। गेहूं, चना, व्यक्तियोंकी उम्र दश, बीस, पचास, सौ वर्ष नियत हो सकती है। परन्तु गेहूं, चनोंकी बीजांकुर सन्ततिकी कालमर्यादा कोई नियत नहीं है। किसी बीज व्यक्तिकी अनादि-सान्त और अन्य बीजोंकी अनादिसे अनन्तकाल तक सन्तति चली जाती है। मुमुक्षु महापुरुषार्थी जीव क्षपक श्रेणीपर चढकर परले दो शुक्लध्यानों द्वारा सम्पूर्ण पापों और पाप सन्ततियोंका परिक्षय कर देता है। वही शुद्धात्माका सम्यक्त्व, ज्ञानः दर्शन, सिद्धत्व, सत्ता, आत्मक स्वरूप है। युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्ध वचनोंको कहनेवाले आचार्य भगवान् उसी स्वामीकी प्राप्तिको कर्मोंका उत्कृष्टतया निवृत्त हो जाना मानते हैं। निर्वृत्ति पाठ अच्छा जचता है अथवा स्वात्माकी प्राप्तिही उत्कृष्टमोक्ष (पर निःश्रेयस) स्वीकार करते हैं। यह सिद्धान्त सन्देहरहित होकर सिद्ध किया जाता है। ग्रन्थके आदिमें दो सौ पचास वीं "तत्र प्रायः परिक्षीणकल्मषस्यास्य धीमतः, स्वात्मोपलब्धिरूपेस्मिन् मोक्षे संप्रतिपत्तितः" इस वार्त्तिक द्वारा ग्रन्थकारने जो कहा था। उसी रहस्यको पुष्ट कर दिया गया है। तिस कारण अपनी आत्माके बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और संस्कार इन नौ विशेष गुणोंकी व्यावृत्ति

ो जाना मोक्ष है। ऐसा वैशेषिक मान रहे हैं। अथवा प्रकृतिका संसर्ग छूटकर शुद्ध चैतन्य मात्रमें आत्माकी स्थिति हो जाना मोक्ष है। ऐसा सांख्य मान रहे हैं, अद्वैत परमानन्दमें निमग्न हो जाना परनिःश्रेयस है। ऐसा ब्रम्हाद्वैतवादी मान रहे हैं। अथवा अन्य प्रकारोंसे बौद्ध, मीमांसक, शाक्त योग आदि दार्शनिक मोक्षके स्वरूपको बोल रहे हैं। यों मोक्षके सूत्रोक्त स्वरूपकी युक्तिसहित सिद्धि हो जानेपर उक्त वैशेषिक आदि दार्शनिकोंके अभीष्ट मोक्षवादका निराकरण कर दिया गया समझा जाय क्योंकि उनका मुक्तिवाद प्रमाणोंसे व्याघातको प्राप्त हो रहा है। इसी बातका ग्रन्थकार " शार्दूलविक्रीडित " छन्दः में कही गई अगली वार्तिक द्वारा निवेदन कर रहे हैं।

स्वात्मांतर्बहिरंगकल्मषतति व्यासक्तिनिर्मुक्तता,
जीवस्येति वदंति शुद्धधिषणा युक्त्यागमान्वेषिणः।
प्राप्तिस्तस्यतु निर्वृतिः परतरा नाभावमात्रं न वा,
विश्लेषो गुणतोऽन्यथा स्थितिरपि व्याहन्यमानत्वतः॥ ४॥

जीवतत्त्वकी शुद्ध आत्मा यही है कि अन्तरंग और बहिरंग पापोंकी लडी या सन्तानके विशेषतया चारों ओरसे बन्धजानेका अनन्तकाल तकके लिये मोक्ष हो जाय, हिताहित विचारिणी शुद्ध बुद्धिको धारनेवाले तथा युक्ति और आगमका अन्वेषण कर रहे पुरातन आचार्य ऐसा अक्षुण्ण सिद्धान्त कह रहे हैं। अत्यन्त उत्कृष्टपर निःश्रेयस तो उस स्वात्माकी प्राप्ति हो जाना है। बौद्धोंके मन्तव्य अनुसार प्रदीप निर्वाणवत् केवल अभाव हो जाना मोक्ष नहीं है। और वैशेषिकोंके विचार अनुसार आत्माका विशेष गुणोंसे विश्लेष (वियोग) हो जाना भी परमोक्ष नहीं है। अथवा अन्य प्रकारोंके चैतन्य मात्र स्थिति होना या सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, सारूप्य आदिक भी मोक्ष नहीं हैं। क्योंकि उक्त अलीक सिद्धान्तोंमें व्याघात, पूर्वापर विरोध, गुणीका अभाव हो जाना आदि अनेक दोषों द्वारा बाधायें उपस्थित हो रही हैं जिनको कि पहिले प्रकरणोंमें दिखाया जा चुका है।

इति दशमाध्यायस्य प्रथममान्हिकम्।

यहां तक तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकार संज्ञक महान् ग्रन्थमें दशवें अध्यायका पहिला आन्हिक यानी प्रकरण समुदाय समाप्त हो चुका है।

कर्माष्टकप्रमोक्षणजाष्टगुणा अष्टमीधराधिष्ठाः,

सच्चित्क्षमादिरूपाः सिद्धाः पुरुषार्थिनोवदतु बोधिम् ॥ १ ॥

****

अगिले सूत्रका अवतरण यों है कि यहां कोई दार्शनिक कह सकता है कि यदि मोक्ष हो जानेपर कारण नहीं रहनेसे जीवका संकोच और विस्तार नहीं होता है। तब तो गतिके कारणोंका अभाव हो जानेसे मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन भी नहीं हो सकेगा। जैसे कि नीचे या तिरछा गमन नहीं हो रहा है। तिस कारण जिस स्थानपर जीव मुक्त हुआ है। वहां ही अनन्तकाल तक उसी आसनसे स्थित बना रहेगा। ऐसी अनिष्टापत्तिके प्रवर्त्तनेपर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्रका झटिति प्रतिपादन करते हैं।

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकांतात् ॥ ५ ॥

उस मोक्षके अव्यवहित उत्तर कालमें मुक्त जीव स्वभावसे लोकके अन्तपर्यन्त ऊपरको चला जाता है अर्थात् जीवका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है। अस्वाभाविक यहां वहां ले जानेका निमित्त कारण कर्मबन्ध था जब कर्मबन्धका परिपूर्णरूपेण अभाव हो गया तो अपनी वैस्रसिक परिणति अनुसार जीव ऊपरको चला जाता है। लोकान्तसे ऊपर गमनका सहकारी कारण धर्मद्रव्य नहीं है। अतः लोकान्ततक जाकर वहांही सिद्धक्षेत्रमें विराजमान हो जाता है।

तद्ग्रहणं मोक्षस्य प्रतिनिर्देशार्थं, आङभिविध्यर्थः। एतदेव समभिधत्ते।

" तत् " शद्ब पूर्वका परामर्शक होता है। इस सूत्रमें तत् पदका ग्रहण है जो कि कुछ व्यवहित पडे हुये मोक्षका प्रतिनिर्देश करनेके लिये है। तत्का अर्थ प्रधान भी होता है। यहां प्रकरणमें मोक्ष प्रधान है। अतः उसी प्रधानका प्रतिकृति कथन हो जाता है। " आलोकान्त " पदमें पडे हुये " आङ् " उपसर्गका अर्थ " अभिविधि " है। उच्चार्यमाण अर्थसे सहित अभिविधि होती है। अतः लोकका ऊपरला अन्तिमस्थान भी गृहीत हो जाता है। इसही मन्तव्यको ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकों द्वारा कह रहे हैं।

तच्छद्वादगृह्यते मोक्षः सूत्रेस्मिन्नान्यसंग्रहः,
सामर्थ्यादिति तस्यैवानन्तरं तदनंतरं ॥ १ ॥
गच्छतीति वचःशक्तेर्मुक्तिदेशे स्थितिच्छिदा,
ऊर्ध्वमित्यभिधानात्तु दिगन्तरगतिच्युतिः ॥ २ ॥
अलोकान्तादिति ध्वानान्ना लोकाकाशगामिता,
मुक्तश्चेति स्वयं पक्षनिर्देशः कृतमित्यपि ॥ ३ ॥

इस सूत्रमें उपात्त किये गयें तत् शद्वसे दशम अध्यायके द्वितीय सूत्रोक्त मोक्षका ग्रहण किया जाता है। अन्य केवलसम्यक्त्व आदिका समीचीनतया ग्रहण नहीं है। यह व्यवस्था कहे विनाही प्रकरण अनुसार सामर्थ्यसे प्राप्त हो जाती है। इस कारण उस मोक्षके झटिति उत्तरकालही तदनन्तरका अर्थ है। इस सूत्रमें " गच्छति " यह वचन कहा गया है। इस शद्वकी सामर्थ्यसे मुक्तिप्रदेश ढाई द्वीपमेंही जहां की तहां मुक्त जीवकी स्थिति बने रहनेका व्यवच्छेद कर दिया गया है। और सूत्रमें " ऊर्ध्व " इस प्रकार कथन कर देनेसे तो ऊपरसे अतिरिक्त अन्य दिशाओंमें मुक्त जीवोंकी गति हो जानेकी व्यावृत्ति हो जाती है। तथा " आलोकान्तात् " इस प्रकार इस पदका निरूपण कर देनेसे तो अलोकाकाशमें भी चले जानेकी टेव रखनेका निषेध हो जाता है। और गच्छति क्रियासे आक्षिप्यमाशा ' मुक्तः ' यह तो पक्षका निर्देश किया गया है। अर्थात् " मुक्तो जीवस्तदनन्तरमालोकान्तादूर्ध्वं गच्छति " इतना प्रतिज्ञावाक्य है। इसमें पडे हुये सभी पदोंकी इतर व्यावृत्ति करते हुये सफलता दिखा दी गई है। धर्मद्रव्य, और अधर्मद्रव्यका ऊपरला भाग तथा सभी अनन्तानन्त परमेष्ठियोंके शिरोभाव यानी मूड सम्बन्धी उपरिम आत्मप्रदेश तो अखण्ड आकाशके खण्डरूपेण कल्पित कर लिये गये तत्रस्थ अलोकाकाशके अधस्तन प्रदेशोंमें संस्पृष्ट हो रहे हैं।

हेतुनिर्देशस्तर्हि कर्तव्य इत्याह; —

विनीत शिष्य कह रहा है कि इस सूत्रानुसार कही गयी प्रतिज्ञाके हेतुका निर्देश तब तो करना चाहिये। हेतु प्रयोगके बिना कोरी प्रतिज्ञाका कोई परीक्षक आदर नहीं करता है। ऐसी जिज्ञासा उत्थित होनेपर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बंधच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥ ६ ॥

मुक्त जीव मोक्ष हो जानेके अव्यवहित उत्तर कालमें ऊपरको जाता है। (प्रतिज्ञा) पहिले संस्कृत कर दिये गये। ऊर्ध्वगमनका प्रयोग होनेसे (पहिला हेतु) लगे हुये कर्म, नोकर्म, परिग्रहोंका संगछूट जानेसे (दूसरा हेतु) बन्धका छेद हो जानेसे (तीसरा हेतु)। तिस प्रकार ऊर्ध्वगमन करना रूप स्वाभाविक परिणति होनेसे (चौथा हेतु)। इन चार हेतुओंसे पूर्व सूत्रोक्त प्रतिज्ञाको साध लिया जाय।

एतच्च हेतुचतुष्टयं कथं गमकमित्याह;—

ये चारों हेतु उक्त प्रतिज्ञाके किस प्रकार ज्ञप्ति करानेवाले हो सकते हैं ? सम्भव है, इनकी साध्यके साथ व्याप्ति नहीं घटित होय। ऐसी निर्णेतुं इच्छा प्रवर्तने-पर ग्रन्थकार अगिली वार्त्तिकको कह रहे हैं।

पूर्वेत्याद्येन वाक्येन प्रोक्तं हेतुचतुष्टयं,
साध्येन व्याप्तमुन्नेयमन्यथानुपपत्तितः ॥ १ ॥

" पूर्व प्रयोगात् " इत्यादि सूत्रवाक्य करके पूर्वप्रतिज्ञाके साधक चारों हेतु बहुत बढिया कहे जा चुके हैं जो कि हेतुकी प्राण हो रही अन्यथानुपपत्ति (अविना-भाव) से साध्य करके व्याप्त चारों हेतु हैं। यह बात विना कहेही ज्ञानलक्षण द्वारा समझ लेने योग्य है। अर्थात् इस सूत्रमें कहे गये चारों हेतु अपने ऊर्ध्वगमन साध्यके साथ व्याप्तिको रखते हैं। अतः निर्दोष हेतु अपने साध्यको अवश्य सिद्ध कर डालेंगे।

अत्रैव दृष्टान्त प्रतिपादनार्थमाह; —

इसही अर्थ निर्णयमें अन्वय व्याप्तिको धार रहे दृष्टान्तोंकी प्रतिपत्ति करा-नेके लिये सूत्रकार अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरंडबीजवदग्निशिखावच्च ॥ ७ ॥

वेगसहित घुमा दिये गये कुम्हारके चाक समान १ लगे हुये लेपको हटा चुकी तूम्बीके समान २ अण्डीके बीजसमान ३ और अग्नीकी शिखाके समान ४ पूर्वोक्त चारों अनुमानोंके ये चारों अन्वय दृष्टान्त हैं। अर्थात् " मुक्तो जीव ऊर्ध्वं गच्छति (प्रतिज्ञा) पूर्वप्रयोगात् (हेतु) आविद्धकुलालचक्रवत् (अन्वयदृष्टान्त) मुक्त जीव

ऊपरको चला जाता है। क्योंकि ऊपर जानेका पूर्वसेही प्रयोग लग रहा है। जैसे कि घुमा दिया गया चाक बिचारा दण्डके हट जानेपर भी पूर्व संस्कारवश गतिक्रिया करता है। १ " मुक्तो जीव ऊर्ध्वं गच्छति (प्रतिज्ञा) असंगत्वात् (हेतु) व्यपगतलेपालंबुवत् (अन्वय दृष्टान्त) मुक्त जीव ढाई द्वीपसे शीघ्र ऊपरको जाता है। क्योंकि उसक किसीका संसर्ग नहीं रहा है। जैसे कि जिस तूम्बीका संलग्न लेप दूर हो गया है। वह तूम्बी तहसे जलके ऊपर स्वभावतः आ जाती है २। मुक्तो जीवः (पक्ष) ऊर्ध्वं गच्छति (साध्य) बन्धच्छेदात् (हेतु) एरण्डबीजवत् (अन्वयदृष्टान्त) मुक्त जीव ऊपरको जाता है। क्योंकि उसके बन्धनोंका छेद हो गया है। जैसे कि अण्डीका बीज डोंडासे निकल कर प्रथमही ऊपरको जाता है। ऐंठपरी या अन्य भी कतिपय फलियोंमें प्रथमसे ही ऐंठका संस्कार रहता है। उनका बन्धन हटा देनेपर स्वभावतः वे सिकुड जाती हैं। संस्कार अनुसार इठ जाती हैं। आदि, अण्डीके बीजमें ऊपर जानेका संस्कार उत्पत्ति कालसेही प्रविष्ट हो रहा है ३। मोक्षानन्तरं जीवः ऊर्ध्वंगच्छति (प्रतिज्ञा) तथा-गतिपरिणामात् (हेतुः) अग्निशिखावत् (अन्वयदृष्टान्त) मोक्षके पश्चात् जीव ऊपरको जाता है। क्योंकि तिस प्रकार ऊर्ध्वगमन उसकी स्वाभाविक परिणति है। जैसे कि स्वतः स्वभाव अग्निकी शिखा ऊपरको जाती है ४। यों चारों पदार्थानुमानों द्वारा प्रतिवादीके सन्मुख सूत्रकार महाराजने मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन सिद्ध कर दिया है।

किमर्थमिदमुदाहरणचतुष्टयमुक्तमित्याह; —

ये चारोंही उदाहरण भला किस प्रयोजनके लिये सूत्रकार महोदयने कहे हैं ? इस प्रकार किसीका तर्क उपस्थित हो जानेपर श्री विद्यानन्द स्वामी उसके समाधानार्थ इस अग्रिम वार्तिकको कह रहे हैं।

आविद्धेत्यादिना दृष्टं सद्दृष्टांतचतुष्टयं,
बहिर्व्याप्तिरपीष्टेह साधनत्वप्रसिद्धये ॥ १ ॥

" आविद्धकुलाल " इत्यादि सूत्र करके चारों श्रेष्ठ दृष्टान्त दिखा दिये गये हैं। यहां अनुमानमें इष्ट साध्यके अविनाभावी हो रहे प्रकृत हेतुमें साधनपनेकी प्रसिद्धिके लिये बहिरंग व्याप्ति भी घटित हो रही है। भावार्थ-पक्षसे बाहर दृष्टान्तमें जो व्याप्ति दिखलाई जाती है। वह बहिरंग व्याप्ति है। जैसे कि पर्वतमें आग है।

धूम होनेसे रसोई घरके समान । यहां पक्ष हो रहे पर्वतसे बाहर रसोई घरमें व्याप्ति साधी गई दिखलाई गई है । तथा सम्पूर्ण अनेकान्त आत्मक हैं । प्रमेय होनेसे अग्निके समान यहां पक्ष हो रहे सम्पूर्ण पदार्थोंके भीतरही अग्निमें साध्य और हेतुकी व्याप्ति ग्रहण की गई है । यह अन्तर्व्याप्ति है । प्रकरणमें पक्षसे अतिरक्त चक्रतूम्बी आदि बाहर ले पदार्थोंमें अन्वय व्याप्ति दिखलाई गई है । पक्षसे बाहर दृष्टान्तमें व्याप्तिको दिखलानेपर प्रतिवादीको अधिक विश्वास हो जाता है । क्योंकि "लौकिकपरीक्षकाणां यत्र बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः" लौकिक और परीक्षक या वादी और प्रतिवादी दोनोंकी बुद्धि जिसको समानरूपेण मान्य कर रही है वह दृष्टान्त होता है । यों अन्तिम अध्यायमें सूत्रकारने हेतु दृष्टान्तपूर्वक मुक्तकी ऊर्ध्वगतिको सिद्ध कर दिया है । सूत्रकार महाराजके अन्य अध्यायोंमें निरूपे गये तत्त्व सभी युक्ति, दृष्टान्तोंसे भरपूर हैं । "स्थाली तंडुल" न्याय अनुसार सभी तत्त्वार्थोंमें विद्वान् पुरुष सामर्थ्यसे हेतु और दृष्टान्तोंको लगा लेवें । न्यायशास्त्रके गम्भीर विद्वान् श्री विद्यानन्द स्वामीने इस ग्रंथमें तत्त्वार्थसूत्रोक्त प्रमेयोंकी हेतु दृष्टान्तपूर्वक सिद्धि करनेमें किसी भी प्रकारकी कसर नहीं छोडी है । विवक्षित तत्त्वको सिद्धिकी चूडापर मणि बना कर विराजमान कर दिया है । तभी तो यह ग्रन्थ सूत्रोक्त तत्त्वार्थ सिद्धान्तोंका श्लोकों द्वारा वार्त्तिकोंमें रचित किया गया अलंकार स्वरूप है । जिज्ञासु सज्जन उसी रहस्यको स्पष्टरूपेण देशभाषामय "तत्त्वार्थचिन्तामणि" में परिज्ञातकर सफल मनोरथ होवें ।

हेतुदृष्टान्तानां यथासंख्यमभिसंबन्धः । कथमित्याह; —

पूर्व सूत्रमें कहे गये चारों हेतुओं और इस सूत्रमें कहे गये चारों दृष्टान्तोंका संख्या अनुसार यथाक्रमसे आगे पीछे संबन्ध कर दिया जाय । किस प्रकार संबन्ध करें? ऐसी जिज्ञासा उत्थित होनेपर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकोंको कह रहे हैं ।

ऊर्ध्वं गच्छति मुक्तात्मा तथा पूर्वप्रयोगतः,
यथाविद्धं कुलालस्य चक्रमित्यत्र साधनं ॥ २ ॥
नासिद्धं मोक्तुकामस्य लोकाग्रगमनं प्रति,
प्रणिधानविशेषस्य सद्भावाद्भूरिशः स्फुटं ॥ ३ ॥

नचानैकांतिकं तस्याद्विरुद्ध वा विपक्षतः,
व्यावृत्तेः सर्वथा नेष्ट विघातकृदिदं ततः ॥ ४ ॥

मुक्त आत्मा ऊपरको चला जाता है। (प्रतिज्ञा) तिस प्रकार पूर्वकालका प्रयोग होनेसे (हेतु) जैसे कि कुम्हारका गोल घुमा दिया गया चाक है। (अन्वयदृष्टांत) इस अनुमानमें प्रयुक्त किया गया हेतु असिद्ध नहीं है। यानी "पूर्वप्रयोग" हेतु मुक्तात्मा पक्षमें विद्यमान है। क्योंकि मोक्षकी तीव्र कामना कर रहे संसारी जीवका लोकके अग्रभागमें गमन करनेके लिये स्पष्ट रूपसे बहुत बार योगविशेष लगाये रहनेका सद्भाव है। जिस कार्यको करनेके लिये अनेक बार मनोयोग लग चुका है। उस प्रणिधानका इतना आवेश आत्मामें भरा हुआ है कि मनोयोगसे हट जानेपर भी उसके आवेश अनुसार मुक्त आत्मा ऊपरको चला जाता है। अतः उक्त हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं है। तथा कहा गया "पूर्वप्रयोग हेतु" अनैकान्तिक (व्यभिचारी) अथवा विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है। क्योंकि सभी प्रकारों करके विपक्षसे हेतु व्यावृत्त हो रहा है। विपक्षके एक देशमें रहता तो व्यभिचारी होता, विपक्षमें सर्वांग रहता तो विरुद्ध होता, किन्तु यह हेतु विपक्षमें रहता ही नहीं है अतः निर्दोष है। तिस कारण सिद्ध हुआ कि यह हेतु या अनुमान अभीष्ट साध्यका विघात करनेवाला नहीं है। प्रत्युत साध्यका साधक है।

असंगत्वाद्यथालाबूफलं निर्गतलेपनं,
बंधच्छेदाद्यथैरण्डबीजमित्यप्यतो गतं ॥ ५ ॥
ऊर्ध्वव्रज्यास्वभावत्वादग्नेर्ज्वाला यथेति च,
दृष्टान्तेऽपि न सर्वत्र साध्यसाधनशून्यता ॥ ६ ॥

मुक्त जीव ऊपरको जाता है। संगरहित हो जानेसे जैसे कि लेपनको निकाल चुका तूम्बीफल ऊपरको आ जाता है। भावार्थ--तूम्बीफलपर मिट्टीका लेप कर देनेपर जलमें डाल देनेसे वह नीचे पड जाती है। और वही तूम्बी जलके क्लेद द्वारा मिट्टीके बन्धनको पृथक् कर हलकी हो चुकी ऊपरही चली जाती है। तिसी प्रकार कर्मके बोझसे आक्रान्त हो रहा आत्मा संसारमें डूबा रहता है, कर्मसंसर्गके छूट जानेपर

शीघ्र ऊपरही चला जाता है। मट्टी, पत्थर आदि पदार्थ अधोगौरवशील हैं, वायु तिर्यग्गौरव स्वभाव है। किन्तु आत्मा ऊर्ध्वगौरवशील है। यह तीसरा अनुमान भी इन्हीं युक्तियोंसे परिज्ञात हो जाता है कि जिस प्रकार एरण्डका बीज बन्धनका छेद हो जानेसे ऊपरको जाता है। उसी प्रकार आत्माका कर्मबन्ध टूट जानेपर ऊपरको चला जाता है। जब तक बौंडीमें अण्डी थी तब भी एरण्ड बीजको ऊर्ध्वगमनकी प्रेरणा लग रही थी अवरोधकके हट जानेपर वह ऊपर उछल जाता है। उसी प्रकार रोकने-वाले गति, जाति आदि कर्मबन्धोंके छेद हो जानेसे मुक्तकी गति ऊपर हो रही जान ली जाती है। चौथा अनुमान यों है कि देशमें जानेकी टेव होनेसे जैसे अग्निकी ज्वाला ऊपरको जाती है। उसी प्रकार मुक्त आत्मा ऊपरको गति करता है। इन सभी दृष्टा-न्तोंमें साध्य और साधनसे रीतापन नहीं है। यानी चारों भी दृष्टान्तोंमें नियत हेतु और साध्य सुघटित पाये जाते हैं। चारों अनुमानोंमें प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण तीनों अंग सूत्रकारने कण्ठोक्त कर दिये हैं। बालकोंको व्युत्पत्ति करानेके लिये उपनय और निगमन भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

असंगत्वबन्धच्छेदयोरर्थाविशेषादनुवादप्रसंग इति चेन्नार्थान्यत्वात्। बन्धस्या-न्योन्यप्रवेशे सत्यविभागेनावस्थानरूपत्वात्, संगस्य च परस्य प्राप्तिमात्रत्वात्। नोदा-हरणमलाबूर्मारुतावेशादिति चेन्न, तिर्यग्गमनप्रसंगात् तिर्यग्गमनस्वभावत्वान्मारुतस्य।

यहां कोई आक्षेप कर रहा है कि दूसरे असंगत्व हेतु और तीसरे बन्धच्छेद हेतु इन दोनोंमें कोई अर्थ की विशेषता नहीं दिखती है। परद्रव्यके संसर्गसे रहित हो जाना और परद्रव्यके बन्धका छिद जाना दोनों एकही बात हैं। अतः तीसरे हेतुका कहना तो मात्र दूसरेका अनुवाद कर देना है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा दोष प्रसंग तो नहीं उठाना क्योंकि दोनोंका अर्थ न्यारा न्यारा है। देखिये बन्धने योग्य आत्मा और कर्मका परस्पर प्रवेश प्रवेश होते सन्ते विभाग रहित होकर स्थित हो जाना स्वरूप ती बन्ध है। जो कि एकपनकी बुद्धि उत्पन्न कहता है। और प्रकृत द्रव्यके साथ दूसरे पदार्थको छू लेना मात्र प्राप्ति हो जाना संग है " परस्पर प्राप्ति " पाठ भी अच्छा है। दूधमें बूरेका बन्ध हो रहा है। और दूधमें डाल दिये गये सौवर्ण कंकणका संसर्ग है। यों बन्ध और संयोगके अर्थमें अन्तर है। यहां कोई प्रतिवादी कह रहा है कि मुक्त जीवका स्वभावसेही ऊर्ध्वगमन हो जानेमें तुम्बीका उदाहरण ठीक नहीं है क्योंकि तुम्बी

तो वायुके आवेशसे जलके ऊपर उछल आती है। मुक्त जीवको कोई ऊपर नहीं उठा देता है। अतः दृष्टान्त विषम है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वायुका तिरछा गमन करनेका स्वभाव होनेसे तूम्बीकें तिरछे गमन होनेका प्रसंग आ जावेगा। वायुसे प्रेरित होकर तूम्बी जाती तो तिरछी जाती, किन्तु तूम्बी जलमें ऊपर जाती है। अतः वह किसीकी प्रेरणासे नहीं किन्तु स्वभावसेही ऊपरको गमन करती है। यों तूम्बी दृष्टान्त सम है।

नन्वेवमूर्ध्वगतिस्वभावस्यात्मनः ऊर्ध्वगत्यभावेऽपि तदभावप्रसंगोऽग्नेरौष्ण्यवत् तदभावेऽभाववदिति चेन्न, गत्यन्तरनिवृत्त्यर्थत्वात् तदूर्ध्वगतिस्वभावस्य, ऊर्ध्वज्वलनवद्वा तद्भावे नाभावः। वेगवद्द्रव्याभिघातादनलस्योर्ध्वज्वलनाभावेऽपि तिर्यग्ज्वलनसद्भावदर्शनात्।

यहां मुक्त जीवकी सदा ऊर्ध्वगति होती रहना माननेवाले मण्डलीकी ओरसे पूर्वपक्ष उठाया जा रहा है कि जैसे अग्निका स्वभाव उष्णता है। उस उष्णस्वभाववाले अग्निके उष्णपनका अभाव हो जानेपर मूल अग्निका भी जिस प्रकार अभाव हो जाता है। इसी प्रकार ऊर्ध्वगमन स्वभाववाले मुक्त आत्माकी ऊर्ध्वगतिका अभाव हो जानेपर भी उस मुक्त आत्माके अभाव हो जानेका प्रसंग आता है। जैसे कि उष्णताके अभाव हो जानेपर अग्निके अभाव हो जानेका दृष्टान्त दिया जा चुका है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि उस मुक्तात्माके ऊर्ध्वगमन स्वभावका तो अन्य गतियोंकी निवृत्तिके लिये कथन किया गया है। जैसे कि अग्निका स्वभावसे ऊपरकी ओर ज्वाला उठना होता है। उस ऊर्ध्वज्वलनका अभाव हो जानेपर अग्निका अभाव नहीं हो जाता है। देखिये ऊपर वेगवाले द्रव्यका संयोग विशेष हो जानेसे अग्निका ऊर्ध्वज्वलन नहीं भी है। तो भी अग्निके तिरछी ओर जलनेका सद्भाव देखा जाता है। भावार्थ–सुनार या लुहार धातुको गलाते समय तिरछी वायुसे अग्निज्वालाको तिरछा बहा देते हैं, एक फुट ऊंचे चूल्हेपर दो फुट ऊंची अग्निज्वालापर तवा धर देनेसे अग्निशिखायें तिरछी फैल जाती हैं। वेगवान् या बलवान् पदार्थ ज्वालाओंको तिरछा कर देते हैं। वेगवाली वायुसे प्रेरित होकर गैसके हण्डेमें प्रदीपज्वाला, या सुनारोंके प्राइमस चूल्हेकी ज्वाला नीचे प्रदेशोंकी ओर जलती है। यों अग्निका अभाव नहीं हुआ है। और तिरछा चलना, नीचैर्ज्वलन अग्निका स्वभाव भी नहीं माना जाता है।

इसी प्रकार यदि मुक्तका गमन होगा तो ऊपरही होगा। अन्य दिशाओंमें नहीं होगा केवल इतनाही अभीष्ट है ऊपर गमन होताही रहे यह मन्तव्य आर्हतोंको इष्ट नहीं है। यों उपरिम तनुवातके अग्रभागमें मुक्तोंके ऊर्ध्वगमनका अभाव होते हुये भी मुक्त द्रव्यका अभाव नहीं हो पाता है। संभव है पूर्ण कारण सामग्री मिल जाती तो मुक्तका ऊर्ध्वगमन होता रहता, जैसे कि घोडेके शिरपर भी कठिनावयव सींग बनानेकी सामग्री मिल जाती तो बैलके समान अश्वके भी विषाण उठ निकलते। किन्तु जब असंभाव्य कार्योंका प्रतिबन्धक कारण विद्यमान है तो ऊर्ध्वगमन नहीं हो पाता है। "प्रतिबन्धकाभाववत्त्वेसति कारणतावच्छेदकावलीढधर्मावच्छिन्नाविकलत्वं सामग्री"।

नन्वेवं मुक्तस्य लोकात्परतः कुतो नोर्ध्वगतिरित्याह; —

पुनः किसीको यह शंका रह गयी है कि मुक्त जीवका लोकसे परली ओर ऊपर किस कारणसे ऊर्ध्वगमन नहीं हो पाता है? बताओ अर्थात् अग्निका तो वेगवाले द्रव्यके साथ संयोग हो जानेसे तिरछा ज्वलन हो जानेपर अभाव नहीं हो सकना समुचित है। मुक्त जीवके तो फिर स्वभाव गतिको लोपनेवाला कोई हेतु नहीं है। अतः ऊर्ध्वगमन होनेको विराम नहीं मिलना चाहिये, ऊर्ध्वगमन अनन्तकाल तक होते रहना चाहिये ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर सूत्रकार महोदय इस अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण जीव और पुद्गलोंके गमन करनेमे सहकारी कारण हो रहे धर्मास्तिकायका लोकके ऊपर अभाव होनेसे लोकाग्रके उपरिम अलोकमें मुक्त जीवका गमन नहीं हो पाता है। भावार्थ--लोक और अलोकके विभागकी अन्यथा अनुपपत्ति अनुसार धर्मास्तिकायकी सिद्धि हो रही है। धर्मद्रव्य अनेक गुणोंका पिण्ड है त्रिकाल अस्तित्वको लिये हुये है। लोकाकाश बरोबर व्यञ्जन पर्यायको धार रहा प्रदेशोंका प्रचय स्वरूप है। ऐसा अमूर्त धर्मास्तिकाय अलोक आकाशमें नहीं है। अतः उदासीनकरणके नहीं होनेसे अलोकाकाशमें किसीका गमन नहीं हो पाता है।

कः पुनर्धर्मास्तिकाय इत्याह; —

यह धर्मास्तिकाय फिर क्या पदार्थ है? ऐसी विस्मरणशील शिष्यको जिज्ञासा उठनेपर ग्रन्थकार समाधानार्थ अग्रिम वार्त्तिकोंको कह रहे हैं।

उक्तो धर्मास्तिकायोऽत्र गत्युपग्रहकारणं।
तस्याभावान्न लोकाग्रात्परतो गतिरात्मनः ॥ १ ॥
एवं निःशेषमिथ्याभिमानो मुक्तौ निवर्तते,
युक्त्यागमबलात्तस्याः स्वरूपं प्रति निर्णयात् ॥ २ ॥

इस " तत्त्वार्थाधिगम " ग्रन्थमें पांचवें अध्याय धर्मास्तिकायको कहा जा चुका है। गति परिणत जीव पुद्गलके गमन उपकारका सहकारी करण धर्म द्रव्य है। उसका अभाव हो जानेसे मुक्तात्माकी लोकाग्रसे परली ओर ऊपरको गति नहीं हो पाती है। उपरिम तनुवातके नौ लाखवें भाग क्षेत्र या पन्द्रहसौवें भाग अथवा इनके मध्यवर्त्ती भागोंमें सिद्ध विराज रहे हैं जो कि सम्यक्त्व आदि अष्ट गुणोंसे सहित हैं, कर्मरहित हैं। सादि नित्य हैं, कृतकृत्य हैं, लोकालोक ज्ञाता है, दृष्टा हैं, चरम शरीरसे कुछ न्यून आकृतिको लिये हुये हैं, रूपादिरहित हैं। गति आदि नौ मार्गणाओंसे रीते हैं। यों अनेक गुण या स्वभावोंसे सिद्धोंका निरूपण किया जाता है। बौद्ध, नैयायिक आदि दार्शनिकोंने जैसा मुक्त आत्माका स्वरूप माना है वह प्रामाणिक नहीं है। उनका साभिमान मन्तव्य मिथ्या है। इस प्रकार मुक्त अवस्थामें अन्य दार्शनिकोंके सम्पूर्ण असत्य मन्तव्योंकी निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि युक्ति और आगमकी सामर्थ्यसे उस मोक्षके स्वरूपके प्रति निर्णय कर दिया गया है। सत्यमार्गमें मिथ्या अभिमानोंकी गति नहीं हो पाती है। अतः उक्त निरूपण अनुसार मोक्ष सम्बन्धी सम्पूर्ण विवादोंकी निवृत्ति कर दी गयी समझो।

अथ किमेते मुक्ताः समानाः सर्वे किं वा भेदेनापि निर्देश्या इत्याशंकायामिदमाह; —

इसके अनन्तर कोई विनीत जिज्ञासु प्रश्न करता है कि ये मुक्त जीव सबके सब क्या समान हैं ? अथवा क्या भिन्न भिन्न स्वरूपसे भी कथन करने योग्य हैं ? जिसके कि अवलम्बपर उनको जानकर परमात्माओंका ध्यान लगाया जा सके, बताओ, इस प्रकार समुचित आशंका उपस्थित हो जानेपर सूत्रकार महाराज इस पावन अन्तिम सूत्रको स्पष्टतया कह रहे हैं।

क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनांतरसंख्याल्प-बहुत्वतः साध्याः ॥ ९ ॥

१ क्षेत्र २ काल ३ गति ४ लिंग ५ तीर्थ ६ चारित्र ७ प्रत्येकबुद्ध बोधितबुद्ध ८ ज्ञान ९ अवगाहना १० अन्तर ११ संख्या १२ अल्पबहुत्व, इन बारह अनुयोगों करके सिद्ध जीवोंका विभिन्न प्रकारोंसे चिन्तन करना चाहिये। भावार्थ--नैयायिकोंने सम्पूर्ण मुक्त जीवोंको सर्वथा सदृश स्वीकार किया है। अद्वैतवादी तो सभी मुक्त जीवोंका परब्रम्हमें लीन हो जानेको मोक्ष मान बैठे हैं। इसी प्रकार अन्य दार्शनिकोंने भी स्वेच्छा परिकल्पित मुक्त जीवोंमें भेद, अभेद, विभेद कल्पित कर रक्खा है। किन्तु जैन सिद्धांत अनुसार मुक्त जीवोंके केवलज्ञान, सिद्धत्व, कर्मनोकर्मरहितत्व, अगुरुलघुत्व, क्षायिक लब्धियां, अमूर्तत्व आदि भावोंमें कोई अन्तर नहीं है। तथा पूर्व जन्मोंमें कर्मोदय अनुसार हुये गति, जाति, त्रसत्व आदि कारणों अनुसार भी कोई भेद अब नहीं रहा है। तथापि प्रत्युत्पन्न नय और भूतानुग्रह नय इन दो नयोंकी विवक्षाके वशसे क्षेत्र, काल, आदि भेदों द्वारा सिद्ध भगवान्का ध्यान किया जा सकता है। ज्ञापक कारणोंकी विभिन्नता हो जानेसे ज्ञेयतत्त्वकी अन्तस्तलस्पर्शिनी ज्ञप्ति हो जाती है। ध्यान भी अन्तर्मुहूर्तसे अधिक ठहरता नहीं है। झट दूसरी ओर उपयोग चला जाता है। अतः स्वकीय शुद्धात्माके चिन्तन करनेमें मुक्त जीवोंका स्वरूप चिन्तन करना आवश्यक कारण है। भगवान् ऋषभदेवका क्षेत्र, काल, अवगाहना आदि द्वारा चिन्तन कर चुकनेपर शान्तिनाथ सिद्ध परमेष्ठीके क्षेत्र आदिका विचार करो पुनः नेमिनाथ, पार्श्वनाथ आदिके चारित्र आदिका ध्यान लगाओ। यों क्रमानुसार उत्कट प्रयत्न करते हुये स्वकीय शुद्धात्म चिन्तन द्वारा मुमुक्षु जीव मोक्षमार्गमें संलग्न हो जाता है।

केन रूपेणसिद्धाः क्षेत्रादिभिर्भेदैर्निर्देष्टव्या इत्याह;—

यहां कोई तत्त्वबभुत्सु आज्ञाकारी शिष्य प्रश्न करता है कि किस स्वरूपसे क्षेत्र, काल आदि करके बारह भेदों द्वारा सिद्ध परमेष्ठी निर्देश कर लेने योग्य हैं? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार महोदय इन अग्रिम वार्त्तिकोंका स्पष्ट निरूपण कर रहे हैं।

सिद्धाः क्षेत्रादिभिर्भेदैः साध्याः सूत्रोपपादिभिः।
सामान्यतो विशेषाच्च भावाभेदेऽपि सन्नयैः ॥ १ ॥

इस सूत्रमें ग्रहण किये गये क्षेत्र आदि भेदों द्वारा श्रेष्ठ नयों करके सिद्धोंकी विकल्पना कर लेनी चाहिये। यद्यपि क्षायिक सम्यक्त्व, सिद्धत्व आदि भावों करके सम्पूर्ण सिद्धोंका सादृश्यमुद्रया अभेद हो रहा है। तथापि तिर्यकसामान्य द्वारा समान हो रहे सम्पूर्ण सिद्धोंकी तद्वाच्य सामान्य और विशेषों करकें श्रेष्ठ नय योजनिका अनुसार चिन्तनायें की जानी चाहियें। स्मृतियोंका समन्वाहारही ध्यान बन बैठेगा।

क्षेत्रं स्वात्मप्रदेशाः स्युः सिद्धयतां निश्चयान्नयात्,
व्यवहारनयाद्वयोमसकलाः कर्मभूमयः ॥ २ ॥
मनुष्यभूमिरप्यत्र हरणापेक्षया मता,
हृत्वा परेण नीतानां सिद्धेः सूत्रानिवारणात् ॥ ३ ॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंमेसे निश्चयनय अनुसार क्षेत्रका विचार करनेपर विवक्षित द्रव्यके स्वकीय प्रदेशही स्वक्षेत्र समझे जाते हैं। गृह, आकाश आदिको व्यवहार नयसे घटादिका क्षेत्र कह दिया जाता है। प्रकरणमें सिद्धिको प्राप्त हो रहे मुक्त जीवोंका निश्चय नयसे क्षेत्र तो स्वकीय आत्माके असंख्यात प्रदेशही हो सकते हैं जिनका कि मुक्त आत्म द्रव्यके साथ चोखा अभेद हो रहा है। हां, व्यवहार नयसे आकाश या पांच मेरु सम्बन्धी भरत, ऐरावत, विदेह क्षेत्र अनुसार सम्पूर्ण पन्द्रहों कर्म भूमियां भी क्षेत्र हैं। क्योंकि सभी पदार्थ आकाशमें ठहरते हैं। अतः सामान्य रूपसे सबका क्षेत्र आकाश है। सम्पूर्ण कर्मभूमियांमें जन्म लेकर स्वेच्छापूर्वक तपश्चरण कर क्षपक श्रेणी अनुसार केवलज्ञानको प्राप्त कर कुछ कालतक संसारमें ठहरते हुये जीव कर्म भूमियोंसेही मोक्ष प्राप्त करते हैं। अतः भूत पर्यायको ग्रहण करनेवाली भूतनयकी अपेक्षा जन्मसे प्रारम्भ कर चौदहवें गुणस्थानतक सिद्धोंका क्षेत्र पन्द्रह कर्मभूमियां हैं। हां, संहरणकी अपेक्षासे पैंतालीस लाख योजन लम्बीं चौडी गोल मनुष्य भूमि भी सिद्धोंका क्षेत्र माना गया है। कारण कि दूसरे शत्रुभूत विद्याधर या देवद्वारा हर लेने पर कहीं भी मनुष्य लोकमें फेंक दिये गये या ले जायेगा ये जीवोंकी वहांसे सिद्धि हो जानेका आगम सूत्रोंमें निवारण नहीं किया गया है। पंतालीस लाख योजन प्रमाण सिद्ध क्षेत्र सर्वत्र ठसाठस अनन्तानन्त सिद्धोंसे भरा हुआ है। लवणसमुद्र कालोदधि समुद्र, सुमेरुपर्वतकी चूलिका, नदी, हृद, ज्वालामुखी पर्वत उपसमुद्र आदि सभी तपस्वियोंके

अगम्य भी स्थलोंके ऊपर यानी ढाई द्वीपके सभी भागोंके ऊपर सिद्धलोकमें अनन्तानन्त सिद्ध विराज रहे हैं। अतः प्रतीत होता है कि उपसर्ग प्राप्त हो कर अनन्तकृत्केवली उन अगम्य स्थानोंसे मोक्ष गये हैं। ढाई द्वीपसे बाहर मनुष्य शरीर कथमपि नहीं जा पाता है। जैसे कि अग्निमें होकर पारा अक्षुण्ण नहीं निकल पाता है। बिजलीके तीक्ष्ण प्रवाह (करेन्ट) का जीवित, अनावृत, मानव शरीर उलंघन नहीं पाता है। अतः मनुष्य लोकको भी संहारकी अपेक्षा भूतभाव प्रज्ञापननय अनुसार सिद्धोंका क्षेत्र कह दिया गया है।

तेषामेकक्षणः कालः प्रत्युत्पन्ननयात्मनः।
भूतप्रज्ञापनादेव स्यात्सामान्यविशेषतः॥ ४॥
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्जाताः सिद्ध्यन्ति केचन।
चतुर्थकाले पर्यन्तभागे काले तृतीयके॥ ५॥
सर्वदा हरणापेक्षा क्षेत्रापेक्षा हि कालभृत्।
सर्वक्षेत्रेषु तत्सिद्धौ न विरुद्धा कथंचन॥ ६॥

उन सिद्ध जीवोंका प्रत्युत्पन्ननय यानी ठीक अवस्थाको कहनेवाले नय स्वरूपसे तो काल एकही क्षण है। अर्थात् कर्मोंका नाश कर उस एकही क्षणमें सिद्ध हो जाते हैं। हां, पहिले कालोंमें हो चुकी परिणतियोंको बढिया समझानेवाले भूतप्रज्ञापन नयसे सामान्य विशेषकी अपेक्षा करके काल अनुयोग यों खतिपाना चाहिये, कि सामान्यरूपसें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोमें जन्म ले चुके कतिपय जीव सिद्ध हो जाते हैं। उत्सर्पिणी या अवसर्पिणीकें विशेष रूपसे विचार करनेपर तो अवसर्पिणीके पूरें चौथे कालमें और तीसरे कालकें पर्यन्त भागमें सिद्धि हो जाती है। हां, उत्सर्पिणीके तो तीसरे दुःषमसुषमा कालमें सिद्ध होते हैं। हर ले जानेकी अपेक्षा सभी कालोंमें सिद्धि है। जब कि देवकुरु उत्तर कुरुओंमें सदा सुषमसुषमा काल वर्त रहा है। हरि और रम्यक वर्ष क्षेत्रोंमें सर्वदा सुषमाकाल विद्यमान हैं। हैमवतक और हैरण्यवतकमें सदा सुषमदुःषमा समय हो रहा है। यदि कोई विद्याधर या देव किसी चरम शरीर मोक्षगामी जीवको तपश्चरण करते हुये उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमियोंमें हर ले जाय तो वहांसे भी पहिले, दूसरे, तीसरे कालोंमें सिद्धि हो जाना संभवता है। भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंमें छठे

कालकी प्रवृत्ति हो जानेपर विदेह क्षेत्रसे मुमुक्षुका हरण कर भरत, ऐरावतोंमें धर दिया जा सकता है। तब जो मुक्ति होगी वह छठे कालमें मुक्ति हुई समझी जावेगी यों क्षेत्रकी अपेक्षा सिद्धि हो जाना सभी कालोंको धार रहा है। क्योंकि सभी क्षेत्रोंमें उन अन्तकृतकेवलियोंकी सिद्धि माननेपर किसी भी प्रकारसे विरोध नहीं पडता है। अवसर्पिणीके चौथे कालमें लेकर पांचवें कालमें मोक्ष जाना अविरुद्ध है। पांचमे कालमें उत्पन्न हुये जीवको उस पर्यायसे मोक्ष नहीं हो सकती है।

सिध्दिः सिध्दगतौ पुंसां स्यान्मनुष्यगतावपि।
अवेदत्वेन सावेदात्रितया द्वास्तिभावतः ॥ ७ ॥
पुल्लिंगेनैव तु साक्षाद्द्रव्यतोन्या तथागम-
व्याघाताद्युक्तिबाधाच्च स्त्र्यादिनिर्वाणवादिनां ॥ ८ ॥
साक्षान्निर्ग्रन्थलिंगेन पारंपर्यात्ततोन्यतः।
साक्षात्सग्रंथलिंगेन सिध्दो निर्ग्रन्थता वृथा ॥ ९ ॥

तीसरे गतिके अनुयोगमें यह कहना है कि प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा सिद्धगतिमें ही पुरुषोंकी सिद्धि हो रही है। हां, भूतप्रज्ञापनसे मनुष्योंकी सिद्धि मनुष्यगतिमें भी हो रही कही जाती है। उससे भी पहिले पर्यायका यदि विचार किया जायगा तो चारों भी गतियोंसे आकर मनुष्य पर्याय लेते हुये तद्भव मोक्ष हो सकता है। लिंगकी अपेक्षा यों विचार है कि वस्तुतः वेदरहितपने करके वह सिद्धि होती है। क्योंकि दशमे गुणस्थानसे प्रारम्भ कर चौदहवेंके अनन्ततक वेद कर्मका उदयही नहीं है। हां, अतीत परिणतियोंका विचार करनेपर तो भावसे नवमें गुणस्थानतक तीनों वेदोंका उदय है। अतः भावलिंगकी अपेक्षा तीनों वेदोंसे सिद्धि हो जाती है, द्रव्य वेदकी अपेक्षासे तो पुरुषलिंग करकेही साक्षात् मोक्ष होता है। तिस ढंगसे अन्य प्रकार व्यवस्था माननेपर स्त्री, नपुंसक, पशु पक्षी आदिका भी निर्वाण होना कहनेवाले श्वेताम्बर, वैष्णव आदि वादियोंके यहां तो सदागमद्वारा व्याघात दोष उपस्थित होगा, तथा युक्तियोंसे भी बाधा प्राप्त होगी। सर्वज्ञोक्त आगमोंमें द्रव्य पुरुषकाही मोक्ष जाना लिखा है। मनुष्यही क्षपक श्रेणीपर चढ सकता है, स्त्रियोंके जब विशेष ऋद्धियांही नहीं हो पाती हैं। तो तद्भव

मोक्षका हेतु हो रहा यथाख्यातसंयम तो कथमपि नहीं हो सकता है । स्त्रियां (पक्ष) मोक्षके हेतु माने गये, संयमको साक्षात् नहीं धारती है । (साध्य) क्योंकि वे साधुओंके वन्दनायोग्य नहीं हैं । (हेतु) जैसे कि गृहस्थ विचारे साधुओंके वन्दनीय नहीं होनेसे मोक्ष हेतु संयमके धारी नहीं हैं । (अन्वयदृष्टान्त) । अन्य भी अनेक आगमवाक्य और युक्तियोंसे स्त्रियोंका तद्भवसे मोक्ष हो जाना सिद्ध नहीं हो पाता है । श्वेताम्बरोंके यहां वदतो व्याघात दोष आ रहा है । एक ओर स्त्रियोंको मोक्ष नहीं हो सकनेके कारणोका निरूपण है, दूसरी ओर स्त्रियोंको मोक्ष हो जानेका आदेश (फतवा) दे दिया है । प्रमेयकमल मार्तण्डमें स्त्रीमुक्तिका विशदरूपेण परिहार किया गया है । लिंगका दूसरा विचार निर्ग्रन्थलिंग और सग्रन्थलिंग स्वरूपसे भी किया जाता है । अव्यवहित रूपसे तो निर्ग्रन्थ यानी परिग्रहरहितपन लिंग करके ही मोक्ष होती है । हां, परम्परासे उससे अन्य सग्रन्थलिंगसे भी मोक्षोपाय प्रदर्शित किया गया है । श्वेताम्बर या पौराणिक सम्प्रदाय अनुसार यदि सग्रन्थलिंग करके सिद्धि मानी जायगी तो निर्ग्रन्थता व्यर्थ पडेगी । प्राय: सभी सम्प्रदायोंमें दीक्षा, वैराग्य, परिग्रह त्यागको ही उच्चकोटिका मोक्ष मार्ग स्वीकार किया गया है ।

सति तीर्थकरे सिद्धि रसत्यपि च कस्यचित्,
भवेदव्यपदेशेन चारित्रेण विनिश्चयात् ॥ १० ॥
तथैवैकचतुःपञ्चविकल्पेन प्रकल्पते,

तीर्थकी अपेक्षा यों सिध्दिकी चिन्तना की जाय कि तीर्थंकर जिनेन्द्रके विद्यमान होनेपर जीवोंकी सिध्दि होती है । और किसी किसी जीवकी तीर्थकरोंके नहीं होनेपर उनके बारेमें मोक्ष हो जावेगी । चारित्र करके सिध्दोंकी यों भावनाकी जाय कि वस्तुत: प्रत्युत्पन्न नयद्वारा विशेष निर्णय किया जाय उससे तो शद्वों द्वारा नहीं कथन करने योग्य चारित्र करके सिध्दि होती है । छठे गुणस्थानसे प्रारम्भ कर चौदहवें गुणस्थानतक यथायोग्य सामायिक, आदि चारित्र पाये जाते हैं । पांचवें गुणस्थानमें देश चारित्र कहा जाता है । यों इन चारित्रोंका नामनिर्देश है । चौदहवे गुणस्थानके अन्तिम समयवर्त्ती चारित्रका नाम यथाख्यात चारित्र है । जो कि आत्माके चारित्र गुणकी परिणति है । द्रव्योंके गुण अनादिसे अनन्तकाल तक नित्य रहते हैं । हां, उनकी स्वभाव

विभाव पर्यायें पलटती रहती हैं। चौदह गुणस्थानोंमें मिथ्याचारित्र, अचारित्र देश-चारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यात चारित्र ये चारित्रके नाम निरूपणीय हैं। किन्तु गुणस्थानोंसे अतिक्रान्त हो जानेपर सिद्धि होनेके आद्यक्षणमें चारित्रका कोई शद्ब द्वारा निदेश नहीं किया जाता है। किन्तु चारित्र गुणका स्वाभाविक परिणाम विद्यमान हैं। अतः शद्ब द्वारा अव व्यक्तव्य हो रहे चारित्र करके साक्षात् सिद्धि होना माना गया है। हां, भूत पूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे तिस प्रकार विचार करनेपर एक, चार, पांच भेदोंवाले चारित्रसे सिद्धि होनेका समर्थन किया जाता है। अर्थात् अव्यवहित रूप करके एक यथाख्यात चारित्रसेही सिद्धि होगी। हां, व्यवधान देकर तो सामायिक आदि चारों अथवा परिहार विशुद्धि चारित्रसे अधिक हो रहे पांचों भी चारित्रोंसे मोक्ष हो जाता है। लाखों मोक्षगामियोंसे एक दोकेही परिहार विशुद्धि संयम हो पाता है। अतः पांचों संयमोंका संभव जाना किसीं किसीका ही कहा गया है।

परोपदेशशून्यन्यत्वात्सिद्धौ प्रत्येकबुद्धता ॥ ११ ॥
परोपदेशतः सिद्धौ बोधितः प्रतिपादितः
ज्ञानेनैकेन वा सिद्धिर्द्वाभ्यां त्रिभिरपीष्यते ॥ १२ ॥
चतुर्भिः स्वाभिमुख्यस्यापेक्षायां नान्यथा पुनः ।

परोपदेशकी शून्यता होनेसे स्वशक्ति अनुसार सिद्धि हो जानेपर जीवकी प्रत्येक बुद्धता व्यवच्छित है। और परोपदेशसे सिद्धि होनेपर बोधित बुद्ध समझाया गया है। अर्थात् परम्परापर लक्ष्य दिया जायगा तो प्रत्येकबुद्धको भी कभी पहले देशना-लब्धि, शास्त्र श्रवण, परोपदेश, मिलही चुका होगा और बोधितबुद्ध भी मोक्ष जानेके अव्यवस्थित पूर्व परोपदेशको नहीं सुनता रहता है। यों सर्वत्र स्याद्वाद सिद्धान्त अनु-प्रविष्ट हो रहा है। आठवे ज्ञान अनुयोग करके सिद्धोंकी यों विकल्पना की जाय कि प्रत्युत्पन्नग्राही नयके आदेशसे एक केवलज्ञान करके ही सिद्धि होगी। सिद्धलोकको जा रहे मुक्त जीवके उस समय अकेला केवलज्ञान है। हां, भूतपूर्व अवस्थाका निरूपण कर-नेसे तो मति, श्रुत, दो ज्ञानोसे या मति, श्रुत, अवधि तीन ज्ञानोंसे अथवा चारों क्षायोपशमिक ज्ञानोंसे सिद्धि होना अभीष्ट किया गया है। अर्थात् केवलज्ञानके पूर्वमें नियमतः श्रुतज्ञान होता है। लब्धिरूपसे चारों ज्ञान हो सकते हैं। स्वात्मलब्धिके अभिमुख

कोई जीव मतिज्ञानसे होता है, अन्य जीव अवधिज्ञानसे रूपीद्रव्योंकी स्पष्ट ज्ञप्ति कर आत्मलब्धिके अभिमुख होता जाता है, तीसरा जीव श्रुत या मनःपर्ययसे भी श्रेणीके योग्य ज्ञानधाराको उपजाता है। अतः स्वज्ञानके अभिमुख हो जानेकी अपेक्षा होनेपर दो, तीन, चार ज्ञानोंका व्यवहितमें होना कहा गया है। फिर अन्य प्रकारोंसे नहीं कहा गया है।

अवगाहनमुत्कृष्टं सपादशतपञ्चकं ॥ १३ ॥
चापानामर्धसंयुक्तमरत्नित्रयमप्यथ,
मध्यमं बहुधा सिद्धिस्त्रिप्रकारेऽवगाहने ॥ १४ ॥
स्वप्रदेशे नभोऽव्यापिलक्षणे संप्रवर्तते,
अनन्तरं जघन्येन द्वौ क्षणौ सिध्द्यतां नृणां । १५ ॥
उत्कर्षेणपुनस्तत्स्यादेतेषां समयाष्टकं ।
अंतरं समयोस्त्येको जघन्येन प्रकर्षतः । १६ ।
षण्मासाः सिध्द्यतां नाना मध्यमं प्रतिगम्यतां ।

अवगाहनाकी अपेक्षा सिद्धोंका परामर्श यों किया जाय कि सिद्धोंकी उत्कृष्ट अवगाहना सवा पांचसौ धनुष है जो कि बडे धनुषोंसे पौने सोलह सौ धनुष मोटे उपरिम तनुवातवलयके पन्द्रहसौवें भाग है। और सिद्धोंकी जघन्य अवगाहना आधारसहित तीन हाथ पानी साडे तीन हाथ प्रमाण है जो कि तनुवातवलयके नौलाखवे भाग है।

$\frac{१५७X५००}{५२५} = १५००$,, $\frac{१५७५X५००X८}{७} = ९००००० $,, अर्थात्- मोक्षगामी मनुष्योंका छोटा शरीर साडे तीन हाथ माना गया है। अर्थापत्ति द्वारा यह रहस्य प्रतीत हो जाता है कि छोटी अवगाहनावाले खड्गासनसेही मोक्ष गये हैं। अन्यथा साडे तीन हाथका पल्यङ्कासन पौने दो हाथ ही ऊंचा रह जाता जो कि अवगाहना मोक्षमें अभीष्ट नहीं है। मोक्षमें सिध्दोंके खड्गासन दोही आसन अभीष्ट किये गये हैं। कौनीसे लगाकर फैली हुई छोटी अंगुलीतककी नापको अरत्नि कहते हैं। जघन्य अवगाहना साडे तीन अरत्नि है। मध्यम अवगाहनाओंके बहुत प्रकार है। यों उत्कृष्ट, जघन्य

और मध्यम तीन प्रकार अवगाहनाओंके होनेपर जीवोंकी सिध्दि हो रही है। चरम शरीरसे कुछ न्यून हो जाना प्रसिध्दही है। स्वकीय आत्माके व्यञ्जन पर्याय स्वरूप प्रदेशमें अथवा उतने प्रदेशोंको व्यापनेवाले आकाश स्वरूप क्षेत्रमें जीवोंकी अवगाहना भले प्रकार प्रवर्त रही है। दशवें अन्तरके खातेमें यों विचार किया जाय कि सिध्दिको प्राप्त हो रहे मनुष्योंका जघन्य रूपसे अन्तर नहीं पडे तो दो समयतक न पडे। किसी भी पदार्थका छोटेसे छोटा अनन्तर (यानी व्यवधान नहीं पडना) दो समयही हो सकता है। फिर उत्कृष्ट रूपसे इन सिद्धोंका अव्यवधान पडे तो आठ समय पड सकता है, आठ समयतक बराबर व्यवधान रहित सिद्ध होते रहते हैं। पश्चात् अवश्य अन्तर पट जावेगा यानी कुछ देरके लिये सिद्धोंका उपजना बन्द हो जावेगा। तथा सिद्ध होनेवालोंका यदि जघन्य रूपसे अन्तर पडे तो एक समय है। अर्थात् एक समय व्यवधान देकर पुनः तीसरे क्षणमें सिद्ध उत्पन्न हो जाय। हां, सिद्ध हो रहे जीवोंका उत्कृष्ट रूपसे अन्तर पडे तो छः महीनें तक विरहकाल पड जावेगा मध्यम भेदोंके प्रति अनेक अन्तर समझ लिये जांय।

एकस्मिन्समये सिद्ध्येदेको जीवो जघन्यतः ॥ १७ ॥
अष्टोत्तरशतं जीवाः प्रकर्षेणेति विश्रुतं,
नाल्पे न बहवः सिद्धाः सिध्दक्षेत्रव्यपेक्षया ॥ १८ ॥
व्यवहारव्यपेक्षायां तेषामल्पबहुत्ववित्,
तत्राल्पे हरिणात्सिध्दा जन्मसिध्दसमूहतः ॥ १९ ॥
जन्मसिध्दाः पुनस्तेभ्यः संख्येयगुणताभृतः,
कर्मभोगधरा वार्धि द्वीपोर्ध्वाधस्तिरोभुवाः ॥ २० ॥
सिध्दानामूर्ध्वसिद्धाः स्युः सर्वेभ्योल्पे परेन्यथा,
स्युः संख्येयगुणास्तेभ्योधस्तिर्यग्भिर्वृताः क्रमात् ॥ २१ ॥

ग्यारहवीं संख्याका विमर्ष यों करो कि जघन्य रूपसे एक समयमें एकही जीव सिद्ध हो पाता है। हां, प्रकर्षपनेसे एक समयमें एकसौ आठ जीव सिद्धलोकमें पहुंच जाते हैं। यह सिद्धान्त पूर्वाचार्य प्रसिद्ध है। बारहवें अल्पबहुत्वनामक अनुयोगका यों

ध्यान लगाना चाहिये कि सिद्धक्षेत्रकी अपेक्षा करके सिद्धभगवान् न थोडे हैं और न बहुत हैं। क्योंकि सिद्ध अनन्तानन्त हैं, जो कि दो चार, सौ, हजारसे बहुत बडी संख्या है। अतः सिद्ध थोडे नहीं कहे जा सकते हैं। साथही आजतक जितने सिद्ध हो चुके हैं वे एक निगोदिया शरीरमें विद्यमान जीवोंके अनन्तवें एक भाग प्रमाण हैं। "एय णिगोद सरीरे जीवाद्व्वथमाणदो दिट्ठा, सिद्धेहिं अणेतगुणा सव्वेहि वितीद कालेण" एक निगोदियाके शरीरमें काहागण्यनानुसार भूतकालके समयोंसे ओर द्रव्य संख्यानुसार सिद्धराशिसे अनन्तानन्तगुणे जीव पाये जाते हैं, पुद्गलराशि या अलोकाकाश प्रदेशराशि अथवा जघन्य ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंसे तो सिद्धराशि अतीव अल्प है। समुद्रमेंसे सूचीके अग्रभागपर आ गये जल कणकी और समुद्रकी उपमा विषम पडेगी, क्योंकि समुद्रके पूरे जलसे सुईके अग्रभागपर आया हुआ पानी संख्यातवें, या असंख्यातवें भाग है। और सिद्धराशि तो पुद्गलराशि या उक्त पदार्थोके अनन्तानन्तवें भाग प्रमाण है। अतः सिध्दोंको थोडा या बहुत कहना उचित नहीं जंचा। एक बात यह भी है कि जो जीव एक समयमें सिध्द हो रहे हैं। उनका थोडा बहुतपन किसकी अपेक्षा लगाया जाय? प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा सिध्द हो रहे जीवोंका कोई अल्प बहुत्व नही है, हां भूत पूर्व अवस्थाको जाननेवाली व्यवहार नयकी अपेक्षा करनेपर उन सिध्दोंका थोडापन और बहुतपन बिचारा जा सकता है। जो कि इस प्रकार है। थोडापन और बहुतपनको जाननेके लिये क्षेत्रोंसे हुये सिध्द दो प्रकार प्रतीत करने योग्य हैं। प्रथम तो किसीके द्वारा हर लिये जानेसे जो अन्य क्षेत्रोंमे पडकर सिध्दिको प्राप्त हुये है। वे संहरण सिध्द हैं। और जो अपने जन्म स्थानोंके निकट प्रान्तोंमेंही स्वच्छन्द विहार कर उन्हीं क्षेत्रोंसे कर्मोंका क्षय कर चुके हैं। वे जन्मसिध्द समझे जाते हैं। उन दोनोंमें संहरण द्वारा क्षेत्रान्तरोंसे सिध्द हुये मुक्त जीव तो जन्मक्षेत्रसे सिध्द हुये मुक्त जीव समुदायसे थोडे हैं। किन्तु फिर उन संहरण क्षेत्रसिध्दोंसे जन्मक्षेत्र सिध्द हो रहे मुक्तजीव संख्यातगुणेपनको धार रहे हैं। इसी प्रकार कर्मभूमि और भोगभूमिकी गणना कर ली जाय, अर्थात् ढाई द्वीपकी जघन्य, मध्यम, उत्तम भोग भूमियोंसे जितने जीव सिध्द हुये हैं। ढाई द्वीपसम्बन्धी कर्मभूमि भूमियोंमेंसे उनसें संख्यात गुणे अधिक जीवोंने सिध्दगति प्राप्त की गई है। तथा समुद्रोंसे सिध्द हुये जीवोंकी अपेक्षा द्वीपोंसे सिध्द हुये जीव संख्यात गुणे हैं। ऊर्ध्वभूमि, अधोभूमि और तिरछी भूमियोंसे हुये सिध्द भी उत्तरोत्तर संख्यात गुणे हैं। ऊर्ध्वदेशमें मनुष्य सुदर्शन मेरुकी चोटीतक ले जाये जा

सकते हैं । ढाई द्वीपकी समतल भूमिसे कहींसे भी निन्यानवे हजार चालीस योजन ऊंचे मनुष्य उछाले जा सकते हैं । उन उच्च प्रदेशोंसे जो सिद्धि प्राप्त करेंगे वे ऊर्ध्वलोक सिद्ध कहे जायगें, और यहांसे एक हजार योजन मोटी चित्रा पृथ्वीमें नीचे कहीं भी तक मनुष्य गिराये जा सकते हैं । यहां समतलसे लगाकर नीचली वज्रा पृथ्वीके उपरिम भाग तक गेर दिये गये मनुष्योंकी सिद्धि होना अधोलोक सिद्धि कही जावेगी । तिरछे ढाई द्वीपके पैंतालीस लाख बृहत् योजन लम्बे, चौडे, गोल क्षेत्रसे जो सिद्ध होंगें, वे तिर्यक्लोक सिद्ध माने जाते हैं । यों अनन्तानन्त कर्मोका विनाश कर अनन्तानन्त गुणोंको प्राप्त कर चुके तथा जिनका शिरोग्र भाग उस अनन्तानन्त प्रदेशी अलोकाकाशसे संयुक्त हो रहा है । वे अनन्तानन्त सिद्ध हैं । जो कि अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंको धार रहीं अनन्तानन्त पर्यायोंके समुदाय स्वरूप अनन्तानन्त गुणोंके अविष्वग्भूत पिण्ड हैं । उन सम्पूर्ण सिद्धोंकों ऊर्ध्वदेश, अधोदेश और तिर्यक्देशसे यदि साधा जायगा तो उसका निर्णय इस प्रकार है कि सबसे थोडे ऊर्ध्वलोक सिद्ध हैं, इतर सिद्ध अन्यथा हैं । यानी बहुत हैं । उन ऊर्ध्व सिद्धोंसे अधोलोक सिद्ध संख्यात गुण हैं । दो से प्रारम्भ कर उत्कृष्ट संख्यात तक संख्यात नामक संख्याके संख्याते प्रकार हैं । अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका, महाशलाका कुण्डों अनुसार समझाये गये उत्कृष्ट संख्यातको यदि लाखो योजन लम्बे चौडें कागजपर भी लिखा जाय तो पूरा नहीं लिखा जा सकता है । यहां जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा ज्ञात हो रहा, अथवा तदनुसार ग्रन्थित किये गये आगममें उपदिष्ट हो रहा, कोई विशेप संख्यात आचार्यको अभीष्ट है । अधोलोकमें हुये सिद्धोंकी गणनासे तिर्यञ्चों करके वेष्टित हो रहे तिर्यक् लोकमें मनुष्य होकर सिद्ध हो चुके जीवोंकी गिनती क्रमसे संख्यात गुणी है ।

समुद्रे सर्वतः स्तोका द्वीपे संख्येयसंगुणः,
लवणोदे समस्तेभ्यः स्तोकाः सिद्धा विशेषतः ॥ २२ ॥
कालोदे सागरे जम्बूद्वीपे च परिनिर्वृताः,
धातकीखण्ड सद्द्वीपे पुष्करद्वीप एव च ॥ २३ ॥
ते संख्येयगुणाः प्रोक्ताः क्रमशो बहवोन्यथा,
प्रत्येतव्याः समासेन यथागम मशेषतः ॥ २४ ॥

समुद्र और द्वीपोंकी अपेक्षा सिद्धोंको रवति आना चाहिये कि समुद्रोंमेंसे तबसे थोडे जीव सिद्ध हुये हैं, द्वीपोंमेंसे उनसे संख्याते गुणे सिद्ध हो चुके हैं। यह सामान्य बात हुई। अब विशेष रूपसे यों समझो कि लवण समुद्रमेंसे सम्पूर्ण स्थानोंकी अपेक्षा थोडे जीव सिद्ध हुये हैं, कालोदधि समुद्रसे उस लवण समुद्रके सिद्धोंकी अपेक्षा संख्यात गुणे जीव मोक्षको गये हैं। कालोदधि समुद्रकी अपेक्षा जम्बूद्वीपोंमेंसे संख्याते गुणे जीवोंने निर्वाण प्राप्त किया हैं। भलेही जम्बूद्वीपसे लवणसमुद्र चौवीस गुना है। और जम्बूद्वीपसे लोदक समुद्रका क्षेत्रफल छह सौ बहत्तर गुना है। तथापि जम्बूद्वींपसे हुये सिद्धोंकी संख्या अधिक है। हरे गये या बिद्याधर अथवा देवोंद्वारा फेंके गये अन्तकृत केवलीही समुद्रोंसे मोक्ष गये हैं। वहां यत्न द्वारा इच्छापूर्वक कोई मुनि ध्यान नहीं लगा सकता है। जिस जीवने जहांपर अष्टकर्मोंका क्षय कर दिया है। वह तो उसी क्षेत्रपर सिद्ध हों गया समझा जावेगा। भलेही उसी समय सात राजुऊर्ध्वगमन कर सिद्धलोकमें विराजमान हो जाय।

" बाहिर सूई वग्गं अब्भन्तर सूइ वग्गपरिहीणं, "

" जम्बूवास विभत्ते तत्तियमेत्ताणि खण्डाणि " (त्रिलोकसार) बाहिरली सूचीके वर्गमेंसे अभ्यन्तर सूचीके वर्गको घटा दिया जाय और जम्बूद्वीपके वर्ग आत्मक व्यासका भाग दे दिया जाय। तो जम्बूद्वीपकी बरोबरके उतनी संख्यावाले टुकडे बन जाते है। श्रेष्ठ धानकी खण्डद्वीपमें हुये सिद्धोंकी संख्या जम्बूद्वीपके सिद्धोंसे संख्यात गुणी है। जम्बूद्वीपसे धातकी खण्डका क्षेत्रफल एक सौ चवालीस गुणा बडा है। तथा धातकी खण्डमें हुये सिद्धोंमेंसे पुष्कर द्वीपमेंही उपजे वे सिद्ध संख्यातगुणे हैं। जम्बूद्वीपसे ग्यारह सौ चौरासी गुणा ओर धातकी खण्डसे किंचित् अधिक अठगुना बडा पुष्करार्ध द्वीप है। यों क्रमसे गुणाकार रूप हो रहे सिद्ध बहुत समझे जाते हैं। अन्यथा यानी जिनसे गुणाकार किया गया है। वे सिद्ध थोडे समझने चाहिये, इस प्रकार पूर्वागमका अतिक्रमण नहीं कर संक्षेपसे अल्प और बहुत सम्पूर्ण सिद्धोंको बढिया कहा जा चुका है। विस्तार रूपसे अन्य आगम ग्रन्थों द्वारा पूर्णतया प्रतीति कर लेनी चाहिये। जैसे कि मनुष्यगतिसे पूर्वगतिकी अपेक्षा अल्पबहुत्व यो समझिये कि तिर्यञ्च गतिसे आकर मनुष्य होकर मोक्षको गये, जीव स्वल्प हैं। मनुष्यगतिसे पुनः मनुष्य होकर सिद्ध हुये जीव उनसे संख्यात गुणे हैं, इनसें भी संख्यात गुणे वे जीव है। जों नरकोंसें आकर मनुष्य होकर

मोक्षको गये हैं। देवयोनिसे मनुष्य होकर मोक्ष जानेवालोंकी संख्या इनसे भी संख्यात गुणी है। इसी प्रकार वेदके अनुयोगमें नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, और पुंवेदके उदय होनेपर क्षपकश्रेणी चढनेवालोंकी संख्या उत्तरोत्तर संख्यात गुणी अधिक है। प्रत्येक बुद्ध थोडे हैं, बोधितबुद्ध उनसे संख्यात गुणे अधिक हैं। एवं चारित्र, ज्ञान, अवगाहना, संख्या, अन्तर अनुसार भी अल्पबहुत्व आर्ष आगमका अतिक्रमण नहीं कर लगाया जा सकता है।

एक एव तु सिद्धात्मासर्वथेति यकेविदुः,
तेषां नानात्मनां सिद्धिमार्गानुष्ठावृथा भवेत् ॥ २५ ॥
क्षेत्राद्यपेक्षं प्रत्युक्तं संसार्येकत्वमञ्जसा,
एकात्मवादिनां चैवं तत्र वाचोऽप्रमाणता ॥ २६ ॥
निःशेषकुमतध्वांत विध्वंसनपटीयसी,
मोक्षनीतिरतो जैनी भानुदीप्तिरिवोज्ज्वला ॥ २७ ॥

यहां ब्रम्हाद्वैतवादी कह रहे है कि सिध्दि आत्मा तो सभी प्रकारोंसे एकही है। शरीर आदि उपाधियोंके द्वारा एकही आत्मा भिन्न भिन्न प्रतिभासित हो रहा है, जैसे कि एक शरीरावच्छिन्न अखण्ड एक आत्मामें कभी "मेरे सिरमें वेदना है।" कदाचित् "मेरे पांवमें पीडा है, यों खण्ड कल्पना करली जाती है। मुख विवर, घरकी पोल आदि उपाधियोंके हट जानेपर जैसे खण्डरूपेण कल्पित कर लिया गया। आकाश पुनः महा आकाशमें लीन हो जाता है। उसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय आदि झगडोंके निवृत्त हो जानेपर खण्डित मान लिया गया आत्मा उसी एक परब्रम्हमें मिल जाता है। अतः सिध्द आत्मा एकही है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जो कोई वेदान्त मतानुयायी कह रहे हैं। उनके यहां अनेक आत्माओंका सिध्दि या मोक्ष मार्गमें अनुष्ठान करना व्यर्थ हो जावेगा। जब कि आपके यहां एकही आत्मा है, तो एक जीवके मोक्ष प्राप्त कर लेनेपर सभी जीवोंकी मुक्ति हो जावेगी। न्यारे न्यारे जीवोंका दीक्षा लेना, तपश्चरण करना, वैराग्यभाव भावना, धर्म आचरण सब व्यर्थ हो जावेंगे। एक बात यह भी है कि ऐसा कौन अज्ञ जीव होगा जो अपनी सत्ताको मटियामेंट करना चाहेगा। ऐसी मोक्षको कोई नहीं वांच्छेगा जहां कि अपनाही खोज खो जाय अद्वैतवादियोंने जो सिरमें पीडा, पांवमें बाधा या आकाशके खण्डकी चर्चा की थी। वह दृष्टान्त तो विषम

है । किसी भी अवयवमें पीडा हो सम्पूर्ण आत्मामें उसका अनुभव होता है । दूसरी बात यह है कि आत्माके प्रदेश अनेक हैं । इसी प्रकार आकाशके प्रदेश भी नाना हैं। जो बम्बईमें आकाशके प्रदेश हैं । वे सहारनपुरमें नहीं हैं, अन्यथा माननें पर सहारनपुरके पेटमें उसी स्थलपर बम्बई घुस बैठेगी। शरीरमें मुखविवर, उदरदरी नासिकारन्ध्र न्यारे न्यारे हैं। यदि प्रदेशोंको न्यारा न्यारा न माना जायगा तो शरीर या आत्माकी आकृति परमाणुके बरोबर हो जायगी । सरसोंके स्थलपर सुमेरु पर्वत अक्षुण्ण समा जावेगा, सिध्दान्त यह है कि प्रत्येक शरीरमें ' स्व ' संवेदन प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीत हो रहे जीव द्रव्य प्रतिशरीर न्यारे न्यारे अनेक हैं। कोई धनवान है, कोई निर्धन है, मूर्ख पण्डित, नीरोग-सरोग, बाल वृद्ध, पशु, पक्षी, पुरुष-स्त्री, देव-नारकी, कीट-पतंग, अग्निकायिक जलकायिक, कर्जदार, कर्जदेनेवाला, न्यायाधीश (जज) कैदी, पुण्यवान् पापी, अद्वैतवादी द्वैतवादी, ब्रम्हचारी व्यभिचारी, बध्य घातक, स्वामी सेवक, गुरु शिष्य, ठग और ठगा गया, ये सब जीव न्यारे न्यारे हैं । अभी इसी सूत्र द्वारा सूत्रकार महाराज करके क्षेत्र, काल आदिकी अपेक्षा जीवोंको न्यारा न्यारा सिद्ध कर संसारी जीवोंके एकपनका तात्त्विकरूपसे खण्डन किया जा चुका है । उस आत्मैकत्वमें कहे गये एक आत्मा तत्त्वको कहनेवालोंके वचनको प्रमाणता नहीं है । प्रमाणरहित अंटसंट कहनेवालोंके वचन परीक्षकोंके यहां मान्य नहीं हैं । पर संग्रहनयसे सम्पूर्ण पदार्थोंको एक कह देनेमें कोई बाधा नहीं है । किन्तु प्रमाणोंसे अनेकोंको एक कहना असत्यार्थ है । सिद्धोंके समान कोई दूसरा नहीं है । अतः वे अनन्तानन्त सुखी सिद्ध अद्वैत यानी अनुपम भी कहे जा जकते हैं । संग्रह नयकी अपेक्षा सिद्धोंको एक कहा जा सकता है। इस कारण जिनेन्द्र करके प्रतिपादित की गयीं और सम्पूर्ण खोटे मतों रूप गाढ अन्धकारका विध्वंस करनेमें अतीव दक्ष हो रही यह मोक्ष तत्त्वार्थकी नीति तो सूर्यकी दीप्तिके समान उज्वल होकर तीनों लोक प्रकाश रही है। " खद्योतो द्योतते तावद्यावन्नोदयते शशिः, उदिते तु दिवानाथे न खद्योतो न चन्द्रमाः ॥ " जुगुनू तब तक चमकता है जब तक कि चन्द्रमाका उदय नहीं होता है । हां, प्रतापी सूर्यका उदय हो जानेपर तो न चन्द्रमा और न पट बीजना चमक पाते हैं । इस श्लोकवार्त्तिक महान् ग्रन्थमें सर्वज्ञ जिनेन्द्र करके प्रतिपादित किये गये न्यायशास्त्रका निरूपण किया गया है । सहस्रनाम स्तोत्रमें "अग्रणी ग्रमिणीर्नेता प्रणेता न्यायशास्त्रकृत्, शास्ता धर्मपतिर्धर्म्यो धर्मात्मा धर्मतीर्थकृत् " इस

श्लोक द्वारा भगवान्को विशेषरूपेण न्यायशास्त्रका करनेवाला कहा गया है। मोक्ष तत्त्वमें दार्शनिकोंके अनेक विवाद पडे हुये हैं। जो कि प्रथम सूत्रकी व्याख्या अनुसार कतिपय जाने जा सकते हैं। इस दशवे अध्यायमें भी कतिपय दार्शनिकोंका उल्लेख किया गया है। उन सम्पूर्ण कुमतोंका इस अबाधित स्याद्वाद नीतिद्वारा खण्डन हो जाता है। और अनेकान्त शासन अनुसार मोक्ष तत्त्व प्रकाशित हो जाता है।

एवं जीवादि तत्त्वार्थाः प्रपञ्च्य समुदीरिताः।
सम्यग्दर्शनविज्ञानगोचराश्चरणाश्रयाः॥ २८॥
ततः साधीयसी मोक्षमार्गव्याख्या प्रपञ्चतः,
सर्वतत्त्वार्थविद्येयं प्रमाणनयशक्तितः॥ २९॥

ग्रन्थकार कह रहे हैं कि सम्यग्दर्शन और समीचीन विज्ञानके विषय हो रहे तथा उत्तम चारित्रके आश्रय हो रहे जीव, अजीव आदि तत्त्वार्थोंका श्री उमास्वामी महाराजने संक्षेपसे आर्हतदर्शन मोक्षशास्त्रमें बहुत बढिया निरूपण किया है। उन्हीं जीव आदि तत्त्वोंका हमने विस्तारसे इस प्रकार "श्लोकवार्त्तिकालंकार" ग्रन्थमें बढिया विवरण कर दिया है। ग्रन्थके अध्ययन, अध्यापनका फल रत्नत्रयका अवलम्ब प्राप्त हो जाना है। तिस कारण विस्तारसे मोक्ष मार्गकी व्याख्या करना बहुत बढिया कर्तव्य हुआ है। प्रमाण और नयकी प्रकाण्ड सामर्थ्यसे की गयी यह ग्रन्थ व्याख्या सम्पूर्ण तत्त्वार्थोंकी विद्या है। भावार्थ–तर्क उठाकर पूर्वपक्षमें किये गये सम्पूर्ण दार्शनिकोंके मतको दिखाया गया है। और उत्तर पक्षमें जैनदर्शनकी पुष्टि की गई है। यों ग्रन्थके अध्ययन करनेवालोंको सम्पूर्ण विद्याओंका परिज्ञान होकर पूर्वपक्षोंका त्याग और उत्तर पक्षोंका सादर ग्रहण हो जाता है। आद्य सूत्र "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" का अवतरण करते समय ग्रन्थकारने उसके अव्यवहित पूर्वमें "एवं साधीयसी साधोः प्रागेवासन्ननिर्वृतेः, निर्वाणोपायजिज्ञासा तत्सूत्रस्य प्रवर्तिका" यह वार्त्तिक कहा है। तदनुसार आदि ग्रन्थ और अन्तिम ग्रन्थका संदर्भ मिलाते हुये ग्रन्थकार कह रहे हैं कि सभी दार्शनिकोंका अन्तिम ध्येय मोक्ष है। उस मोक्षके मार्गकी जिज्ञासा होना सहज है। अतः आदि सूत्रमें मोक्षका मार्ग बताकर दशवें अध्याय तक मोक्षका निरूपण कर दिया गया है। मोक्ष और मोक्षके कारणोंका निरूपण करते हुये आचार्योंको संसार और संसारके

कारणोंकी प्रतिपत्ति कराना भी आवश्यक हुआ है। तभी उनका परित्याग किया जा सकेगा। यों इस महान् ग्रन्थमें सात तत्त्वोंका विशदरूपेण वर्णन है। रत्नोंका संचय करना न्यारा कार्य है, किन्तु अपहारकोंका या शत्रुओसे लढाईमें जीतकर उन तत्त्वार्थ रत्नोंकी परिरक्षा करना, दीप्ति बढाना, विलक्षण कार्य है। स्वचतुष्टय अपेक्षा अस्तित्व धर्मसे परचतुष्टयापेक्ष नास्तित्व धर्म न्यारा है। जो कि सांकर्य आदि दोषोंको हटाकर स्वास्तित्वको बाल बाल रखाये हुये हैं। इस ग्रन्थका स्वाध्याय करनेवाले जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका आश्रय पाकर मोक्षकी प्राप्ति कर लेते हैं। यह ग्रन्थकारके इन श्लोकोंसे ध्वनित हो जाता है। ज्ञानी जीव तत्त्वज्ञान स्वरूप माणिक्यकी इस ग्रन्थ द्वारा चंद्रवत् दीप्तिको बढाकर अज्ञानान्धकाररिक्त प्रकाशित मोक्षमार्गमें निरुपद्रव गमन करते हैं।

तदेवं शास्त्रपरिसमाप्तौ परममंगलं निःश्रेयसमार्गमेव मंगलमभिष्टोतुमनाः प्राह; —

तिस कारण इस प्रकार इस तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकार नामक महान् शास्त्रकी सांगोपाङ्ग समाप्ति हो चुकनेपर सर्वोत्कृष्ट मंगल हो रहे मोक्ष मार्गकोही अन्त्य मंगल स्वरूप मानते हुये और उसही की अन्तिम स्तुति करनेके मानसिक अभिप्रायको धार रहे ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम पद्यको शार्दूल विक्रीडित छन्द द्वारा सानन्द गायन पुरस्सर स्पष्ट कह रहे हैं।

जीयात्सज्जनताश्रयः शिवसुधाधारावधानप्रभु-
र्ध्वस्तध्वांततति: समुन्नतगतिस्तीव्रप्रतापान्वितः।
प्रोर्जज्ज्योतिरिवावगाहनकृतानंतस्थितिर्मानतः,
सन्मार्गस्त्रितयात्मकोऽखिलमलप्रज्वालनप्रक्षमः ॥ ३० ॥

प्रकृष्ट रूप करके बलवान् हो रही ज्योतिके समान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों स्वरूप हो रहा श्रेष्ठ मोक्षमार्ग जयवन्ता रहे। यानी सूर्य या चन्द्रमाकी ज्योति जैसे अनादिसे अनन्तकालतक जयवन्ती है। उसी प्रकार रत्नत्रय आत्मक मोक्षमार्ग भी जयशील बना रहे। यहां उत्कृष्ट ज्योतिको उपमान और मोक्ष

मार्गको उपमेय बनाया गया है। अब ग्रन्थकार दोनोंमें घटित हो जावें योग्य विशेषणोंको कह रहे हैं कि मोक्षमार्ग कैसा है ? जो कि सज्जन पुरुषोंकी मण्डलीको आश्रय यानी अवलम्ब (सहारा) हो रहा है। तापसंतप्त जनसमुदाय भी चन्द्रमाकी ज्योतिका आश्रय पकडता है। तथा रत्नत्रयस्वरूप श्रेष्ठमार्ग उस मोक्ष स्वरूप अमृतधाराको वर्षानेकी एकाग्रतामें समर्थ हो रहा है। और साथही चन्द्रज्योति भी कल्याण करनेवाली अमृतकीधाराको वर्षानेके अवधानमें सामर्थ्यशाली है। रत्नत्रयने मिथ्या श्रद्धान, कुज्ञान और अचारित्र स्वरूप गाढान्धकारके विस्तारको नष्ट कर दिया है। इधर सूर्यकी ज्योति द्वारा अन्धकारपंक्ति नष्ट कर दी जाती है। रत्नत्रयसे समीचीन उन्नत हो रही मोक्षगति प्राप्त होती है। साथही ज्योतिष्मान् सूर्यकी गति भी अच्छी उन्नत हो रही है। यहांसे आठ सौ योजन ऊंचा सूर्यमण्डल, और आठ सौ अस्सी योजन ऊंचा आकाशमें चन्द्रमण्डल गमन (तिरछाभ्रमण) कर रहा है। रत्नत्रय तो सातिशय, अलौकिक आत्मीय उत्कट प्रतापसे सहित हो रहा है। चमकता हुआ ज्योतिर्मण्डल भी प्रगाढप्रतापसे सहित हो रहा है। रत्नत्रयमें प्रमाणसे या इकईस प्रकारके संख्यामान द्वारा अवगाह किये जाकर विषयतासम्बन्धेन अनन्तपदार्थोंने स्थिति कर रक्खी है। प्रकृष्ट ज्योतिने भी अपने नियत परिमाणसे अनन्त आकाशमें अवगाह कर लिया है। सम्पूर्ण मलोंके प्रज्वालनेमें अच्छा समर्थ जैसा ज्योतिष्मान् पदार्थ है। शारीरिक मलोंका प्रक्षालन हो जाय यानी पसेव द्वारा दोष बह जाय इसके लिये कतिपय मनुष्य, पशु, पक्षी, धूपमें बैठकर सूर्यातपसे स्नान करते हैं। चन्द्रमा तो औषधीश माने गये हैं। उसी प्रकार श्रेष्ठमार्ग भी सम्पूर्ण पापोंको प्रकर्षरूपेण जलानेमें बहुत बढिया समर्थ है।

इस प्रकार ग्रन्थकार श्री उमास्वामी महाराजने आदि सूत्रके प्रमेयकोही अन्तिम मंगलाचरण कर " आदौ मध्येऽवसाने च मंगलं भाषितं बुधैस्तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तदविघ्नप्रसिद्धये " इस नीति अनुसार ग्रन्थको निर्विघ्न समाप्त किया है।

इति दशमाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम्

यहां तक दशवें अध्यायका प्रकरणोंका समुदायस्वरूप दूसरा आन्हिक पूर्ण होकर समाप्त हो चुका है।

इति श्री विद्यानन्दि आचार्य विरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे
दशमोऽध्यायः समाप्तः, ॥ १० ॥

इस प्रकार यहां तक प्रतिवादि भयंकर उद्भट विद्वान् श्री विद्यानन्द महान् आचार्य महोदय करके विलक्षण स्वरूपसे रचे गये तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार नामक अनुपम ग्रंथमें दशम अध्याय समाप्त होकर परिपूर्ण हो चुका है।

इस दशवें अध्यायके प्रकरणोंकी सूचिका संक्षेप इस प्रकार है कि प्रथमही सातवें मोक्ष तत्त्वका निरूपण करनेके लिये उसके पूर्ववर्ती केवलका प्रतिपादन किया गया है। इस सूत्रकी व्याख्या करते हुये उत्तर प्रांतकी पुस्तकमे प्रकृतियोंके क्षयके क्रम और अधःकरण आदि परिणामोंकी चर्चा की गई है। बारहवें गुणस्थानके अन्ततक होनेवाले कर्मक्षयका क्रम दिखलाते हुये बादर कृष्टि, सूक्ष्म कृष्टिका स्वरूप कहा गया है। ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन पुस्तक अनुसार तो केवलके निरूपणकी संगति दिखलाते हुये मोक्षमें ज्ञान नहीं रहनेका खण्डन किया है। लौकिक ज्ञान सुखोंसे भिन्न अनन्त चतुष्टयको जीवनमुक्तदशामें सिद्ध कर दिया है। निर्जराका प्रतिपादन करना चाहिये। इस शंकाका प्रत्याख्यान करते हुए अपर मोक्ष और पर मोक्षका भेद बतलाकर जीवके आत्मलाभको ही मोक्षपनकी व्यवस्था दी है। यहां दार्शनिकोंके दूषित मन्तव्योंका निषेध किया है। सूत्रोक्त केवलपदसे अकेले केवलज्ञानकाही ग्रहण नहीं है किंतु ज्ञान दर्शन, वीर्य, दान आदि अनेक क्षायिक भावोंको वाच्य किया गया है। सूत्रोक्त रहस्यका अनुमानसे सिद्ध कर मोक्ष की अपेक्षा केवलीकी प्रधानता साधी गई है। इसके आगे दूसरे सूत्रमें मोक्षका सिद्धांत लक्षण किया गया है। मोक्षके हेतुओंकी व्याख्या कर 'वि' और 'प्र' शब्दों करके इतर व्यावृत्ति समझायी गई है। अयत्नसाध्य और पुरुषार्थसाध्य कर्मक्षयकी प्रतिपत्ति कराते हुये एक सौ अडतालीस प्रकृतिओंको गिनाकर उनका मोक्षमे क्षय हो जाना क्रमानुसार कहा है प्राचीन प्रतिसे प्राप्त हुई टीका अनुसार द्वितीय सूत्रकी उत्थानिका उठाकर उत्कृष्ट संवर और निर्जराका स्वरूप बताते हुये सूत्रोक्त कार्यकारणभावको अन्वयव्यतिरेक द्वारा या अन्यथानुपपत्तिसे पुष्ट करदिया है। यहां भी ग्रंथकारने मोक्ष लक्षणके घटकावयव हो रहे 'वि' और 'प्र' का वार्तिक द्वारा व्याख्यान किया है। बीजांकुरका दृष्टांत देकर कर्मोंका ध्वंस समझाया गया है।

व्यय, ध्रौव्य रूपसे पुद्गल द्रव्यका परिणमन पुष्ट किया गया है। कर्मोंकी बन्ध, उदय उदीरणा आदिको प्राचीन ग्रंथोंसे ज्ञातकर लेनेका निदेश किया है। पश्चात् कतिपय क्षायिक भावोंके अतिरिक्त अन्य सभी औपशमिक आदि भावोंके मोक्षमे नाश हो

जानेका युक्तिपूर्वक विवरण किया है। अनन्तवीर्य, सुख, चारित्र आदि गुण मोक्षमें विद्यमान रहते बताये गये हैं। यहां दार्शनिकोंकी मोक्षविषयिणी कतिपय शंकाओं और आक्षेपोंका विद्वत्तापूर्ण प्रत्याख्यान किया गया है। जिससे कि " अट्ठवियकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा, अट्ठगुणा किदकिच्चा,लोयग्गणिवासिणो सिद्धा:, "(गोम्मट-सार) " णट्ठट्ठकम्मदेहो लोपालोपस्स जाणओ दट्ठा, पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोय सिहरत्थो "(द्रव्यसंग्रह) इस प्रकार सिद्धस्वरूपको परिपुष्टि हो जाती है। सिद्धत्व परिणतिको न्यारा साधते हुयें ग्रन्थकारने अन्य दार्शनिकोंके मोक्ष लक्षणका प्रतिवाद कर पहिला आन्हिक समाप्त किया है। उसके पश्चात् सूत्रोक्त हेतु, दृष्टान्त पूर्वक सिद्धोंके ऊर्ध्वगमनकी व्याख्या की गई है। धर्मास्तिकाय नहीं होनेके कारण लोकाग्रसे परली ओर मुक्तोंका जाना निषिद्ध किया है। इस प्रकार मोक्षतत्त्वमें सम्पूर्ण मिथ्या मन्तव्योंकी निवृत्ति कर क्षेत्र आदिका व्याख्यान किया गया है। प्रारम्भसे लेकर ग्रन्थके अन्ततककी प्रबन्ध संगतिको मिलाकर मोक्ष मार्गकी स्तुति करते हुये अन्तिम मंगलाचरण पढा है। प्रकृष्ट ज्योतिके समान रत्नत्रयकी शक्तिको दिखलाकर द्वितीय आन्हिक समाप्त किया गया है।

पादोनवर्षनवकोज्झदनादिकाला,
ल्लोकोर्ध्वनिष्ठतनुवातनिनीयमानां,
न्नित्यान्नमामि कृतकृत्यवराननन्तान् ।
सिद्धान् स्ववीर्यसुखदर्शनबोधिलब्धे ॥ १ ॥

इति श्री उमास्वामी महाराज विरचित तत्त्वार्थसूत्र (आर्हतदर्शन) पर श्री विद्यानन्द स्वामी महाराज करके रची गयी श्लोकवार्तिकालंकार नामक महान् ग्रन्थकी आगरामण्डलान्तर्गत चावली ग्राम निवासी वर्तमान सहारनपुर वास्तव्य " माणिक्यचन्द्र " कृत देशभाषामय " तत्त्वार्थचिन्तामणि संज्ञक टीकामें दशवां अध्याय परिपूर्ण हुआ। " नमोस्तु सिद्धेभ्य: सिद्धिदेभ्य:, "

" गच्छत: स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादत:
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जना: "

इस नीति अनुसार मुझ अल्पबुद्धि जीवसे अनेक त्रुटियां हो जाना संभव किन्तु "हंसक्षीर" न्याय अनुसार शोधन करते हुये सज्जन पुरुष सिद्धान्तोक्त अर्थका ग्रहण करे। ऐसा निवेदन है।

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः सिद्धिदेभ्यः ॥

॥ ॐ नमः शांतिनाथाय जगच्छरण्याय ॥

मिति प्रथम भाद्रपद कृष्णा नवमी मंगलवार विक्रम संवत् १९९३
वीर निर्वाण सम्वत् २४६२

श्री वीरः स श्रिये नः स्याद्दुष्कर्मध्वान्तभास्करः।
यज्ज्ञानाब्धौ प्रमीयेते लोकालोकौ द्विबिन्दुवत् ॥

"नमोस्तु महावीराय"

मार्गशीर्ष पञ्चम्यां रविवासरे सं. १९९८
वीर नि. सं. २४६७ शोधनकर्म निर्वृत्तम्।

"नमोऽस्तु जिनवाण्यै, दुष्कर्मसम्वरनिर्जरासम्पादिकायै"